लोकवित

लोकवित्त

डा० कृष्ण स्वरूप शर्मा

M

भूमिका

आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे चाहे वह आर्थिक हो अथवा सामाजिक, राज्य को सक्रिय रूप से अपने उत्तरदायित्व निबाहने पड़ते हैं। प्रजातंत्र तथा समाजवादी विचारधारा के विकास के साथ-साथ सरकार का हस्तक्षेप भी बढ रहा है। कल्याणकारी राज्य की स्थापना का आदर्श विश्व के प्रत्येक देश ने स्वीकार किया है। साथ ही विकास के कार्यों को संपन्न करने के लिए वित्त की आवश्यकताओ मे वृद्धि हुई है। इन सब उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए लोकवित्त की नीतियों का आज अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा है। यह स्वाभाविक है कि देश के भावी नागरिक तथा बुद्धिजीवी वर्ग इस विषय का गंभीर अध्ययन करें।

प्रस्तुत रचना लोकवित्त की विषय सामग्री तथा रीतिनीति को समझने का प्रयास है। पुस्तक मे लोकवित्त के सिद्धांतों के अतिरिक्त भारतीय लोकवित्त की समस्याओ का भी उल्लेख किया गया है। विषय को विकासशील देशों की समस्याओ के अनुरूप बनाने के लिए विश्वविद्यालयो ने अपने पाठ्यक्रमों मे हाल मे कुछ परिवर्तन किए हैं। उदाहरण के लिए विकासवित्त को जुटाने के लिए ससाधनो की गतिमत्ता मे रोजगार को बढाने मे, तथा सार्वजनिक सेवाओं के मूल्य-निर्धारण मे लोकवित्त क्या भूमिका निभा सकता है? क्रियागत वित्त तथा करारोपण का अधिकतम सामाजिक कल्याण सिद्धात आदि कुछ ऐसी नूतन धारणाएं हैं जिन पर कि आधुनिक लोकवित्त को आधारित किया जाने लगा है। इस पुस्तक मे इन सभी विषयों को सम्मिलित करने के साथ-साथ उन्हे रुचिकर एवं बोधगम्य बनाने का प्रयास किया गया है।

इस उपक्रम में मैं अनेक लेखको का आभारी हूं जिनके लेखो तथा कृतियो से मैंने सहायता ली है तथा यथोचित स्थान पर उनके उद्धरण दिए हैं।

मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत रचना विषय से संबंधित विद्यार्थियों तथा अध्यापको के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए समय-समय पर दिए गए सुझावो का मैं सहर्ष स्वागत करूंगा।

कृष्ण स्वरूप शर्मा

अनुक्रम

1

लोकवित्त की प्रकृति, क्षेत्र और महत्त्व

लोकवित्त अर्थशास्त्र की वह शाखा है जो राज्यो के आय, व्यय तथा उनके प्रशासन से सबधित है। इसका महत्त्व सरकार के कार्यों की वृद्धि के साथ साथ बढ़ता रहा है। अब यह विषय इतना विस्तृत हो गया है कि इसका अध्ययन एक पृथक विषय के रूप मे किया जाने लगा है।

लोकवित्त का अर्थ राज्य की वित्तीय व्यवस्था के विज्ञान तथा कला से है। इस विषय के अतर्गत राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यों का, जिनका मुद्रा से सबंध है अध्ययन किया जाता है। जनता की भलाई के लिए जितने भी सार्वजनिक कार्य किए जाते हैं वे लोकप्राधिकरण (public authorities) के द्वारा सपन्न होते है। लोक-प्राधिकरण राजनीतिशास्त्र का विषय है। इन कार्यों को सपन्न करने के लिए जिस वित्त की आवश्यकता होती है वह अर्थशास्त्र का विषय है। इस प्रकार लोकवित्त का अध्ययन राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का मिलान कराता है। यह लोकप्राधिकरण आय तथा व्यय और उनके आपसी समायोजन का अध्ययन करता है। लोकप्राधिकरण के अतर्गत केंद्रीय सरकार, प्रातीय सरकारें, नगरपालिकाए तथा सार्वजनिक निगम सम्मिलित होते हैं।

लोकवित्त की परिभाषा

विभिन्न लोकवित्त शास्त्रियो ने लोकवित्त की परिभाषा विभिन्न प्रकार से दी है। विभिन्न परिभाषाओ का अध्ययन निम्नलिखित वर्गों मे किया जा सकता है

(1) अत्यधिक विस्तृत परिभाषाए

इस वर्ग के अतर्गत जिन लेखको की परिभाषाए सम्मिलित की गई हैं उन्होने लोकवित्त को बहुत ही व्यापक रूप मे लिया है। डाल्टन, बैस्टेबल तथा फिडले शिराज की परिभाषाए बहुत कुछ ऐसी ही विशेषताए रखती हैं

'लोकवित्त उन विषयों मे से एक है जो अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के मध्य की सीमा पर स्थित है। इसका सबध लोकप्राधिकरण के आय-व्यय तथा उनके पारस्परिक

समायोजन से है।'[1] 'डाल्टन'

'लोकवित्त राज्य की लोकसत्ताओं के आय और व्यय, उनके पारस्परिक सम्पर्क तथा वित्तीय प्रशासन से सबध रखता है।'[2] बैस्टेबल

'लोकवित्त वह विज्ञान है जो इस बात का अध्ययन करता है कि लोकप्राधिकरण किस प्रकार अपनी आय प्राप्त करती है और किस प्रकार उसका व्यय करती है।'[3]

फिंडले शिराज

इस वर्ग में सम्मिलित परिभाषाएं इसलिए अधिक विस्तृत कही जाती हैं क्योंकि लोकवित्त के विषय के अंतर्गत लोकप्राधिकरण को शामिल कर लिया गया है। साथ ही इन संस्थाओं की सभी प्रकार की आय—मौद्रिक अथवा अमौद्रिक—सम्मिलित कर ली गई हैं। इन परिभाषाओं की आलोचना दो आधारों पर की जाती है।

(क) इस वर्ग की परिभाषाओं में अनेक लोकप्राधिकरण सम्मिलित हो जाती हैं जिनका लोकवित्त से कोई सबध नहीं है। उदाहरणार्थ, लोक चिकित्सालय, शिक्षा संस्थाएं इत्यादि। यदि इन सभी संस्थाओं के आय और व्यय का अध्ययन किया जाए तो लोकवित्त के अध्ययन का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक हो जाएगा।

(ख) उपर्युक्त परिभाषाओं के अंतर्गत हमको लोकप्राधिकरण के सभी प्रकार के आय और व्यय को सम्मिलित करना होगा जो उचित नहीं कहा जा सकता। यदि हम ऐसा करते हैं तो लोकवित्त एक अनिश्चित विज्ञान हो जाता है। इसलिए लोकवित्त के क्षेत्र को सीमित करना आवश्यक है। ऐसा तभी हो सकता है जब इस विषय के अधीन हम केवल मौद्रिक तथा साख-संबंधी साधनों का ही अध्ययन करें।

(2) विस्तृत परिभाषाएं

इस श्रेणी की जो परिभाषाएं हैं उनमें लेखकों ने आय तथा व्यय के पहलू पर प्रकाश डाला है। इस वर्ग में हम निम्नलिखित परिभाषाओं का अध्ययन करते हैं

'लोकवित्त वह विज्ञान है जो राजनीतिज्ञों के उन भौतिक साधनों को पाने और प्रयोग करने से, जो राज्य के उचित कार्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक हैं, सबधित है।'[4] कार्ल प्लेहन

'लोकवित्त उन साधनों की व्यवस्था, सुरक्षा और वितरण से सबधित है जो राजकीय अथवा प्रशासन-संबंधी कार्यों को चलाने के लिए आवश्यक होते हैं।'[5]

'लुट्स'

'लोकवित्त के अध्ययन में उन रीतियों तथा प्रणालियों की व्याख्या की जाती है जिनके अनुसार शासन संस्थाएं जनसाधारण के हितार्थ धन-राशि एकत्र करके सामूहिक

1 Dalton 'Principles of Public Finance' (1949), Routledge & Kegan Paul Ltd., Lond., p 7
2 C F Bestable 'Public Finance', p 1
3 Findlay Shirras 'The Science of Public Finance', p 1
4 Carl Plehn 'Introduction to Public Finance' p 1
5 H. L. Lutz 'Public Finance', p 7

आवश्यकताओ की सतुष्टि करती हैं।'[1] श्रीमती उरसला हिक्स

इस वर्ग की परिभाषाए पहले की अपेक्षा सकीर्ण हैं क्योकि लोकवित्त का अध्ययन केवल आय तथा व्यय तक ही सीमित कर दिया गया है। इन परिभाषाओ मे निम्नांकित दोष माने गए हैं

(क) इन परिभाषाओ मे आय तथा व्यय का अर्थ निश्चित नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन परिभाषाओ मे मौद्रिक तथा अमौद्रिक आय और व्यय सम्मिलित किए गए हो। अमौद्रिक आय तथा अमौद्रिक व्यय के सम्मिलित होने के कारण यह विषय बहुत अनिश्चित हो जाता है। जब हमारे पास मुद्रा का मापदड उपलब्ध है तो लोकवित्त का अध्ययन मौद्रिक आय-व्यय तक ही सीमित रहना चाहिए।

(ख) ये परिभाषाए लोकवित्त की मुख्य विशेषताए बतलाने मे असमर्थ है।

(ग) इन परिभाषाओ ने लोकवित्त के क्षेत्र को आय-व्यय तक अध्ययन करके सीमित कर दिया है। आधुनिक युग मे विषय लोकवित्त का ऋण और प्रशासन के मूल सिद्धातो का अध्ययन किए बिना तथा राजस्व क्रियाओ को देश और समाज पर प्रतिक्रिया का अध्ययन किए बिना एक 'विज्ञान' का पद पाने का अधिकारी नहीं कहा जा सकता।

(3) सकीर्ण परिभाषाए

इस वर्ग मे उन वित्त शास्त्रियो की परिभाषाए ली गई है जिन्होंने लोकवित्त के विषय को अत्यत सकीर्ण रूप मे लिया है। प्रो० जे० के० मेहता की परिभाषा इस सपूर्ण वर्ग का ठीक प्रतिनिधित्व करती है। इस वर्ग के लोगो ने लोकवित्त के अतर्गत राज्य की *मौद्रिक आय तथा मौद्रिक व्यय का ही अध्ययन किया है।*

प्रो० मेहता तथा अग्रवाल लिखते है कि 'लोकवित्त राज्य के मौद्रिक तथा साख-सबधी साधनो का अध्ययन है।'[2] इस परिभाषा मे लोकवित्त के अर्थ को बहुत ही सकुचित रूप मे लिया गया है। प्रो० मेहता का मत है कि लोकवित्त मे केवल सार्वजनिक मौद्रिक आय तथा व्यय का अध्ययन होता है। आधुनिक अर्थशास्त्री प्रो० मेहता की आलोचना इस आधार पर करते हैं कि सैद्धांतिक दृष्टि से मौद्रिक तथा अमौद्रिक आय और व्यय मे भेद करना कठिन है। परतु व्यवहार मे वित्त का अर्थ केवल मुद्रा से ही होता है इसलिए लोकवित्त मे केवल *द्राव्यिक साधनो को ही सम्मिलित करना उचित माना* गया है।

प्रसिद्ध लोकवित्त शास्त्रियो की परिभाषाओं का अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन्होंने ये परिभाषाए लोकवित्त की केवल उन विशेषताओ को ध्यान मे रखते हुए दी हैं जिनसे कि वे उस समय प्रभावित थे। परतु पूर्ण अध्ययन के लिए एक ऐसी परिभाषा देना आवश्यक है जो हमे इस विषय का प्रारभिक

1 Mrs Ursula Hicks 'A Study in Public Finance', p 6

2 Mehta and Agrawal *'Public Finance' (1959), Kitab Mahal Allahabad*, p 4

बोध कराने में सहायक हो। अतः हम लोकवित्त की परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं—यह वह विज्ञान है जो सार्वजनिक आय-व्यय, ऋण तथा वित्तीय शासन के मूल सिद्धान्तों का और राज्य की तत्संबंधी क्रियाओं का समाज और आर्थिक व्यवस्था पर होने वाली प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करता है।

सैन्डफोर्ड ने लोकवित्त पर हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक में पूर्वजों की परिभाषाओं की कमियों को दूर करते हुए इस विषय की परिभाषा दी है जो सरल तथा दोषरहित प्रतीत होती है। उनके शब्दों में 'लोकवित्त के अर्थशास्त्र में हम विशेष रूप से सामूहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से संबंधित हैं। हम उन आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करते हैं जो राज्य अथवा सार्वजनिक क्षेत्र से उठती हैं। जैसे, निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों के बीच साधनों का विभाजन किस प्रकार किया जाता है तथा सार्वजनिक क्षेत्र के अंतर्गत सरकारी व्यय के विभिन्न साध्यों की सन्तुष्टि के लिए साधनों का आवंटन कैसे किया जाता है।'[1]

लोकवित्त की प्रकृति

किसी भी विषय के स्वरूप को जानने के लिए उसकी प्रकृति का अध्ययन आवश्यक होता है। किसी भी विषय की प्रकृति पर विचार करते समय यह ज्ञात करना होता है कि अमुक विषय विज्ञान है अथवा कला। लोकवित्त की प्रकृति जानने के लिए भी हमें ऐसा ही करना होगा।

लोकवित्त विज्ञान है या नहीं, इससे पहले हमें विज्ञान का अर्थ समझ लेना चाहिए। 'किसी भी विषय के क्रमबद्ध ज्ञान को विज्ञान कहते हैं।' विज्ञान के अंतर्गत किसी भी वस्तु का निरीक्षण तथा विश्लेषण करके पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जाता है। प्रयोगों और निरीक्षण के द्वारा तथ्यों की समानताएं ज्ञात की जाती हैं तथा तथ्यों की इन समानताओं पर ही सिद्धांत आधारित होते हैं। पाइनकेयर के अनुसार 'विज्ञान तथ्यों से इस प्रकार बना है जिस प्रकार पत्थरों से एक मकान बनाया जाता है, परन्तु जिस प्रकार पत्थरों के ढेर को मकान नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार केवल तथ्यों का एकत्रीकरण ही विज्ञान नहीं कहा जा सकता।' एक भौतिकशास्त्री ने इस संदर्भ में ठीक कहा है, 'विज्ञान किसी वस्तु के पूर्ण ज्ञान को मानता है और उसका आधार सतर्क प्रयोग, ध्यानपूर्वक निरीक्षण और सही-सही विश्लेषण होता है।' विज्ञान के तीन प्रकार हो सकते हैं :

(1) वर्णात्मक विज्ञान
(2) वास्तविक विज्ञान
(3) आदर्श विज्ञान

वर्णात्मक विज्ञान के अंतर्गत भूतकाल तथा वर्तमान काल की घटनाओं तथा

1 C. T. Sandford, 'Economics of Public Finance' (1969), Pergamon Press, p. viii.

परिस्थितियों का वर्णन होता है। वास्तविक विज्ञान 'वस्तु स्थिति' का अध्ययन करता है। यह केवल कारण और परिणाम में संबंध स्थापित करता है। यह केवल 'यह या वह क्या है' नामक प्रश्न का उत्तर देता है। वह उचित है या अनुचित इससे उसका कोई सरोकार नहीं है। इसके अतिरिक्त आदर्श विज्ञान वह विज्ञान है जो मानव व्यवहार के आदर्श निर्धारित करता है तथा वाछनीयता अथवा अवाछनीयता की ओर संकेत करता है। 'क्या होना चाहिए' नामक प्रश्न का उत्तर आदर्श विज्ञान द्वारा ही दिया जाता है। कीन्स के अनुसार, 'वास्तविक विज्ञान को हम क्रमबद्ध ज्ञान का एक पुंज कह सकते हैं और आदर्श विज्ञान हम ज्ञान के उस पुंज को कहते हैं जिसका संबंध आदर्शों को स्थापित करता है। इस प्रकार दोनों में वस्तु स्थिति और आदर्श का अंतर होता है।'

लोकवित्त को उक्त आधारों की कसौटी पर कसने से ऐसे अनेक परिणाम मिलते हैं जिन आधारों पर इस विषय को विज्ञान कहा जा सकता है। आय, व्यय और ऋण निश्चित योजना और स्वीकृत सिद्धांतों के अंतर्गत निर्धारित किए जाते हैं, ये सिद्धांत वैज्ञानिक मान्यताओं तथा अनुभवों पर आधारित होते हैं। लोकवित्त में इन मान्यताओं को स्वीकार न करने से हानिकारक परिणाम हो सकते हैं। कार्ल प्लेहन ने निम्न तर्कों के आधार पर लोकवित्त को विज्ञान माना है

(1) यह संपूर्ण मानव-विज्ञान का अध्ययन नहीं करता अपितु निश्चित और सीमित क्षेत्र का ही अध्ययन करता है।

(2) इसके सिद्धांतों तथा तथ्यों को नियमित क्रम से लगाया जाता है। अनेक नियम ऐसे हैं जो केवल इसी विज्ञान में लागू होते हैं।

(3) लोकवित्त के अध्ययन तथा खोज में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाता है।

(4) लोकवित्त में कुछ तथ्यों की स्पष्ट व्याख्या की जा सकती है तथा उनका पूर्व अनुमान लगाया जा सकता है। साथ ही साथ लोकवित्त आदर्श प्रस्तुत करता है। यदि आय और धन का वितरण असमान हो तो लोकवित्त उसे समान करने की रीतियों को सुझाता है। यह विषय इस तथ्य का भी उल्लेख करता है कि करारोपण का भुगतान क्षमतानुसार होना चाहिए।

इस प्रकार लोकवित्त वास्तविक विज्ञान होने के साथ-साथ एक आदर्श विज्ञान भी है। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि लोकवित्त एक आश्रित विज्ञान है क्योंकि इसके अध्ययन के लिए अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की विषय-सामग्री की सहायता लेनी पड़ती है। इसे स्वतंत्र विज्ञान नहीं माना जा सकता।

लोकवित्त एक कला है

विज्ञान के सिद्धांतों का क्रियान्वयन ही कला है। वास्तविक विज्ञान वस्तु की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराता है। आदर्श विज्ञान आदर्श प्रस्तुत करता है। कला यह बतलाती है कि आदर्श स्थिति को किस प्रकार प्राप्त किया जाए।

कला की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार लोकवित्त को कला स्वीकार किया जा सकता है। लोकवित्त उस समय कला का रूप ले लेता है जब एक देश की सरकार विभिन्न स्रोतों से आय एकत्र करके उसे विभिन्न मदों पर व्यय करने का ऐसा प्रयास करती है जिससे सामाजिक कल्याण में अधिकतम वृद्धि हो। आय जुटाने का काम सरल नहीं होता। कितनी राशि किस स्रोत से प्राप्त करनी है यह एक दूरदर्शी और कुशल आर्थिक विशेषज्ञ ही निश्चित कर सकता है। इसी प्रकार व्यय की मद तथा उस पर व्यय किए जाने वाले धन की राशि को भी ध्यान में रखना पड़ता है। यदि आय एकत्र करते समय उसका बटवारा विभिन्न स्रोतों में उचित नहीं हुआ या अनुचित मदों पर उसे खर्च कर दिया गया तो जनता द्वारा उनके प्रति रोष उत्पन्न होना स्वाभाविक होता है। इसलिए वित्त शास्त्री इन क्रियाओं को सतर्कता से सपन्न करता है। यह सब लोकवित्त के सिद्धान्तों को सही व्यावहारिक रूप देने का प्रयास है। वित्त मंत्री भी कठोर आलोचनाओं से बचने के लिए ऐसा ही करता है। अत लोक-वित्त को निश्चित रूप से कला कहा जा सकता है। इस सदर्भ में प्लेहन का विचार बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है। उनका कहना है, कि 'उन समस्त तथ्यों का जिनका अध्ययन लोकवित्त में होता है, भली प्रकार से सग्रह किया जा सकता है और उनसे ऐसे सही निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जो कि अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में साधारणतया नहीं निकाले जा सकते। जब भी एक विज्ञान निश्चित स्वरूप धारण कर लेता है, बहुधा उसके सिद्धांतों को क्रियाशील करना सरल तथा वाछनीय हो जाता है।'

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि लोकवित्त विज्ञान और कला दोनों हैं। लोकवित्त में आय जुटाने तथा व्यय के सिद्धांतों का अध्ययन विज्ञान का पक्ष धारण करता है। जब इन सिद्धांतों तथा नीतियों को सरकार द्वारा वित्तीय समस्याओं को हल करने में प्रयुक्त किया जाता है तब वह कला का रूप धारण करता है।

विषय-सामग्री तथा क्षेत्र

लोकवित्त की विषय-सामग्री के अतर्गत, सरकार और उससे सबधित तथा उसके अतर्गत आने वाली सार्वजनिक या लोक सत्ताए प्रशासन तथा जनता के कल्याण के लिए किस प्रकार विभिन्न मदों से धन जुटाती हैं, इसका अध्ययन किया जाता है। लोकवित्त के अतर्गत राज्य की केवल उन क्रियाओं का ही अध्ययन नहीं किया जाता है जिनका सबध आवश्यकताओं की सामूहिक सतुष्टि से होता है वरन् राजकीय क्रियाओं का अध्ययन वित्तीय दृष्टिकोण से किया जाता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि लोकवित्त की विषय-सामग्री में राजकीय वित्तीय जटिलताओं की गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है।

हाल में लोकवित्त से सबधित प्रकाशित पुस्तकों के द्वारा इसकी विषय-सामग्री में कुछ परिवर्तन आया है। प्रो० पीगू की पुस्तक 'लोकवित्त' के सन् 1928 के प्रथम तथा सन् 1947 के द्वितीय सस्करण के मध्य लोकवित्त की विषय-सामग्री में मौलिक परिवर्तन आए हैं। प्रथम सस्करण में युद्धवित्त तथा द्वितीय सस्करण में राजकोषीय क्रियाओं द्वारा

सामूहिक आय किस प्रकार प्रभावित होती है—इसे लोकवित्त के अध्ययन का एक अंग मान लिया गया। सन् 1930 की महामदी भी लोकवित्त के ऊपर अपनी छाप छोड़े बिना नही रह सकी। ए० आर० प्रेस्ट ने इसी प्रसग मे कहा है कि 'कीस की पुस्तक 'सामान्य सिद्धात के प्रकाशन के पश्चात् यह स्पष्ट रूप से पहचान लिया गया है कि विशेष करो तथा सरकार के विशेष व्ययो के प्रभावो की विवेचना लोकवित्त की विषय सामग्री का केवल एक भाग ही है। इस विषय के विवेचन म सपूर्ण आर्थिक गतिविधियो के स्तर तथा रोजगार पर सरकारी राजकोषीय क्रियाओ के पडने वाले प्रभावो को भी सम्मिलित करना चाहिए।'[1]

प्रो० डाल्टन ने लोकवित्त के क्षेत्र का जो वर्णन किया है वही सभी को स्वीकृत है। उनके अनुसार 'सार्वजनिक वित्त अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र की सीमा पर स्थित है।' इसका अभिप्राय यह है कि सरकार को लोकवित्तीय क्रियाओ को सपन्न करने के लिए तथा राज्य शासन के कुशल सचालन क लिए राजनीतिशास्त्र के सिद्धातो के आधार पर चलना पडता है तथा सार्वजनिक कल्याण को अधिकतम करने के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धातो की सहायता लेनी होती है। डाल्टन के मतव्य का स्पष्टीकरण निम्न वाक्य से होता है

'सार्वजनिक वित्तशास्त्र की दो टागो मे से एक राजनीतिशास्त्र और दूसरी अर्थशास्त्र मे फसी हुई है। यदि इन टागो को फैलाव की सीमा जानना चाहे तो इतना ही कहा जा सकता है कि सार्वजनिक वित्त के अतर्गत सरकार तथा लोक-सत्ताधिकारियो की उन सब क्रियाओ का अध्ययन किया जाता है जिनका सबध राज्य के आय-व्यय से होता है। इस शास्त्र के अतर्गत यह अध्ययन करना हमारा काम नही है कि सरकार को कौन-कौन से कार्य करने चाहिए, क्योकि इनका विवेचन सार्वजनिक वित्त के कलेवर के बाहर की वस्तु हो जाती है। अत इस विषय का अध्ययन न केवल राजकीय अधिकारियो के कार्यों से सबधित है, वरन् इन कार्यों को सपन्न करने के लिए सरकार क पास धन के होने तथा उसके व्यय करने से है। इस ज्ञान की शाखा म सरकार की क्रियाओ से सबधित वित्तीय उलझनो का अध्ययन किया जाता है, सरल शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि जहां सरकार द्वारा सपन्न की जाने वाली क्रियाओ मे धन का सबध आ जाता है, इस शास्त्र के अध्ययन की विषय-सामग्री बन जाती है और यही इस शास्त्र के क्षेत्र की सीमा है।'

लोकवित्त का विभाजन

सरकार के द्वारा आय एकत्र करना तथा व्यय करने की क्रियाओ का स्वरूप बहुत विस्तृत है। आधुनिक समय मे लोकवित्त के अध्ययन क्षेत्र को पांच विभागो मे विभक्त किया जा सकता है।

(1) सार्वजनिक व्यय ग्लैडस्टोन ने इस विभाग का महत्त्व बतलाते हुए कहा है

1 A R Prest 'Public Finance In Theory and Practice' (1960) p 15

कि आय एकत्र करने की अपेक्षा अधिक व्यय करने से अच्छा वित्त मिलता है। प्रो० कार्ल प्लेहन के अनुसार, 'सार्वजनिक व्यय लोकवित्त का उसी प्रकार से एक अंग है जिस प्रकार उपभोग अर्थशास्त्र का। लोकवित्त के इस विभाग में राजकीय व्यय के वर्गीकरण और उन *सिद्धांतों का अध्ययन किया जाता है जिनके अनुसार सरकार विभिन्न मदों पर अपनी आय खर्च करती है।'* सरकार द्वारा व्यय करने की मदों की प्राथमिकता को निर्धारित करना तथा प्रत्येक मद पर खर्च की जाने वाली राशि को निश्चित करना इसी विभाग का कार्य होता है। इन व्ययों का निर्धारण किन सिद्धांतों पर आधारित होना चाहिए, इन खर्चों का देश व राष्ट्र की अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ेगा इत्यादि प्रश्नों का उत्तर लोकवित्त का यही विभाग तय करता है।

सार्वजनिक कल्याण बहुत कुछ सीमा तक सार्वजनिक व्यय पर ही निर्भर करता है। कार्ल प्लेहन ने इसके महत्त्व को इंगित करते हुए कहा है, 'जिस प्रकार अर्थशास्त्र में उपभोक्ता का महत्त्व है उसी प्रकार लोकवित्त में व्यय का महत्त्व है। जिस प्रकार उपभोग अर्थशास्त्र का आदि, अंत और केंद्र है उसी प्रकार व्यय भी सार्वजनिक वित्त का आदि, अंत और केंद्र है। सार्वजनिक व्यय के आधार पर ही सार्वजनिक आय का एकत्रीकरण और अन्य वित्तीय क्रियाएं निर्भर करती हैं।'

(2) **सार्वजनिक आय :** *सार्वजनिक व्यय सार्वजनिक आय पर निर्भर करता है।* इस विभाग के अंतर्गत आय के विभिन्न स्रोतों जैसे कर, शुल्क, मूल्य, विशेष कर निर्धारण, अर्थदंड इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। इन सभी स्रोतों में कर का स्थान मुख्य होता है, करों का क्या महत्त्व है, करारोपण के क्या सिद्धांत हैं तथा विभिन्न प्रकार के करों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ता है, अनेक करों में कौन-सा कर अधिक उपयुक्त है तथा कर की वसूली कब और कैसे की जाए, करों का उत्पादन तथा वितरण पर क्या प्रभाव पड़ता है, इत्यादि के अध्ययन का समावेश इसी विभाग में होता है।

(3) **सार्वजनिक ऋण :** राज्य का व्यय, राज्य की आय से अधिक हो सकता है। आधुनिक जनतंत्र राज्य में यह कोई विशेष अनहोनी बात नहीं समझी जाती। इसी कारण सरकार को जनसाधारण से ऋण लेना पड़ता है और सार्वजनिक ऋण लोकवित्त का तीसरा अंग माना जाता है। कुछ अर्थशास्त्री इसे राज्य की आय में ही सम्मिलित करना चाहते हैं, परंतु सार्वजनिक ऋण कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण, *सैद्धांतिक और क्रियात्मक* समस्याएं उत्पन्न करता है जिनके कारण इसको सार्वजनिक आय में सम्मिलित करना उचित नहीं है। सार्वजनिक आय के स्रोतों से प्राप्त आय को लौटाने का प्रश्न नहीं उठता किंतु ऋण द्वारा जो धन प्राप्त होता है उसे लौटाना होता है।

इस विभाग के अंतर्गत हमारा अध्ययन इन समस्याओं से संबंधित होता है - ऋण लेने के कौन-से सिद्धांत हैं। ऋण का वर्गीकरण, ऋण का औचित्य, ऋणों की प्राप्ति के स्रोत, ब्याज दर तथा ऋण-शोधन की रीतियां इत्यादि।

(4) **वित्तीय प्रशासन :** लोकवित्त का शासन-प्रबंध लोकवित्त के अध्ययन का

मुख्य अग है। सार्वजनिक आय, व्यय, ऋण तथा ब्याज इत्यादि के यथोचित प्रबंध के लिए एक विशेष सगठन स्थापित किया जाता है जो वित्तीय प्रशासन के अंतर्गत आता है। यह विभाग शासकीय नियामो को सपन्न करता है। जैसे बजट बनाना, विधान सभा में पेश करना, जनता के सूचनार्थ उसे प्रकाशित करना और अत में उसका हिसाब करना तथा जाच करना।

प्रो० बैस्टेबल ने इस विभाग की आवश्यकता तथा महत्त्व को इन शब्दो मे व्यक्त किया है, 'केवल प्रक्रियाओ का अध्ययन ही अपेक्षित नही है वरन् उन सिद्धांतो का पर्यवेक्षण भी आवश्यक है जिनके अनुसार वे प्रक्रियाए अपनाई जाती हैं। कोई भी वित्त की पुस्तक पूर्ण नही हो सकती जब तक कि वह वित्तीय प्रशासन और बजट की समस्याओ का अध्ययन नही करती।'

(5) **आर्थिक स्थायित्व :** *इस विभाग के अध्ययन का महत्त्व सन् 1930 की महान् मंदी के बाद अधिक बढा है। इस विभाग के अतर्गत राजकोषीय नीति के माध्यम से* आर्थिक स्थायित्व प्राप्त करना होता है। यह नीति देश मे उत्पादन सबधी क्रियाओ का नियमन करती है। आय तथा सपत्ति के वितरण को समान करती है तथा मूल्यों को स्थिर बनाने मे यथेष्ट सहायता प्रदान करती है। इस नीति के द्वारा आर्थिक व्यवस्था मे सार्वजनिक क्षेत्र का सतुलन बनाए रखने का प्रयास किया जाता है तथा निजी क्षेत्र को इस प्रकार से नियत्रित किया जाता है कि सार्वजनिक कल्याण की प्राप्ति का उद्देश्य प्राप्त हो सके।

अन्य शास्त्रो से सबध

लोकवित्त और अर्थशास्त्र

लोकवित्त अर्थशास्त्र का एक अभिन्न अग माना जाता है। समय के बीतने के साथ-साथ राज्य के कार्य निरतर बढ रहे हैं। इन कार्यों को सपन्न करने के लिए राज्य को धन की आवश्यकता होती है। यह धन लोकवित्त के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। इसलिए यह कहना सर्वत्र उचित है कि लोकवित्त अर्थशास्त्र का एक प्रधान अग है। लोकवित्त के सिद्धांत तथा उनका अध्ययन अर्थशास्त्र के कुछ मूल सिद्धातो पर आधारित है जैसे उपभोग, माग, *विनिमय, वितरण, साख तथा बैंकिंग। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ का कथन है कि* राजनीतिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य राज्य को इतनी मात्रा में धन-पूर्ति करना है जो राज्य की सेवाओ के लिए पर्याप्त हो। यह उद्देश्य लोकवित्त के अध्ययन के अतर्गत ही आता है। इसी प्रकार बैस्टेबल का कथन है कि 'राजस्व के विद्यार्थी के लिए अर्थशास्त्र से परिचित होना नितात आवश्यक है।' एडम स्मिथ ने आगे चलकर उल्लेख किया है कि लोकवित्त की उपयुक्त नीति अर्थशास्त्र के गहन अध्ययन और ज्ञान पर आधारित होनी चाहिए।

लोकवित्त और सांख्यिकी

लोकवित्त की नीति आकड़ो पर आधारित होती है। लोकवित्त के अनेक सिद्धातो

का अध्ययन और क्रियात्मक प्रयोग बिना सांख्यिकी के नहीं हो सकता। 'बजट के अनुमान', 'संशोधित अंक' सांख्यिकी द्वारा दी गई सूचनाओं पर आधारित होते हैं। करों के प्रभाव की पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए समाज के विभिन्न वर्गों तथा क्षेत्रों में धन-वितरण संबंधी आंकड़ों का एकत्र करना आवश्यक हो जाता है। स्पष्ट है कि लोकवित्त के अध्ययन में सांख्यिकी से विशेष सहायता मिलती है। सांख्यिकी गणित पर आधारित है इसलिए लोकवित्त और सांख्यिकी में भी घनिष्ठ संबंध है।

राजनीति और लोकवित्त

प्रारंभ में अर्थशास्त्र राजनीतिक अर्थशास्त्र के नाम से संबोधित किया जाता था। इससे स्पष्ट है कि उस समय राजनीति और अर्थशास्त्र संयुक्त विज्ञान माने जाते थे। आर्थिक नीति के बिना राजनीतिक सफलता मिलना असंभव समझा जाता है। राजनीति की तुलना आर्थिक सफलताओं से ही मापी जाती है। राज्य की नीति स्वाभाविक रूप से आर्थिक होती है। राजनीति का स्थान उस समय आता है जब आर्थिक नीति कार्यरूप में परिणत की जाती है और उसके संचालन करने का प्रश्न उठता है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि आर्थिक नीति और राजनीति एक ही विषय के दो अंग हैं।

आधुनिक युग मे लोकवित्त का महत्त्व

आधुनिक युग में लोकवित्त का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है। इसका मुख्य कारण आधुनिक सरकारों के कार्य-क्षेत्र का विस्तृत होना है। इस बढ़ती हुई राज्य की क्रियाओं को जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर ने एक नियम 'राज्य की बढ़ती हुई क्रियाओं का नियम' (Law of Increasing State Activities) का नाम दिया है। कल्याणकारी राज्य तथा समाजवादी समाज (Socialistic Pattern of Society) की विचारधारा के विकास के फलस्वरूप लोकवित्त का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। राज्य की इन बढ़ती हुई क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए, राज्य की आय बढ़ाने के लिए नवीन उपायों की खोज करनी होती है तथा व्यय करने की क्रियाओं को वैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित करना पड़ता है। जहां आय और व्यय संतुलित नहीं हो पाते वहां ऋण लेने के सिद्धांतों पर विचार करने नये उपायों की खोज करनी पड़ती है।

आधुनिक सरकारों का कार्यक्षेत्र गत लगभग तीन शताब्दियों में इतना बढ़ गया है कि समाज आज उनसे अनेक कर्तव्यों की आशा करने लगा है जिनके बारे में नागरिक पहले सोचता भी नहीं था। अब सरकार सामाजिक बीमा योजनाओं तथा मूल्य नियंत्रण आदि को पूरा करना अपना प्रधान कर्तव्य समझती है। इन क्रियाओं के लिए धन की आवश्यकता होती है। यह धन कहां से प्राप्त किया जाए तथा किन स्रोतों से प्राप्त किया जाए, उत्पादन तथा वितरण तथा रोजगार पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है ये प्रश्न आज के युग में अनेक प्रकार के कुसमायोजन (maladjustments) होते हैं। लोकवित्त द्वारा इन कमियों को दूर किया जाता है। यह अब स्वीकार किया जा चुका है कि लोकवित्त का कार्य केवल आय और व्यय को पूरा करना ही नहीं अपितु एक और पग आगे बढ़कर

समाज में सतुलन की अवस्था को उत्पन्न करना तथा आय और सपत्ति का समान वितरण करना है।

वतमान में पूर्ण रोजगार को आर्थिक नीति का उद्देश्य स्वीकार कर लिया गया है। इस उद्देश्य की प्राप्ति मे लोकवित्त का बहुत अधिक योगदान होता है। कीसन बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिए सार्वजनिक विनियोग नीति पर अधिक बल दिया।

लोकवित्त का महत्त्व राजनीतिक कारणों से भी है। प्रो० डाल्टन का मतव्य है कि 'लोकवित्त व्यावहारिक राजनीति के बड निकट की वस्तु है। इस ग्रथ म वह अर्थशास्त्र की सबसे सजीव शाखा है। इसके आदर्श और समीकरण राजनीतिज्ञ क जादू के डडे के हिलने मात्र से चट बदलकर ससद् क विधान की धारा का रूप ले सकते है। इसलिए लोकवित्त का अध्ययन अपना अलग आकर्षण रखता है।'

लोकवित्त का महत्त्व सामाजिक दृष्टिकोण से भी कम नहीं है। लोकवित्त की क्रियाए समाज को प्रभावित करती है। प्रो० ए० पी० लनर के मतानुसार राज्य की वित्त नीति का मुख्य उद्देश्य देश के सामाजिक आर्थिक जीवन की सरचना म आवश्यकतानुसार और इच्छानुसार परिवतन करना है। लोकवित्त द्वारा अर्थव्यवस्था म क्रियात्मक परिवर्तन भी किए जा सकते है। कोलिन क्लाक ने ठीक कहा है *'जो लोकवित्त के क्षेत्र म काय करते हैं व केवल कला वैज्ञानिक तथा प्रशासक ही नहीं है वे देश क भविष्य के निर्धारण मे आवश्यक योगदान भी देते है।[1]*

सरकार वित्तीय क्रियाओं द्वारा मजदूरों को विभिन्न प्रकार की सुविधाए उपलब्ध कराकर सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती है। लोकवित्त की क्रियाओ क द्वारा ही उत्पत्ति क साधनों को देश के लाभानुसार वितरण कराती है और शिशु उद्योगों को सरक्षण प्रदान करती है। प्रत्येक सरकार के लिए सुसगठित तथा उच्च कोटि की *वित्त-व्यवस्था आवश्यक है। जेम्स विल्सन क अनुसार, वित्त केवल अकगणित* ही नहीं है, वित्त एक महान नीति है। बिना अच्छे वित्त क अच्छी सरकार भी सभव नहीं है।

लोकवित्त तथा निजी वित्त मे अतर

लोकवित्त क प्रारभिक आशय के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि लोकवित्त तथा निजी वित्त के अर्थ प्रबधन म कोई आधारभूत अतर नहीं है। दोनो की समस्याए लगभग समान प्रतीत होती हैं और दोनो का मुख्य उद्देश्य *'अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है, अर्थात् सम सीमात उपयोगिता नियम के अनुसार अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करना है।'* कुछ समय के लिए दोनो क बजट असतुलित रहते है परतु दीर्घकाल मे आय तथा व्यय मे सतुलन लाना ही पडता है। इन सब समानताओ के होते हुए भी लोकवित्त तथा निजी

1 Quoted by P N Bhargava Indian Public Finance (1970), Orient Longmans Bombay p 10

वित्त को एक दूसरे के अनुरूप नहीं माना जा सकता। दोनों में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो उन्हें एक-दूसरे से भिन्न करती हैं। लोकवित्त तथा निजी वित्त प्रबंध में मुख्यतः निम्न भेद पाए जाते हैं।

(1) एक व्यक्ति अपनी आय के अनुसार व्यय को निश्चित करता है परन्तु राज्य अपनी आय को व्यय के अनुसार निश्चित करता है : व्यक्तिगत अर्थ-प्रबंध में आय की मात्रा व्यय की सीमा का निर्धारित करती है। यह कहावत, 'उतना पैर पसारिए जितनी चादर होय' निजी अर्थ-प्रबंध में चरितार्थ होती है। इसके विपरीत लोकवित्त में लोक-प्राधिकरण का व्यय उसकी आवश्यक आय का आकार निश्चित करता है, अर्थात् सरकार को जितने पैर पसारने होते हैं, उसी के अनुसार वह चादर की व्यवस्था करती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति अपने साधनों के अनुरूप व्यय करता है और सरकार अपने व्यय के अनुसार साधनों को जुटाती है। इस विचार को समझाते हुए बेस्टेबल ने कहा है 'व्यक्ति यह कहता है कि मैं इतना खर्च कर सकता हूं, जबकि वित्त मंत्री यह कहता है, मुझे इतना धन प्राप्त करना है।'[1] परन्तु ऐसा वक्तव्य सदैव सत्य सिद्ध नहीं होता।

कभी-कभी व्यक्ति भी सरकार की तरह अपनी आय को व्यय के अनुरूप बनाता है। जब उसके आश्रितों की जिम्मेदारी बढ़ जाती है तो उसका आवश्यक व्यय संबंधी अनुमान भी बढ़ जाता है। तब वह अधिक मेहनत करके अपनी आय बढ़ाने का निश्चय करता है। इसी प्रकार सरकार भी कुछ सीमा तक व्यय को आय के अनुरूप बनाने की चेष्टा करती है। बुरे दिन में जब उसकी आय गिर जाती है, तब उसे अपने खर्चों में कटौती करनी पड़ती है। तथापि मुख्य रूप से यह कहा जाता है कि सरकार का वित्तीय दृष्टिकोण इस दिशा में निजी व्यक्तियों के दृष्टिकोण से भिन्न होता है।

(2) सरकार की आय के साधन अधिक लोचदार होते हैं किंतु व्यक्ति की आय के साधन लगभग लोचदार होते हैं : आय में वृद्धि करने की दृष्टि से व्यक्ति की तुलना में लोकप्राधिकरण अच्छी स्थिति में होता है। उसके समक्ष पूरे समाज का धन होता है जिससे वह आवश्यकतानुसार आय प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त समय आने पर सरकार विदेशों से भी ऋण ले सकती है। यदि किसी वर्ष सरकार की उपलब्ध आय अनुमानित व्यय से कम है तो वह इस घाटे को तीन प्रकार से पूरा कर सकती है। वह अपने नागरिकों पर अधिक कर लगा सकती है। यदि अतिरिक्त करारोपण से प्राप्त आय घाटे को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है तब वह सार्वजनिक ऋण द्वारा इस घाटे को पूरा कर सकती है। यदि इन साधनों से भी पर्याप्त आय उपलब्ध नहीं होती तब वह नोट छापकर बजट के घाटे को पूरा कर सकती है। इस प्रकार राज्य के आय के साधन असीमित होते हैं जब कि निजी व्यक्ति के आय के साधन सीमित और बेलोचदार होते हैं। परन्तु कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि सरकार की आय भी व्यक्ति की आय की भांति

1 'Bestable' Op cit. 42

अधिक लोचपूर्ण नहीं होती। यदि सरकार अपनी आय को बढ़ाती है तो व्यक्तियों की आय कम हो जाती है, अतः सरकार अपनी आय के बढ़ाने के संदर्भ में केवल उस अनुपात को बदल सकती है जिसमें देश की कुल आय सरकार और नागरिकों के बीच बटी रहती है। इस प्रसंग में श्रीमती हिक्स का कहना है, *व्यक्ति अपनी आय का एक भाग* अपनी इच्छा से व्यय करता है, और दूसरे भाग को वह सामूहिक आवश्यकताओं की सतुष्टि पर व्यय करता है। यदि वह सामूहिक आवश्यकताओं की सतुष्टि में अधिक व्यय करेगा तो उसकी व्यक्तिगत आय कम हो जाएगी।'

(3) व्यक्ति सम-सीमांत उपयोगिता नियम को व्यवहार में ला सकता है किंतु लोकवित्त ऐसा करने में पूर्णतः सफल नहीं होता एक व्यक्ति अपनी आय को विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं पर इस प्रकार से वितरित करता है कि इन सब खर्चों से प्राप्त होने वाली सीमांत उपयोगिताएं समान होती हैं और संपूर्ण व्यय में कुल लाभ अधिकतम होता है। चूंकि लोकप्राधिकरण व्यक्ति नहीं होता इसलिए वह व्यक्ति की भांति विभिन्न व्ययों में इस नियम का पालन नहीं कर पाता। ऐसा होने के अनेक कारण होते हैं। प्रथम, सरकार के अंतर्गत व्यक्ति नहीं होता इसलिए वह व्यक्ति की भांति विभिन्न व्ययों में इस नियम का पालन नहीं कर पाता। ऐसा होने के भी कई कारण होते हैं। दूसरे, सरकार के अंतर्गत अनेक कर्मचारी होते हैं, जिनमें परस्पर समन्वय नहीं हो पाता। तीसरे, कभी-कभी सरकार को विभिन्न क्षेत्रों में किए जाने वाले व्यय विशेष हितों की रक्षा करने हेतु अथवा राजनीतिक दबाव के कारण करने पड़ जाते हैं जो सम-सीमांत उपयोगिता नियम के अनुसार नहीं होते। तीसरे, सरकारी व्यय की राशि प्रायः निश्चित होती है और उसमें सरलता से परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

(4) अर्थ-प्रबंध में निजी दृष्टिकोण सरकारी दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक संकुचित होता है : *व्यक्ति, जीवन की अनिश्चितता के कारण केवल निकट भविष्य के बारे* में ही सोच सकता है और अपनी तात्कालिक सतुष्टि से ही मतलब रखता है। इसलिए उसका अर्थ-प्रबंध अधिक दीर्घकालीन नहीं होता है। वह इस कथन में विश्वास करता है कि 'दीर्घकाल में तो हम सब ही मर जायेंगे।' इसके विपरीत सरकार स्थायी तथा दीर्घकालीन दृष्टिकोण अपनाती है। पत्ते झड़ते हैं परंतु वृक्ष खड़ा रहता है और इसी प्रकार व्यक्ति का आवागमन बना रहता है किंतु राज्य का जीवन अमर रहता है। इसलिए लोकवित्त के अंतर्गत उन योजनाओं पर भी व्यय करना आवश्यक होता है जिनमें तुरंत कोई लाभ नहीं होता परंतु दीर्घकाल में वे राष्ट्र की उन्नति में सहायक होती हैं। इसलिए वर्तमान सरकारें वनारोपण पर, सार्वजनिक निर्माण के कार्यों पर तथा सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं पर पर्याप्त धन व्यय करती हैं। सरकार को भविष्य के हितों का रक्षक माना जाता है। इसीलिए वे अर्थ-प्रबंध में दीर्घकालीन दृष्टिकोण से प्रेरित होती हैं।

(5) निजी वित्त की कार्यवाहियां गोपनीय रहती हैं किंतु लोकवित्त के कृत्यों का प्रचार होता है : *किसी भी व्यक्ति के वित्तीय सौदे उसके अपने निजी मामले* होते हैं और गोपनीय रहते हैं। व्यक्ति अपनी आय-व्यय का ब्योरा तथा अपनी वैयक्तिक

स्थिति का सही चित्रण दूसरों के सामने प्रस्तुत नहीं करना चाहता। उसकी आर्थिक स्थिति रहस्य के आवरण में सुरक्षित रहती है। किंतु सरकार के निर्णय तथा वित्तीय सौदे प्रायः सार्वजनिक रूप से किए जाते हैं। राजवित्त की क्रियाओं का विस्तृत ब्योरा न केवल प्रकाशित किया जाता है अपितु उसके हिसाब-किताब का लेखा परीक्षण भी होता है और उस पर वाद-विवाद होने के उपरान्त उसे जनता की जानकारी में लाया जाता है। व्यक्तिगत वित्त इन सब बंधनों से मुक्त रहता है।

(6) आधिक्य का बजट व्यक्ति के लिए लाभकारी है परंतु सरकार के लिए नहीं : एक बुद्धिमान व्यक्ति अपनी आय की तुलना में कम व्यय करके आधिक्य का बजट बनाता है। निजी वित्तव्यवस्था में आधिक्य का बजट श्रेष्ठता का प्रतीक समझा जाता है। आधिक्य के बजट से धन की बचत होती है जो कठिनाइयों के समय काम आती है। परन्तु सरकार के लिए आधिक्य का बजट सामान्यतः बुद्धिमत्ता का प्रतीक नहीं माना जाता। केवल मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए ही सरकारी बजट में आधिक्य उचित समझा जा सकता है अन्यथा नहीं। साधारण स्थिति में आधिक्य के बजट के होने का अर्थ यह होता है कि करों का स्तर अनावश्यक रूप से ऊंचा रखा गया है और राजकीय व्यय अनुचित रूप से कम। ऐसा होने से कल्याण संबंधी या विकास संबंधी क्रियाओं का ठीक पोषण नहीं हो सकता। आधुनिक काल में तो विकासशील देशों की सरकारें प्रायः घाटे का बजट बनाती हैं और आय की कमी को नई मुद्रा के निर्गमन से पूरा करती हैं।

यह स्मरणीय है कि सरकार के लिए निरंतर घाटे के बजट की नीति उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती। इस नीति के कारण देश में मुद्रा-स्फीति की दशाएं उत्पन्न हो जाएंगी और सरकार की साख गिर जाएगी। इसलिए दीर्घकालीन दृष्टिकोण से ऐसी नीति श्रेयस्कर नहीं कही जा सकती।

(7) व्यक्तिगत तथा लोकवित्त ऋणों की प्रकृति में अंतर : व्यक्तिगत वित्त-व्यवस्था की तुलना में लोकवित्त व्यवस्था के अंतर्गत खर्चों की अधिकता को पूरा करने के हेतु ऋण प्राप्ति के साधन अधिक होते हैं। सरकार अपने नागरिकों से ऋण प्राप्त करने के साथ-साथ विदेशी नागरिकों से तथा सरकारों से भी ऋण प्राप्त कर सकती है किंतु एक व्यक्ति केवल अपने देश में ही ऋण प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त सरकार की साख व्यक्ति की तुलना में अधिक होती है। इसलिए सरकार अपनी शर्तों पर ऋण प्राप्त कर सकती है जब कि व्यक्ति को ऋणदाता की शर्तों पर ऋण लेना पड़ता है। यही नहीं, समय आने पर सरकार अपने नागरिकों को ऋण देने के लिए भी बाध्य कर सकती है जब कि एक व्यक्ति दूसरे को ऋण देने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। परंतु ऐसा एक तानाशाह सरकार ही कर सकती है। प्रजातंत्र राज्य में ऐसा संभव नहीं होता।

(8) सरकार की नियोजन प्रणाली विस्तृत होती है किंतु व्यक्ति की अति लघु : एक व्यक्ति अपना आय-व्यय पूर्व अनुमान व पूर्व निश्चित योजना के आधार पर करता है। सरकार भी जनता को अधिकतम लाभ पहुंचाने के लिए अपनी क्रियाओं का नियोजन करती है, योजनाओं पर व्यय करने के लिए धन के जुटाने की क्रिया भी योजना-

बद्ध होती है। परतु दोनो व्यवस्थाओं मे नियोजन की प्रकृति तथा आकार मे अंतर होता है। सरकार की नियोजन-पद्धति अति विस्तृत होती है। जब कि निजी व्यक्ति की अति सकुचित। भविष्य के लिए आयोजन करना सरकार की तुलना मे व्यक्ति विशेष के लिए अधिक सरल होता है। सरकार के सामने प्रतिदिन नवीन समस्याए उत्पन्न होती रहती हैं। विश्व अशाति, दुर्भिक्ष, अतर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति आदि सरकार के पूर्व निर्धारित अनुमानो को भग करती रहती है। एक व्यक्ति बिना नियोजन के भी कार्य कर सकता है किंतु राज्य बिना नियोजन के कार्य नहीं कर सकता। एक व्यक्ति के व्यय की प्रकृति उसकी आदतो, रीति-रिवाज तथा आर्थिक व सामाजिक दशाओ पर आधारित होती है। इसके विपरीत सार्वजनिक व्यय सरकार की पूर्व निश्चित आर्थिक नीति के अनुसार निर्धारित होता है।

उपर्युक्त आधारो पर यह कहा जा सकता है कि लोकवित्त, निजी वित्त से काफी भिन्न है। दोनो की कार्यविधि मे ही अतर नही है अपितु दोनो भिन्न दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं। आज राज्य न केवल सुरक्षा के लिए उत्तरदायी है अपितु राष्ट्र के समुचित विकास का दायित्व भी उसके कधो पर है। इसलिए उसे विशाल पैमाने पर साधनो को जुटाना पड़ता है। लोकवित्त का उद्देश्य अधिकतम सार्वजनिक कल्याण का है चाहे उसे प्राप्त करने मे सरकार को लाभ हो अथवा हानि। एक व्यक्ति का उद्देश्य अपनी आय से सदैव अधिकतम लाभ प्राप्त करने का होता है। दोनो प्रकार की वित्त-व्यवस्थाओ को सामान्य स्तर पर चलाना भूल है। यही कारण है कि लोकवित्त के लिए एक पृथक् शास्त्र की आवश्यकता होती है।

2

अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धांत

आज से लगभग दो शताब्दियों पूर्व सरकारों का स्वरूप, कार्यक्षेत्र तथा स्थिति अत्यन्त ही सीमित थी। मुख्यतः प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विचार सार्वजनिक वित्त के सम्बन्ध में संकुचित थे। वे लोग सबसे अच्छी सरकार उसे मानते थे जो मनुष्यों की आर्थिक स्वतन्त्रता में कम से कम हस्तक्षेप करती हो। प्राचीन अर्थशास्त्री द्रव्य को व्यक्तियों की जेबों में रखना ही अधिक उचित समझते थे। उनके इस विचार की भूमिका यह थी कि व्यक्तियों द्वारा किए गए व्यय उत्पादक हैं जब कि सरकार द्वारा किए गए व्यय अनुत्पादक होते हैं। एक व्यक्ति द्रव्य को अधिक कुशलता और सावधानी से व्यय करता है, अपेक्षाकृत सरकार के।

प्राचीन अर्थशास्त्री यह मानते थे कि राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित होना चाहिए। विख्यात फ्रेंच अर्थशास्त्री जे० बी० से० का कहना था - 'लोकवित्त की वही योजना सबसे अच्छी है जिसके अन्तर्गत कम से कम व्यय किया जाता है और सब करों में उत्तम कर वही है जो मात्रा में न्यूनतम हो।'...इसी तरह रिकार्डो ने भी यह मत प्रकट किया था कि 'यदि शान्तिमय सरकार चाहते हो तो तुम्हें बजट को कम करना होगा।'

आधुनिक अर्थशास्त्री रिकार्डो तथा जे० बी० से के इस मत से सहमत नहीं हैं कि 'राज्य द्वारा किए गए व्यय अनुत्पादक और व्यक्ति द्वारा किए गए व्यय उत्पादक होते हैं।' कोई राज्य-व्यय उत्पादक है या नहीं यह इस बात पर निर्भर करता है कि उससे समाज के सामूहिक कल्याण को अधिकतम करने में सहायता मिलती है या नहीं। स्वास्थ्य शिक्षा, चिकित्सा आदि पर किए गए सामाजिक खर्चों से सामाजिक कल्याण में वृद्धि ही होती है। इसके विपरीत व्यक्ति द्वारा किए गए समस्त व्यय समाज के लिए लाभदायक नहीं होते। उदाहरण के लिए व्यक्तियों द्वारा मदिरा आदि पर किए गए व्यय अनुत्पादक ही होते हैं। इस सम्बन्ध में डा० डाल्टन ने लिखा है : "कोई भी व्यय उत्पादक है या नहीं इसकी वास्तविक जांच उस व्यय की आर्थिक कल्याण की उत्पादकता है। उदाहरण के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा पर किया जाने वाला सरकारी व्यय बहुधा

व्यक्तिगत भोग-विलासों पर किए जाने वाले व्यय की अपेक्षा अधिक उत्पादक एवं कल्याणकारी है।'

इसलिए प्रत्येक कर अशुभ नहीं होता। यदि मदिरा और अन्य नशीले पदार्थों पर कर लगाकर उनके उपभोग को सीमित कर दिया जाए तो इस प्रकार के कर से सामाजिक कल्याण में वृद्धि ही होती है। अत इस दृष्टि से एक ऐसे सिद्धांत की खोज करना आवश्यक हो जाता है जो सार्वजनिक वित्त के आय और व्यय के इन दोनों ही क्षेत्रों पर लागू हो सके। ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन सर्वोत्तम ढंग से डा० डाल्टन ने किया है जिनका कथन है कि 'सार्वजनिक वित्त की सर्वोत्तम प्रणाली वह है जिससे राज्य अपने कार्यों के द्वारा अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति करता है।' इस अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धांत के प्रतिपादकों की मान्यता है कि यदि सरकार इस सिद्धांत के अनुसार आय प्राप्त करती है और इसी सिद्धांत के अनुसार इस आय को व्यय करती है तो समाज का अधिकतम कल्याण हो सकेगा।

सिद्धांत की व्याख्या : इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए डा० डाल्टन ने लिखा है, 'सार्वजनिक वित्त के मूल में एक बुनियादी सिद्धांत होना चाहिए। इसे हम अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धांत कह सकते हैं। सार्वजनिक वित्त की समस्त क्रियाएं एक प्रकार से समाज के एक वर्ग को दूसरे वर्ग में क्रय शक्ति का हस्तांतरण है। इस क्रय शक्ति के हस्तांतरण का मुख्य उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ को प्राप्त करना है।' उनके विचारानुसार *'राजकीय व्यय प्रत्येक दिशा में उस सीमा तक बढ़ाते रहना चाहिए कि इस व्यय से उत्पन्न होने वाला लाभ राज्य द्वारा लगाए गए करों से उत्पन्न होने वाले त्याग के बराबर हो जाए। यह सीमा ही राजकीय आय और व्यय में वृद्धि करने की आदर्श सीमा हो सकती है।'*

डा० डाल्टन का विचार यह है कि प्रत्येक सरकार कर, ऋण आदि विभिन्न साधनों से आय प्राप्त करती है। जब सरकार जनता से कर प्राप्त करती है तो यह *स्वाभाविक है कि जनता पर इसका भार पड़ता है जिससे अनुपयोगिता उत्पन्न होती है।* जनता से कर प्राप्त करके सरकार विभिन्न सार्वजनिक कार्यों पर व्यय करती है जिसके *फलस्वरूप समाज को लाभ अर्थात् उपयोगिता प्राप्त होती है। सरकार को इन दोनों का* समायोजन इस प्रकार से करना चाहिए कि समाज को मिलने वाली उपयोगिता उसको होने वाली अनुपयोगिता से कम न हो।

अधिकतम सामाजिक लाभ उसी दशा में प्राप्त किया जा सकता है जबकि सार्वजनिक *आय-व्यय की उचित सीमाएं निर्धारित कर ली जाएं। कर के रूप में जनता को कष्ट झेलना पड़ता है जिसको सीमांत सामाजिक त्याग कहा जाता है। दूसरी ओर सार्वजनिक* व्यय द्वारा जो संतुष्टि प्राप्त होती है उसे सीमांत सामाजिक संतुष्टि कहते हैं। राज्य को सार्वजनिक व्यय उसी सीमा तक बढ़ाते रहना चाहिए जब तक उस आय को प्राप्त करने से जनता को होने वाली सीमांत अनुपयोगिता के बराबर सीमांत उपयोगिता दी जा सके।

उक्त विचार को स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार एक

व्यक्ति सदैव 'सम-सीमांत-उपयोगिता' के नियम के अनुसार अपनी आय का खर्च करता है जिससे कि अधिक से अधिक उपयोगिता मिल सके उसी तरह सार्वजनिक वित्त में भी सरकार व्यय करते समय ऐसा प्रयत्न मोटे तौर पर कर सकती है।

ज्यों-ज्यों लोगों के पास द्रव्य कम होता जाता है त्यों-त्यों उसकी उपयोगिता बढ़ती जाती है। इस प्रकार जब कोई नया कर लगाया जाता है या किसी पुराने कर की दर में वृद्धि की जाती है तो कर की प्रति-अतिरिक्त इकाई लगने से पहले की अपेक्षा समाज पर भार बढ़ता जाता है। दूसरी ओर इसी आय से राज्य अपने व्यय द्वारा समाज के लिए अनेक लाभदायक कार्य करता है। किंतु व्यय की प्रति अतिरिक्त इकाई से समाज के लिए इसकी उपयोगिता पहले की अपेक्षा कम होती जाती है और इस प्रकार एक ऐसा बिंदु आ जाता है जिस पर व्यय से मिलने वाली उपयोगिता तथा कर देने की अनुपयोगिता बराबर हो जाती है। सरकार को इस बिंदु तक ही अपने आय-व्यय ले जाने चाहिए। यदि कर इस सीमा से अधिक लगाए जाते हैं तो ऐसी स्थिति में जनता को सार्वजनिक व्यय से मिलने वाली आय की अपेक्षा कर देने में अधिक कष्ट होगा और यदि कर इस सीमा से कम लगते हैं तो जनता को कष्ट तो कम होगा लेकिन वह उस लाभ से वंचित रहेगी जो अधिक कर लगाने से प्राप्त होने वाली आय को सार्वजनिक हित के लिए व्यय करने से होता है।

इस विचारधारा को निम्न उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है

इकाई	कर की प्रत्येक इकाई से उत्पन्न त्याग	सार्वजनिक व्यय की प्रति इकाई से प्राप्त उपयोगिता
1	25	75
2	30	70
3	40	60
4	50	50
5	60	40
6	70	35

प्रस्तुत सारणी से यह स्पष्ट है कि कर की इकाई बढ़ने के साथ-साथ कर की प्रति इकाई का समाज पर भार बढ़ता जाता है जबकि लोक व्यय की प्रति-अतिरिक्त इकाई से समाज के लिए उपयोगिता घटती जाती है। अतः अधिकतम सामाजिक लाभ के अनुसार इस उदाहरण में चौथी इकाई के बाद सरकार को कर नहीं लगाना चाहिए क्योंकि यहां पर सीमांत सामाजिक त्याग और सीमांत सामाजिक संतुष्टि समान हो जाते हैं। इसे पृष्ठ 19 पर दिए चित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है।

समाज द्वारा कर के रूप में किया गया त्याग बढ़ता हुआ होता है अर्थात् समाज

को होने वाली अनुपयोगिता के वक्र की प्रवृत्ति ऊपर की ओर जाने की होती है क्योकि सरकार अपनी आय बढाने के लिए कर तथा आय के अन्य स्रोतो मे वृद्धि करती है। इसलिए जनता का सीमात त्याग बढता जाता है। दूसरी ओर सार्वजनिक वित्त द्वारा प्राप्त उपयोगिता की वक्र रेखा गिरती हुई होती है। दोनो वक्र जिस बिंदु पर काटते हैं वहा लोक व्यय तथा आय की सर्वोच्च स्थिति होती है। वहा तक सार्वजनिक आय-व्यय को करने से अधिकतम सामाजिक कल्याण प्राप्त होता है।
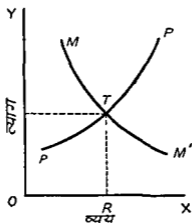
चित्र 1

चित्र 1 मे PP' वक्र रेखा सामाजिक अनुपयोगिता को दिखाती है। MM' वक्र रेखा समाज को प्राप्त उपयोगिता को प्रदर्शित करती है। ये दोनो वक्र T बिंदु पर एक-दूसरे को काटते हैं। OR राज्य के सार्वजनिक वित्त की वह सीमा है जिससे समाज को अधिकतम सामाजिक लाभ होगा। T वह सीमा है जहा तक राज्य को अपना कार्यक्षेत्र बढाते जाना चाहिए। यदि T बिंदु से आगे सरकार ने अपना कार्य किया तो इससे जनता को अधिक कष्ट सहन करना पडेगा।

सामाजिक आय और व्यय का बटवारा

यह सिद्धात केवल यही नही बताता कि सार्वजनिक व्यय और आय की मात्रा मे किस सीमा तक वृद्धि करनी चाहिए वरन् यह भी बताता है कि

(अ) राजकीय व्यय का बटवारा व्यय के विभिन्न मदों मे किस आधार पर करना चाहिए।

(ब) कर का विभाजन विभिन्न कर स्रोतो मे किस प्रकार करना चाहिए।

(अ) राजकीय व्यय का बटवारा

इस सिद्धात के अनुसार सार्वजनिक व्यय को विभिन्न मदों मे इस प्रकार से

निश्चित किया जाए कि प्रत्येक मद पर जो राशि व्यय हो उससे प्राप्त होने वाली सीमान्त सामाजिक सन्तुष्टि बराबर (या लगभग बराबर) हो जिससे कुल व्यय से जनता को प्राप्त होने वाली उपयोगिता अधिकतम हो सके। उदाहरण के लिए यदि सरकार प्रतिरक्षा पर आवश्यकता से अधिक और शिक्षा तथा स्वास्थ्य पर आवश्यकता से कम व्यय करती है तो इस प्रकार के व्यय से समाज को अधिकतम उपयोगिता प्राप्त न हो सकेगी। वस्तुतः सरकार का यह कर्त्तव्य है कि प्रतिरक्षा कार्य पर से कुछ व्यय घटा कर शिक्षा तथा स्वास्थ्य पर व्यय बढ़ाया जाए जिससे समाज का हित हो और उक्त मदों से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो सके। यह हम निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं
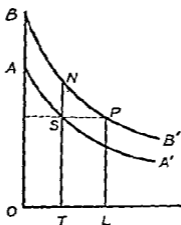
चित्र 2

इस रेखाचित्र में AA′ तथा BB′ उस समय की उपयोगिता वक्र है जबकि राज्य A′ और B′ मदों पर व्यय करता है। इस चित्र में हमने X-अक्ष पर व्यय तथा Y-अक्ष पर त्याग नापा है। यदि राज्य OT राशि B मद पर व्यय करता है तो इस स्थिति में उपयोगिता A मद से OTSA तथा B मद पर OL राशि व्यय करने से OLPB उपयोगिता प्राप्त होती है। क्योंकि दोनों मदों की सीमान्त उपयोगिता समान है, इसलिए कुल उपयोगिता अधिकतम होगी।

(ब) राजकीय आय के स्रोतों का निर्धारण

अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त यह भी बताता है कि करों को किन-किन स्रोतों पर बाटा जाए। इस सिद्धान्त के अनुसार करों के भार का विभिन्न स्रोतों में विभाजन इस प्रकार से किया जाए कि प्रत्येक स्रोत का सीमान्त त्याग बराबर हो। यदि सीमान्त त्याग एक मद की अपेक्षा दूसरे मद पर अधिक होता है तो यह समाज के हित में होगा कि पहली मद पर कर की दर कम कर दी जाए और दूसरी मद पर कर की दर बढ़ा दी जाए।

इसके लिए हमे यह ज्ञात करना पडेगा कि विभिन्न वर्गों की आर्थिक स्थिति कैसी है। क्योंकि धनी व्यक्ति के लिए रुपये की सीमात उपयोगिता निर्धन व्यक्ति की अपेक्षा कम होती है। अत धनी व्यक्ति अधिक कर सहन कर सकता है। इसे हम निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते है---

मान लीजिए अ, ब, स और द चार व्यक्ति हैं जब इनमे से किसी को कर देना पडता है तो उसका त्याग इस प्रकार होता है

रुपयों की इकाइयां	त्याग			
	अ	ब	स	द
एक रुपए देने मे	8	10	14	16
दो रुपए देने मे	10	12	16	20
तीन रुपए देने मे	14	16	20	24
चार रुपए देने मे	16	18	26	30
पाच रुपए देने मे	20	22	30	36

मान लीजिए कि सरकार को 20 रुपये कर से वसूल करने हैं तो उस अ स 8 रुपये, ब से 6 रुपये, स से 4 रुपये और द से 2 रुपये वसूल करने चाहिए, क्योंकि इस स्थिति मे सबका सीमात त्याग बराबर है। इस प्रकार धनिक वर्ग से अधिक कर और निर्धन से कम लिया जाए, अर्थात् कर प्रणाली प्रगतिशील होनी चाहिए। इसे रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है
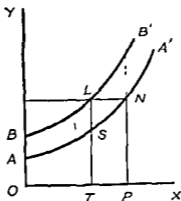
चित्र 3

A तथा B वस्तु पर कर लगाने से जो सीमात त्याग होता है क्रमश AA' तथा BB' वक्र रेखाओ द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यहा पर हमने X-अक्ष पर कर की मात्रा तथा Y-अक्ष पर होने वाले त्याग को नापा है। A वस्तु से OP तथा B वस्तु से OT

कर वसूल करने पर सीमान्त त्याग बराबर रहता है, अर्थात् TL=PN। इस स्थिति में कुल सामाजिक त्याग न्यूनतम होता है।

व्यावहारिक कठिनाइयां

लोकवित्त की सर्वोत्तम प्रणाली वह है जो अपनी क्रियाओं द्वारा अधिकतम सामाजिक लाभ उपलब्ध कराती है। यह सिद्धान्त स्पष्ट, सरल और दूरगामी है परन्तु इसको व्यवहार में लाना बहुत कठिन होता है। इसके व्यावहारिक आचरण में जो कठिनाइयां आती हैं उनका वर्णन नीचे किया गया है।

(1) यह कहना सरल है कि कर देने से करदाताओं को होने वाली अनुपयोगिता तथा राजकीय व्यय से समाज को प्राप्त होने वाली उपयोगिता की तुलना करके सार्वजनिक वित्त की क्रियाओं की सीमा निश्चित की जा सकती है परन्तु इसके मापने में व्यावहारिक कठिनाई है। जब करदाता कर अदा करता है तो यह निर्णय लेना पड़ता है कि कर का भार करदाता पर उसकी योग्यता और क्षमता से अधिक न पड़े। दूसरे यह कठिनाई उपस्थित होती है कि कर का भार कैसे नापा जाए।

स्पष्ट है कि हमारे पास कपड़ा नापने का गज अथवा वजन तौलने का किलो जैसा कोई माप यंत्र नहीं है जिसकी सहायता से हम करदाता को कर अदा करने से होने वाली अनुपयोगिता और सार्वजनिक व्यय से उसको मिलने वाली उपयोगिता को माप सकें। जब एक व्यक्ति के लिए यह बतलाना कठिन है कि व्यय से प्राप्त उपयोगिता और कर से प्राप्त अनुपयोगिता कब बराबर होगी तो एक राज्य के लिए यह बतलाना और भी कठिन है क्योंकि एक व्यक्ति की अपेक्षा राज्य का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है।

(2) दूसरी ओर राज्य के कार्य बड़े जटिल हैं। सार्वजनिक वित्त अनेक अनार्थिक, व्यक्तिगत और सामाजिक बातों से प्रभावित होता है। इसलिए यह सम्भव नहीं है कि वह अनुपयोगिता का पूर्ण विवरण तैयार कर उसको सन्तुलित कर सके।

(3) यह सिद्धांत इसलिए भी अव्यावहारिक है क्योंकि कर से होने वाले निश्चित लाभों और हानियों का पता लगाना कठिन होता है। इस कार्य में निम्न कठिनाइयां आती हैं

(क) कर लगने के फलस्वरूप नागरिकों की क्रय शक्ति में कमी आती है या उनकी बचत घट जाती है या उन्हें उपभोग कम करना पड़ता है। कभी-कभी उपभोग और बचत दोनों में कमी आ जाती है। उपभोग घटने के फलस्वरूप कार्यक्षमता में कमी आ जाती है। बचत कम होने से व्यक्ति की उत्पादक शक्ति में कमी आ जाती है। परन्तु कभी-कभी ऐसे त्याग लाभप्रद भी सिद्ध होते हैं, जैसे नशीले पदार्थों पर कर लगाने से उनके उपभोग में कमी आना।

(ख) करारोपण के फलस्वरूप समाज में धन के वितरण में भी परिवर्तन आ जाता है, जिससे कुछ को लाभ तथा अन्य को हानि होती है। परन्तु किस वर्ग को कितना लाभ और कितनी हानि हुई, इसका अनुमान लगाना कठिन होता है।

(ग) अल्पकालीन और दीर्घकालीन दृष्टिकोणों का अन्तर भी कठिनाइयां

उपस्थित करता है। कर से प्राप्त अनुपयोगिता अल्पकालीन तथा सावजनिक व्यय से प्राप्त उपयोगिता दीघकालीन होती है। इस प्रकार भविष्य की उपयोगिता और वतमान का त्याग के आधार पर अधिकतम सामाजिक लाभ की कल्पना अनुपयुक्त प्रतीत होती है।

सामाजिक लाभ की कसौटिया

नि सदेह *अधिकतम सामाजिक लाभ के माप मे व्यावहारिक कठिनाइया हैं परन्तु* यह नही भूलना चाहिए कि आर्थिक जगत मे हम अधिकाशत अनुमान और परिकल्पना पर आश्रित रहते है और इन्ही अनुमानो से राजस्व क्रियाओ का निश्चय करने म थोड बहुत मागदशन मिल जाता है। इसी मान्यता के आधार पर डाल्टन ने निम्न बिंदुओ की ओर सकेत किया है

(1) सुरक्षा एव शाति प्रत्येक राज्य की सरकार का यह परम कत्तव्य है कि वह अपनी जनता की विदेशी आक्रमणो से रक्षा करे तथा आतरिक शाति को बनाए रखे। *इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया जाने वाला राजकीय व्यय न्यायसगत प्रतीत होता है* क्योकि सुरक्षा के अभाव मे आर्थिक कल्याण सभव नही हो सकता। डाल्टन ने तो यहा तक कहा है कि देश और विदेश मे शातिपूर्ण एव न्यायसगत नीतियो को ही अपनाना चाहिए। प्राय राजनैतिक आर्थिक और सामाजिक नीतियो के उचित न होने पर ही देश मे असतोष की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

(2) आर्थिक कल्याण मे उन्नति डाल्टन का कहना है कि सामाजिक कल्याण मे वृद्धि की निम्न दो शर्तें है

(1) उत्पादन म सुधार तथा

(2) उत्पादित धन के वितरण मे सुधार।

डाल्टन के अनुसार उत्पादन म सुधार की विचारधारा को निम्न भागो म बाटा जा सकता है

(क) उत्पादक शक्ति मे सुधार उत्पादन शक्ति म सुधार के फलस्वरूप कम से कम प्रयास से प्रत्येक श्रमिक द्वारा पहले से अधिक उत्पादन किया जा सके।

(ख) उत्पादन के सगठन मे सुधार उत्पादन के सगठन मे सुधार से बेकारी तथा अन्य कारणो से आर्थिक साधनो के अपव्यय को कम किया जा सके। तथा

(ग) उत्पादन के स्वरूप तथा आकार मे सुधार उत्पादन के स्वरूप तथा आकार मे सुधार होने से समाज या समुदाय की आवश्यकताए सर्वोत्तम ढग से पूरी की जा सकें।

उत्पादन शक्ति मे वृद्धि के लिए यह उचित है कि अनिवाय वस्तुओ पर कर नही *लगाया जाना चाहिए* और उद्योगो पर भी कर का भार बहुत अधिक नही पडना चाहिए क्योकि ऐसा होने से उनका विकास निरुत्साहित हो जाता है। वितरण मे सुधार लाने के प्रयासो को निम्न भागो मे बाटा जा सकता है

(क) विभिन्न व्यक्तियो तथा परिवारो के बीच पाई जाने वाली भारी आर्थिक विषमता मे कमी करना।

(छ) कुछ व्यक्तियों तथा परिवारों, विशेषकर समुदाय के निर्धन वर्ग की आयों में, समय-समय पर होने वाले उतार-चढ़ावों को कम करना।

विषमता को कम करना वाछनीय है ताकि किसी भी दिए हुए समय में आय का वितरण व्यक्तिगत तथा पारिवारिक आवश्यकता के अनुसार किया जा सके।

(3) भविष्य की पीढ़ी पर प्रभाव : डाल्टन का विचार है कि राजकीय क्रियाओं के भविष्य की पीढ़ी के हितों पर पड़ने वाले प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिए क्योंकि राज्य न केवल वर्तमान बल्कि भविष्य की पीढ़ी का भी जिम्मेदार होता है। व्यक्ति मर जाते हैं परन्तु जिस समुदाय का वे भाग होते हैं वह जीवित रहता है। इसलिए राज्य को वर्तमान के कम सामाजिक लाभ की अपेक्षा भविष्य के अधिक सामाजिक लाभ को स्वीकार करना चाहिए।

अत में हम यही कह सकते हैं कि किसी भी विचाराधीन वित्तीय प्रस्तावों के सब सभव परिणामों का (जिनका अनुमान लगाया जा सके) पूरा लेखा-जोखा तैयार करें और समाज को होने वाले सभावित लाभों और हानियों की तुलना करें। इस सतुलन की तुलना दूसरे वैकल्पिक प्रस्तावों के सतुलनों से करें। जिस प्रस्ताव के सतुलन से तुलनात्मक लाभ अधिक हो उसे ही कार्यरूप दिया जाए। जो लोग इस लेखे-जोखे की कठिनाइयों से आक्रात हो उठें, उन्हें प्राचीन यूनानियों की इस कहावत से सात्वना प्राप्त करनी चाहिए कि 'सरल चीजें नहीं, कठिन चीजें सुदर हुआ करती हैं।'

श्रीमती हिक्स का दृष्टिकोण

श्रीमती उर्सला हिक्स ने सामाजिक लाभ की धारणा को दूसरे ढग से समझाया है। उनका मत है कि लोकवित्त और उसके कार्यों को निश्चित करते समय निम्न दो बातों को आधार बनाना चाहिए

(क) उत्पादन अनुकूलतम (Production Optimum)

(ख) उपयोगिता अनुकूलतम (Utility Optimum)

इनके अनुसार सार्वजनिक वित्त का अंतिम लक्ष्य सामाजिक आवश्यकताओं को सतुष्ट करना है। अत अधिकतम आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए उत्पादन अधिकतम होना चाहिए। अनुकूलतम उत्पादन के लिए यह आवश्यक है कि ससाधनों का वितरण भी उचित हो। दूसरे शब्दों में अनुकूलतम उत्पादन स्तर तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि ससाधनों का आवटन विभिन्न उत्पादन क्रियाओं द्वारा आदर्श रीति से हुआ हो। इसी प्रसग में श्रीमती हिक्स ने लिखा है, 'इस प्रकार उत्पादन को अधिकतम करने का या 'अनुकूलतम उत्पादन' का ससाधनों के वितरण से सबध है। उत्पादन को अधिकतम करने की शर्त यह है कि उत्पादित वस्तुओं के स्थिर रहने की दशा में ससाधनों के वितरण में परिवर्तन करके दूसरी वस्तुओं का उत्पादन कम किए बिना, पहली वस्तु के उत्पादन में वृद्धि करना असभव हो।' श्रीमती हिक्स ने आगे वर्णन किया है 'यद्यपि उत्पादन स्तर का आधार बहुत पहले ही ससाधनों के समान सीमात उत्पत्ति के नियम के रूप में

प्रकट हो चुका था। यह कोई नवीन विचार नही है परतु एक तो यह अधिकतम सूक्ष्म है और दूसरे इसम वस्तुओ का प्रतिस्थापन मूल्य के आधार पर नही किया जा सकता इसलिए यह समस्त क्षेत्र मे लागू होता है।

सार्वजनिक वित्त का दूसरा आधार उपयोगिता अनुकूलतम की प्राप्ति है। इसम ऐसी व्यवस्था या चयन करना होगा जिससे सतुष्टि अधिकतम हो सके। यह सही है कि एक व्यक्ति की पुष्टि की तुलना दूसरे व्यक्ति की पुष्टि से करना एक कठिन काय है फिर भी इसको क्षतिपूर्ति की विधि द्वारा पूरा किया जा सकता है। श्रीमती हिक्स के मतानुसार यदि वस्तुओ का कोई विशेष *पुनर्वितरण एक व्यक्ति का पहले की* अपेक्षा इतनी अधिक तुष्टि प्रदान कर दे कि वह दूसरे व्यक्ति की क्षतिपूर्ति कर सके और फिर भी अधिक अच्छा रहे (उस स्थिति से जैसा कि वह प्रारभ मे था) तो दोनो ही इससे सहमत होगे कि *यह परिवतन पहली स्थिति मे सुधार होगा। उपयोगिता उस समय अनुकूलतम होती हुई* कही जाएगी जब एक व्यक्ति की सतुष्टि को बिना दूसरे की सतुष्टि कम किए हुए बढाना सभव हो सके।

श्रीमती हिक्स के विश्लेषण से यही प्रकट होता है कि लोकवित्त की वही क्रिया उपयुक्त है जिसके करने से यदि एक मनुष्य की सतुष्टि मे वृद्धि हो और दूसरे मनुष्य की सतुष्टि मे कमी परतु पहले मनुष्य की सतुष्टि की कमी दूसरे मनुष्य की सतुष्टि मे वृद्धि से अधिक होनी चाहिए। श्रीमती हिक्स द्वारा बताया गया आधार भी उतना ही कठिन और अव्यावहारिक है जितना कि डाल्टन का सामाजिक कल्याण का सिद्धात। इसके लिए व्यक्ति म बहुत ही निष्पक्ष रूप म हिसाब किताब रखने की क्षमता होनी चाहिए। यदि इन आधारो पर सार्वजनिक नीतियो को निर्धारित किया जाए तो समाज को अपेक्षाकृत अधिक लाभ होगा फिर भी इस सिद्धात को सफलतापूर्वक व्यवहार म लाने म जो कठिनाइया सामने आती है उन्हे सरलता से दूर नही किया जा सकता।

3

लोकवित्त की प्रदा : मूल्य-निर्धारण तथा वितरण में भूमिका

प्रदा तथा मूल्य एक-दूसरे से पारस्परिक रूप से सबंधित हैं। इन दोनों में वृद्धि अर्थव्यवस्था की प्रगति का प्रतीक मानी जाती है। इसके विपरीत प्रदा, रोजगार तथा मूल्यों में गिरावट आदि देश की अर्थव्यवस्था के निम्न स्तर की ओर जाने का संकेत करते हैं। साथ ही प्रदा की वृद्धि और उसका समान वितरण कल्याणकारी राज्य के सुन्दर उद्देश्य समझे जाते हैं अत लोकवित्तीय क्रियाएं प्रदा, मूल्य-निर्धारण, आय तथा धन के वितरण में क्या भूमिका निभाती हैं, यह हमारे अध्ययन का क्षेत्र बन जाता है।

लोकवित्त तथा प्रदा

राजस्व नीति द्वारा प्रदा की मात्रा को प्रभावित किया जा सकता है। कुशल राजस्व नीति इसके लिए अनुकूल दशा किस प्रकार प्रदान कर सकती है, उसका विस्तृत विवेचन नीचे किया गया है।

व्यय नीति

व्यय (माग) के द्वारा बाजार से प्रदा आकृष्ट होती है। चालू प्रदा के लिए व्यय के तीन वर्ग होते है. (1) व्यक्तियों द्वारा वस्तुओं और सेवाओं की खपत, (2) व्यवसायियो द्वारा प्रदा अथवा बिक्री के उद्देश्य से पूजीगत माल तथा सेवाओं का क्रय जो वे प्राप्त करना चाहते हैं। तीनों प्रकार के खर्चों के जोड़ से सामान और सेवाओं के सम्पूर्ण चालू प्रदा का बोध होता है। ये सब मिलकर प्रदा से भाग लेने वालों के लिए व्यय के बराबर आय का निर्माण करते हैं, जो भविष्य में पुनरुत्पादन के लिए खर्च किया जाएगा। यदि सम्पूर्ण व्यय की दर एक अवधि के लिए समान रहे तो उस अवधि में प्रदा स्थायी रहेगी।

अर्थव्यवस्था मे सम्पूर्ण व्यय की अस्थिरता से प्रदा या रोजगार मे अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। पूर्ण रोजगार की स्थिति मे उत्पादन प्रणाली, श्रम और पूजी का पूरा-पूरा उपयोग होता है। पूर्ण रोजगार के उद्देश्य के पीछे यह भावना काम करती है कि जिस मात्रा में उत्पादन क्षमता का उपयोग नहीं होता उसी मात्रा में सामान का उत्पादन भी

नहीं होता और उसी सीमा तक समाज को उससे वंचित रहना पड़ता है।

इसलिए प्रभावपूर्ण माग म कमी नहीं आने देनी चाहिए। प्रभावपूर्ण माग म कमी आने से ही प्रदा की मात्रा घट जाती है। लोकवित्त नीति का उद्देश्य अनुकूल वातावरण उत्पन्न करना और आर्थिक शक्तियों को इस प्रकार क्रियाशील करना है जिससे आय अथवा प्रभावपूर्ण माग मे वृद्धि हो तथा बचत और विनियोग मे सतुलन स्थापित किया जा सके।

प्रदा की मात्रा को बढ़ाने के लिए सरकार निजी उद्योग को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वित्तीय सहायता दे सकती है। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि आधारभूत सरचना का पूर्ण विकास हो। इसलिए सरकार को एक ऐसी व्यय नीति अपनानी होती है जो यातायात तथा सचार-वाहन के साधन, जल-विद्युत तथा शिक्षा आदि के विकास मे सहायक हो।

करारोपण नीति

उपरोक्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सार्वजनिक व्यय तथा करारोपण की क्या नीति हो सकती है इसका निश्चित उत्तर देना कठिन है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सामान्य रूप से प्रभावपूर्ण माग मे वृद्धि करने के लिए सरकार को करारोपण नीति द्वारा आय तथा धन का समान वितरण करना चाहिए। धनी वर्ग से प्रगतिशील कर द्वारा एकत्रित आय को सार्वजनिक व्यय द्वारा अपेक्षाकृत निर्धन लोगो म वितरण करना चाहिए। प्रारभिक उद्योगो को कुछ वर्षों के लिए कर मे मुक्त कर देना चाहिए ताकि वे परिपक्व स्तर पर शीघ्र पहुचकर उत्पादन में अपना योगदान दे सकें।

प्रत्यक्ष करो के अतिरिक्त परोक्ष करो की दरो मे परिवर्तन करके भी औद्योगिक प्रदा को प्रभावित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए आयात करो मे वृद्धि देश के उत्पादन तथा विकास मे सहायक हो सकती है, इसी प्रकार उत्पादन शुल्को के ढाचे म फेर-बदल करके उत्पादन को प्रभावित किया जा सकता है।

'प्रदा की दर पूजी सचय की दर का फलन होती है। पूजी सचय की दर चालू उपभोग के ऊपर उत्पादन की अधिकता से निर्धारित होती है'[1] इसलिए प्रदा को बढ़ाने के लिए निजी बचत तथा विनियोगो को बढ़ाने के लिए निजी बचत तथा विनियोगो को भी अनिवार्यत बढ़ाना होगा। वर्तमान विनियोगो को अनुत्पादक क्रियाओ से हटाकर उत्पादक क्रियाओ मे प्रवाहित करना होगा। आर्थिक ससाधन कम उपयोगी उद्योगो से अधिक उपयोगी उद्योगो मे स्थानातरित करने होंगे। नि सदेह कर ही एक ऐसा प्रभावपूर्ण वित्तीय यत्र है जो निजी उपभोग को कम करा कर विनियोगो को बढ़ाने मे तथा आर्थिक ससाधनो को सही दिशा मे प्रवाहित करने मे अपनी उपयोगिता रखता है।

कर तथा हस्तातरण क्षोधन के परिवर्तन मूल्य स्तर तथा वास्तविक प्रदा को प्रभावित करने की पर्याप्त क्षमता रखते है। विभिन्न करो मे परिवर्तन प्रदा की कुल पूर्ति

1 R N Tripathi 'Public Finance in Under-developed Countries' (1968), The World Press Pvt Ltd, Calcutta, p 81

को कितना प्रभावित करेंगे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वे व्यक्ति की आय अर्जित करने की इच्छा पर क्या प्रभाव डालते हैं। व्यक्तिगत आयकर में वृद्धि के परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने संसाधनों को पुन: वितरित कर लेता है। पुन: वितरण के द्वारा व्यक्ति स्वयं अपने उपभोग के लिए अधिक तथा विनिमय के लिए कम उत्पादन करना चाहेगा। अनेक व्यक्ति ऐसे पेशे को अपनाना चाहेंगे कि कर योग्य आय सरलता से आंकी न जा सके। उदाहरण के लिए खेती करना या कोई ऐसा कार्य करना जहां व्यक्ति स्वयं ही सेवायोजक हो तथा किसी दूसरे की सेवा ही न ले। इस संदर्भ में ब्राउनली तथा ऐलन का मन्तव्य है कि 'व्यक्तिगत आयकर की दरों की वृद्धि विनियोग के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की कुल पूर्ति को घटा देगी, अर्थात् एक नियत मूल्य पर वास्तविक प्रदा कम होगी।'[1]

लोकवित्तीय अर्थशास्त्रियों को जहां तक हो कोई भी सामान्य बिक्री कर या वस्तु कर स्थायी रूप में नहीं लगाना चाहिए। यदि कोई बिक्री कर या वस्तु कर स्थायी होता है तो उसका प्रभाव भी व्यक्तिगत कर के समान होता है। जैसे व्यक्तिगत कर किसी व्यक्ति की मौद्रिक आय को कम करते हैं वैसे ही वस्तु कर भी करते हैं। इसलिए वह अपनी वास्तविक आय को बढ़ाने के लिए संसाधनों को ऐसी वस्तुओं के उत्पन्न करने में बहुत कम प्रयुक्त करेगा जो विनिमय के लिए उत्पन्न की जाएगी। परिणामस्वरूप प्रदा घटेगी। इसके विपरीत यदि सामान्य बिक्री अस्थायी है तो व्यक्ति धन का संचय लाभकारी समझेगा। वे संचित धन को उस समय खर्च करना चाहेंगे जब बिक्री के घट जाने से वस्तु का मूल्य घट जाएगा। ऐसा करने से वह संचित धन द्वारा अपनी वास्तविक आय को बढ़ा लेगा। करारोपण की ऐसी स्थिति वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन को नहीं घटाती।

बजट नीति तथा प्रदा प्रभाव

जैसाकि हम ऊपर अध्ययन कर चुके हैं लोकवित्त क्रियाएं, बजटनीति तथा करों के माध्यम से प्रदा को प्रभावित करती हैं। मस्ग्रैव ने इसे 'प्रदा प्रभाव' (Output Effect) के नाम से संबोधित किया है।[2] प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार जहां पूर्ण रोजगार का आश्वासन हो वहां श्रम पूर्ति में ऐच्छिक परिवर्तन, बचत तथा पूंजी निर्माण में परिवर्तन द्वारा या संसाधनों के कुशल उपयोग द्वारा प्रदा को परिवर्तित करते हैं। ऐसे परिवर्तनों को 'रिकार्डो-प्रभाव' (Ricardian Effect) कहा जाता है। प्रदा परिवर्तन का अध्ययन दो दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। प्रथम, प्रदा में परिवर्तन आर्थिक संपन्नता का सूचक होते हैं। द्वितीय, प्रदा कल्याण के परिवर्तन का मापक होती है। उदाहरण के लिए श्रम पूर्ति की वृद्धि द्वारा प्रदा की वृद्धि कल्याण की वृद्धि का सूचक नहीं

1 Brownlee and Allen 'Economics of Public Finance' (1960), The World Press Pvt. Ltd., Calcutta.
2 Richard A. Musgrave 'The Theory of Public Finance' (1959), McGraw Hill Book Co., Inc., NewYork., pp 208 and 209

हो सकती यदि श्रम की वृद्धि माल और अवकाश के मध्य साधनों के कुशल आवटन को बिगाड देती है। अभावपूरक वृत्ति वित्त व्यवस्था के अतर्गत अनैच्छिक बेरोजगारी के स्तर मे परिवतन होने से जो प्रदा मे वृद्धि होती है उसे 'कीस प्रदा प्रभाव' (Keynesian Output Effect) कहते हैं। यहा उत्पादन की वृद्धि अनैच्छिक बेरोजगारी को कम करके होती है। इसलिए यह कल्याण की वृद्धि की ओर सकेत करती है।

बजट नीति द्वारा प्रदा का स्तर इस बात से भी प्रभावित होता है कि निजी क्षेत्र मे ससाधनो का उपयोग कितनी कुशलता से किया गया है ?'[1] जब तक कि सामाजिक आवश्यकताओ की सतुष्टि का समुचित प्रबध न किया गया हो निजी क्षेत्र म उत्पादन कुशलतापूर्वक सपन्न नही हो सकता। सुरक्षा तथा अनुबधो को क्रियान्वित करना इत्यादि ऐसी आवश्यक बातें है जिनका प्रबध किए बिना निजी क्षेत्र मे कार्य कुशलतापूर्वक नही चल सकता। ठीक ऐसे ही सार्वजनिक सेवाए—शिक्षा, अन्वेषण इत्यादि भी प्रदा की वृद्धि मे अप्रत्यक्ष रूप से महत्त्वपूर्ण योगदान देती हैं। यह तभी सभव होता है जब बजट मे इन सार्वजनिक सेवाओ पर व्यय करने हेतु पर्याप्त धनराशि सुरक्षित कर दी गई हो।

आय का वितरण तथा करापात प्रदा पर अपना प्रभाव डालते हैं साथ ही प्रदा से स्वय भी प्रभावित होते हैं।[2] उदाहरण के लिए यदि X कर का प्रतिस्थापन Y कर के द्वारा इस प्रकार किया जाता है कि कर से प्राप्त आय तथा सार्वजनिक उपयोग के ससाधनो मे कोई परिवर्तन नही होता तब भी प्रदा प्रभावित हो सकती है तथा निजी उपयोग के लिए उपलब्ध आय बदल सकती है। परपरावादी अर्थशास्त्रियो की धारणा के अनुसार ऐसा परिवर्तन तकनीकी सुधार तथा ससाधनो के कुशल उपयोग के द्वारा आ सकता है। प्रो० मस्ग्रेव के शब्दो मे, बजट-नीति के द्वारा सपूर्ण परिवर्तन की विवेचना ऐसी सामूहिक क्रियाओ के द्वारा हो सकती है जो वितरण अथवा करापात को परिवर्तित करके प्रदा को परिवर्तित करती हैं।[3]

मूल्य के निर्धारण मे लोकवित्त की भूमिका

लोकवित्त का सबध वस्तुओ के मूल्यो से अनेक रूपो मे देखा जाता है यदि मूल्य व्यवस्था को स्वतत्र छोड दिया जाए तो वस्तुओ तथा सेवाओ का समाज मे वितरण ठीक प्रकार से नही हो पाता। यदि धन का वितरण समान न हो, तो वस्तुओं तथा सेवाओ का पर्याप्त उपभोग समाज का वह वर्ग नही कर सकता जो निर्धन है।

लोकवित्त के हस्तक्षेप की आवश्यकता

पूर्ण स्पर्द्धा व्यवस्था एक आदर्श व्यवस्था अवश्य है परतु धनी वर्ग क्योकि अधिक मूल्य अदा करने की क्षमता रखता है इसलिए वह वस्तुओ का अधिक मूल्य देकर उनका

1 Richard A Musgrave Op cit, p 54
2 Ibid p 209
3 Ibid, p 226

उपभोग करने में समर्थ हो जाता है और निर्धन वर्ग उससे वंचित रह जाता है। इस कारण मूल्य व्यवस्था में अपूर्णता आ जाने से इस क्षेत्र में लोकवित्त द्वारा हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है। लोकवित्त आय और धन का पुनः वितरण करके माल तथा वस्तुओं का आवंटन ठीक करता है।

सार्वजनिक वित्त द्वारा मूल्य व्यवस्था में हस्तक्षेप का दूसरा कारण स्पर्द्धात्मक मूल्य व्यवस्था में सुधार लाना है। यह विचारधारा बहुत पहले से स्वीकृत है और इसकी विवेचना 'सामूहिक मल', 'बाह्य स्थितियां' या 'पड़ोस' शीर्षक के अन्तर्गत की जाती है। यह शब्दावली उन मालों के लिए प्रयोग की जाती है जिनसे केवल सम्पादित क्रेता ही नहीं अपितु अन्य व्यक्ति भी लाभ उठाते हैं। यदि कोई व्यक्ति मल मार्ग (sewage pipe) की सेवाएं लेता है तो अन्य व्यक्ति भी उनसे लाभान्वित होते हैं। अनेक महा-मारियों की सम्भावनाएं कम हो जाती हैं। यदि मल मार्ग डालने वाली कई कम्पनियां एक ही क्षेत्र में अपनी सेवाओं को प्रस्तुत करने के लिए स्पर्द्धा करने लगें तो सार्वजनिक दृष्टि से अलाभप्रद होगा। इसलिए सरकार द्वारा ऐसी स्पर्द्धा को कम करना होगा। स्पर्द्धा के समाप्त होने पर ऐसी सेवाओं के निर्माता एकाधिकार की स्थिति में आ जाते हैं। ऐसे निर्माता एकाधिकार की स्थिति में आने के कारण सेवाओं का अनुचित मूल्य प्राप्त न करें, सरकार का हस्तक्षेप और भी अनिवार्य हो जाता है। बिजली, जलपूर्ति तथा टेलीफोन सेवाओं के प्रदान करने में भी यही सिद्धांत लागू होता है। यदि सरकार इन सेवाओं को लागत से कम मूल्य पर प्रदान करना चाहे तब इस हानि की क्षतिपूर्ति किस प्रकार होगी, लोकवित्त अधिकारी ही इस पर विचार करेंगे।

एक निजी उत्पादक अपने उत्पादन की मात्रा को तथा साधनों के संयोग को तय करते समय त्याग को दृष्टि में रखता है, जिसकी अभिव्यक्ति उत्पादन लागत से होती है। साथ ही वह उत्पन्न माल की उपयोगिता के सृजन को भी ध्यान में रख कर चलता है। इन दोनों बातों का प्रभाव उत्पादन की बिक्री से प्राप्त आय पर भी पड़ता है, किन्तु निजी उत्पादक अपने उत्पादन सम्बन्धी निर्णय को लेते समय उस अप्रत्यक्ष त्याग तथा अप्रत्यक्ष उपयोगिता को दृष्टिगत नहीं रखता जो उसके उत्पादन से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार, उस वस्तु के उपभोग के भी कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव हो सकते हैं। जब एक निजी उपभोक्ता अपने उपभोग की सीमा तथा उसकी रचना तय करता है तब वह केवल उसी उपयोगिता को ध्यान में रखता है जिसे वह व्यक्तिगत रूप में प्राप्त करता है। उसका निजी उपभोग समाज के अन्य सदस्यों पर क्या प्रभाव डालता है यह उसकी चिंता का विषय नहीं होता। यही 'अप्रत्यक्ष प्रभाव' है जो कि आर्थिक कल्याण सिद्धांत (Economic Welfare Theory) के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण अंग है।

'कल्याण सिद्धांत' का एक मुख्य निष्कर्ष यह है कि उत्पादन तथा मांग के संदर्भ में वह व्यवस्था, जिससे निश्चित मूल्य परिमाण समायोजन का बोध होता है, उस समय तक श्रेष्ठतम स्थिति उत्पन्न नहीं कर सकती जब तक निजी उपभोक्ता तथा निजी उत्पादन

के अप्रत्यक्ष प्रभावो को दृष्टि मे न रखा जाए।'[1] इसलिए ऐसी स्थिति मे जहा अप्रत्यक्ष प्रभाव दृढता मे उपस्थित होते है सरकार के हस्तक्षेप को किसी न किसी रूप मे आमन्त्रित करने के लिए विवश करते हैं।

मूल्य, सीमात लागत, निजी सीमात उपयोगिता तथा सामाजिक सीमात उपयोगिता मे सबध

हम एक ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं जहा एक गतिविधि की उपयोगिता निजी क्रेता के अतिरिक्त समाज को भी प्रभावित करती है। ऐसे मे यदि हम उत्पादन मे निश्चित मूल्य परिमाण समायोजन की विचारधारा को लेकर चलते हैं तब उत्पादन की सीमात लागत सामान के मूल्य के बराबर होगी।'

यदि माग पक्ष के लिए निश्चित मूल्य परिमाण समायोजन की विचारधारा लागू की जाती है, तब हम एक ऐसा साम्य प्राप्त होता है जहा मौद्रिक रूप मे आकी गई निजी सीमात उपयोगिता, मूल्य के बराबर होती है। यह हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि निजी सीमात उपयोगिता सामाजिक सीमात उपयोगिता से कम होती है। इसलिए निश्चित मूल्य परिमाण समायाजन के आधार पर मूल्य, सीमात लागत, निजी सीमात उपयोगिता तथा सामाजिक सीमात उपयोगिता मे जो सबध होगा उसे निम्न रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। सीमात लागत = मूल्य = निजी सीमात उपयोगिता < सामाजिक सीमात उपयोगिता।

सामाजिक अनुकूलतमता (Social Optimality) की यह माग है कि सीमात लागत सामाजिक सीमात उपयोगिता के बराबर होनी चाहिए। यदि समायोजन उपर्युक्त आधार पर हुआ हो जहा सामाजिक सीमात उपयोगिता की तुलना मे मूल्य कम रहा हो, तो उत्पादन भी पर्याप्त मात्रा मे नही होगा। यदि इस पथ से विचलित होकर हम उत्पादन को बढ़ाते हैं तो सामाजिक सीमात उपयोगिता घटती है। ऐसा करने से साम्य के उस बिंदु पर तो पहुचा जा सकता है जहा सीमात लागत सामाजिक सीमात उपयोगिता के बराबर हो जाए परतु ऐसा करने से उस वस्तु का उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो जाएगा।

उपरोक्त समीकरण मे सरकार के किसी विशेष हस्तक्षेप के बिना निजी उत्पादन के सबध मे श्रेष्ठतम समायोजन निम्न दो रीतियां द्वारा लाया जा सकता है

यदि सामाजिक सीमात उपयोगिता की तुलना मे मूल्य कम होता है, जैसा कि उपरोक्त समीकरण मे है तो इस असतुलन को दूर करने के लिए प्रथम रीति के अनुसार निजी उत्पादको को अनुदान देकर दूर किया जा सकता है परतु ऐसा करने से दो मूल्य उपस्थित हो जाते हैं। प्रथम मूल्य वह है जो उत्पादक प्राप्त करता है (निजी उपभोक्ता द्वारा दिया गया मूल्य + सरकार द्वारा दिया गया अनुदान) दूसरा, वह नीचा मूल्य है

1 Lief Johnson 'Public Economics' (1969), North Holland Publishing Co., Amsterdam, p 178

जो निजी उपभोक्ता खरीदते समय देता है। इन दोनों मूल्यों के अंतर के बराबर ही प्रत्येक इकाई पर मिलने वाला उपदान तय होता है। ऐसी दशा में संतुलन की स्थिति निम्न रूप में रहेगी

सीमांत लागत = उत्पादक को मिलने वाला मूल्य > उपभोक्ता द्वारा दिया गया मूल्य — निजी सीमांत उपयोगिता < सामाजिक सीमांत उपयोगिता।

इस प्रकार उचित मात्रा में उत्पादन देकर सीमांत लागत तथा सामाजिक सीमांत उपयोगिता में समानता लाई जा सकती है।

दूसरी रीति यह हो सकती है कि उत्पादन ही लोक प्रबंध के अंतर्गत किया जाए। यहां सरकार को एक ऐसी मूल्य नीति अपनानी होगी जिसके अंतर्गत मूल्य, सीमांत लागत से कम रखा जाएगा ताकि इन दोनों का अंतर उपभोग की अप्रत्यक्ष उपयोगिता के बराबर रहे। ऐसी अवस्था में जो स्थिति उत्पन्न होगी उसे हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

सीमांत लागत > उत्पादक को मिलने वाला मूल्य = उपभोक्ता का मूल्य = निजी सीमांत उपयोगिता < सामाजिक सीमांत उपयोगिता।

इस प्रकार सीमांत लागत से नीचे एक उचित स्तर पर मूल्य निर्धारित करके सीमांत लागत तथा सामाजिक सीमांत उपयोगिता में समानता लाई जा सकती है।

सार्वजनिक उद्योगों अथवा संस्थाओं द्वारा उत्पन्न माल अथवा सेवाओं के मूल्य तय करने में उपरोक्त सिद्धांतों को लागू किया जा सकता है। शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा तथा संदेशवाहन के साधनों की उपलब्धि इसी प्रकार के उदाहरण हैं। ऐसे कार्यों को निजी उत्पादकों की अपेक्षा सरकार द्वारा संपन्न किए जाने के मत में एक महत्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि ऐसी सेवाओं के अप्रत्यक्ष प्रभाव अधिक होते हैं तथा मूल्य निर्धारित करने में इन्हें ध्यान में रखना आवश्यक होता है। निजी उत्पादक ऐसा नहीं कर सकता। स्वास्थ्य सेवा के अंतर्गत लोगों के टीका लगवाने का एक ऐसा ही उदाहरण है जब किसी व्यक्ति के टीका लगवाने से महामारी से बचाव की उपयोगिता केवल उसी व्यक्ति तक सीमित नहीं रहती जो उस टीके को लगवाता है अपितु, अन्य व्यक्तियों को भी कुछ सामाजिक उपयोगिता प्राप्त होती है। इसलिए टीके की दवाई का विक्रय मूल्य लागत से नीचे रखना चाहिए ताकि नागरिकों को टीका लगवाने अथवा न लगवाने के चुनाव की पूर्ण स्वतंत्रता रहे।

कुछ ऐसी ही विचित्र परिस्थितियां उस समय आती हैं जहां 'एक' की सेवा का प्रबंध सबकी सेवा का प्रबंध होता है। ऐसी सेवाएं अविभाज्य होती हैं। बाह्य आक्रमणों से प्रतिरक्षा तथा पुलिस सुरक्षा इसके उदाहरण हैं। इन्हें 'शुद्ध सार्वजनिक माल' (pure public goods) भी कहते हैं। ऐसी सेवाओं में मूल्य की विचारधारा लागू ही नहीं होती। यदि इन सेवाओं का प्रबंध निजी व्यक्तियों के हाथ में छोड़ दिया जाए तो इनका उत्पादन निश्चय ही शून्य हो जाएगा। यदि स्पर्धात्मक क्षेत्र का नियमन न किया तब वह तेजी और मंदी का शिकार हो जाएगी।

लोकवित्त की आय तथा धन के वितरण मे भूमिका

सामान्य आर्थिक व सामाजिक नीति के सदर्भ मे अधिक उत्पादन और समान वितरण दोनो ऐसे उद्देश्य हैं जिनका बहुत ऊचा स्थान होता है। कुछ व्यक्तियो का यह विचार है कि उत्पादन की वृद्धि, वितरण के सुधार की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो सकती है। वास्तव मे यह विचार अब उन देशो के सदर्भ मे प्रस्तुत किया जाता है जो कि पहले ही विकास के ऊचे स्तर पर पहुच चुके हैं तथा जिनमे विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ बहुधा अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक समानता रही थी और अधिक मात्रा मे विकास हो जाने पर ही उनमे आय और धन के वितरण की समानता का पहलू सामने आया था। 19वी शताब्दी के आर्थिक विकास के सबध मे यह एक ऐतिहासिक सत्य माना जाता था। उस समय राजनीतिक जनतत्र अपनी शिशु अवस्था मे था और कल्याण राज्य की धारणा सामने नही आई थी। आज के युग मे आर्थिक व राजनैतिक दशाए और उनके प्रति जनता की प्रतिक्रियाए 19वी शताब्दी की तुलना मे बिलकुल भिन्न हैं, 19वी शताब्दी मे राजनीतिक उन्मुक्तवाद और आर्थिक निर्बाध-नीति का बोलबाला था। आज हम आय तथा धन के समानता के प्रश्न को आर्थिक व सामाजिक शक्तियो पर नही छोड सकते।

अल्प विकसित देशो मे तो आय और धन की असमानताए उल्लेखनीय हैं जो उनकी आर्थिक दशा और सस्थागत ढाचे से उत्पन्न होती हैं। असमानता के मूल कारणो को धीरे-धीरे मिटाकर ही समानता की ओर जाया जा सकता है।

समानता की आवश्यकता

आय और धन के वितरण की समानता के सबध मे तीन विचार प्रस्तुत किए जाते हैं। प्रथम विचार यह है कि जो अभागे हैं उन्हे आर्थिक सहायता देना आवश्यक है। द्वितीय, आय के एक आवश्यक स्तर से निम्न आय वाले व्यक्तियों की आय को सहायक आय के रूप मे पुनर्वितरण करने का उद्देश्य होता है। तृतीय उन दशाओ को दूर करने की दिशा म प्रयास होते हैं जो असमानता को उत्पन्न करते है तथा उसे बढ़ाते हैं। पुनर्वितरण के उद्देश्य को किस सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है उसका वर्णन मसग्रेव ने निम्न शब्दो मे किया है

पुनर्वितरण के उद्देश्यो को किस अश तक साध्य बनाया जा सकता है, सामाजिक सेवाओ के स्तर पर निर्भर करता है। और सामाजिक सेवाओ के स्तर का निर्धारण सामाजिक आवश्यकताओ को सतुष्ट करने की वास्तविक माग पर नही अपितु पुनर्वितरण पर आधारित होता है।'[1]

पुनर्वितरण तथा आर्थिक कल्याण

यदि यह विचार स्वीकृत कर लिया जाता है कि समाज को ऐसे व्यक्तियों की सहायता करनी चाहिए जो अपनी सहायता करने मे अयोग्य हैं तो इसमे यह निर्णय

1 Richard A Musgrave op cit, p 19

निहित है कि समाज आय तथा धन के पुनर्वितरण की इच्छा स्वीकार करता है। ऐसी परिस्थिति में सरकार आय और धन के वितरण में उदासीन नहीं रह सकती क्योंकि जरूरतमंदों को सहायता देने के निर्णय का अर्थ है अच्छी स्थिति (better off) से खराब स्थिति (worse off) के व्यक्तियों को धन का पुनर्वितरण। जी०सी० होक्ले ने कहा है, 'यदि आय और धन का असमान फैलाव है तो आवश्यकताएं समान रूप से सतुष्ट नहीं होती।'[1] दूसरे शब्दों में सरकार द्वारा पुनर्वितरण आर्थिक कल्याण के बढ़ाने में सहायक होता है। इस विचार की पुष्टि डाल्टन के निम्नलिखित वाक्य से होती है

'आय की सार्थकता आर्थिक कल्याण के माध्यम में है, समाज के आय की अधिक असमानता में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अधिक असमान आर्थिक कल्याण की प्राप्ति निहित है। उसमें समावित आर्थिक कल्याण का विनाश भी निहित है। सामान्य भाषा में यदि इसे विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया जाए तो आय के असमानता का विरोध इसलिए किया जाता है कि धनी व्यक्तियों की कम महत्त्वपूर्ण आवश्यक आवश्यकताएं तो सतुष्ट हो जाती हैं जबकि निर्धनों की अधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यक आवश्यकताएं बिना सतुष्ट हुए रह जाती हैं। धनिकों का आवश्यकता से अधिक पोषण होता है जबकि निर्धन भूखे रह जाते हैं। यह केवल अर्थशास्त्र के उपयोगिता ह्रास नियम की व्यवहारिकता है जो यह बतलाती है कि अन्य बातों के समान रहने पर जैसे किसी वस्तु की मात्रा, या अधिक सामान्य रूप में क्रयशक्ति बढ़ती है उसकी कुल उपयोगिता भी बढ़ती है परंतु उसकी सीमांत उपयोगिता घटती है।'[2]

इसलिए आय व धन के अवसरों में व्यापक मात्रा में समानता प्राप्त करना आर्थिक विकास, सामाजिक उत्थान तथा आर्थिक कल्याण की वृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। यह माग अब बहुत समय तक नहीं टाली जा सकती कि कराधान का यंत्र आय के ऐसे पुनर्वितरण के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाना चाहिए जो सामाजिक न्याय के अधिक अनुरूप हो। कर प्रणाली निश्चित रूप से इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता कर सकती है। राजस्व प्रणाली में इस दिशा में निश्चित रूप से बल दिए जाने पर आय और धन के वितरण में आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं। यह धारणा हमें उस जाच के लिए प्रेरित करती है कि कर प्रणाली असमानताओं को कम करने की दिशा में क्या कर सकती है और द्वितीय, यह प्रक्रिया निजी उत्पादकों के उद्यम तथा प्रयासों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना कहा तक आगे ले जाई जा सकती है।

सरकार द्वारा आय तथा धन वितरण में परिवर्तन

सरकार आय तथा धन के वितरण को तीन प्रकार से प्रभावित कर सकती है सर्वप्रथम, सरकार आय उत्पन्न करने वाली संपत्ति के ऊपर उपहार कर तथा मृत्यु कर लगाकर एक अधिकतम सीमा निर्धारित कर सकती है या ससाधन स्वामित्व के

1 G. C. Hockley 'Monetary Policy and Public Finance' (1970), p 74
2. Dalton 'Public Finance' (1959), Routledge & Kegan Paul Ltd Lond., p 10

प्रारूप को बदल सकती है। समाजवादी सरकार ससाधन के स्वामित्व का अधिक प्रबध करती है। अधिक ाश ससाधनो का स्वामित्व तो सरकार के अधीन ही होता है। ऐसी सम्पत्ति से उत्पन्न आय को व्यक्तियो मे सामाजिक लाभाश के रूप मे वितरण कर दिया जाता है। द्वितीय, सरकार न्यूनतम मजदूरी या विशिष्ट वस्तुओ के न्यूनतम मूल्य निर्धारित करके ससाधनो के मूल्यो के प्रारूप को बदल सकती है। तृतीय, सरकार ससाधन स्वामित्व से उत्पन्न व्यक्तिगत आय को व्यक्तिगत आय कर या सार्वजनिक व्यय के द्वारा परिवर्तित कर सकती है। प्रगतिशील व्यक्तिगत आय कर धनी व्यक्तियों की आय को घटाने मे सहायक होगा तथा निम्न आय स्तरीय व्यक्तियो को प्रत्यक्ष भुगतान या उनके लिए कुछ विशेष सरकारी सेवाओ का प्रबध धन के वितरण को समान करने मे अपनी सहायता अवश्य दे सकता है।

4

संसाधनों की पूर्ति की अल्प विकसित देशों में गतिशीलता

ससाधनों के गतिमान की समस्या केवल वित्तीय साधनों के जुटाने तक ही सीमित नही होती अपितु वास्तविक ससाधनो को एकत्र करने की होती है। चाहे देश अल्प विकसित हो या पूर्ण विकसित, सभी को अपनी आर्थिक प्रगति के लिए ससाधनों को गतिमान करना आवश्यक हो जाता है। वास्तव मे वित्त एक ऐसा माध्यम है जिसकी सहायता से वास्तविक ससाधनो पर काबू पाया जाता है। यद्यपि ससाधनो की पूर्ति में परिवर्तन का विचार अस्पष्ट है तथापि इस सबध में इतना कहा जा सकता है कि इसका अर्थ वर्तमान ससाधनों मे वृद्धि अथवा वर्तमान सामग्री का अधिक उपयोग करना है।[1] वास्तविक ससाधनों का अध्ययन अनेक जटिलताओ के मध्य करना पडता है। उदाहरण के लिए यदि हम श्रम को लें तो श्रम की वर्तमान स्थिति मे परिवर्तन, जनसख्या के आकार मे परिवर्तन तथा जनसख्या के कार्य करने की क्षमता मे परिवर्तन आदि अनेक पहलुओं पर विचार करना आवश्यक होगा। जनसख्या मे कितने व्यक्ति कार्य करने योग्य हैं, कितने कार्य करने योग्य नही हैं, श्रम शक्ति पर आयु रचना का क्या प्रभाव है, आदि अनेक बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

ठीक ऐसी ही जटिलताए पूजी के सबध मे भी आती हैं। पूजी मे परिवर्तन उसी समय हो सकता है जब लोग अपनी आय का कुछ भाग सचय करने को तैयार हों। सचय करने की विचारधारा उसी समय प्रबल हो सकती है जब विनियोग करने के अवसर उपलब्ध हों। इसी प्रकार पूजी का अधिकतम उपयोग भी कई बातों पर निर्भर करता है, जैसे देश मे कुल यन्त्रों का कितना भाग प्रयोग मे आता है, तथा मशीन का प्रयोग कितनी पारियो मे होता है। जब तक हम इन जटिलताओं को दूर नही करेंगे तब तक आगे बढना सभव नहीं होगा।

अध्ययन को सरल एव सहज बनाने के लिए हम यह ज्ञात करना चाहेंगे कि

1 A R Prest 'Public Finance in Theory and Practice' (1960), Weidenfeild and Nicolson, Lond, p 66

कर तथा लोकव्यय श्रमिक को कार्य करने के लिए कितनी प्रेरणा प्रदान करते हैं तथा पूजी के एकत्रीकरण को कितना प्रभावित करते है।

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि हमने श्रम और पूजी की पूर्ति को ही क्यो लिया। अन्य ससाधन क्या छोड दिए ? उसका कारण यह है कि अन्य प्रकार के स्रोतो का अध्ययन इन दो स्रोतों के अध्ययन से पूर्ण हो जाता है। साहस की पूर्ति, श्रम की पूर्ति के अतर्गत आ जाती है। जो धारणा हम श्रम और पूजी के सबध मे बनाएगे वही पूर्णत श्रम की पूर्ति के सबध म भी लागू हो जाएगी।

आदर्श दशाए

हमने पिछले अध्याय मे उन दशाओ का वर्णन किया है जिनमे उत्पत्ति के साधनो का विभिन्न उपयोगो मे बटवारा अनुकूलतम आधार पर किया जाता है। इसके बाद हमने यह भी दिखाने का प्रयास किया कि विभिन्न प्रकार के कर इस अनुकूलतम बटवारे से साधनो को कितना विचलित कर देते हैं। यहा भी हमारे अध्ययन की रीति बहुत कुछ वैसी ही होगी। श्रम के इष्टतम उपयोग की दशाओ का वर्णन अनेक प्रकार से हो सकता है। परतु सबसे सरल वह दशा होगी जहा श्रम को कार्य एव अवकाश के मध्य बाटने का प्रश्न उठता है।

सरलता के लिए हम यह मान लेते हैं कि एक मनुष्य प्रति सप्ताह किए जाने वाले कार्य के घटो मे परिवर्तन करने के लिए इच्छुक है। यद्यपि यह बात अवास्तविक-सी लगती है परतु *आरभ मे सरलता लाने के लिए आवश्यक है। निम्नाकित चित्र इस धारणा को सहज होने म सहायता दे सकता है।*
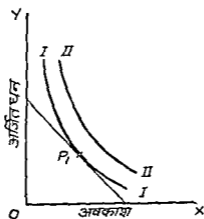
चित्र 4

यहा हमने X-अक्ष पर अवकाश तथा Y-अक्ष पर अर्जित धन नापा है। इनकी सहायता से मूल्य अवसर वक्र (price opportunity curve) खीचे जा सकते

है। यह वक्र दिखाता है कि अवकाश की विभिन्न मात्राओं के त्याग से कितना अर्जित धन प्राप्त होता है। यदि कोई मनुष्य 6 घंटे कार्य करता है तो उसकी अर्जित आय 20 रु० होती है, 12 घंटे कार्य करता है तो अर्जित आय 40 रु० होती है। अवकाश एवं अर्जित आय के संबंध को दिखाने वाले ऐसे अनेक वक्र हो सकते हैं जैसे चित्र (4) में वक्र I तथा वक्र II दिखाए गए हैं। इन सभी वक्रों में P ही सर्वोत्तम बिंदु होगा जहां उदासीन वक्र I कुल अवसर लागत को स्पर्श करती है। इस बिंदु पर आय और अवकाश की सीमान्त प्रतिस्थापन दर प्रति घंटा मजदूरी के समान हो जाती है। दूसरे शब्दों में यह स्थिति उस बिंदु का प्रतिनिधित्व करती है जहां आय की सीमान्त उपयोगिता घट गई है और कार्य की सीमान्त अनुपयोगिता उस सीमा तक बढ़ गई है कि दोनों ठीक एक-दूसरे के बराबर हो गई हैं। यह बिंदु दिखाता है कि अवकाश की एक निश्चित प्राथमिकता और बाजार मजदूरी की दर पर एक व्यक्ति कितना कार्य करना चाहेगा। अब हम यह मान लेते हैं कि एक व्यक्ति इस सतुलन की स्थिति में है। किसी सापेक्षिक कर द्वारा जो परिवर्तन आएगा उसकी तुलना इस सतुलन स्थिति से की जाएगी। प्रथम श्रम का सापेक्षिक करारोपण निम्न रीतियों द्वारा किया जा सकता है।

आनुपातिक एवं प्रगतिशील करों का श्रम की पूर्ति पर प्रभाव

इन करों के प्रभाव जानने के लिए हम अपना ध्यान इस बात पर केंद्रित करेंगे कि इन करों के लगाए जाने पर श्रम का कहां तक उपयोग होता है या वे कर कार्य करने की इच्छा को कहां तक प्रभावित करते हैं। इस विषय का प्रारंभ हम यों करेंगे कि रु० X के प्रति व्यक्ति कर (poll tax) तथा समान आय उत्पन्न करने वालों पर ठीक आय के अनुपात में लगाए गए आय कर का क्या सापेक्षिक प्रभाव होता है।

समान आय उत्पन्न करने वाले प्रति व्यक्ति कर (poll tax) तथा सपाट आय-कर (flat rate income tax) में आवश्यक अंतर यह है कि दूसरी स्थिति में अन्य वस्तुओं की तुलना में अवकाश का मूल्य सापेक्षिक परिवर्तित हो सकता है, जबकि प्रथम स्थिति में ऐसा नहीं होगा। दोनों स्थितियों में 'आय प्रभाव' (income effect) समान होते हैं। परन्तु 'प्रतिस्थापन प्रभाव' (substitution effect) में अंतर होता है। चित्र (5) और (6) इन्हीं अंतरों को प्रदर्शित करते हैं।

चित्र (4) के समान इन चित्रों में भी P_1 इस तथ्य का प्रतिनिधित्व करता है कि किसी भी कर को लगाने के पूर्व आय और अवकाश की सीमान्त प्रतिस्थापन दर प्रति घंटा अर्जित आय के समान होती है। दोनों चित्रों में हमारे व्यक्ति को OR रुपए अर्जित करने के लिए प्रति दिन QB घंटे कार्य करना पड़ता है। यदि उसकी अर्जित आय पर 50 प्रतिशत का कर लगा दिया जाए तब अर्जित अवसर रेखा (earning opportunity Line) AB न रह कर BC हो जाएगी जिसका ढाल AB की तुलना में आधा होगा। नए सतुलन का नवीन बिंदु P_2 होगा जो उदासीन वक्र II को BC पर स्पर्श करता है। चित्र (5) में यह बिंदु P_1Q के बाईं ओर स्थित है जो यह संकेत करता है कि पहले की अपेक्षा अब अधिक कार्य करना होगा। चित्र (6) में यह बिंदु P_1Q के दाहिनी ओर स्थित है ज

Y
A
A'
R
A'
C
O
Q
B
B
B''
I
P1
I
IV
P4
IV
III
P3
III
II
P2
II
अर्जित धन (रुपये प्रति दिन)
अवकाश (घन्टे प्रति दिन)

चित्र

Y
A
A'
R
A'
C
O
Q
B
B
X
I
P1
I
III
P3
III
IV
P4
IV
II
P2
II
B''
अर्जित धन (रुपये प्रति दिन)
अवकाश (घन्टे प्रति दिन)
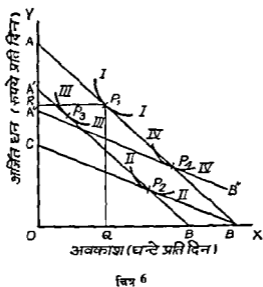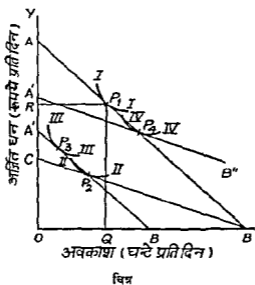
चित्र 6

पहले की अपेक्षा कम कार्य करने का संकेत करता है। प्रथम उदाहरण में 'आय प्रभाव' व्यक्तियों को अधिक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करेगा। यहां 'प्रतिस्थापन प्रभाव' अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होगा। चित्र (6) में स्थिति चित्र (5) के विपरीत है। यहां 'प्रतिस्थापन प्रभाव' अधिक महत्त्वपूर्ण होगा, परन्तु यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा 'प्रभाव' कब उपस्थित होगा।

यदि समान आय उत्पन्न करने वाला प्रति व्यक्ति कर (poll tax) लगा दिया जाए तब हमारे पास नवीन आय अर्जित अवसर रेखा A' B' होगी। क्योंकि कार्य और अवकाश की शर्तों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है इसलिए A' B' AB के समानांतर होगी। क्योंकि हम प्रति व्यक्ति कर से समान आय की मान्यता स्वीकार कर चुके हैं इस-लिए A' B' रेखा P_2 बिंदु से होकर गुजरेगी। उदासीन वक्र III A' B' रेखा को P_3 बिंदु पर स्पर्श करती है। P_3 संतुलन बिंदु उस स्थिति का वर्णन करता है जहां P_1 या P_2 बिंदु की तुलना में हमारा व्यक्ति अधिक घंटे कार्य करेगा। चाहे चित्र (5) हो या चित्र (6) P_3 बिंदु इसी स्थिति का वर्णन करता है।

अब दोनों प्रकार के करों के प्रभावों का अंतर स्पष्ट हो जाएगा। एकमुश्त कर (प्रति व्यक्ति कर) की अवस्था में व्यक्ति को अपने कार्य के घंटे परिवर्तित करके अपने कर दायित्व में परिवर्तन लाना संभव नहीं होता है। हां, आय कर की स्थिति में वह ऐसा कर सकता है कि आय कर से अवकाश की सीमांत लागत घट जाए और वह उसका उपयोग अधिक करने लगे।

आय कर तथा उत्पादन शुल्क का श्रम की पूर्ति पर प्रभाव

इस विचार का अध्ययन करने के लिए हमें इसी अध्याय के चित्र (4) तथा (5) का पुनर्निरीक्षण करना होगा। इन चित्रों में जैसे यह दिखाया गया है कि एक वस्तु पर लगाए गए उत्पादन शुल्क की तुलना में सामान्य आय कर साधनों के आवंटन पर अच्छा प्रभाव डालता है। ऐसे ही समान आय वाले कर की अपेक्षा एकमुश्त कर मजदूर को ऊंची तटस्थ रेखा पर ले जाएगा। इनमें से जो भी कर कार्य तथा अवकाश के विनिमय की शर्तों में परिवर्तन लाएगा वह मजदूर को नीचे की तटस्थ रेखा पर ले जायेगा।

राजकीय स्थानांतरण तथा अन्य व्ययों का श्रम की पूर्ति पर प्रभाव

यहां सरकारी स्थानांतरण का अभिप्राय कर द्वारा एकत्र की गई धनराशि का प्रत्येक व्यक्ति को एकमुश्त में लौटाने से है। इस विचार का बोध करने के लिए भी हम इसी अध्याय के चित्र (5) तथा (6) की सहायता लेंगे। हम यह सोचकर चलते हैं कि P_1 बिंदु प्रारंभिक स्थिति को बतलाता है। P_2 बिंदु आय कर के लगाने के उपरांत की स्थिति को दर्शाता है। कर द्वारा प्राप्त धनराशि को लौटाने के बाद हमारे वर्तमान व्यक्ति के लिए अब एक नई अर्जित आय अवसर रेखा A"B" उपस्थित होगी जो CB के समांतर होगी। अब नई संतुलन की स्थिति P_4 बिंदु दिखाता है। यह वह बिंदु है जहां उदासीन वक्र IV उस बिंदु को स्पर्श करता है जहां A" B" तथा AB रेखाएं एक-दूसरे को काटती हैं। P_1 तथा P_4 बिंदुओं की तुलना करने से यह संकेत मिलता है कि अब पहले की अपेक्षा

कार्य कम घटे किया जाएगा।

आय कर तथा पूजी कर का बचत की पूर्ति पर प्रभाव

अध्ययन की सुविधा के लिए हम प्रस्तुत प्रकरण म आय को, विनियोग आय के रूप मे लेंगे। सर्वप्रथम हम पूजी पर लगाए गए वार्षिक कर की तुलना विनियोग आय पर लगाए गए कर से करेंगे। इसके उपरात हम विनियोग आय पर लगाए गए कर की तुलना अनावर्ती पूजी कर से करेंगे। पूजी कर मृत्यु कर तथा एक बारगी अनावर्ती पूजी कर के रूप मे हो सकता है। हम पाठक को प्रारभ मे ही सचेत कर दें कि वार्षिक पूजी *कर विनियोग कर का पर्याप्त स्थानापन्न है। थोडी देर के लिए हम मान लेते हैं कि किसी* विनियोग से औसत प्राप्ति 5 प्रतिशत है। हम यह भी मान लेते हैं कि 20 प्रतिशत का विनियोग आय कर तथा 1 प्रतिशत का पूजी कर समान परिणाम उपस्थित करता है। इस कल्पना के आधार पर हम कह सकते हैं कि उन व्यक्तियो को विनियोग आय पर अधिक कर अदा करना पडेगा जिनकी आय औसत विनियोग आय से अधिक है। दूसरे शब्दो म *पूजी कर अदा करने वालो की तुलना मे पूजी से आय प्राप्त करने वाले प्रतिकूल अवस्था* मे होगे। कुछ अर्थशास्त्रियो का यह भी तर्क है कि पूजी कर पूजी की मूल्य वृद्धि (capital appreciation) को दडित करता है, जबकि विनियोग आय कर ऐसा नही करता। इन तर्कों के आधार पर दोनो मे से कौन-सा कर बचत को प्रोत्साहित करता है? उत्तर मे हम यह कह सकते हैं कि विनियोग आय पर लगे कर की तुलना म पूजी कर तरल *परिसपत्तियो (liquid assets) तथा गैर आय सपत्तियो (non-income yielding* forms of wealth) पर अधिक कठोर मार करता है और अधिक जोखिमपूर्ण उद्यमो मे विनियोजित पूजी के लिए उदार रहता है। इसलिए पूजी कर, उन सभावित बचत-कर्त्ताओ को जो सपत्ति को तरल कोषो मे रखना चाहते है निरुत्साहित करता है परतु विनियोग कर ऐसा नही करता। यदि पूजी कर गैर आय सपत्तियो मे से सभावित अधि-व्यय (dissaving) को प्रोत्साहित करे तो निश्चित ही अधिव्यय के बढने से बचतें घट जाएगी।

अब हम ज्ञात करना चाहेगे कि *समान आय अर्जित करने वाले मृत्यु कर तथा* विनियोग आय कर का बचत की पूर्ति पर क्या प्रभाव पडता है। इस विनियोग आय कर का बचत की पूर्ति पर क्या प्रभाव पडता है इस विवेचन मे हमारी यह मान्यता है कि मृत्यु कर, मृत्यु लेख करने वाले पुरुष (testator) की सपत्ति के आकार के अनुसार तथा अनुपातिक रूप मे लगाया जाता है। यदि विनियोग आय कर का प्रतिस्थापन समान आय *अर्जित करने वाले मृत्यु-कर से कर दिया जाए तो वह समाज के विभिन्न आयु-वर्गों (age* groups) को विभिन्न रूप से प्रभावित करेगा। नवयुवक जानते हैं कि उत्तराधिकार मे प्राप्त होने वाली सपूर्ण सपत्ति उन्हे प्राप्त नही होगी क्योकि सरकार उसका एक भाग कर के रूप मे वसूल कर लेगी। इसलिए यह वर्ग अधिक बचत करने के लिए प्रोत्साहित होगा। वृद्ध लोग अवश्य ही अपने शेष जीवनकाल म व्यय की मात्रा बढ़ा देंगे।[1]

1 *A R Prest op cit, p 87*

परन्तु दूसरी ओर वार्षिक विनियोग आय कर का मृत्यु कर से प्रतिस्थापन बचतों को प्रोत्साहित करने के लिए एक विशेष प्रकार की प्रेरणा को शक्तिमान बनाता है। ऐसी बचत 'बबुद बचत' (hump saving) होती है जो मृत्यु से पहले खर्च करने के इरादे से एकत्र की जाती है और जो मृत्यु कर योजना में मृत्यु कर से मुक्त होती है। परन्तु उससे उत्पन्न आय, विनियोग आय कर व्यवस्था में करारोपित होती है।

इस विवेचना के उपरान्त, हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि समान आय अर्जित करने वाले विनियोग आय कर की अपेक्षा बचतों के लिए मृत्यु कर कम हानिकारक होते हैं।[1]

अंत में अनावर्ती पूंजी कर तथा मृत्यु कर (जिसकी पुनरावृत्ति लगभग 30 वर्ष के बाद होती है) के तुलनात्मक प्रभाव को ज्ञात करना शेष रह जाता है। दोनों में अंतर यह है कि पहला जीवन काल में केवल एक बार घटित होता है तथा दूसरा जीवन के पश्चात् अनावर्ती पूंजी कर व्यक्ति के जीवनकाल में ही पूंजी से प्राप्त आय तथा पूंजी के स्वामित्व से प्राप्त प्रतिष्ठा और सुरक्षा का प्रस्थान करा देती है जबकि मृत्यु कर मृतक को प्रभावित न करके उसके कुटुंब को प्रभावित करता है। इस आधार पर मृत्यु कर की अपेक्षा अनावर्ती पूंजी कर बचत करने में अधिक बाधक होता है। यदि अनावर्ती पूंजी कर लोगों पर अनायास ही लगा दिया जाए और उन्हें यह विश्वास दिला दिया जाए कि वह केवल एक बार ही लगाया जाएगा तब सम्भवतः मृत्यु कर की तुलना में अनावर्ती पूंजी कर का वार्षिक बचतों पर अनुकूल प्रभाव पड़े।

अर्धविकसित देशों में स्रोतों को गतिमान बनाना

ऐच्छिक बचतों के कम होने के कारण अविकसित देशों के विकास के कार्यक्रमों में बड़ी बाधा उत्पन्न हो जाती है, कुछ सीमा तक उत्कृष्ट उपभोग तथा अनुत्पादक विनियोग कम करके, विदेशों से ऋण लेकर संस्थानिक एवं निजी अनुदान प्राप्त कर वित्तीय दबाव को हल्का किया जाता है। अविकसित देशों में स्रोतों को पर्याप्त मात्रा में गतिशील करने के लिए सरकारों को आरोपित बचतों का सहारा लेना पड़ता है। सार्वजनिक अर्थशास्त्र के इस कार्य के निभाने को रेगनर नर्कसे ने अधिकतम बचत वृद्धि अनुपात (incremental saving ratio) को आर्थिक विकास का निर्धारण करने वाला तत्त्व कहा है। ये तत्त्व स्वयं नहीं बढ़ते अपितु इनको बढ़ाने का प्रयास किया जाता है। यदि ऐसे प्रयास नहीं किए जाएंगे तो बढ़ती हुई आय बढ़ती हुई जनसंख्या के उपभोग में खप जाएगी। अविकसित देश विकसित देशों के उपभोग नमूनों (consumption pattern) से आकृष्ट होकर बढ़ती हुई आय को व्यर्थ के उपभोग में लगा देते हैं। फलतः बचत अत्यंत अल्प रहती है। इस प्रदर्शनकारी प्रभाव (demonstration effect) को कम करना आवश्यक होता है। सार्वजनिक वित्त के अंतर्गत संसाधनों के गतिशील की विचारधारा एक ऐसी सामूहिक क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करती है जिसके द्वारा देश में विनियोगी स्रोत आरोपित बचतों की सहायता से बढ़ाए जाते हैं।

1 A. R. Presept op. cit., p 87

ससाधनो के गतिशीलता की विचारधारा केवल वित्तीय ससाधनों के दृष्टिकोण से ही नही अपितु वास्तविक ससाधनो के दृष्टिकोण से भी देखनी है। किसी भी देश के वास्तविक स्रोत मुख्यत श्रम और पूजी होते हैं। इनके गतिमान की समस्या का हम विस्तार-पूर्वक अध्ययन कर चुके हैं।

आर्थिक विकास की गतिविधिया ही विनियोगी ससाधनो को उत्पन्न करके वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन को बढाती हैं। इसलिए विकसित होती अर्थव्यवस्था मे ससाधनो की धारणा स्थैतिक न होकर प्रावगिक होती है। यदि हम बढते हुए उत्पादन द्वारा विनियोगी ससाधनो मे वृद्धि चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि राजकोषीय नीति के विभिन्न यत्रो द्वारा उत्पादन की वृद्धि का बडा अनुपात उत्पादन मे पुर्नविनियोजित (plough back) कर दिया जाए।

ससाधन बजट

यदि हम स्रोतो के गतिमान मे सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि स्रोत बजट निर्माण का एक विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया जाए। बजट निर्माण करते समय केवल वित्तीय स्रोतो को ही नही अपितु वास्तविक स्रोतो को भी दृष्टि म रखकर चलना होगा। मानवीय श्रम शक्ति की आवश्यकता का बजटिंग, वास्तविक रूप मे स्थिर एव कार्यशील पूजी की आवश्यकता, विभिन्न प्रकार के कच्चा माल, कुशलता और साहस तथा विदेशी विनिमय की आवश्यकता का बजट बनाना इत्यादि सब वास्तविक बजट निर्माण की परिधि मे आते हैं। ससाधन बजट निर्माण की सफलता प्रत्येक उद्योग तथा सपूर्ण अर्थ-व्यवस्था के आदा प्रदा माडल (input-output model) से की जा सकती है।

सरकार, पर्याप्त मात्रा मे घरेलू ससाधनो का गतिमान करने के लिए निम्न उपाय अपना सकती है

(1) प्रत्यक्ष भौतिक नियत्रण
(2) करो मे वृद्धि
(3) सार्वजनिक उपक्रमो की बचत
(4) गैर मुद्रास्फीति प्रकृति के सार्वजनिक ऋण
(5) घाटे की वित्त व्यवस्था

(1) प्रत्यक्ष भौतिक नियत्रण

प्रत्यक्ष भौतिक नियत्रण, उपभोग तथा अनुत्पादक विनियोगो मे प्रत्यक्ष कटौती करके ससाधनो को गतिमान करने मे प्रभावकारी सिद्ध हो सकता है। हम जानते है कि अविकसित देशो मे प्रत्यक्ष भौतिक नियत्रण का प्रशासन कठिन होता है। साथ ही ऐसे नियत्रण देश की अर्थव्यवस्था को एक कठोर शासन प्रणाली के अतर्गत ले आते हैं और प्रजातत्रीय स्वतत्रता से विमुख कर देते हैं। परतु फिर भी प्रजातत्र पर आधारित योजनाओ को सफल बनाने के लिए प्रत्यक्ष भौतिक नियत्रण द्वारा साधनो का जुटाना अनिवार्य हो जाता है।

(2) करों में वृद्धि

अल्प विकसित देशों में एक जटिल समस्या बचत वृद्धि अनुपात को ऊंचा करने की है। यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल धनी वर्ग को ही बचत व विनियोग के लिए प्रेरित करना पर्याप्त नहीं होगा। जहां तक आय में होने वाली वृद्धि का अधिकांश भाग जनता के अपेक्षाकृत निर्धन वर्ग के हिस्से में आता है, वहां वे पहले से अधिक उपभोग करने की स्थिति में होते हैं। उनकी सीमांत उपभोग प्रवृत्ति इकाई के काफी समीप होती है। अतः उनके उपभोग में वृद्धि लगभग उनकी आय की वृद्धि के बराबर होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यदि ऐसा होने दिया जाए तो उत्पादकता में होने वाली वृद्धि बढ़े हुए उपभोग के रूप में समाप्त हो जाएगी। ऐसी स्थिति में बढ़ा हुआ वस्तु करारोपण उपभोग की वृद्धि को नियन्त्रित करने में सहायक हो सकता है। ऐसा करने से ही विनियोग के लिए कुछ साधन उपलब्ध किए जा सकते हैं। शुम्पीटर की मुद्रास्फीति विधि भी आरोपित बचत का एक रूप है जिसके द्वारा उपभोग को रोका जा सकता है।

अल्प विकसित देशों में मुख्य समस्या आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने की है। विकास की योजनाओं को पूरा करने के लिए अर्थव्यवस्था में विनियोग की दर बढ़ाना आवश्यक है। इसलिए कर इस प्रकार से लगाना चाहिए जिससे बचत की ऊंची दर प्राप्त करके विनियोग की दर को बढ़ाया जा सके।

(3) सार्वजनिक उपक्रमों की बचत

अल्प विकसित देशों में सार्वजनिक उपक्रमों की बचतें आन्तरिक साधनों का एक महत्त्वपूर्ण अंग होती हैं। यदि इन बचतों का पुनर्विनियोग कर दिया जाए तो देश के विकास की गति तीव्र हो सकती है। यदि सार्वजनिक उद्योगों की कुशलता को बढ़ाकर लाभ की मात्रा को बढ़ाया जा सके तो आन्तरिक साधनों के रूप में इनके लाभों को प्राप्त किया जा सकता है। लाभ अधिक होने पर बचतें अधिक होंगी और पूंजी निर्माण में वृद्धि करके विनियोग में वृद्धि की जा सकेगी।

(4) गैर मुद्रास्फीति सार्वजनिक ऋण की प्राप्ति

विकासकाल में मुद्रास्फीति का उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाता है। अधिक मुद्रास्फीति वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ाकर लक्ष्यों पर निर्धारित खर्चों के आवटन को बिगाड़ देती है और विकास में अवरोध उत्पन्न करती है। अतः आन्तरिक साधनों को गतिशील करते समय सार्वजनिक ऋणों पर पर्याप्त बल देना चाहिए। अल्प विकसित देशों में निर्धन वर्ग की बचत व ऋण प्रदान करने की क्षमता नगण्य होती है। धनी वर्ग की बचतें अन्यत्र हो जाने से प्राप्त नहीं हो पातीं। ग्रामीण क्षेत्रों में बचतों को ऋण के रूप में प्राप्त करने के प्रयास करने चाहिए। ऋण की मात्रा बहुत कुछ सरकार की प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है। सरकार विभिन्न प्रकार की ऋण प्रतिभूतियां जारी करके नागरिक एवं ग्रामीण जनता से ऋण एकत्र कर सकती है।

(5) घाटे की वित्त व्यवस्था

वास्तव में सरकार द्वारा निर्गमित की गई मुद्रा स्वयं पूंजी नहीं होती परंतु वह

पूजी निर्माण मे सहायक होती है। उसकी सहायता से बेकार पडे साधनो को उत्पत्ति के कायक्रमो मे लगाने के योग्य बना लिया जाता है। परिणामस्वरूप देश मे पूजीगत वस्तुओ की मात्रा बढ जाती है और आर्थिक विकास के उपयुक्त वातावरण तैयार हो जाता है। अनेक अर्थशास्त्रियो ने इसे पूजी सचय मे सहायक माना है। क्योकि उसके द्वारा देश मे बचत की मात्रा मे वृद्धि करना सभव हो जाता है। इसके अतिरिक्त मुद्रास्फीति समाज मे धन के वितरण को उन लोगो के पक्ष मे करती है जिनमे बचत करने की आदत होती है। मूल्य वृद्धि के कारण सामान्य उपभोक्ताओ को अनिवार्य रूप से उपभोग की मात्रा कम करनी पडती है जिससे बचत को प्रोत्साहन मिलता है।

यद्यपि घाटे की वित्त व्यवस्था पूजी निर्माण का महत्त्वपूर्ण साधन है परतु इसको निरतर व्यवहार मे लाने से मुद्रास्फीति का भय उत्पन्न हो जाता है। अविकसित देशो मे मुद्रास्फीति के कारण मूल्यो मे वृद्धि हो जाती है ऐसी दशा मे लोगों को अपनी आवश्यकताओ पर पहले से अधिक खर्च करना पडता है परतु उनकी आय मूल्य वृद्धि के अनुपात मे नही बढती। इसलिए इस नीति का प्रयोग बहुत ही सतर्क होकर करना चाहिए। यदि इसका प्रयोग सतर्कतापूर्वक न किया गया तो यह 'उस प्रेमिका के रूप मे साबित होगी जो अपने प्रेमी को स्वय डस जाती है।'

5

संसाधनों का आवंटन

एक निजी उद्यमाश्रित अर्थतंत्र में साधनों की कीमतों द्वारा विभिन्न उपयोगों तथा विभिन्न क्षेत्रों मे ससाधनो के आवटन का कार्य किया जाता है। यह इसलिए किया जाता है कि अर्थव्यवस्था की कार्यकुशलता में वृद्धि हो सके। लोकवित्त का वर्तमान ससाधनों के आवटन में क्या योगदान हो सकता है, यह तभी जाना जा सकता है जब हम यह अध्ययन करें कि सरकार के मुख्य आय तथा व्यय की उत्पत्ति के साधनों पर क्या सापेक्षित प्रभाव पडता है। ऐसा अध्ययन करने के लिए हमें उत्पादित साधनों की एक दी हुई पूर्ति माननी होगी अर्थात् हम यह मान कर चलेंगे कि श्रम शक्ति तथा बचत का एक नियत स्तर है। दूसरे शब्दों में, अर्थव्यवस्था में हम साधनों की पूर्ति की लोच शून्य मानकर चलेंगे।

ससाधन आवटन के अध्ययन के लिए हमें करों के तुलनात्मक प्रभावों को दृष्टि में रखना होगा। इसका अध्ययन निरपेक्ष रूप में किसी एक कर के प्रभाव द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह मान्यता भी हमारे लिए बडी हितकर साबित होगी कि करों में चाहे किसी प्रकार का भी परिवर्तन हो, सरकार का व्यय पूर्ववत् ही रहता है। दूसरे शब्दों में सरकार का व्यय उस समय अपरिवर्तित रहता है जबकि एक कर में वृद्धि तथा दूसरे कर में कमी कर दी जाती है। यदि हम भूमि कर या समान आय प्रदान करने वाले भवन कर का ससाधनों के आवटन पर प्रभाव जानना चाहते हैं, तब हम यह मानकर चलते हैं कि सरकार का व्यय भी प्रत्येक उदाहरण मे ठीक वैसे ही बदल जाता है। इस प्रकार वस्तुओं तथा साधनो के सापेक्षिक मात्राओं तथा मूल्यों में विशेषक परिवर्तन दोनों करों में परिवर्तन के प्रभाव की ओर ही सकेत करेंगे।

अध्ययन की रूपरेखा

प्रत्येक सरकार अपने कार्यों को सम्पन्न करने के लिए उत्पत्ति के साधनों का प्रयोग करती है, व्यय करती है तथा धन एकत्र करती है। सरकार की इन क्रियाओं द्वारा ससाधनों के आवटन प्रभावित होते हैं। इस विषय के अध्ययन की रूपरेखा निम्न बातों पर आधारित है

(1) अर्थव्यवस्था के निजी क्षेत्र में साधनो का अतिम उपयोगो मे वितरण।
(2) सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र का सापेक्षिक आकार।
(3) सार्वजनिक क्षेत्र मे व्यय का वितरण।

प्रत्यक्ष कर बनाम अप्रत्यक्ष कर

करारोपण द्वारा ससाधनो का आवटन कई प्रकार से होता है। कुछ कर विशेष वस्तुओ के उत्पादन तथा उपभोग को बढाते हैं तथा कुछ कर विशेष वस्तुओ के उत्पादन को घटाते हैं। करारोपण से जिन वस्तुओं का उत्पादन घटता है ससाधन ऐसे उत्पादन से उस उत्पादन मे स्थानातरित हो जाते हैं जिसको कर से कुछ छूट मिली होती है।

अनेक लेखकों की यह धारणा है कि ससाधनो के आवटन पर प्रत्यक्ष कर की तुलना मे अप्रत्यक्ष कर का प्रभाव बुरा होता है, परतु इस विचार का विश्लेषण करने से पूर्व हमे उन निर्धारित मान्यताओ का स्पष्टीकरण कर देना चाहिए जिन पर यह विवाद आधारित है। हम उत्पादन की उस स्थिति को मानकर चलते है जहा सीमात लागत, सीमात मूल्य के बराबर और उत्पत्ति के किसी भी साधन का पुरस्कार उसकी सीमात परिशुद्ध उत्पत्ति के बराबर है अर्थात् जहा ससाधनो का आदर्श आवटन है। हम यह भी मानते हैं कि निजी लागत सामाजिक लागत तथा लाभ मे कोई अतर नही है। अत मे हम सपूर्ण अर्थतत्र मे उत्पत्ति के साधनो की पूर्ति की लोच भी शून्य मानकर चलते है।

अब हम इस स्थिति मे आ गए है जहा प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष कर का साधनो के आवटन पर पडने वाले सापेक्षिक प्रभावो का अध्ययन कर सकें। अध्ययन को सरल बनाने के हेतु उन करो की किस्म भी निश्चित कर लेनी चाहिए जिनका तुलनात्मक प्रभाव हम ससाधनो के वितरण पर जानना चाहते हैं। अत हम वस्तुओ पर लगाए गए अप्रत्यक्ष कर की तुलना एक ऐसे प्रत्यक्ष कर से करेंगे जो आय पर लगाया गया है यह अध्ययन उसी समय सफल हो सकता है जब अन्य बातें समान रहेगी।

इसलिए हम यह मान लेते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति समाज मे यथास्थिर रहती है, अर्थात् उसकी योग्यता, आय एव रुचि मे कोई परिवर्तन नही होता। साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि सरकार को दोनो प्रकार के करों से समान आय प्राप्त होती है तथा सरकार प्राप्त आय को उन्ही वस्तुओ की समान मात्रा पर व्यय करती है। इस प्रकार दोनो करो के लगाने से जो प्रभाव पड सकता है उस अतर को चित्र (7) द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

मान लीजिए कि उपभोक्ता अपनी समस्त आय दो प्रकार की वस्तुओ X और Y, पर खर्च करता है। Y वस्तु की मात्रा खडी अक्ष पर और X वस्तु की मात्रा पडी अक्ष पर मापी गई है। उदासीन वक्र I, X और Y वस्तुओ के उस सयोग को दिखाती है जो व्यक्ति अपनी आय से प्राप्त कर सकता है। AB मूल्य अनुपात रेखा है जो X और Y वस्तुओ के सापेक्षिक मूल्यो को दिखाती है। P_1 सतुलन बिंदु है। इस बिंदु से विचलित होने पर X और Y वस्तुओ का जो भी सयोग बनेगा वह कदापि उस सयोग से अच्छा नही हो जो P_1 बिंदु पर हमे उपलब्ध होता है।

कल्पना कीजिए कि X वस्तु पर कोई कर लगाया जाता है जिससे X वस्तु की कीमत बढ़ जाती है और मूल्य अनुपात रेखा AC हो जाती है। अब निचली उदासीन वक्र II पर P_2 सन्तुलन बिंदु है।
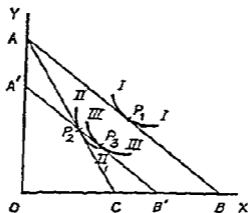
चित्र 7

उपर्युक्त उदाहरण में X पर जो कर लगाया गया वह अप्रत्यक्ष कर था। इस कर का दूसरा विकल्प आय कर भी हो सकता है। मान लीजिए आय कर लगाया जाता है। यह भी कल्पना कीजिए कि आय कर से भी सरकार को उतनी ही आय प्राप्त होती है जितनी पहले प्रकार के कर से होती है। ऐसी स्थिति में अब नई मूल्य अनुपात रेखा A'B' होगी, जो AB रेखा के समानांतर होगी। परंतु ऐसा तब ही होगा जब हम यह मान लें कि आय कर X और Y वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्यों को परिवर्तित नहीं करता। यह रेखा P_2 बिंदु से होकर गुजरेगी। अब उपभोक्ता के लिए यह भी संभव हो सकता है कि वह X और Y वस्तुओं की वही मात्रा खरीदे जो उस समय खरीदता, जब X वस्तु पर कर लगा था। वह ऐसा कर सकता है क्योंकि आय कर लगने के उपरान्त उसके पास इतनी आय बच रहती है। परंतु वह ऐसा नहीं करना चाहेगा। वह वस्तुओं के उस संयोग को प्राप्त करना चाहेगा जो उदासीन वक्र III पर स्थित P_3 बिंदु पर प्राप्त होता है। यह स्थिति वक्र रेखा II से अधिक अच्छी है। इसलिए हम यह कहते हैं कि अप्रत्यक्ष कर की तुलना में प्रत्यक्ष कर का साधनों के आवंटन पर कम हानिकारक प्रभाव पड़ता है।

सामान्यतः इस प्रकार का तर्क अप्रत्यक्ष करों के होन प्रभावों के दिखाने के लिए दिया जाता है। इस तर्क की जांच करने के लिए हमें दो बातों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

(1) उन दशाओं का अध्ययन जिनमें यह कर लगाए जाते हैं।

(2) वे कर किस प्रकार के हैं?

करो के इस सदृश विभाग से साधनो का आवटन किस प्रकार प्रभावित होता है इसका अध्ययन निम्न चित्र की सहायता से किया जा सकता है।

इस चित्र मे Y वस्तु की मात्रा खडी अक्ष पर और X वस्तु की मात्रा पडी अक्ष पर मापी गई है। उपभोक्ता का उदासीन वक्र I है। यही उपभोक्ता समाज का प्रतिनिधित्व करता है। FP_1G सभावित उत्पादन वक्र रेखा है जो X और Y वस्तुओ के उत्पादन सयोग को दिखाती है और यही उत्पादन वक्र समस्त उत्पादक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। AB रेखा उपभोक्ताओ के लिए वही अर्थ रखती है जो इससे पूर्व चित्र मे है। यह उत्पादक के लिए X और Y वस्तुओ के विभिन्न उत्पादन सयोगो को दर्शाती है जिनसे समान आय प्राप्त होती है। इस प्रकार P_1 दोहरे सतुलन का बिंदु है जो प्रतिनिधि उपभोक्ता की उच्चतम प्राथमिकता तथा प्रतिनिधि उत्पादक के उच्चतम लाभ का प्रतिनिधित्व करता है।
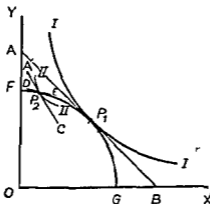
चित्र 8

अब यह कल्पना कीजिए की एक विशेष प्रकार का कर लगाया जाता है। इस विशेष कर का साधनो के आवटन पर क्या प्रभाव पडता है इसके अध्ययन की पूर्व मान्यता यह है कि कर चाहे जिस प्रकार का भी लगाया गया हो तथा उससे प्राप्त आय चाहे जिस प्रकार से भी व्यय की गई हो, सभावित उत्पादन वक्र रेखा अपरिवर्तित रहती है।

ऐसी परिस्थितियो मे आय कर उपभोक्ता एव उत्पादक के सतुलन बिंदु P_1 की स्थिति मे कोई परिवर्तन नहीं लाएगा क्योंकि यह पहले ही मान लिया गया है कि यह कर X और Y वस्तुओ के मूल्यो को प्रभावित नहीं करता, इसलिए उपभोक्ता एव उत्पादक की उदासीन वक्र रेखाए भी परिवर्तित नही होती। यदि X वस्तु पर कर लगाया जाए तब सतुलन बिंदु P_1 न रहकर P_2 हो जाएगा। उपभोक्ता के लिए अब नई मूल्य रेखा A'C हो जाएगी, यह रेखा AB से अधिक ढालू है। इसका कारण X

वस्तु पर कर लगना तथा उसके मूल्य में वृद्धि होना है। उपभोक्ता वक्र II $A'C$ रेखा को P_2 पर स्पर्श करता है। P_2 ही उपभोक्ता का सन्तुलन बिंदु है। परन्तु उत्पादक मूल्य रेखा वह नहीं होगी जिसमें कर सम्मिलित होगा। वह रेखा DE है। यह रेखा AB रेखा की तुलना में साधारणतया अधिक चपटी होगी जो इस ओर संकेत करती है कि कर का एक भाग उत्पादक द्वारा सहन किया जाएगा।

इस प्रकार P_2 उपभोक्ता एवं उत्पादक का दूसरा दोहरा सन्तुलन बिंदु है। क्योंकि वक्र II वक्र I से नीचे है इसलिए हम यह कह सकते हैं, एक विशिष्ट प्रकार का अप्रत्यक्ष कर आनुपातिक आयकर की तुलना में संसाधनों के आवंटन पर बुरा प्रभाव डालता है।'[1]

हमें उन परिस्थितियों का वर्णन करना चाहिए जिनमें X तथा Y वस्तुओं पर विशिष्ट कर की अनुपस्थिति में DE और $A'C$ रेखाओं के ढाल में अंतर उत्पन्न हो जाता है। सर्वप्रथम $A'C$ तथा DE रेखाओं में उस समय विचलन होगा जब सीमान्त निजी लागत तथा मूल्य में अन्तर होगा। ऐसी परिस्थितियों में उपभोक्ता बाजार मूल्य द्वारा अपने क्रय का नियमन करेगा और उत्पादक अपने उत्पादन को वहां समायोजित करेगा जहां सीमान्त लागत सीमान्त लाभ के बराबर हो जाती है। सीमान्त लागत (या सीमान्त आय) तथा मूल्य में वहां अन्तर होगा जहां पूर्ण स्पर्द्धा नहीं होगी। यह स्थिति एकाधिकार तथा अल्प विक्रेताधिकार की दशाओं में उत्पन्न हो जाती है। सीमान्त लागत तथा मूल्य में जितना अधिक विचलन होगा उतना ही विचलन उत्पत्ति के साधनों के वास्तविक तथा इष्टतम आवंटन में होगा। यदि किसी भी परिस्थिति में सीमान्त लागत वस्तुओं के आनुपातिक मूल्य के बराबर और सीमान्त विशुद्ध उत्पत्ति साधन लागत के बराबर नहीं होती तब यह समझना चाहिए कि संसाधनों का आवंटन आदर्श नहीं है। ऐसी परिस्थिति में कर संसाधन आवंटन की दशा को सुधारने में सहायक सिद्ध हो सकता है। ए० आर० प्रेस्ट के मतानुसार, 'सांविक सिद्धांत यह है कि साधनों का नियतन सुधार पाना निश्चय ही सम्भव है यदि उन उद्योगों पर करारोपण किया जाय जिनमें एकाधिकार का अंश कम है क्योंकि इससे एकाधिकारयुक्त अथवा न्यून स्पर्द्धा के उद्योगों के पक्ष में साधनों का अन्तरण होगा। वैसी परिस्थितियां हों तो यह दर्शाया जा सकता है कि इस प्रकार के लगाए गए परोक्ष कर आयकर की तुलना में साधनों के आवंटन पर अच्छा प्रभाव डालेंगे।'

प्रत्यक्ष करों का साधन आवंटन पर प्रभाव

इस विषय के बोध का प्रारम्भिक बिंदु इस मान्यता पर आधारित है कि सामाजिक तथा निजी दृष्टिकोण से संसाधनों का आवंटन इष्टतम है। यद्यपि आयकर में बहुत-सी अपूर्णताएं हैं जिसके कारण करारोपण के उद्देश्य में पूर्ण सफलता मिलने में संदेह रहता है परन्तु यह निश्चित है कि विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष कर विभिन्न उद्योगों में संसाधनों

1 A.R. Prest 'Public Finance in Theory and Practice', (1963) p 37

की पूर्ति पर विभेदात्मक प्रभाव डालते हैं। इस समस्या का अध्ययन हम दो प्रकार के करो के सापेक्षिक प्रभाव को ज्ञात करके करेंगे। वे हैं *आनुपातिक आयकर तथा प्रतिव्यक्ति कर*[1]।

श्रम की पूर्ति

हम एक उदाहरण से यह ज्ञात करने की चेष्टा करेंगे कि प्रतिव्यक्ति कर की तुलना मे आनुपातिक आयकर विभिन्न उद्योगो के मध्य श्रम की पूर्ति को किस प्रकार प्रभावित करता है। कल्पना कीजिए कि श्रम दो उद्योगो A तथा B के मध्य बटा हुआ है। पहले उद्योग मे मजदूरी की दर 10 रु० तथा दूसरे मे 5 रु० प्रतिदिन है। B उद्योग की अपेक्षा *A उद्योग मे कार्य की दशाए इतनी दुख दायी हैं कि मजदूरी का यह अतर श्रम को* B उद्योग से A उद्योग मे जाने से रोकने के लिए पर्याप्त है। B उद्योग मे कार्य करने की दशा इतनी प्रसन्नदायक है कि श्रमिक 5 रु० कम लेकर भी इस उद्योग मे कार्य करने को तैयार हो जाता है। यदि दोनो उद्योगो की मजदूरियो पर 20 प्रतिशत का प्रत्यक्ष कर लगा दिया जाए तो A और B उद्योगो मे श्रमिको की शेष आय 8 तथा 4 रुपए क्रमश रह जाती है। *अब मजदूरी का अतर इतना नही है जो A उद्योग की अप्रसन्नदायक* दशा की क्षतिपूर्ति कर सके। इसका यह परिणाम होगा कि श्रम A उद्योग से B उद्योग मे स्थानातरित होना प्रारभ हो जाएगा। परतु प्रतिव्यक्ति कर के द्वारा ऐसा नही होगा। यदि प्रत्येक श्रमिक पर 1 5 रु० का प्रतिव्यक्ति कर लगा दिया जाए तब A और B उद्योग मे श्रमिकों का परिशुद्ध पुरस्कार क्रमश 8 5 तथा 3 5 रु० रह जाएगा। ऐसी दशा मे *दोनो उद्योगो के श्रमिको की मजदूरी मे वही अतर है जो इस कर के लगाने के* पूर्व था। आनुपातिक आयकर की तुलना मे यदि प्रगतिशील कर लगा दिया जाए तो विभिन्न उद्योगो मे विशुद्ध मजदूरियो का अतर और घट जाएगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ प्रकार के आयकर ससाधनो को कुछ सीमा तक अवश्य स्थानातरित करते हैं, उत्पादन को प्रभावित करते हैं तथा ससाधनो को इष्टतम आवटन से विचलित करते हैं।[2]

पूजी की पूर्ति

दूसरा महत्त्वपूर्ण साधन पूजी है। अब हम यह ज्ञात करना चाहेंगे कि क्या आनुपातिक कर पूजी की गतिशीलता पर विभेदात्मक प्रभाव डालते हैं—विशेष रूप से अधिक तथा कम जोखिमपूर्ण उद्योगों मे। इस सदर्भ मे हमे दो बातें जान लेनी चाहिए

(1) क्या करारोपण जोखिमपूर्ण उद्योगों में लाभ या हानि की आशा मे कोई परिवर्तन लाता है ?

(2) इन आशाओ के परिवर्तन से विनियोगियों मे क्या प्रतिक्रियाए उत्पन्न होती हैं ?

अनिश्चितता सहन करने का विचार मुद्रा के उपयोगिता ह्रास सिद्धांत पर

---

1 प्रतिव्यक्ति कर प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में आने वाली निश्चित आय पर लगाया जाता है।

2 A R Prest, op cit, p 43

आश्रित है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को सरकारी प्रतिभूतियों तथा कम्पनी के अंशों में विनियोग करने के चुनाव का अवसर मिलता है। सरकारी प्रतिभूतियों (जो जोखिम-रहित हैं) पर भी 4 प्रतिशत का लाभांश तथा कम्पनियों के अंशों (जो जोखिमयुक्त हैं) पर भी 4 प्रतिशत का लाभांश मिलता है। यदि कम्पनियों के अंशों पर 2 प्रतिशत लाभांश के बढ़ने-घटने की सम्भावनाएं बराबर हों तब ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति को 2 प्रतिशत की वृद्धि, पूंजी को कम्पनियों के अंशों में विनियोजित करने के लिए आकर्षित नहीं करेगी क्योंकि उसे यह भय बराबर बना रहेगा कि कहीं लाभांश 2 प्रतिशत से कम न हो जाए। इसलिए जोखिमयुक्त अंशों में विनियोग करने के लिए सरकारी प्रतिभूतियों की तुलना में लाभांश थोड़ा अधिक रखना होगा। हो सकता है कि साधारण जोखिमयुक्त विनियोगों के लिए न्यूनतम मात्रा का 6 प्रतिशत तथा अधिक जोखिमयुक्त विनियोगों के लिए 8 प्रतिशत का लाभांश आवश्यक हो।

अब विचार कीजिए कि 50 प्रतिशत का आनुपातिक कर लगाया गया है। ऐसा कर अधिक जोखिमयुक्त विनियोग के विपरीत विभेदात्मक व्यवहार करता है। इस प्रकार साधारण जोखिमयुक्त विनियोगों पर 2 प्रतिशत तथा अधिक जोखिमयुक्त विनियोगों पर 4 प्रतिशत की कटौती घट कर क्रमशः 1 तथा 2 प्रतिशत रह जाएगी। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आनुपातिक कर जोखिमयुक्त उद्यमों पर विरोधी प्रभाव डालते हैं।

अप्रत्यक्ष करों का साधन आवंटन पर प्रभाव

संसाधनों के आवंटन पर अप्रत्यक्ष करों के प्रभाव जानने की वही रीति है जो प्रत्यक्ष करों के सम्बंध में है। यहां भी हमारा अध्ययन कुछ मान्यताओं पर आधारित होगा। प्रथम मान्यता यह है कि सामाजिक एवं निजी दृष्टिकोण से साधनों का आवंटन इष्टतम है। हम उपभोग की वस्तुओं पर लगाए जाने वाले करों के तात्विक लाभों का वर्णन करेंगे। तत्पश्चात् उपभोग की वस्तुओं पर लगाए जाने वाले करों की तुलना पूंजीगत माल पर लगाए जाने वाले करों से करेंगे। इसके उपरान्त स्पष्ट विवेचन किया जाएगा कि किसी वस्तु पर एक विशिष्ट कर का क्या प्रभाव होता है।

विशिष्ट कर

यदि प्रत्येक वस्तु की पूर्ति की लोच समान है तब कर उन वस्तुओं पर लगाने चाहिए जिनकी मांग बेलोचदार है। ऐसी परिस्थिति में कर लगने से उस वस्तु का उपभोग कम नहीं होगा तथा संसाधनों का इष्टतम आवंटन नहीं बिगड़ेगा। कल्पना कीजिए, वस्तुओं की मांग की लोच में समानता है परन्तु पूर्ति की लोच में भिन्नता है। पूर्ति जितनी बेलोचदार होगी उतना ही साधनों के एक उद्योग से दूसरे उद्योग में स्थानान्तरण की सम्भावनाएं कम होंगी। ऐसी बेलोच पूर्ति वाली वस्तुओं पर अधिक कर वसूल किया जा सकता है। यहां संसाधनों के इष्टतम आवंटन में कोई बिगाड़ नहीं आएगा। उपर्युक्त विचारों का स्पष्टीकरण चित्र संख्या 9, 10 व 11 द्वारा किया जा सकता है।

D_1 रेखा अधिक बलोचदार तथा D_2 रेखा अधिक लोचदार माग का दर्शाती है। S_1 कर लगाने के पूव की रेखा है। S_2 कर लगाने के पश्चात की रेखा है। प्रत्येक म ABCD जुटाए हुए कर की राशि है। जब माग अधिक बेलोचदार है तब उपभोक्ता
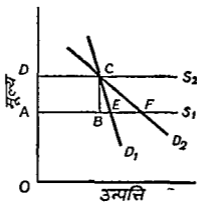
चित्र 9

को ABCD + CBE अतिरेक को त्यागना पडता है और जब माग अधिक लोचदार है तब ABCD + CBF अतिरेक को त्यागना पडता है। अत हम कह सकते हैं कि अधिक लोचदार माग वाली वस्तुओ की तुलना म अधिक बेलोचदार माग वाली वस्तुओ पर कर लगान से कम अतिरेक त्यागना पडता है।
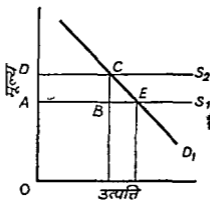
चित्र 10

चित्र 10 और 11 ठीक वैस ही पूर्ति की विभिन्न दशाओ म उपभोक्ता की सापेक्षिक हानि का दर्शाते है। दोनो चित्र समान पैमान पर खीचे गए हैं। दोनो म माग

की लोच समान है और कर भी समान जुटाया जाता है।

चित्र 10 में पूर्ति की पूर्णतया लोचदार दशा में करों की प्राप्ति की तुलना में जो हानि होती है वह CBE के द्वारा प्रदर्शित की गई है। चित्र 11 में पूर्ति अधिक बेलोचदार है। S_1 तथा S_2 का लब रूप में वही अंतर है जो चित्र 10 में है। GECD का क्षेत्रफल अतिरेक की ऋणात्मक हानि को दर्शाता है जो ABCD कर प्राप्ति की तुलना में बहुत कम है। इसीलिए प्रेस्ट ने कहा है 'उद्योग में वस्तुओं की पूर्ति जितनी बेलोचदार होगी उतने ही उससे कम साधन स्थानांतरित होंगे, पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी उतने ही साधन अधिक स्थानांतरित होंगे।'[1]
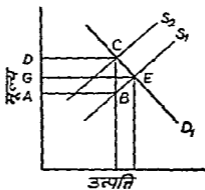
चित्र 11

व्यय का सापेक्षिक प्रभाव

ससाधन आवंटन पर करों के प्रभावों का अध्ययन करने के पश्चात् अब हम यह ज्ञात करना चाहेंगे कि विभिन्न प्रकार के समान राशि के राजकीय व्यय साधनों के वितरण को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। क्यों न हम प्रत्येक को दिए जाने वाले समान एकमुश्त राशि की तुलना उद्योग की विभिन्न शाखाओं को दिए जाने वाले विभेदात्मक उपादानों से करके देखें। यह तुलना ठीक वैसे ही है जैसे प्रति व्यक्ति कर तथा अप्रत्यक्ष कर के मध्य थी। यदि उपदान समान आधार पर वितरित किया जाए तब साधनों का उन उद्योगों में स्थानांतरण हो जाएगा जिन्हें ऐसे उपदान मिले हैं। उपदान मिलने के कारण ऐसे उद्योगों में शिथिलता आ जाएगी और कार्यक्षमता भी घट जाएगी। हां, यदि यह उपदान सीमांत लागत के अनुपात में दिया जाए तब ऐसा नहीं हो सकता। यदि उपदान आय के अनुपात में दिया जाता है तब अधिक जोखिम-पूर्ण तथा अनुचित उद्योगों में साधनों के अधिक स्थानांतरण की संभावनाएं हो सकती हैं क्योंकि लाभ भी ऐसे ही उद्योगों में अधिक होते हैं।

1 A R. Prest. op cit., p 52.

इस समस्या के सदर्भ मे महत्त्वपूर्ण बात यह जानने की है कि सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र मे ससाधनो का आवटन किस प्रकार होता है। इसका उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि सार्वजनिक क्षेत्र का आकार क्या है ?

सार्वजनिक क्षेत्र का आकार

ससाधनो के इष्टतम आवटन की दृष्टि से सरकार का हस्तक्षेप उस क्षेत्र मे प्रशसनीय माना जाएगा जहा स्पर्द्धा अनुचित तथा एकाधिकार उचित समझा जाता हो। उदाहरणार्थ डाकखानो तथा परनालियो (Severage) के प्रबध के कुछ ऐसे कार्य हैं जो एक ही सगठन के अतर्गत सपन्न होने चाहिए। इसलिए ऐसे कार्यों के लिए साधनो का आवटन सरकार द्वारा नियत्रित होना चाहिए। जहा निजी व्यक्ति सामाजिक लागतो तथा सामाजिक लाभो की ओर ध्यान नहीं देता या जहा उपभोक्ता तथा उत्पादक इनकी परवाह नही करते वहा सरकार का हस्तक्षेप न्यायोचित होता है। शिक्षा इसका एक उदाहरण है। प्रत्येक व्यक्ति को समाज मे रहने तथा कार्य करने के लिए एक न्यूनतम स्तर का ज्ञान तथा प्रशिक्षण आवश्यक होता है। यदि कोई व्यक्ति इस न्यूनतम स्तर को प्राप्त करने मे असमर्थ रहता है तो इससे उत्पन्न हानि का शिकार केवल व्यक्ति विशेष ही नही अपितु पूरा समाज होता है। एक अनपढ कार चालक, जो यातायात के नियमों की अवहेलना के कारण दुर्घटनाग्रस्त होता है, वह स्वय ही पीडित नही होता परतु दुर्घटना के दूसरे पक्ष को भी पीडित करता है। ऐसी सामाजिक हानियो को रोकना सरकार का कर्त्तव्य होता है। इसलिए ऐसे कार्यों को पूरा करने के लिए सरकार को वित्तीय साधनो का एक भाग सुरक्षित रखना चाहिए।

सरकार को ऐसे लोगो की भी वित्तीय सहायता करनी होती है जो अपनी भलाई-बुराई को नही समझते। उदाहरण के लिए कानून द्वारा छोटे बच्चो को रोजगार से मुक्ति दिलाना तथा उन्मत्तो को राजकीय सहायता प्रदान करना सरकार का ही उत्तरदायित्व होता है। ऐसे कार्य राजकोषीय या गैर राजकोषीय क्रियाओ द्वारा कहा तक सम्पन्न किए जा सकते हैं, इस सबध मे कोई निश्चित सिद्धात नही है।

सार्वजनिक क्षेत्र मे व्यय का वितरण

आवटन के अतिम रूप मे हमे यह ज्ञात करना है कि सपूर्ण राजनैतिक क्षेत्र मे विभिन्न वस्तुओ और सेवाओ के मध्य सार्वजनिक व्यय का वितरण किस सिद्धात के अनुसार निर्धारित किया जाना चाहिए। उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि सार्वजनिक व्यय की व्यवस्था इस प्रकार की जानी चाहिए कि सामाजिक लाभ अधिकतम हो। यदि कुल व्यय मे बिना कोई परिवर्तन किए व्यय के प्रारूप को पुन-र्व्यवस्थित करके सरकार जनसख्या के कुल लाभ को बढाने मे समर्थ हो जाती है तब यह कहा जा सकता है कि ससाधनो का आवटन इष्टतम बिंदु तक पहुच गया है। परतु यहा भी व्यय की प्राथमिकता का निर्धारण पूर्णरूपेण आर्थिक सिद्धातो द्वारा निर्धारित नही हो सकता। राजनैतिक कारक यहा भी अपना प्रभाव अवश्य डालेंगे।

कर प्रशासन तथा ससाधन आवटन

यदि सार्वजनिक आय का अधिक भाग कर प्रशासन पर ही व्यय कर दिया जाए तो ससाधन आवटन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। वही ससाधन जो सार्वजनिक या निजी क्षेत्र मे लाभपूर्वक प्रयुक्त हो सकते थे, वे कर प्रशासन में ही विलीन हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि कर-प्रणाली सरल और मितव्ययी होगी तो ससाधनों का इष्टतम प्रयोग हो सकेगा।

ऐसे ही कर वचना ससाधनों के आवटन को बिगाड़ती है। साधारणतया कर वचना की सभावनाए वहा अधिक होती हैं जहा आय की यथार्थता प्रमाणित नहीं हो पाती। ऐसे उद्योग अन्य उद्योगो की तुलना मे अधिक आकर्षित हो जाते हैं। परिणाम-स्वरूप अधिक ससाधन ऐसे उद्योग मे आकृष्ट हो जाते हैं जहा कर वचना की सभावनाए अधिक होती हैं। ससाधनों का ऐसा स्थानातरण सामाजिक दृष्टि से हितकर सिद्ध नही होता।

6

लोकव्यय

उन्नीसवीं शताब्दी में लोकवित्त शास्त्रियों ने सार्वजनिक व्यय को बहुत कम महत्व प्रदान किया था तथा उनका ध्यान सार्वजनिक आय पर ही केंद्रित था क्योंकि उस समय राज्य के कार्य ही बहुत कम थे। परंतु अब राज्य तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं की गतिविधियां दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। जर्मन अर्थशास्त्री एडाल्फ वेग्नर ने अपने प्रसिद्ध नियम 'राज्य के कार्यकलापों में वृद्धि के नियम' की व्याख्या इस प्रकार की है

'विभिन्न देशों और विभिन्न कालों की तुलनाओं से पता चलता है कि प्रगतिशील राष्ट्रों में—और हमारा संबंध केवल ऐसे ही राष्ट्रों से है—केंद्रीय और स्थानीय दोनों सरकारों के कार्यकलाप में बराबर वृद्धि होती रहती है। यह वृद्धि विस्तृत और गहन दोनों प्रकार की है। केंद्रीय और स्थानीय सरकारें नए कार्य हाथ में लेती जाती हैं और पुराने कार्यों को और अधिक कुशलता और पूर्णता के साथ संपन्न करती हैं। इस प्रकार केंद्रीय और स्थानीय सरकारें जनता की आर्थिक आवश्यकताओं को अधिक परिमाण में और अधिक संतोषजनक ढंग से पूरा करती है।'[1] हाल में अपनी पुस्तक[2] में पीकाक तथा वाइजमेन ने इस बात को ज्ञात किया है कि वेग्नर नियम अब भी कार्य करता है, परंतु उनके अनुसार व्यय का बढ़ना आय की वृद्धि में कारण होता है। सार्वजनिक व्यय स्वयं अनेक प्रकार से आर्थिक जीवन को प्रभावित करता है। इसलिए लोकव्यय, उसके कारणों, सिद्धांतों तथा प्रभावों का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण हो गया है।

वर्तमान युग में लोकव्यय को दो कारणों से काफी महत्व प्राप्त हुआ है। प्रथम तो, इसलिए कि आजकल राज्य की आर्थिक क्रियाओं में अनेक प्रकार से वृद्धि हो गई है और दूसरे, अब यह भी अनुभव किया जाने लगा है कि किसी भी देश के आर्थिक जीवन पर—अर्थात् उत्पादन, वितरण और आर्थिक क्रियाओं के सामान्य स्तर पर लोकव्यय की प्रकृति व मात्रा का भारी प्रभाव पड़ सकता है।

---

1 C J Bullock 'Selected Readings in Public Finance', (3rd ed), New York, Ginn, (1924), p 32 ff

2 Peacock and Wiseman 'The Growth of Public Expenditure in the United Kingdom'

लोकव्यय में वृद्धि के कारण

आधुनिक काल में लोकव्यय में जिन कारणों ने वृद्धि हुई है उनका संक्षेप में वर्णन नीचे किया गया है।

(1) आवश्यकताओं की सामूहिक संतुष्टि

आधुनिक युग में ऐसी अनेक आवश्यकताएं हैं जिनकी संतुष्टि पहले निजी व्यय द्वारा की जाती थी परंतु अब लोकव्यय द्वारा सामूहिक रूप से उनकी पूर्ति की जाती है। उदाहरण के लिए नगर परिवहन, विद्युत और जल-पूर्ति आदि ऐसी ही आवश्यकताएं हैं। इनकी व्यवस्था यदि व्यक्तिगत अथवा प्रतियोगिता के आधार पर की जाए तो न तो वे मितव्ययी होगी और न ही सुविधाजनक। यदि यही सेवाएं लोक सत्ताओं, जैसे कि सरकार, निगम अथवा नगरपालिका द्वारा पूरी की जाए तो इसमें होने वाले अपव्यय को रोका जा सकता है साथ ही बड़े पैमाने पर एकाधिकारी उत्पादन के लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं।

(2) कल्याणकारी राज्य की स्थापना

आज इस बात का दावा किया जा सकता है कि सरकार की क्रियाओं का निरंतर विस्तार हुआ है। जहां प्राचीन समय में सरकारें अपने को विदेशी प्रतिरक्षा की समस्याओं तथा कानून तथा व्यवस्था की स्थापना तक ही सीमित रखती थीं वहां अब उन्होंने अनेक ऐसे कार्यों तथा सेवाओं को संपन्न करने का उत्तरदायित्व ले लिया है जो कि प्राचीन समय में संपन्न नहीं किए जाते थे। उन्नत देशों में भी सरकारी क्षेत्र तथा संगठन का महत्त्व तथा उनका विस्तार इसलिए अधिक बढ़ गया है क्योंकि इस शताब्दी के मध्य काल में गैर सरकारी क्षेत्र के कार्य संपादन में बड़ी गंभीर कमियां पाई गई हैं। आज ऐसी कोई क्रिया नहीं है जिसे सरकार अपने हाथ में न ले सकती हो, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिसमें वह प्रवेश न कर सकती हो। राज्य की क्रियाओं में वृद्धि का मूल कारण यह है कि पिछले 100 वर्षों की अवधि में वे मूलभूत उद्देश्य एवं लक्ष्य ही बदल गए हैं जिनके लिए राज्य की स्थापना होती है। 19वीं शताब्दी का मुख्य एवं मूल रूप एक पुलिस राज्य था जिसका मुख्य कार्य नागरिकों को विदेशी हमला से रक्षा करना तथा देश के अंदर कानून व व्यवस्था की स्थापना करना था। परंतु पुलिस राज्य की इस पुरानी विचारधारा का स्थान अब 20वीं शताब्दी की कल्याणकारी राज्य की विचारधारा ने ले लिया है जिसका मुख्य लक्ष्य अपने नागरिकों का आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक कल्याण करना है। राज्य की प्रवृत्ति एवं उद्देश्य में भारी परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप आधुनिक सरकारें अब यह समझती है कि देश के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में सुधार के अतिरिक्त उनका आधारभूत कार्य व्यावसायिक चक्रों को समाप्त करना, देश में पूर्ण रोजगार की दशाएं उत्पन्न करना तथा आर्थिक क्रियाओं के स्तर को ऊंचा उठाना भी है, इस प्रकार राज्य की मूलभूत विचारधारा में भी परिवर्तन हो गया है जिसके फलस्वरूप नए-नए कार्य संपन्न किए जा रहे हैं। इससे लोकव्यय में वृद्धि हो रही है।

(3) प्रतिरक्षा व्यय

प्रतिरक्षा व्यय निरतर बढने पर है। इतिहास इस बात की पुष्टि करता है। इस व्यय मे युद्ध और युद्धो के बीच के काल मे सैनिको, सामान और देखभाल पर होने वाला व्यय ही नही अपितु मोर्चे से लौटे जवानो के पेंशन और प्रशादान तथा युद्ध के हेतु लिए गए ऋण का ब्याज भी शामिल है। युद्धकाल मे असैनिक अर्थव्यवस्था पर नियत्रण और उसके लिए सहायक असैनिक व्यय भी प्रतिरक्षा व्यय मे सम्मिलित होते है।

युद्धकला एव विज्ञान मे इस तेजी से प्रगति हुई है कि युद्ध के उपकरण अत्यधिक महगे हो गए है। साथ ही नित्य प्रति आविष्कारो के कारण युद्ध सामग्री जल्दी पुरानी पड जाती है। युद्ध मे हुए घायल सैनिको एव उनके परिवारो की देखभाल तथा बोनस शिक्षा एव पुनर्वास के रूप मे उन्हे सहायता देने के सबध मे सरकार के उत्तरदायित्वो के कारण युद्ध मे होने वाले व्यय बहुत बढ गए है।

उचित प्रतिरक्षा प्रणाली के लिए प्रहार करने की क्षमता वाली विशाल सैन्य शक्ति तथा ऐसी सेना की आवश्यकता है जो शत्रु का मुहतोड जवाब दे सके और आधुनिक उपकरणो से सज्जित हो। एक अनुमान के अनुसार, सयुक्त राज्य अमेरिका अपनी सपूर्ण आय का लगभग 85 प्रतिशत भाग केवल प्रतिरक्षा पर व्यय करता है जिसमे सेवा निवृत होने वाले सैनिको के भुगतान अणुशक्ति की खोज, विदेशी सहायता और युद्ध के हेतु लिए गए ऋणो का ब्याज भी सम्मिलित है।

(4) शहरो का बसना

जनसख्या का शहरो की ओर झुकाव होना भी लोकव्यय म वृद्धि का एक महत्त्व पूर्ण कारण है। इसके फलस्वरूप कार्यों की गहनता और व्यापकता दोनो बढ़ जाती है। शहरो के बसने के कारण स्थानीय (और अ य) सरकारो के परपरागत प्रशासन कार्यों म प्रति व्यक्ति व्यय बढ़ा ही है क्योकि ये कार्य घनी आबादी से सबद्ध है। उदाहरण के लिए घनी आबादी के कारण पुलिस, सडक या सावजनिक शिक्षा सबधी कार्यों को एक मामूली स्तर पर पूरा करना असभव हो जाता है। पुलिस का कार्य कुशलतापूवक करने के लिए अत्यधिक कुशल और बड विभाग की आवश्यकता पडती है। प्राविधिक तथा प्रयोगात्मक स्कूलो आदि के लिए सावजनिक शिक्षा काय भी विशेष महत्त्व का हो जाता है। अपेक्षाकृत अच्छी सडको की जरूरत होती है। यातायात नियत्रण नितात आवश्यक हो जाता है और मरम्मत भी जल्दी-जल्दी करनी पडती है।

शहरी जीवन की परिस्थितियो के कारण सरकार पर अतिरिक्त दायित्व आ जात है। जहा जनसख्या दबाव अधिक हो, वहा नए काय हाथ मे लेन पडते हे। स्थानीय सरकार को सावजनिक स्वास्थ्य और कल्याण की ओर अधिक ध्यान देना पडता है। शहरी जीवन के कारण सरकार पर निम्नलिखित दायित्व आ जाते है—खाद्य पदार्थों का निरीक्षण, उनके वितरण की व्यवस्था, अच्छे जन-स्वास्थ्य के लिए प्रयत्न तथा कायक्रम, अस्पतालो का निर्माण तथा उनकी देख भाल, आदि।

(5) मंदी से उत्पन्न कार्य

सन् 1930 से प्रारम्भ होने वाले दशक में सरकारों के स्वीकृत कार्यों की सूची में भारी वृद्धि हुई है। मंदी से प्रभावित क्षेत्रों में कुछ नये उत्तरदायित्व स्वीकार किए गए, जैसे कि उद्योग, कृषि तथा जन-कल्याण आदि। सार्वजनिक कार्यों तथा योजनाओं पर किया जाने वाला सरकारी व्यय बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार तो प्रदान करता ही है, साथ ही वस्तुओं व सेवाओं की पूर्ति में भी उल्लेखनीय वृद्धि कर देता है जिससे आर्थिक गतिविधियों के स्तर को ऊपर उठाने में सहायता मिलती है।

(6) आर्थिक नियोजन

आर्थिक नियोजन वर्तमान शताब्दी की एक प्रमुख धारणा है। आर्थिक नियोजन के अंतर्गत देश के उपलब्ध साधनों का इस प्रकार नियोजित ढंग से शोषण किया जाता है तथा अर्थव्यवस्था का इस प्रकार बहुमुखी विकास किया जाता है कि जिससे नागरिकों का जीवनस्तर ऊंचा हो तथा राष्ट्रीय समृद्धि एवं खुशहाली में अभिवृद्धि हो। आर्थिक नियोजन की केंद्रीय व्यवस्था के अंतर्गत विभिन्न विकासशील योजनाओं को पूरा करने के लिए सरकार को अपार धनराशि व्यय करनी पड़ती है। देश में उपलब्ध साधनों के अलावा हिनार्थ प्रबंधन तथा विदेशी ऋण भी लेने पड़ते हैं। इसके परिणामस्वरूप सरकारी व्यय में वृद्धि होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है।

(7) मूल्यस्तर में वृद्धि

लोकव्यय में वृद्धि का एक दूसरा कारण भी है। वह है सन् 1939 के उपरांत जगह-जगह मूल्यस्तर का ऊंचा उठना। जहां तक किसी देश की सरकार का संबंध है मूल्यस्तर में वृद्धि के दो महत्त्वपूर्ण प्रभाव होते हैं—एक, सरकार को उन सभी वस्तुओं और सेवाओं के लिए ऊंची कीमत अदा करनी पड़ती है जिन्हें कि वह खरीदती है। दूसरे, अपने बढ़ते हुए व्यय को पूरा करने के लिए उसे अधिक मात्रा में वित्तीय साधनों की खोज करनी पड़ती है। कुछ सीमा तक तो बढ़ा हुआ सरकारी खर्च स्वयं एक ऐसा तथ्य है जो कि कीमतों में वृद्धि के लिए उत्तरदायी होता है।

(8) जनसंख्या में वृद्धि

संसार के लगभग सभी देशों में जनसंख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। विश्व स्वास्थ्य संगठन का अनुमान है कि संसार की जनसंख्या पिछले 40 वर्ष में 155 करोड़ से बढ़कर *350 करोड़ से भी अधिक हो गई है। भारत में जनसंख्या सन् 1872 में 20 करोड़ थी जो* बढ़कर सन् 1971 में लगभग 55 करोड़ तक पहुंच गई। जनसंख्या की वृद्धि से अनेक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। जन-स्वास्थ्य, सड़कों का विकास, सार्वजनिक शिक्षा आदि के प्रबंध पर तथा अन्य मदों पर सरकारी व्यय बढ़ जाते हैं।

(9) उद्योगों का समाजीकरण तथा राष्ट्रीयकरण

समाजवादी विचारधारा का विकास होने के कारण आजकल सरकार विभिन्न उद्योगों का समाजीकरण एवं राष्ट्रीयकरण करने की नीति का अनुकरण कर रही है। भारत में जीवन बीमे का राष्ट्रीयकरण करने के उपरांत सन् 1969 में 14 बड़े व्यापारिक

बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। राष्ट्रीयकरण किए जाने के फलस्वरूप सरकार को उनकी क्षतिपूर्ति करने एव उनका सचालन करने के हेतु विशाल धनराशि व्यय करनी पडती है। इनके परिणामस्वरूप भी सरकारी व्यय मे वृद्धि होती है।

(10) लोकतन्त्रीय सस्थाएं

लोकव्यय मे वृद्धि का एक कारण और भी है जो यद्यपि राज्य की क्रियाओ मे वृद्धि के वेग्नर के नियमो से तो प्रत्यक्षरूप से सबधित नही है परतु सरकारी खर्च पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। यह कारण है, लोकतन्त्रीय सस्थाओ का अधिकाधिक उपयोग। आधुनिक लोकतन्त्रीय राज्य को राज्य के औपचारिक प्रधान पर व्यय करना होता है तथा केंद्र, राज्य व स्थानीय स्तरो पर विधानमडलो एव सस्थाओ पर भी खर्चों की व्यवस्था करनी होती है। इसके अतिरिक्त सरकारो को ससार के सभी देशो से राजनयिक तथा वाणिज्यिक सबधो को भी बनाए रखना होता है। यही नही, अधिकाश राज्य सयुक्त राष्ट्रसघ, अतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष तथा विश्वबैंक जैसे अतर्राष्ट्रीय सगठनो के सदस्य हैं जिनके कारण वार्षिक चदे के अलावा स्थानीय प्रतिनिधियो तथा अतर्राष्ट्रीय सम्मेलनो आदि पर भी व्यय करने होते है।

स्पष्ट है, उपरोक्त कारणो से भी लोकव्यय की मात्रा बढती जा रही है। यह प्रवृत्ति किसी एक देश तक सीमित नही है, अपितु ससार के लगभग सभी देशो मे लोक-व्यय के बढने की प्रवृत्ति है। भविष्य मे भी इसके घटने की कोई सभावना नही है, यद्यपि किसी वर्ष विशेष मे लोकव्यय कम हो सकता है।

लोकव्यय की सीमाएं

अर्थशास्त्रियो के लिए यह कहना कठिन है कि लोकआय का कितना भाग लोकव्यय के लिए उपयुक्त हो सकता है। लोकव्यय की सीमा किसी समाज की आवश्यकताओ तथा राज्य द्वारा इन आवश्यकताओ को पूरा करने की इच्छा द्वारा निर्धारित होती है। वस्तुत लोकव्यय की सीमा किसी देश की आर्थिक सपन्नता तथा प्रगति, जनसख्या के आकार तथा गुण और नागरिको की राज्य पर निर्भरता एव उनकी कर देय क्षमता पर निर्भर करती है। प्रो० ब्यूहलर के मतानुसार,'कुछ व्यक्तियो को लोकव्यय की बढती हुई प्रवृत्ति एक आपत्ति दिखाई देती है, कुछ व्यक्तियो के लिए यह प्रसन्नता का कारण होती है और कुछ ऐसे भी व्यक्ति है जो इस सबध मे तटस्थ रहना चाहते हैं। राष्ट्रीय आय का कोई भी प्रतिशत लोक-व्यय के लिए निश्चित नही किया जा सकता क्योकि यह सीमा समाज की अभिलाषाओ तथा आवश्यकताओ पर लोकव्यय के प्रभावों तथा उसे पूरा करने के लिए साधनो पर तथा उसकी आय और वितरण पर, आर्थिक विकास की प्रगति तथा ऐसे ही अन्य तथ्यो पर निर्भर करती है। किसी समय विशेष मे किसी राज्य विशेष का कार्य विशेष के लिए व्यय का औचित्य ही वास्तविक समस्या है।'[1] सैद्धातिक दृष्टि से राज्य के लिए लोकव्यय की यही सीमा उत्तम है जो समाज को अधिकतम लाभ प्रदान करे। इसी सदर्भ मे डाल्टन

1 Alfred Beuhlar 'Public Finance', p 87

का मत है, 'लोकव्यय को उस सीमा तक ले जाना चाहिए जहां सभी दिशाओं में होने वाले व्यय से उत्पन्न सीमांत सामाजिक लाभ समान हों और उन सभी सीमांत सामाजिक क्षति के योग के बराबर हों जो कि राजकीय आय के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार से साधनों के जुटाने से उत्पन्न होती है। सरकारी व्यय के सभी लाभ पूर्णतया या प्रधानतया आर्थिक नहीं हैं, तथापि उनमें से अधिकांश के प्रभाव आर्थिक होते हैं और आर्थिक लागत सभी में होती है।

यद्यपि लोकव्यय अनेक मदों पर किया जा सकता है तथापि कुछ वित्त-शास्त्रियों ने लोकव्यय संबंधी नीति को निर्धारित करने वाले तत्त्वों का वर्णन किया है। वे तत्त्व हैं (1) सुरक्षा व्यय, (2) शासन व्यवस्था पर व्यय, (3) सामाजिक कार्यों पर व्यय, (4) व्यापारिक कार्यों पर व्यय तथा (5) राष्ट्रीय निर्माण कार्यों पर व्यय। सच कहा जाए तो लोकव्यय की समुचित सीमा के रूप में राष्ट्रीय आय के किसी निश्चित प्रतिशत का निर्धारण संभव नहीं है क्योंकि ऐसी सीमा सापेक्षिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। अतः ऐसे देश में जहां जनसंख्या का परिमाण अधिक है और आर्थिक विकास की गति धीमी रही है, वहां पर सरकार को अपेक्षाकृत अधिक व्यय करना चाहिए। जहां सरकार के प्रति जनता का विश्वास कम है और नागरिकों की कर-देय क्षमता अधिक नहीं है तो आय के अभाव के कारण ऐसे देश में लोकव्यय का परिमाण कम ही होगा।

लोकव्यय के परिनियम तथा सिद्धांत

आधुनिक युग में सार्वजनिक व्यय इतना अधिक बढ़ गया है और निरंतर बढ़ता जा रहा है कि वह आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों सहित सभी क्षेत्रों में चर्चा का विषय बन गया है। जो लोग इस व्यय का समर्थन नहीं करते उनके मत में सार्वजनिक व्यय धन का अपव्यय है। किंतु इस प्रकार की आलोचनाएं अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। यद्यपि सार्वजनिक व्यय के क्षेत्र में अनुचित कार्यों की संभावना हो सकती है। फिर भी सरकार सामान्य सिद्धांत के आधार पर ही सार्वजनिक व्यय करती है। डा॰ फिन्डले शिराज ने अपने ग्रंथ 'दि साइंस ऑफ पब्लिक फाइनेंस' में सार्वजनिक व्यय के संबंध में चार सिद्धांत प्रस्तुत किए हैं जो निम्न प्रकार हैं

(1) लाभ परिनियम, (2) मितव्ययता परिनियम, (3) स्वीकृति परिनियम तथा (4) आधिक्य परिनियम। इन चार परिनियमों के अतिरिक्त आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक व्यय के संबंध में अप्रकाशित सिद्धांत और प्रतिपादित किए हैं (1) लोच परिनियम, (2) उत्पादन परिनियम, (3) समान वितरण परिनियम।

(1) लाभ परिनियम

यह परिनियम सार्वजनिक व्यय का सर्वोत्तम परिनियम है। इसकी व्याख्या करते हुए प्रो॰ शिराज ने कहा है कि इसका 'उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना है।' इस परिनियम के अनुसार (1) सार्वजनिक व्यय इस प्रकार होना चाहिए जिससे कि अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हो सके। (2) सार्वजनिक व्यय इस प्रकार

होना चाहिए कि उसका देश के उत्पादन पर अच्छा प्रभाव पड़े तथा उत्पादन वृद्धि हो। (3) व्यय किसी विशेष वर्ग के लिए नहीं होना चाहिए वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए होना चाहिए। (4) *सार्वजनिक व्यय किसी नीति या परंपरा द्वारा बाध्य होना* चाहिए।

डाल्टन के अनुसार, 'सार्वजनिक व्यय प्रत्येक दिशा में इस प्रकार होना चाहिए कि किसी एक दिशा में तनिक-सी वृद्धि होने से समाज को प्राप्त होने वाला लाभ उस हानि के बराबर हो जाए जो कर की मात्रा में तनिक-सी वृद्धि के कारण होता है और अन्य किसी स्रोत से राजकीय आय को होती है। यही सार्वजनिक व्यय और सार्वजनिक आय (आगम) का आदर्श होना चाहिए।' पीगू के अनुसार, 'व्यय को सभी दिशाओं में उस बिंदु तक बढ़ाना चाहिए जहां व्यय की अंतिम इकाई से प्राप्त सन्तुष्टि उस अंतिम इकाई की सन्तुष्टि के बराबर हो जो सरकारी सेवा आदि पर व्यय की जाती है।'

संक्षेप में, सार्वजनिक व्यय के समय बैनथम के परिनियम 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख' का पालन करना चाहिए।

(2) मितव्ययता परिनियम

इस परिनियम के अनुसार सरकार को केवल आवश्यक व्ययों पर ही व्यय करना चाहिए तथा उसको कोई भी व्यय ऐसा नहीं करना चाहिए जिससे किसी प्रकार सामाजिक या आर्थिक लाभ प्राप्त न हो। मितव्ययता का अर्थ कृपणता से नहीं लिया जाना चाहिए। मितव्ययता का अर्थ यही है कि राज्य को द्रव्य का व्यय करते समय उसी प्रकार की सावधानी से काम लेना चाहिए जिस प्रकार की सावधानी कोई व्यक्ति अपने धन को निजी कार्यों में व्यय करते समय रखता है। किसी भी स्थिति में अपव्यय *नहीं होना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सरकार को निश्चित नियमों का पालन* करना चाहिए जैसे (अ) किसी भी मद पर आवश्यकता से अधिक व्यय नहीं करना चाहिए, (ब) सार्वजनिक व्यय इस प्रकार करने चाहिए जिससे कि उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो, (स) धन का अपव्यय नहीं होना चाहिए, तथा (द) सरकार को व्यय के अंतिम परिणामों और प्रभाव की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

(3) स्वीकृति परिनियम

इस परिनियम का अर्थ है कि यदि किसी भी प्रकार के सार्वजनिक व्यय को *करने से पूर्व उसकी स्वीकृति अधिकृत अधिकारियों से अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिए।* इस नियम में निम्न मुख्य बातें सम्मिलित हैं . (अ) व्यय करने से पहले उचित अधिकारी से स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए। (ब) द्रव्य की जितनी मात्रा व्यय करने की स्वीकृति मिली हो, उससे अधिक व्यय नहीं करना चाहिए। (स) जिस कार्य के लिए द्रव्य व्यय करने की अनुमति मिली हो, उसी कार्य पर व्यय करना चाहिए। (द) व्यय करने की रकम के हिसाब-किताब का उचित अंकेक्षण (Auditing) होना चाहिए। (य) किसी भी सरकारी कर्मचारी को उस राशि से अधिक व्यय करने की स्वीकृति नहीं देनी चाहिए, *जितना कि उसे स्वयं अधिकार है।* (र) *ऋणों द्वारा लिया हुआ धन केवल*

उन्हीं कार्यों पर खर्च करना चाहिए, जिनके लिए वह प्राप्त किया जाता है। तथा (ख) ऋण को उचित समय पर लौटाने के लिए शोधन कोष अथवा अन्य आवश्यक प्रबंध भी करना चाहिए।

(4) आधिक्य परिनियम

इस परिनियम का अभिप्राय यह है कि सरकार को अपना आय-व्यय संतुलित रखना चाहिए ताकि घाटे की वित्त व्यवस्था करनी न पड़े।

फिन्डले शिराज के अनुसार राजकीय संस्थाओं को अपनी आय की प्राप्ति एवं व्यय साधारण व्यक्तियों के अनुसार करनी चाहिए। व्यक्तिगत व्यय के समान संतुलित बजट की नीति को अपनाना चाहिए। इस संबंध में सन् 1920 में प्रो० शिराज ने अपनी पुस्तक में ब्रुसेल्स के अंतर्राष्ट्रीय वित्त सम्मेलन के एक प्रस्ताव को इस प्रकार व्यक्त किया है

'वह देश जो घाटे के बजटों की नीति को स्वीकार करता है, फिसलने वाले मार्ग पर चलता है जो सर्वनाश की ओर ले जाता है। उस मार्ग से बचने के लिए कोई भी त्याग बड़ा नहीं है।'

ग्लेडस्टन ने इसी प्रकार लिखा है, 'भविष्य के नाश, क्षति एवं गड़बड़ी से बचने के लिए बजट में संतुलन होना आवश्यक है।'

उपरोक्त विचार ठीक भी हैं क्योंकि घाटे के बजट से ऋण का भार जनता पर बढ़ जाता है और देश तथा विदेशों में सरकार का विश्वास कम हो जाता है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि घाटे का बजट बनाना हमेशा अवांछनीय है। आर्थिक नियोजनकाल में घाटे के बजटों द्वारा आर्थिक क्रियाओं के स्तर को ऊंचा किया जा सकता है। इसी प्रकार युद्धकाल में भी सरकार का काम बिना घाटे के बजट बनाए नहीं चल सकता। आधिक्य बजट भी ठीक नहीं होता, क्योंकि ऐसे बजटों से जनता के मस्तिष्क में यह विचार आने लगता है कि उन पर अधिक कर लगाए जा रहे हैं।

अतः अवसादकाल, आर्थिक नियोजन काल तथा युद्ध के समय घाटे के बजट मुद्रा-स्फीति में आधिक्य बजट और सामान्य परिस्थितियों में संतुलित बजट बनाना चाहिए।

प्रो० शिराज के उक्त सिद्धांतों के अतिरिक्त आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस संबंध में अग्रांकित सिद्धांत और प्रतिपादित किए हैं

(1) लोच परिनियम

इस सिद्धांत का यह अभिप्राय है कि सार्वजनिक व्यय में पर्याप्त लचक होनी चाहिए अर्थात् आवश्यकताओं और परिस्थिति के अनुसार व्यय में आवश्यक परिवर्तन करना संभव होना चाहिए क्योंकि सामाजिक लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि व्यय का सामान्य ढांचा लचीला हो। प्रायः देखा गया है कि कभी-कभी सरकार के समक्ष ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं कि उन पर विजय पाने के लिए सार्वजनिक व्यय में एकदम कमी या वृद्धि करनी पड़ती है। व्यय को बढ़ाना तो बहुत

सरल होता है परन्तु उसे घटाने मे बडी कठिनाई होती है। सरकार आय के नवीन साधन खोजती है, लेकिन साधनो को खोजने की एक सीमा होती है जिससे आगे आय नही बढ़ाई जा सकती। इसके अतिरिक्त इन साधनो को खोज कर आय बढाने से समाज पर कभी-कभी बुरे प्रभाव भी पड जाते हैं।

अत इन सभी दृष्टियो से अर्थशास्त्रियो का मत है कि सार्वजनिक व्यय मे यथेष्ठ लोच बनाए रखना चाहिए और यथासभव व्यय एक साथ न बढ़ाकर धीरे-धीरे बढाना चाहिए तथा इस प्रकार व्यय एक साथ कम न करके शनै शनै कम करना चाहिए ताकि साधारण जनता मे असतोष न फैल सके। *ब्यूहलर ने लिखा है सार्वजनिक व्यय के परिणामो का अनुमान लगाते समय हमे उन परिणामो की ओर भी ध्यान देना होगा जो इस व्यय की पूर्ति करने के सबध मे करारोपण अथवा आय के अन्य उपयोगो के* परिणामस्वरूप सामने आ सकते हैं।' अत सार्वजनिक व्यय ऐसा होना चाहिए कि उसमे समयानुसार परिवर्तन किए जा सकें तथा सामाजिक हितो को भी क्षति न पहुचे।

(2) उत्पादक परिनियम

इस सिद्धातानुसार सार्वजनिक व्यय इस प्रकार का होना चाहिए जिससे देश मे नये-नये उद्योगो की स्थापना हो, रोजगारो के अवसरो मे वृद्धि हो तथा जनता के जीवनस्तर का विकास हो। यदि सरकार सीधे-सीधे उत्पादन पर व्यय नही भी करती तो भी इस प्रकार व्यय किया जाना चाहिए कि देश का अर्थतत्र सुदृढता की ओर अग्रसर हो और उत्पादन सबधी क्रियाओ को प्रोत्साहन मिले। यदि जनता सतोष का अनुभव नही करती और उसके जीवनस्तर मे समुचित विकास नही होता तो सार्वजनिक *व्यय का कोई महत्त्व नही रह जाता। हैंसन* ने इस सबध मे अपने विचार लिखे हैं *कोई भी आधुनिक राष्ट्र बिना सामाजिक और सार्वजनिक जीवन सेवाओ मे* वृद्धि किए हुए अपने वर्तमान रूप तथा बहुमुखी जीवनस्तर को उपलब्ध नही कर सकता।'

यह सर्वविदित है कि पिछली शताब्दी मे सुरक्षा, शाति व्यवस्था और सामाजिक सेवाओ पर किया जाने वाला व्यय अनुत्पादक माना जाता था क्योकि इस व्यय से प्रत्यक्ष उत्पादन मे कोई वृद्धि नही होती है। परतु इस शताब्दी के प्रारभ से ही इस धारणा को परित्याग कर यह माना जाने लगा है कि सुरक्षा व्यय, शाति व्यवस्था पर व्यय और सामाजिक सेवाओ पर व्यय अत्यत आवश्यक है क्योंकि बिना इनके उत्पादन कार्य असभव है। लेकिन परोक्ष रूप से इनके द्वारा उत्पादन म निश्चित वृद्धि होती है। जिस व्यय से पूजी निर्माण तीव्रतर होता है, बेकारी की समस्या हल होती है, उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ता है और सामाजिक हित पूरे होते हैं, वे व्यय निश्चित रूप से उत्पादक हैं। सामाजिक सेवाओ से मनुष्य की कार्यक्षमता बढ़ती है, अत उन पर किया गया व्यय अनुत्पादक नही कहा जा सकता।

(3) समान वितरण परिनियम

इस सिद्धात के अनुसार सार्वजनिक व्यय नीति इस प्रकार की होनी चाहिए जो

सम्पूर्ण जनता के लिए कल्याणमय हो और जिससे धन के वितरण की असमानता कम हो। वितरण की इस विषमता को दूर करने के लिए संपत्ति का समान वितरण किया जाना चाहिए। ऐसी नीति को, जिससे गरीब अधिक गरीब तथा अमीर अधिक अमीर होते जाए, सार्वजनिक व्यय नीति में कोई स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। अत सरकार को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि देश के पिछड़े हुए क्षेत्रों में भी पर्याप्त लोक-व्यय किया जाए ताकि वे भी विकसित क्षेत्रों के समकक्ष आ सकें। जहां आर्थिक नियोजन द्वारा आर्थिक विकास के प्रयत्न किए जा रहे हैं वहां इस बात पर विशेष रूप से ध्यान केंद्रित किया जा रहा है कि धन का समान वितरण हो। राज्य इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए धनी लोगों से प्रगतिशील करों द्वारा अधिकाधिक धन प्राप्त करता है और निर्धन लोगों के हितों के लिए निशुल्क शिक्षा, चिकित्सा, आवास-व्यवस्था, मनोरंजन के कार्यों की व्यवस्था आदि करता है ताकि निर्धन जनता का जीवनस्तर ऊंचा होने में सहायता मिल सके।

(4) समन्वय परिनियम

इस परिनियम के अनुसार देश की विभिन्न स्तरीय सरकारों को पारस्परिक परामर्श करके व्यय निर्धारित करना चाहिए। जिन देशों में संघात्मक अथवा प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था प्रचलित है उनमें विभिन्न प्रकार की सरकारें स्थापित होती हैं—संघीय या केंद्रीय सरकार, राज्यीय तथा स्थानीय सरकार। ये तीनों प्रकार की सरकारें अलग-अलग साधनों से आय एकत्रित करती हैं और पृथक्-पृथक् मदों पर ही खर्च करती हैं। इनके द्वारा किए गए व्यय से अधिकतम सामाजिक लाभ तभी मिल सकता है जब इनके व्ययों में सामंजस्य स्थापित हो, पुनरावृत्ति की आशंका न हो और व्यय परिमाणों में परस्पर विरोध न हो।

उपरोक्त सभी परिनियमों की चर्चा के बाद हम कह सकते हैं कि इन परिनियमों पर चलकर सार्वजनिक व्यय द्वारा जनता को अधिकतम लाभ पहुंचाया जा सकता है और उत्पादक वितरक शक्तियों को प्रोत्साहित करके धन के वितरण की असमानता को कम किया जा सकता है। भारत का सार्वजनिक व्यय यद्यपि योजनात्मक रूप से हो रहा है और लाभ के सिद्धांत को ध्यान में रखकर कृषि उद्योग, शक्ति के साधन, यातायात, समाज कल्याण आदि पर व्यय करके देश बहुमुखी विकास पथ पर अग्रसर है। किंतु फिर भी अनेक दृष्टियों से यहां सार्वजनिक व्यय अमितव्ययी है। विदेशी अतिथियों के स्वागत, आए दिन प्रतिनिधिमंडलों की विदेश-यात्रा, सम्मेलन आदि पर काफी व्यय होता है। दोषपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था के कारण भी सार्वजनिक व्यय का काफी अपव्यय देखने में आता है।

लोकव्यय के सिद्धांत

सरकारी गतिविधियों के श्रेष्ठतम स्तर एवं खर्चों को निर्धारित करने वाले निम्न सिद्धांत हैं: (1) लोकव्यय का कल्याणकारी सिद्धांत, (2) ऐच्छिक विनिमय सिद्धांत,

(3) अंतरण गतिविधियों तथा व्ययों के श्रेष्ठतम स्तर के निर्धारण का सिद्धांत।

(1) लोकव्यय का कल्याणकारी सिद्धांत

लोकव्यय के सिद्धांत की व्याख्या आवंटनीय गतिविधियों के संदर्भ में की जाती है। इस सिद्धांत के अनुसार समाज का कल्याण उस समय अधिकतम होगा जब लोकव्यय इस प्रकार किया गया हो कि व्यय का सीमांत सामाजिक लाभ उसके सीमांत सामाजिक लागत के बराबर हो। सीमांत सामाजिक लाभ से अभिप्राय उस लाभ से है जो सरकारी गतिविधियों पर व्यय की एक अतिरिक्त इकाई से होता है। सामाजिक लागत निजी क्षेत्र में उत्पादन के घटने की ओर संकेत करती है जो स्रोतों से सार्वजनिक क्षेत्र में निजी क्षेत्र में स्थानांतरण के कारण होता है। *जब सरकार की एक गतिविधि का सीमांत सामाजिक लाभ दूसरी गतिविधि के सीमांत सामाजिक लाभ के बराबर हो जाए तब सभी गतिविधियों का सीमांत सामाजिक लाभ अधिकतम होता है।* उदाहरण के लिए प्रतिरक्षा में ऊपर अतिरिक्त 1000 रु० व्यय किए जाएं तो उससे वही लाभ प्राप्त होना चाहिए जो सड़कों या शिक्षा पर 1000 रु० की अतिरिक्त राशि व्यय करने से होता है। कुल सामाजिक लाभ उस समय अधिकतम होगा जब प्रतिरक्षा पर व्यय की गई अतिरिक्त इकाई का लाभ सड़कों पर व्यय की गई अतिरिक्त इकाई के लाभ के बराबर हो।

यदि लोकव्यय के सभी मदों पर किए गए सीमांत व्यय से प्राप्त सीमांत लाभ बराबर होते हुए भी वह उस लाभ से कम होता है जो निजी क्षेत्र में उत्पादन पर व्यय
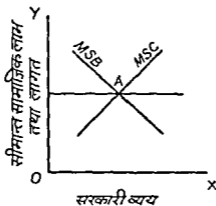
चित्र 12

करने से होता है तब सरकार को सार्वजनिक क्षेत्र में लोकव्यय को घटाकर निजी क्षेत्र में उत्पादन बढ़ाने के लिए उपलब्ध कराना चाहिए। ऐसा करने से समाज का कल्याण अधिकतम हो जाता है।[1] इसका स्पष्टीकरण उपरोक्त चित्र के द्वारा समझाया जा सकता है।

1 Sharp and Sliger Public Finance', p 18

इस चित्र में Y-अक्ष पर सीमांत सामाजिक लाभ तथा लागत और X-अक्ष पर लोकव्यय मापे गए हैं। MSB सीमांत सामाजिक लाभ की वक्र रेखा है जो लोकव्यय की विभिन्न राशियों से मिलने वाले लाभ को दर्शाती है। दायीं ओर जैसे-जैसे लोकव्यय बढ़ता है सीमांत सामाजिक लाभ घटता जाता है। MSC वक्र रेखा सीमांत सामाजिक लागत को दर्शाती है। यह दायीं ओर नीचे से ऊपर जाती है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि जैसे-जैसे लोकव्यय बढ़ता है सीमांत लागत बढ़ती जाती है। OE लोकव्यय का श्रेष्ठतम बिंदु है जहां सीमांत सामाजिक लाभ तथा सीमांत सामाजिक लागत दोनों बराबर हो जाते हैं।

सिद्धांत का मूल्यांकन : सरकार केवल कुछ सेवाओं का मूल्य ही व्यक्तियों के लाभ के अनुसार वसूल करती है बशर्ते कि प्रत्येक व्यक्ति को मिलने वाला लाभ उस वस्तु की सीमांत लागत के आधार पर पृथक-पृथक ज्ञात किया जा सकता हो। यह आवश्यक नहीं है कि जब सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन का मूल्य उनकी सीमांत लागत के बराबर हो तो दोनों क्षेत्रों में उत्पादन की मात्रा श्रेष्ठतम होती है। शिक्षा जैसी विशेष सरकारी सेवाएं, जो प्रत्यक्ष व्यक्तिगत लाभ तथा अप्रत्यक्ष सामाजिक लाभ प्रदान करती हैं, वहां सामाजिक कल्याण को अधिकतम करने के लिए ऐसी सेवाओं का मूल्य सीमांत लागत से कम रखना होगा। जहां रेल जैसी जनोपयोगी सेवाएं उत्पत्ति ह्रास नियम के अंतर्गत कार्यरत हों वहां 'मूल्यों को सीमांत लागत' के बराबर करने का सिद्धांत ऐसे उद्योगों में घाटा उत्पन्न करेगा। यद्यपि ऐसे घाटों की क्षतिपूर्ति सामान्य आय से करारोपण द्वारा पूरी की जा सकती है।

स्मरण रहे कि सरकारी गतिविधियों का स्वभाव सामाजिक होने के कारण उनका लाभ पृथक्-पृथक् नहीं आंका जा सकता। साथ ही अंतर्व्यक्ति उपयोगिताओं के मापन की कठिनाइयों से सीमांत लाभ और सीमांत लागत का भी सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता, इसलिए इस सिद्धांत का व्यावहारिक महत्त्व सीमित ही रहता है। फिर भी इन उद्देश्यों के सापेक्षिक महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए लाभों के मापने की कठिनाई पर काबू पाया जा सकता है। हम प्रतिरक्षा तथा पुलिस संरक्षण के सापेक्षिक महत्त्व के आधार पर एक को मनना सकते हैं और दूसरे को छोड़ सकते हैं।

प्रत्येक सरकारी सेवा से समाज को मिलने वाला श्रेष्ठतम लाभ लोगों की इस इच्छा पर निर्भर करता है कि वे प्रत्येक उद्देश्य से किस सीमा तक लाभ उठाना चाहते हैं,[1] ताकि व्यय को उसी के अनुसार परिवर्तित किया जा सके।

यद्यपि व्यय के सामान्य लाभों का आकलन एक कठिन कार्य है, उस पर भी कुछ ऐसी रीतियां हो सकती हैं जिनसे लाभ का आकलन सरलता से किया जा सकता है। उदाहरण के लिए : (1) कुछ विशिष्ट पुलों के निर्मित होने के उपरांत व्यापार तथा संपत्ति के मूल्यों में तथा वास्तविक आय में वृद्धि के आधार पर उनके लाभों का आकलन किया जा

1 J F Due : 'Government Finance', p 25.

सकता है। (2) कुछ विशिष्ट प्रकार की मदो पर किए गए व्यय को तुलनात्मक लाभ से ज्ञात किया जा सकता है। जैसे कि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शिक्षा के मद पर किया गया व्यय पार्क पर किए गए व्यय की तुलना मे अधिक लाभकारी होगा। (3) जैसे-जैसे किसी एक मद पर व्यय निरतर बढाया जाता है सीमात सामाजिक लाभ घटता है। ऐसा तभी सभव होता है जब अन्य मदो पर व्यय घटाया जाता है। परिणामस्वरूप अन्य मदों पर जो व्यय की इकाइया पहले अलाभकारी थी अब अधिक लाभकारी हो जाती हैं। इस पर भी अन्य मदो की तुलना मे प्रतिरक्षा जैसी सार्वजनिक सेवा का लाभ ठीक-ठीक ज्ञात करना असभव प्रतीत होता है।

सरकारी सेवाओ का दूसरा पहलू उसकी पूर्ती लागत का है, जिस पर विचार करना आवश्यक है। पूर्ती लागत से हमारा आशय स्रोतो के निजी क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र मे स्थानातरण होने के कारण वहा उत्पादन की कमी से है। परतु मदी काल मे निजी क्षेत्र मे स्रोतो का पूर्ण उपयोग नही हो पाता। ऐसी स्थिति मे स्रोतो का निजी क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र मे स्थानातरण वास्तविक लागत को कम करता है। मदी काल मे तो सरकारी व्यय निजी उत्पादन की वृद्धि को प्रोत्साहित करता है।

निजी क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र मे स्रोतो के स्थानातरण द्वारा उत्पादन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। इसी प्रकार स्रोतों के स्थानातरण के कुछ गौण प्रभाव भी हो सकते हैं। ऐसा उस समय होता है जब करो के द्वारा स्रोत निजी क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र मे प्रवाहित किए जाते है। फलत निजी क्षेत्र मे उत्पादन घट जाता है।

इन्ही कारणो से समाज के लिए वास्तविक लागत का आकलन कठिन हो जाता है। फिर भी, सरकार को समाज के लिए इन सेवाओ को प्रदान करने की लागत की तुलना उनके लाभो से करने का प्रयास करना चाहिए तथा सरकार की विभिन्न सेवाओ के लाभो की भी तुलना आपस मे करनी चाहिए। साथ ही यह भी जानना चाहिए कि लोकमत किस सेवा को प्रधानता देता है। परतु लोगो की विभिन्न सेवाओं की प्राथमिकता की पारस्परिक तुलना कठिन होती है क्योकि प्रत्येक सेवा के लिए लोगो की राय भी पृथक्-पृथक् होती है। कभी-कभी तो सेवा की पर्याप्त सूचना न मिलने के कारण उनकी प्राथमिकता के बारे मे अपना मत प्रकट ही नही कर पाते। फलत कभी-कभी ये लोग ऐसी नीतियो पर बल देते हैं जो सामाजिक दृष्टि से कभी भी अच्छी नही मानी जाती। सघीय अर्थव्यवस्था मे केंद्रीय सरकार, राज्य सरकार तथा स्थानीय सरकार, सरकारो के मध्य कार्यों के बट जाने से ये कठिनाइया और भी अधिक बढ जाती हैं। इन परिस्थितियो मे लाभ तथा लागत का अनुमान कल्पना के आधार पर ही किया जा सकता है।

(2) ऐच्छिक विनिमय सिद्धात

इस सिद्धात के अतर्गत करारोपण द्वारा व्यय की प्रक्रिया वैसी ही समझी जाती है जैसे कि निजी क्षेत्र मे ऐच्छिक विनिमय की क्रिया यहा करो को वस्तुओ और सेवाओ के उपलक्ष्य म मूल्य स्वरूप माना जाता है। जब किसी करदाता की वस्तुओ और

सेवाओं की मांग उनकी सीमान्त लागत के बराबर हो जाती है तब वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन इष्टतम होता है तथा करदाताओं (अर्थात् क्रेताओं) में वस्तुओं और सेवाओं की लागत का वितरण भी इष्टतम हो जाता है।

इसे हम निम्न चित्र द्वारा समझा सकते हैं।
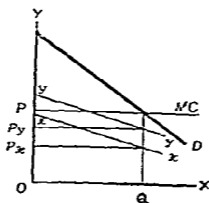
चित्र 13

माना कि X और Y किसी समाज में किसी एक सामाजिक वस्तु के दो करदाता वर्ग हैं। एक सामाजिक वस्तु सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति करती है तथा वह दोनों समुदायों को लाभकारी है। इन दोनों वर्गों के करदाताओं को इस सामाजिक वस्तु की लागत संयुक्त रूप से सहन करनी चाहिए। चित्र में इन लोगों की सामाजिक वस्तु की व्यक्तिगत मांगें क्रमशः xx और yy वक्र रेखाओं द्वारा दर्शाई गई हैं। X-अक्ष रेखा पर उत्पादन तथा Y-अक्ष रेखा पर मूल्य तथा लागत मापे गए हैं। D दोनों प्रकार के करदाताओं की मांग के जोड़ की वक्र रेखा है। हमने यह मान लिया है कि इस वस्तु का सम्पूर्ण उपभोग केवल यही दो वर्ग करते हैं। कुल मांग वक्र सामाजिक वस्तुओं के संयुक्त मूल्य की ओर संकेत करता है जिस पर वस्तु की विभिन्न मात्राएं बेची जाती हैं। हमने यह भी मान लिया है कि उत्पादन उत्पत्ति समता नियम के अन्तर्गत होता है। MC पूर्ति वक्र रेखा इसी ओर संकेत करती है। OQ इस वस्तु का सन्तुलित उत्पादन है जिसकी कुल लागत $OQ \times OP$ है। यही लागत दोनों वर्गों के करदाताओं में विभाजित की गई है। X वर्ग के करदाता $OPX \times OQ$ तथा Y वर्ग के करदाता $OPY \times OQ$ लागत सहन करते हैं। इस प्रकार OQ सार्वजनिक वस्तु की मात्रा की लागत प्रत्येक करदाता (अर्थात् क्रेता) की मांग के अनुसार वितरित कर दी जाती है। इस सिद्धांत की यह मान्यता है कि आय का उचित वितरण है तथा प्रत्येक करदाता की अधिमानताएं निर्वाचन के समय वोट द्वारा ज्ञात की जाती हैं और सरकार के निर्णय भी इन्हीं अधिमानताओं पर आधारित होते हैं। यहां यह भी मान लिया गया है कि एक सामाजिक आवश्यकता की अन-

व्यय की प्रक्रिया भी स्पर्द्धात्मक क्रियाओ द्वारा वैसे ही तय होती है जैसे कि एक निजी बाजार म।

सिद्धात का मूल्याकन इस सिद्धात की मान्यता अवास्तविक है क्योकि इसमे राजनैतिक तत्र को बाजार तत्र के समान मान लिया गया है। सरकार की आय-व्यय की प्रक्रिया बाजार-प्रक्रिया के समान नही होती। वास्तव मे सार्वजनिक वस्तुओ की व्यक्तिगत अधिमानो की अभिव्यक्ति राजनैतिक क्रियाओ द्वारा नही होती क्योकि वह निषेध *का सिद्धात लागू नही होता है और यदि व्यक्तिगत अधिमान ज्ञात हो भी जाते है तो भी राजनैतिक प्रक्रियाओ की अपूर्णता के कारण सार्वजनिक क्षेत्र मे स्रोतो का इष्टतम* उपयोग नही हो सकता। जो भूल एव सुधार विधि निजी बाजार मे लागू हो जाती है परतु सामाजिक वस्तुओ के उत्पादन के निर्धारण म सफलतापूर्वक लागू नही हो पाती।

उपरोक्त बातो के अतिरिक्त इस सिद्धात के द्वारा यह भी स्पष्ट नहीं होता कि कर भार का वितरण करदाताओं के मध्य किस प्रकार किया जाए। यह अवश्य है कि हम इस सिद्धात के द्वारा सार्वजनिक वस्तुओ के करो का कुल भुगतान सामाजिक वस्तुओ के व्यक्तिगत सीमात मूल्याकन तथा वस्तुओ की कुल मात्रा को गुणा करके ज्ञात कर सकते हैं, परतु करो की दर का निर्धारण सभव नही है। हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि *अधिकाश सार्वजनिक वस्तु एव सेवाओ की सामाजिक प्रकृति होने के कारण व्यक्तिगत* लाभो का निर्धारण केवल एक कल्पना है। अत मे, हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि सामाजिक सेवाओ की लागत का भुगतान करो के रूप मे उनके सीमात मूल्याकन पर आधारित न होकर लोकमतानुसार ही होता है।

(3) अतरण गतिविधि को निर्धारित करने का सिद्धात

धनी से निधन वर्ग म आय के हस्तातरण का श्रेष्ठतम स्तर आय की उस वितरण-प्रतिभा पर निर्भर करता है जिसे लोकमत सामाजिक दृष्टि से प्राप्त करने का इच्छुक है।[1] समाज ही यह तय करता है कि न्यूनतम तथा अधिकतम जीवनस्तर में कितना अतर होना चाहिए। इसके उपरात ही *आरोही करो द्वारा आय तथा सपत्ति के वितरण की विषमता को दूर करने का प्रयास किया जाता है। निर्धनो को नकदी (वृद्धावस्था पेंशन) तथा* सेवाओ (निशुल्क शिक्षा तथा चिकित्सा इत्यादि) के रूप मे सहायता प्रदान करने तथा इनके आय-स्तर को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जाता है। ऐसे व्यय का अतरण निर्धन वर्ग की वस्तुओ की माग को अनुकूल दिशा म परिवर्तित करता है।

स्मरण रहे कि आर्थिक विकास के साथ न्यूनतम जीवनस्तर की धारणा भी बदल जाती है। इसलिए आय के श्रेष्ठतम वितरण की इच्छुक प्रतिभा भी एक काल के बाद वह नही रहती जो इसके पूर्व होती है।

उल्लेखनीय है कि *व्यय का अतरण कार्य करने, बचत करने, बचत करने की इच्छा तथा विनियोग करने की इच्छा को प्रभावित करता है।* पूर्ण रोजगार की स्थिति म पहुचने

1 J F Due op cit, p 28

के बाद व्यय का प्रवाह विकास दर को घटा सकता है, जब कि मंदी काल में व्यय का प्रवाह मंदी से छुटकारा दिलाने में सहायक हो सकता है।

साधारणतया में प्रवाह के उद्देश्य से तीव्र आरोही कर द्वारा किसी कोष के निर्माण की क्रिया विनियोगों पर प्रेरणाहारी प्रभाव डालती है। अत: करारोपण के आरोहण की गति तथा व्यय प्रवाह का स्तर ऐसा होना चाहिए जो अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव न डाले।

इस सम्पूर्ण विवरण से यही निष्कर्ष निकलता है कि लोकव्यय के कल्याणकारी सिद्धांत तथा ऐच्छिक विनिमय सिद्धांत के अंतर्गत सरकारी व्यय के श्रेष्ठतम स्तर में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। यदि कोई अन्तर है भी तो वह श्रेष्ठतम स्तर के प्राप्त करने की रीतियों में हो सकता है। दोनों ही सिद्धांत विभिन्न करों की दरों के निर्धारण के संबंध में कोई निश्चित उत्तर नहीं देते।

लोकव्यय के प्रभाव

लोकव्यय का देश के उत्पत्ति के साधनों तथा उनके द्वारा उत्पत्ति की मात्रा और उसके वितरण पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक देश की सरकार लोकव्यय द्वारा सामाजिक कल्याण में वृद्धि चाहती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन की मात्रा बढ़े, वितरण की असमानता दूर हो तथा आर्थिक अस्थिरता न्यून हो। डाल्टन ने लोकव्यय के विभिन्न प्रभावों का तीन शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन किया है - उत्पादन पर प्रभाव, वितरण पर प्रभाव तथा अन्य प्रभाव।

उत्पादन पर प्रभाव

लोकव्यय उत्पादन पर प्रभावों को ज्ञात करने की वही रूपरेखा है जो करों के प्रभावों के अध्ययन में अपनाई गई है। डाल्टन के अनुसार किसी भी देश में उत्पादन पर लोकव्यय का प्रभाव मालूम करने के लिए निम्न बातों पर विचार करना आवश्यक होगा।

(1) कार्य करने, बचत करने व विनियोग करने की योग्यता पर प्रभाव

लोकव्यय कार्य करने तथा बचत करने की शक्ति को कई प्रकार से प्रभावित कर सकता है।

जैसे कि करारोपण व्यक्ति की कार्यकुशलता को घटाता है तथा उनके कार्य करने की योग्यता पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, उसी प्रकार यदि लोकव्यय से उनकी कार्यकुशलता में वृद्धि होती है तो उनकी कार्य करने की योग्यता बढ़ जाती है। लोकव्यय के कुछ रूप कार्यकुशलता में वृद्धि करते हैं। उदाहरणार्थ विधवाओं को दी जाने वाली पेंशन, पारिवारिक भत्ते इत्यादि। ऐसे लोकव्यय प्रत्यक्ष प्राप्तकर्ताओं की तुलना में भविष्य में उनके बच्चों की कार्यकुशलता को अधिक बढ़ाते हैं। इसी प्रकार वस्तुओं के रूप में दिए गए कई अनुदान जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं और मकानों की सुविधा के रूप में दिए गए अनुदान, समान मात्रा के द्राव्यिक अनुदान की तुलना में कार्यकुशलता

बढाने की दिशा मे अधिक सफल होगे। यदि यह अनुदान द्राव्यिक रूप मे दिए जाते हैं तो उनके अनुचित कार्यों पर व्यय हो जाने की सभावनाए हो जाती हैं जो सभवत कार्य-कुशलता की वृद्धि मे सहायक न हो।

सरकार अपने खर्चों के द्वारा कुछ ऐसी सुविधाए भी प्रदान कर सकती है जो उत्पादन मे सहायक सिद्ध होती है। उदाहरण के लिए रेलें, सडकें, सचारवाहन के साधन, सिचाई, विद्युत-शक्ति आदि के विकास पर किया गया व्यय प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन को प्रोत्साहित करता है।

सरकार उपभोग को निरुत्साहित करके व्यक्ति की आय को बढाकर उसकी बचत करने की योग्यता को बढा सकती है। जैसा कि हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि कुछ लोक-व्यय द्वारा व्यक्तियो की आय मे वृद्धि होती है इसलिए इन व्यक्तियो की बचत करने की शक्ति भी बढ जाती है।

यदि लोकव्यय के विनियोग योग्य कोष किसी ऐसी सस्था के हाथो मे पहुचते हैं जो उसे पूजीगत कार्यों मे खर्च करती हो तो विनियोग करने की योग्यता बढ जाती है।

(2) कार्य करने, बचत व विनियोग करने की इच्छा पर प्रभाव

लोकव्यय व्यक्तियो की बचत करने, कार्य करने तथा विनियोग करने की इच्छा को भी प्रभावित करता है। किसी भी देश का उत्पादन केवल कार्य करने और बचत करने की योग्यता पर ही निर्भर नही करता अपितु उस देश के लोगो के कार्य करने और बचत करने की इच्छा पर भी निर्भर करता है। इसलिए लोकव्यय इस प्रकार से किया जाए कि लोगो की कार्य करने की तथा बचत करने की इच्छा पर अनुकूल प्रभाव पड़े। लोक-व्यय निम्नलिखित दो वर्गों मे वर्गीकृत किया जा सकता है

(अ) वर्तमान व्यय : वर्तमान व्यय से लोगो के कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर अनुकूल प्रभाव पडता है। ऐसे लोकव्यय से उनकी आय मे वृद्धि होती है तथा उनका जीवनस्तर ऊचा उठता है। परतु कभी-कभी वर्तमान लोकव्यय द्वारा आय मे वृद्धि होने के कारण कुछ लोगो की कार्य करने की इच्छा कम हो सकती है, क्योकि वे कम काम करके भी पर्याप्त धन प्राप्त कर लेते है जिससे उनके पहले की सभी आवश्यकताए पूरी हो जाती हैं। परतु हमे यह नही भूलना चाहिए कि लोगो मे निरतर प्रगति करने की भी प्रवृत्ति होती है। वे ऊचे से ऊचा जीवनस्तर प्राप्त करना चाहते हैं। यदि कोई एक निश्चित जीवनस्तर प्राप्त करने के पश्चात् शिथिल हो जाता है तो इस कठिनाई को भी उसकी आय मे धीरे-धीरे वृद्धि करके दूर किया जा सकता है। यदि सरकार यह देखती है कि लोगो की आय के बढने से बुरी आदतो का प्रादुर्भाव न हो तो वह ऐसा करने के लिए वस्तुओ और सेवाओ के रूप मे सहायता कर सकती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वर्तमान लोकव्यय से व्यक्तियो के कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा मे निश्चित रूप से वृद्धि होती है।

(ब) भावी व्यय : भावी व्यय लोगो के कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा को कम करते है। सरकार ने जिन मदो पर व्यय किया है उनसे सदैव लाभ

होता रहेगा अथवा नागरिकों को यह ज्ञात हो जाए कि भविष्य में भी सरकार इन मदों पर व्यय करती रहेगी तो इससे उनकी कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि भविष्य में भी उन्हें सरकार से यह सुविधाएं प्राप्त होती रहेंगी। फलत देश में उत्पादन तथा पूंजी के निर्माण का स्तर गिर जाएगा।

राज्य द्वारा वे सुविधाएं जो कुछ निश्चित शर्तों पर प्रदान की जाती हैं उनसे लोगों की कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा कम नहीं होती। उदाहरणार्थ बीमारी या बेकारी के समय दी गई सहायता से लोगों की बचत करने तथा कार्य करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि इस सहायता को प्राप्त करने के लिए इसका कुछ अंश प्राप्तकर्ता को चंदे के रूप में देना पड़ता है और यह सहायता केवल निश्चित अवधि के लिए ही होती है। इसी प्रकार से अनुदान की प्रत्याशा जो कि स्थाई नहीं होती वरन् प्राप्तकर्ताओं के भावी प्रयासों के साथ बढ़ती है। उसके कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा को बढ़ा देते हैं बशर्ते कि उनकी आय की मांग बहुत बेलोचदार न हो। लोगों को कमाई तथा बचत पर दिए जाने वाले अनुदान इसके उदाहरण हैं।

इस संबंध में हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि जब तक लोगों को यह आशा बनी रहेगी कि आवश्यकता होने पर सरकार से वित्तीय सहायता मिल सकती है तब तक उनके कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति उत्पादन पर बुरा प्रभाव अवश्य डालती है। डाल्टन ने इसे स्वीकार किया है कि लोकव्यय का यह दोष पूरे तौर से समाप्त नहीं किया जा सकता। लोकव्यय द्वारा नागरिकों के कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा कितनी घटेगी या बढ़ेगी, यह राजकीय नीति तथा लोगों की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। डाल्टन का मतव्य है, 'जहां आय की मांग बेलोचदार रहेगी वहां कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा में कुछ रुकावट अवश्य आएगी।' गूढ़ अध्ययन करने पर यही प्रकट होता है कि यह बात लोकव्यय की नीति और राष्ट्र की सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है कि कब, कहां और किस लोकव्यय का नागरिकों की कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

(3) विभिन्न स्थानों और उपयोगों के बीच आर्थिक साधनों के दिशा परिवर्तन के प्रभाव

लोकव्यय आर्थिक साधनों का दिक्परिवर्तन प्रत्यक्ष तथा परोक्ष—दो रूप में करते हैं।

(अ) प्रत्यक्ष दिक्परिवर्तन : प्रत्यक्ष दिक्परिवर्तन में सरकार स्वयं साधनों का उपयोग करती है। राज्य की ओर से सुरक्षा, नागरिक प्रशासन, समाज सेवाओं तथा न्यायालयों पर व्यय साधनों का प्रत्यक्ष दिक्परिवर्तन है जो व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति को बढ़ाते हैं। सरकार स्वयं इन्हें पूरा करती है क्योंकि व्यक्ति इन्हें व्यक्तिगत साधनों की कमी के कारण पूरा नहीं कर सकता।

(ब) परोक्ष दिग्परिवर्तन परोक्ष दिग्परिवर्तन म सरकार इन साधनो का स्वय उपयाग न करके नागरिको मे इस प्रकार की रुचि उत्पन्न कर देती है कि वे उत्पत्ति के साधनो को दूसरे ढग से जुटाए। उदाहरण के लिए सिचाई के साधनो का विकास करके कृषको को उन फसलो के उत्पन्न करन के लिए प्रवृत्त करें जिनके लिए अधिक जल की आवश्यकता हाती है। इसी प्रकार जल-विद्युत शक्ति के विकास मे लोगो म यह अभिरुचि उत्पन्न हो सकती है कि वे अपना धन अन्य प्रकार से व्यय न करके उद्योगों म व्यय करें।

लोकव्यय क माध्यम से उत्पत्ति के साधनो का स्थानातरण एक स्थान से दूसरे स्थान को भी होता है। केंद्रीय कोषागार द्वारा अधविकसित क्षेत्रो मे उद्योगो के विकास करने के हेतु इस क्षेत्र के उत्पादको तथा स्थानीय सस्थाओ को ऋण, अनुदान आदि दकर साधनो का इस क्षेत्र को दिग्परिवर्तन करती है।

कभी कभी लोकव्यय द्वारा अधिक साधनो के विशिष्ट उपयोगो म दिग्परिवर्तन से भी उत्पादन म वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार के वे दिग्परिवर्तन हैं जिनका उद्देश्य भविष्य के लिए साधनो की अच्छी व्यवस्था करना होता है। उदाहरण के लिए जब सिचाई, परिवहन शक्ति आदि के विकास की योजनाए बनती है तो इससे देश की स्थाई पूजी म वृद्धि होती है तथा भावी उत्पादन शक्ति का विकास होता है। वास्तव म पूजीगत वस्तुओ पर किए गए व्यय भविष्य के लिए साधना का दिग्परिवतन है क्योंकि उत्पत्ति के लिए साधनो का प्रयोग वतमान मे न करके भविष्य म किया जाता है।

परतु पूजीवादी अर्थव्यवस्था म लोकसस्थाओ के बिना हस्तक्षेप के इस प्रकार का प्रावधान बहुत कम किया जाता है और जो किया भी जाता है उसकी बनावट बहुत खराब होती है। वह इस अर्थ म कि पूजीवादी अर्थव्यवस्था म आवश्यकता से अधिक अनुपात भौतिक पूजी के रूप मे होता है और मानव पूजी तथा ज्ञान पूजी के रूप मे बहुत कम अनुपात होता है। क्योंकि मानव पूजी तथा ज्ञान पूजी म धन लगाने से लाभ कम मिलता है। परतु हम यह नही भूलना चाहिए कि सभी भौतिक पदार्थ तथा समृद्धि के पीछे मानव मस्तिष्क ही काम करना है। आज जो भौतिक चमत्कार तथा तकनीकी का विकास देखने को मिलता है वह मानव मस्तिष्क की ही उपज है। डाल्टन के मतानुसार, जब सरकार स्वस्थ मकानो और सामाजिक सुरक्षा पर व्यय करती है, तथा बच्चो को नि शुल्क शिक्षा देती है तो यह एक अत्यत महत्त्वपूर्ण विनियोग होता है जो भौतिक पूजी के स्थान पर मानव पूजी का निर्माण करता है।' इस प्रकार लोकसस्थाओ को भविष्य के लिए अधिक प्रावधान मवृद्धि करने और उसके घटको मे उत्तम सतुलना स्थापित करना वाछनीय है। ये दोनो उद्देश्य लोकव्ययो की कुजी है जिनका लक्ष्य उत्पादन शक्ति मे वृद्धि करना होता है।

परपरावादी अर्थशास्त्रियो की यह धारणा थी कि लोकव्यय द्वारा साधनो का दिग्परिवर्तन सदैव हानिकारक होता है क्योंकि इससे साधनो का उपयुक्त तथा पूर्ण

उपयोग सभव नही हो पाता। इन विचारकों के अनुसार स्वतंत्र प्रतियोगिता मे मूल्ययंत्र की सहायता से तथा व्यक्तियों की स्वार्थ की प्रवृत्ति के कारण साधनो का वितरण सर्वोत्तम होता है। वास्तव मे परपरावादी अर्थशास्त्रियों का यह विचार वर्तमान युग मे उचित नहीं ठहराया जा सकता। आजकल प्रत्येक देश की सरकार साधनो के उचित स्थानान्तरण मे सक्रिय भाग लेती है तथा आर्थिक साधनो का उपयोग इस प्रकार करती है कि मानवीय कल्याण मे अधिकाधिक वृद्धि हो सके तथा उत्पादन का स्तर ऊंचा उठ सके। सरकार द्वारा प्रतिरक्षा पर, सामाजिक सुरक्षा पर, परिवहन तथा शक्ति आदि के साधनो के विकास पर जो व्यय किया जाता है, वह साधनो के दिग्परिवर्तन मे परोक्ष रूप से सहायक सिद्ध होता है। इस प्रकार अब किसी प्रकार का लोकव्यय अलाभकर नही ठहराया जा सकता है और न ही लोकव्यय द्वारा साधनों का दिग्परिवर्तन ही मान्य ठहराया जा सकता है।

वितरण पर प्रभाव

आधुनिक विचारधारा के अनुसार लोकव्यय की वह प्रणाली सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है जिसमे आय की विषमताओ को दूर करने की प्रवृत्ति सबसे दृढ होती है। समाजवादी सिद्धान्तों मे आस्था रखने वाले देश इस विचारधारा मे अधिकाधिक विश्वास रखते हैं, प्रो० पीगू ने अपनी पुस्तक 'इकनोमिक्स आफ वेलफेयर' मे इस सदर्भ मे लिखा है कि सामाजिक कल्याण मे वृद्धि वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन मे वृद्धि करके की जा सकती है, यदि ऐसा सभव न हो तो सामाजिक कल्याण की वृद्धि राष्ट्रीय लाभांश के वितरण के द्वारा समाज मे धन की असमानता को दूर करके भी की जा सकती है। लोककल्याण की वृद्धि के लिए राज्य के पास एक ऐसा ही दुधारा अस्त्र है। एक ओर वह धनी व्यक्तियों पर कर लगाकर उनकी आय को कम कर देता है तथा दूसरी ओर लोकव्यय द्वारा निर्धन व्यक्तियों को सेवाएं देकर उनकी आय मे वृद्धि करता है।

लोकव्यय की क्रियाओं द्वारा धन के वितरण की विषमता को काफी सीमा तक दूर किया जा सकता है। किसी कर-विशेष की भांति, कोई अनुदान या उपदान-विशेष भी प्रतिगामी, आनुपातिक अथवा प्रगतिशील हो सकता है।

लोकव्यय प्रतिगामी उस समय कहलाता है जब प्राप्तकर्ता की आय जितनी कम होती है, लोकव्यय से आनुपातिक वृद्धि भी उतनी ही कम होती है। उदाहरण के लिए, यदि भारत मे निर्धन बच्चों के लिए शिक्षा पर व्यय न करके सरकार धनी वर्ग के बच्चों के लिए पब्लिक स्कूलों पर व्यय करती है तो वह प्रतिगामी व्यय होगा। लोकव्यय आनुपातिक तब कहलाता है जब प्राप्तकर्ता की आय के अनुपात मे ही लोकव्यय से लाभ प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए राज्य द्वारा सरकारी कर्मचारियों को 10 प्रतिशत मकान भत्ता मिलता है, यह आनुपातिक लोकव्यय है। लोकव्यय को प्रगतिशील उस समय कहते हैं जब प्राप्तकर्ता की आय जितनी कम होती है, लोकव्यय

से आनुपातिक वृद्धि उतनी ही अधिक होती है, इस प्रकार बुढ़ापे की पेंशन, नि शुल्क शिक्षा, सार्वजनिक चिकित्सालयो पर व्यय प्रगतिशील लोकव्यय है।

प्रतिगामी लोकव्यय प्रणाली कार्यों की विषमता कम करती है। आनुपातिक और साधारण रूप से प्रतिगामी लोकव्यय प्रणाली का भी यही परिणाम होता है। परतु अधिक तीव्र प्रतिगामी लोकव्यय प्रणाली विषमता बढाती है। डाल्टन के अनुसार, 'प्रगतिशीलता की दर जितनी तेज होती है, विषमता कम करने की प्रवृत्ति भी उतनी प्रबल होती है।' इसलिए समान वितरण की विचारधारा हमे व्यवहार योग्य अत्यधिक तीव्र प्रगतिशील लोकव्यय प्रणाली की ओर ले जाती है।

उपदान तथा अनुदान लोकव्यय के ही भिन्न रूप है। वितरण के दृष्टिकोण से इन पर विचार किया जाना उपयुक्त है। रोटी या दूध के लिए दिया जाने वाला उपदान जो उनका मूल्य घटाता है, प्रतिगामी अनुदान के रूप मे कार्यशील होता है, जबकि निजी बचतो के लिए दिए जाने वाला उपदान प्रगतिशील होता है। प्रगतिशील उपदान, आय वितरण की भारी विषमता को कम करते हैं।

स्मरणीय है, खाद्य उपदान तभी प्रगतिशील होते है जब उपदान प्राप्त खाद्य सामग्री अमीरो की तुलना मे निर्धन लोगो के व्यय का अधिक बढा अनुपात होते हैं। ये उपदान सामान्य भी हो सकते है और विशेष भी। वे सामान्य तब कहे जाते हैं जब वे खाने वाले का विचार किए बिना किसी विशेष खाद्य पदार्थ का मूल्य घटा देते है। वे विशेष तब कहे जाते हैं जब वे विशिष्ट वर्गों—जैसे गर्भवती स्त्रियो, दूध पीते बच्चो की माताओ, स्कूलो मे भोजन करने वाले बालको द्वारा खाए जाने वाले पौष्टिक पदार्थों पर केंद्रित रहते हैं। दोनो ही उपदानो का पक्ष बहुत प्रबल होता है। प्राप्त करने की योग्यता के अनुसार लाभ वितरण के सिद्धात का यह अच्छा दृष्टात है। जिस प्रकार कराधान के वितरण मे 'न्यूनतम त्याग' का सिद्धात अपनाया जाता है, उसी प्रकार अनुदानो के वितरण मे 'अधिकतम लाभ' का सिद्धात व्यवहार मे लाया जाता है। 'अधिकतम लाभ' के सिद्धातानुसार वह अनुदान प्रणाली होगी जो एक सीमा से कम स्तर वाली सभी आयो को उस स्तर तक ले जाएगी और उस स्तर से ऊपर वाली किसी आय मे कोई वृद्धि नही करेगी। अनुदानो के सबध मे यह ध्यान देने योग्य बात है कि ये प्राप्तकर्ता की योग्यतानुसार ही दिए जाएं ताकि लोकव्यय से अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हो सके। यदि अनुदान पाने की सभावना से कोई व्यक्ति कम काम या बचत करने लगता है, जितनी वह अन्यथा करता, तो उसकी आय बढाने की दिशा मे अनुदान का प्रभाव कम हो जाएगा और वितरण की असमानताओ मे कमी नही आएगी।

यदि शिक्षा पर लोकव्यय इतना किया जाए कि तरुण पीढ़ी के लोग बड़ी सख्या मे न्यून मजदूरी वाले उद्योगों से हट कर अधिक मजदूरी वाले धधो मे जा सकें, और इस प्रकार अधिक तथा कम मजदूरी की दरो के अतर को घटाने मे समर्थ हो सकें, तो वितरण परोक्ष रूप से प्रभावित होगा और आयो की विषमता भी कम हो जाएगी।

यदि कोई सेवा समाज के सब सदस्यो को नि शुल्क प्रदान की जाती है, जैसे

नि:शुल्क स्वास्थ्य सेवा, तो प्रो० टानी के शब्दों में विषमता का क्षेत्र संकरा हो जाता है।

अनुदान विषमताओं को घटाकर वितरण को सुधार सकते हैं, साथ ही साथ ये व्यक्तिगत आयों तथा पारिवारिक आवश्यकताओं के साथ सामंजस्य द्वारा भी वितरण में सुधार ला सकते हैं। पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से सार्वजनिक निधियों पर आधारित बुढ़ापे की पेंशन, सामाजिक सुरक्षा, बीमारी लाभ, बेकारी लाभ, औद्योगिक चोट लाभ, प्रसव लाभ, प्रसूतकालीन लाभ, विधवाओं की पेंशन, बच्चों के लिए भत्ते, निःशुल्क स्वास्थ्य सेवा आदि के लिए किए जाने वाले अधिकांश विधान निर्माणों का उद्देश्य इसी प्रकार का सुधार करना है।

लोकव्यय द्वारा असमानता में वृद्धि

लोकव्यय के कुछ रूप ऐसे भी होते हैं जो आय की असमानता को कम करने की अपेक्षा बढ़ाते हैं। उदाहरण के लिए युद्धकाल में सरकार द्वारा धनिकों से ऋण के रूप में सहायता ली जाती है और उस पर उन्हें ब्याज दिया जाता है। इनसे धनिकों की आय में वृद्धि होती है। इन पर दिए गए ब्याज की राशि जनता से कर द्वारा वसूल होती है। यदि इस राशि का कुछ भाग निर्धन वर्ग से भी कर के रूप में वसूल किया गया हो तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि जहां धनिकों की आय में वृद्धि होगी वहां निर्धनों की आय घटेगी। यही कारण है कि युद्धकाल में धनिक अधिक धनी और निर्धन अधिक निर्धन हो जाते हैं और असमानता की खाई और अधिक विस्तृत हो जाती है।

मुट्ज के विचारानुसार वितरण को समान करने की नीति देश के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है। इनका मत है कि यदि व्यय करते समय केवल इसी उद्देश्य को ध्यान में रखा जाएगा तो इसका परिणाम यह होगा कि सरकार को बहुत-सा व्यय अनुत्पादक कार्यों पर करना पड़ेगा। साथ ही पूंजी के एकीकरण तथा उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। वास्तविकता यह है कि नागरिकों के हित में किया जाने वाला कोई भी व्यय अनुत्पादक नहीं होता। जहां तक पूंजी को एकत्र करने का प्रश्न है, यह माना जा सकता है कि उनके बचत करने की क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ेगा परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दूसरी ओर एक विशाल वर्ग की बचत करने की तथा कार्य करने की शक्ति बढ़ेगी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि धन के वितरण की समान नीति से समाज की कुल बचत करने की शक्ति बढ़ेगी। ब्यूहलर का मत भी मुट्ज के समान ही है। इन्होंने लिखा है कि, धन के वितरण की विषमता को दूर करने के लिए सरकार को निर्धन व्यक्तियों पर उदारतापूर्वक व्यय करना होगा, परंतु यह ध्यान रखना होगा कि धनिकों के बचत करने तथा कार्य करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव न पड़े। यदि बचत करने की दर कम होगी तो भविष्य में वितरण की राशि भी कम होगी और असमानता बढ़ेगी। वस्तुतः लोकव्यय की सफलता इसी बात में है कि एक ओर देश का उत्पादन बढ़े और दूसरी ओर धन के वितरण में यथासंभव समानता स्थापित हो। इन दोनों उद्देश्यों में संतुलन स्थापित करना लोकव्यय की नीति का उद्देश्य होना चाहिए क्योंकि न्यायपूर्वक वितरण के अभाव में अधिक उत्पादन महत्त्वहीन है और

बिना उत्पादन वृद्धि के वितरण का विचार भी महत्वहीन है।

अन्य प्रभाव

हम यह अध्ययन कर चुके है कि लोकव्यय किस प्रकार उत्पादन को बढाने तथा आय के वितरण को समान बनाने मे सहायक हो सकता है। इनके अतिरिक्त कई और ढग से भी लोकव्यय लाभ पहुचा सकता है।

प्रभाव पूरक यन्त्र के रूप मे

लोकव्यय एक ऐसा यन्त्र है जिसका उपयोग देश की अर्थव्यवस्था मे उत्पन्न होने वाली तेजी और मदी को रोकने के लिए किया जा सकता है। मदीकाल मे उत्पादक तथा उपभोक्ताओ पर बुरा प्रभाव पडता है मूल्यो के गिर जाने के कारण उत्पादक के लाभो की मात्रा म कमी आ जाती है। ऐसी दशा म वे उत्पादन का रोक देते है। दूसरी ओर उपभोक्ता भी मूल्य गिरने की आशा करते है। अत वे अपना उपभोग उस समय तक स्थगित करने की सोचते है जब तक मूल्य गिर कर और निम्न स्तर पर न पहुच जाए। *गैर सरकारी माग मे कमी होने के कारण गैर सरकारी व्यय मे कमी आ जाती* है। फलत उत्पादन, रोजगार तथा आय घट जाते है। उपभोग तथा विनियोग के खर्चों मे कमी हो जाती है तथा बचतो तथा सग्रह करने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। मदीकाल म *पूर्ण व्यवस्था के स्तर को प्राप्त करने के लिए प्रभावपूरक व्यय की सहायता लेकर व्यय* की धारा मे धन प्रवाहित किया जाता है जिससे माग तथा आय मे होने वाली गिरावट को रोका जा सके। टेलर के शब्दो मे, क्षतिपूरक व्यय का अभिप्राय यही है कि आय को वाछित स्तर पर लाने के लिए *निजी व्यय की कमियो को सरकारी व्यय द्वारा* पूरा किया जाए।'

जिस समय राष्ट्रीय आय गिर रही होती है तथा बेरोजगारी बढ़ रही होती है तब इस गिरावट को रोकने के लिए प्रभावपूरक व्यय को एक सीमित पैमाने पर अपनाया जाता है। यदि इससे उचित सफलता प्राप्त नही होती है तब सरकार बडे पैमाने पर क्षतिपूरक व्यय करती है जिससे कि माग, उत्पादन तथा रोजगार के स्तरो को गिरने से रोका जा सके और निजी क्षेत्र के व्यवसायो को पुनरुत्थान की प्रेरणा मिल सके। ऐसे प्रभावपूरक व्यय को समुद्दीपन व्यय के नाम से सबोधित किया जाता है। टेलर के अनुसार, 'समुद्दीपन *व्यय की नीति इस विश्वास पर आधारित है कि जब* सार्वजनिक धन पर्याप्त मात्रा तथा उचित परिस्थितियो म आय स्रोतो मे लगाए जाएं तो यह गिरती हुई अर्थव्यवस्था को बदल कर उसकी क्रियाशीलता को पुन बढ़ा देंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि गुणक क्रिया से आर्थिक स्थिति मे विकास और क्रियाशीलता का सिद्धांत तेजी से लागू होगा।[1]

इस नीति के द्वारा सरकार को समय के अनुसार कार्य करने पडते हैं। उदाहरण के लिए, मदीकाल मे क्षतिपूरक व्यय के अतर्गत सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर सरकार

1 Philips E Taylor The Economics of Public Finance p 106

को भारी मात्रा मे व्यय करने पड़ते हैं। पुनरुत्थान काल मे जैसे-जैसे गैर सरकारी विनियोग बढ़ने लगते हैं वैसे ही वैसे लोकव्यय की मात्रा उसी अनुपात मे घटा दी जाती है।

अवसादकाल की स्थिति को दूर करने के लिए लोकव्यय की क्रियाओं को तीन भागों मे विभक्त किया जा सकता है।

(1) उपभोग को प्रभावित करने वाले व्यय

मंदी की अवधि मे प्रभावपूर्ण माग के कम हो जाने के कारण वस्तुओं की मागें कम हो जाती हैं। ऐसी स्थिति मे करारोपण में ढिलाई करना आवश्यक होता है, क्योंकि करारोपण की कठोरता के कारण गैर सरकारी माग कम हो जाती है। अत सरकार को चाहिए कि जिन व्यक्तियों की आय कम हो गई है उनको वित्तीय सहायता प्रदान करके प्रभावपूर्ण माग को प्रोत्साहित करे। सामाजिक सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत अमरीका मे सन् 1935 मे वृद्ध अवस्था, अपाहिज तथा बेकारी सहायता के रूप में वित्तीय सहायता देकर लोगो की प्रभावपूर्ण माग को बढाने का प्रयास किया गया।

(2) निजी विनियोगों को प्रभावित करने वाले व्यय

निजी विनियोगों की कमी भी प्रभावपूर्ण माग को कम करती है। अत प्रभावपूर्ण माग को बढ़ाने के लिए सरकार को निजी विनियोग प्रोत्साहित करना चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जब सरकार लोकव्यय द्वारा ऐसे कार्य करे जिससे निजी क्षेत्र मे सभावित लाभ की आशा बढे तथा जनता मे विश्वास उत्पन्न हो। सरकार उद्योगो के नवीनीकरण के लिए आर्थिक सहायता देकर तथा सीमांत उद्योगों को उपदान देकर निजी विनियोगों को प्रोत्साहित कर सकती है। सरकार कुछ ऐसी योजनाओं को भी हाथ मे ले सकती है जो रेलों, सड़कों तथा प्रचार व्यवस्था का निर्माण करके तथा बिजली और सिंचाई की प्रयोजनाए बनाकर विनियोग को और अधिक प्रोत्साहित कर सकती है।

(3) सार्वजनिक विनियोग

लोकव्यय का एक भिन्न रूप 'बटोर क्रिया' भी हो सकता है अर्थात् लोकव्यय के द्वारा जनता मे क्रय-शक्ति की वृद्धि करके माग को बढाना। यदि ऐसा करने के लिए सरकार के पास किसी उत्पादक कार्य की योजना न हो तो अनुत्पादक कार्यों पर व्यय भी उचित समझा जाता है ताकि जनता मे क्रय-शक्ति का आगमन हो। कींस ने तो यहा तक कहा है कि ऐसे मदीकाल की अवस्था मे लोकव्यय के लिए सरकार के पास कोई उपयुक्त योजना न हो तो क्रय-शक्ति बढाने के लिए गड्ढे खुदवाकर उन्हें पुन भरवाने की क्रिया भी उचित रहेगी। इस प्रकार संदेहयुक्त उपयोगिता वाले सार्वजनिक कार्य भी गंभीर बेरोजगारी की अवस्था में बारबार सार्थक सिद्ध हो सकते हैं।[1] ऐसे काल मे सरकार कुछ सामाजिक कल्याणसबधी कार्य भी कर सकती है, उदाहरण के लिए, स्कूल, सड़कें, बाध, पुल इत्यादि का निर्माण। ये समस्त क्रियाए इस

---

1 J M Keynes 'General Theory of Employment, Interest & Money', p 127

मान्यता पर आधारित है कि सरकारी धन को आय धारा मे प्रवाहित किया जाए जिससे मदी तथा बेरोजगारी के रुख को बदला जा सके। इसके अतिरिक्त यह भी मान लिया जाता है कि इससे गुणक प्रभाव उत्पन्न हो जाएगे और गतिशीलता का सिद्धान्त निश्चित रूप से लागू हो जाएगा।

जब उपरोक्त प्रस्तावो को व्यवहार मे लाते है तो अनेक कठिनाइया सामने आती है। यह हो सकता है कि सरकार के पास सार्वजनिक कार्यों को सम्पन्न करने की समुचित योजनाए न हो। रोजगार उपलब्ध कराने के नाम पर व्यर्थ की योजनाए हाथ मे ली जा सकती है। यह भी सभव हो सकता है कि वाणिज्य उद्यमो को सचालित करने के लिए सरकार सिद्धहस्त न हो। यदि लोकव्यय के लिए धन का प्रबध घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा किया गया हो तो उससे स्फीतिक दशाए भी उत्पन्न हो सकती हैं। एक बार अर्थव्यवस्था को पूर्णरूप से सुधार लेने के पश्चात विनियोगो की दर किस प्रकार कम की जाए, सभवत सरकार को उसका उचित ज्ञान न हो। कुछ सार्वजनिक निर्माण कार्य ऐसी प्रकृति के होते हैं (जैसे कि सिचाई-बाध) कि उन्हे एक बार प्रारभ करने के बाद बीच मे रोका नही जा सकता। अत मे सरकार द्वारा लिए गए ऋणो मे लोकऋण तथा उस पर भुगतान किए जाने वाले ब्याज का भार बढ जाता है। परतु ये कठिनाइया अनुभव द्वारा सरलता से दूर की जा सकती है।

अभावपूरक व्यय करने मे सावधानिया

1930 के महामदी काल मे ये अनुभव प्राप्त हुए हैं कि क्षतिपूरक व्यय तभी सफल हो सकता है जब सरकार उसका समुचित उपयोग करने मे निम्न सावधानिया बरते

(1) मदीकाल मे क्षतिपूरक व्यय के साथ-साथ करारोपण मे वृद्धि नही होनी चाहिए।

(2) केंद्रीय बैंक को राजकोषीय नीति की कमियो को दूर करने के लिए मौद्रिक नीति की सहायता लेनी चाहिए। दूसरे शब्दो मे केंद्रीय बैंक को ब्याज की दर नीची रखनी चाहिए तथा बडे सुरक्षित कोष रखने चाहिए जहा से सरकार उधार ले सके।

(3) सरकार को सहायता कार्यों पर बल देना चाहिए।

(4) सरकार के पास ऐसी सुविचारपूर्ण योजनाए तैयार रहनी चाहिए कि जब भी बेरोजगारी बढती हुई दिखाई दे, उनको क्रियान्वित किया जा सके।

(5) व्यावसायिक सुधार की प्रक्रियाओ मे सरकार को निजी क्षेत्र की सहायता करनी चाहिए और गैर सरकारी आर्थिक क्रियाओं मे बाधा उत्पन्न नहीं होने देनी चाहिए।

व्यावसायिक चक्र की ऊर्ध्वगति अवस्था में अभावपूरक व्यय

जब अर्थव्यवस्था मंदीकाल से पुनरुत्थान की ओर अग्रसर होती है, क्षतिपूरक व्यय की क्रिया एकदम समाप्त नहीं होती। ऐसा दो कारणों से होता है। प्रथम कारण यह है कि कुछ लोकव्यय इस प्रकृति के होते हैं, जैसे सड़कों और बाँधों का निर्माण, जिन्हें बीच में समाप्त नहीं किया जा सकता। द्वितीय, लोकव्यय को एकदम रोक देने से अर्थव्यवस्था के अस्तव्यस्त होने का भय रहता है जिससे मंदी पुनः लौट सकती है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था के पुनरुत्थान काल की प्रारम्भिक अवस्था में लोकव्यय की वृद्धि जारी रहती है तथा सरकारी बजट भी घाटे में रहता है।

जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था में सुधार होता जाता है वैसे-वैसे आय तथा रोजगार में वृद्धि होती है और बजट संतुलित हो जाता है। पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात क्षतिपूरक व्यय को समाप्त कर अतिरेक बजट का निर्माण करना चाहिए। अतिरेक बजट द्वारा ऋणों के लौटाने में सुविधा हो जाती है। स्मरण रहे, पूर्ण रोजगार के लक्ष्य को प्राप्त करने के उपरान्त उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति में कमी आ जाती है और इस स्थिति में यदि सरकार लोकव्यय द्वारा उपलब्ध साधनों के लिए गैर सरकारी क्षेत्र में प्रतियोगिता करती है तो इससे उनके मूल्य बढ़ जाते हैं और स्फीति संबंधी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसलिए पूर्ण रोजगार के स्तर पर पहुँचने के बाद अर्थव्यवस्था को तेजी की ओर जाने से रोकने के लिए क्षतिपूरक नीति अधिकतर कराधान पर निर्भर रहती है तथा अर्थव्यवस्था को मंदी की ओर जाने से रोकने के लिए क्षतिपूरक नीति कराधान तथा लोकव्यय, दोनों पर निर्भर रहती है।

संक्षेप में, व्यवसाय चक्र की ऊर्ध्वमुखी अवस्था में क्षतिपूरक व्यय निम्न दो विभागों में बाँटा जा सकता है.

(1) अर्थव्यवस्था के पुनरुत्थान की प्रारम्भिक अवस्था में क्षतिपूरक व्यय मुख्यतः घाटे की व्यवस्था का होगा। यद्यपि बाद में लोकव्यय की मात्रा कम होती जाएगी।

(2) पुनरुत्थान तथा समृद्धि की स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात मुख्यतः अतिरेक का बजट बनाया जाएगा ताकि मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि न हो।

लोकव्यय तथा आर्थिक विकास

अल्पविकसित देशों में निजी उद्यमी उन दिशाओं में विनियोग नहीं करना चाहते जहाँ जोखिम अधिक होती है तथा शीघ्र प्रतिफल की आशा नहीं होती। जो थोड़े-बहुत धनी लोग होते हैं उनमें साहस तथा उद्यम का अभाव होता है। देश के संतुलित विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि वह ऐसे उद्योगों का भी विकास करे जिनका सामाजिक महत्त्व होता है और जो देश के भावी आर्थिक विकास में सहायक

होते हैं। इस सदर्भ म रेगनर नर्क्स ने उचित ही कहा है, 'अर्धविकसित देशो मे राज्य साहसियो का कार्य कर सकते है जिनका कि पिछडे देशो मे बहुत अभाव है।' स्पेंगलर का भी यही मत है कि 'सरकार बहुत से कार्य स्वय करके साहसियो की कमी पूरी कर सकती है जो कि इस वग (साहसियो) के द्वारा पूरे किए जाते थे।'

अध स्थ ढाचे पर व्यय

इन परिस्थितियो के अतर्गत द्रुत आर्थिक विकास केवल लोकव्यय के माध्यम से ही सम्भव है। इसलिए वृद्धि के लिए अध स्थ ढाचे के निर्माण का उत्तरदायित्व सरकार पर आ पडता है। इसे सामाजिक अपरिव्यय भी कहा जा सकता है। इसमे परिवहन तथा सचार व्यवस्था, शक्ति, स्वास्थ्य सेवाए और आवास इत्यादि सम्मिलित होते है। सरकारी क्षेत्र की दृष्टि से सडकें, रेलें, पुल, मकान, स्कूल, जलाशय आदि सभी अध स्थ ढाचे का अग हैं। अध स्थ ढाचे को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की बुनियाद समझा जाता है जिसके ऊपर देश की आर्थिक क्रिया अर्थात उद्योग एव व्यापार आधारित होते है। किसी देश की अध स्थ ढाचे की रचना के लिए बहुत-सी ऐसी परियोजनाए निर्मित करनी पडती है जिनकी आरभिक लागत अत्यधिक होती है। अध स्थ ढाचे की स्थापना के लिए गैर सरकारी विनियोग से उचित मात्रा मे वित्त उपलब्ध नही कराया जा सकता और इसी कारण सामाजिक अपरिव्ययो की स्थापना का दायित्व सरकारी क्षेत्र पर ही माना जाता है। उनके अर्थशास्त्री इस बात मे विश्वास रखते है कि अधिकतर अल्पविकसित देशो मे आर्थिक विकास को गतिमान करने से पहले यह आवश्यक है कि उचित अध स्थ ढाचे की स्थापना की जाए। ऐसा होने पर ही विनियोग निधि को उत्पादक क्रियाओ मे श्रेष्ठ ढग से प्रयुक्त किया जा सकता है। अध स्थ ढाचे का निर्माण वाह्य मितव्ययिताए करता है, जिसमे निजी क्षेत्र लाभ उठाता है।

साहसी को प्रोत्साहन

सरकार के विकास व्यय का उद्देश्य गैर सरकारी प्रेरणा तथा साहस को प्रोत्साहन देना होना चाहिए। प्रत्यक्ष प्रोत्साहन ऋणो तथा उपदानो द्वारा बाजार सबधी अन्य सूचनायें उपलब्ध कराकर तथा अनुसधान की सुविधाए प्रदान करके निजी क्षेत्र की सहायता की जा सकती है। सरकार कुछ ऐसी विशेष बैंकिग तथा वित्तीय सस्थाओ की स्थापना कर सकती है जिनका मूल उद्देश्य मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन समय के लिए नीची दरो पर वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना होता है। अनेक अल्पविकसित देशो मे, सरकार को एक ऐसी दृढ वाणिज्यिक एव बैंकिग व्यवस्था की स्थापना करनी होगी जिसका मार्गदर्शन केंद्रीय बैंक करेगा। ये सब वे प्रत्यक्ष रीतिया हैं जिनके द्वारा निजी क्षेत्र के विस्तार तथा विकास म सहायता मिलती है।

स्रोतो के आवटन मे सुधार

लोकव्यय वाछित दिशाओ म स्रोतो के आवटन को सुधारने म भी सहायक होता है।

खाद्य वस्तुओं की दुर्लभताओं के समय में सरकार सस्ते अनाजों की दुकानें खोलकर कार्यकारी वर्ग के लिए खाद्य अनुदान भी देती है जिससे कि उसके स्वास्थ्य तथा दक्षता को बनाए रखा जा सके। लोकव्यय के द्वारा प्रयारोधक स्टाकों का निर्माण करके खाद्यान्नों के मूल्य न्यूनतम स्तरों पर नियत किये जा सकते हैं। इस प्रकार राजकीय व्यापार के माध्यम से कृषकों को अधिक उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहन मिल सकता है। कुछ आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने और उत्पादन के विविध क्षेत्रों में निजी एकाधिकार समाप्त करने के लिए राज्य स्वयं उद्यम शुरू कर सकता है। लोगों को सस्ती तथा आर्थिक दक्ष सुविधाएं प्रदान करने के उद्देश्य से, वह जनोपयोगी सेवाओं का राष्ट्रीयकरण भी कर सकता है। इस प्रकार लोकव्यय आर्थिक क्रियाओं के सब क्षेत्रों में बढ़ सकता है।

मानव पूंजी-निर्माण

शिक्षा, लोकस्वास्थ्य तथा चिकित्सा सुविधाओं पर किया गया व्यय मानव पूंजी निर्माण में सहायक होता है। परिणामतः कार्यकारी जनसंख्या की अर्जन शक्ति बढ़ती है। जब बढ़ते हुए लोकव्यय के माध्यम से आर्थिक विकास तेजी से चलता है तो उदग्र गतिशीलता की बाधाएं दूर हो जाती हैं। व्यवसायों का विस्तार होता है तथा रोजगार के अवसर भी बढ़ जाते हैं।

विकास व्यय की प्राथमिकताएं

लोकव्यय करते समय एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह उत्पन्न होती है कि विभिन्न विकास परियोजनाओं के मध्य प्राथमिकता का निर्धारण किस प्रकार होना चाहिए। अन्य स्थितियां समान रहने पर, प्राथमिकता निर्धारण संतुलित विकास की अधिकतम दर की गारंटी देता है। प्राथमिकता निर्धारण वास्तव में परियोजनाओं के उद्देश्यों पर निर्भर करता है। द्वितीय, प्राथमिकता का निर्धारण उपलब्ध साधनों पर भी निर्भर करता है, क्योंकि इन साधनों से ही यह पता लगाया जा सकता है कि यह परियोजनाएं निर्धारित समय में पूरी हो सकती हैं कि नहीं। तृतीय, प्राथमिकता निर्धारण करते समय यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि ये योजनाएं किस सीमा तक विदेशों पर निर्भरता को कम करती हैं।

इसी से संबंधित एक प्रश्न यह है कि अर्थव्यवस्था के किस क्षेत्र में विकास कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी जाए। इस संबंध में जहां कुछ लोग भूमि संबंधी क्षेत्र तथा निर्यातों के विकास पर बल देते हैं, वहां दूसरे लोग गौण तथा तृतीय श्रेणी के उद्योगों के विकास के पक्ष को स्वीकार करते हैं। इनके अतिरिक्त एक तीसरा दृष्टिकोण भी है, जिसके अनुसार सभी क्षेत्रों पर समान बल दिया जाना चाहिए ताकि संतुलित विकास हो सके। आर्थर लेविस के शब्दों में, 'विकास कार्यक्रमों में, अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों का विकास साथ-साथ होना चाहिए, जिसमें कि उद्योग तथा

वृषि के बीच और घरेलू उपभोग के लिए उत्पादन तथा निर्यात के लिए उत्पादन के बीच उचित सतुलन बनाये रखा जा सके ।'[1]

अल्पविकसित देशो को लोकव्यय करते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि प्रशासनिक व्यय न्यूनतम रहे । जैसा कि प्रो० आर०एन० त्रिपाठी ने कहा है, 'प्रशासनिक व्यय मे जितनी वृद्धि होगी पूजी-निर्माण के लिए स्रोत उतने ही कम उपलब्ध होंगे ।[2] इसलिए इन देशों को अपने प्रशासनिक व्यय मे अनावश्यक वृद्धि को रोकना चाहिए ।

1. W.A Lewis 'The Theory of Economic Growth', p 274
2 R N Tripathi 'Public Finance in Under Developed Countries', p 66

1
सार्वजनिक आय

सार्वजनिक आय का वर्गीकरण

सार्वजनिक आय अनेक स्रोतों से प्राप्त होती है। इन स्रोतों को वर्गीकृत करने के विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने प्रयास किये हैं परन्तु इस संबंध में वे एकमत नहीं हैं, साथ ही बहुत से वर्गीकरण अन्तर स्पष्ट भी नहीं हैं। इस संदर्भ में डाल्टन का मत बड़ा उपयोगी है। उन्होंने कहा है कि, सार्वजनिक आय के स्रोतों का वर्गीकरण तो किया जा सकता है लेकिन बहुत-से भेद पूर्णतया स्पष्ट नहीं हैं और अन्य वर्गीकरण की खोज स्वयं वर्गीकरण की प्राप्ति से अधिक ज्ञानदायी है।'[1] फिर भी इनके अध्ययन से विद्यार्थी को लोक आय के विभिन्न स्रोतों की जानकारी अवश्य हो सकती है। कुछ प्रमुख अर्थशास्त्रियों द्वारा सार्वजनिक आय का वर्गीकरण निम्न आधारों पर किया गया है।

प्रो० सैलिगमेन द्वारा वर्गीकरण

प्रो० सैलिगमेन ने सार्वजनिक आय को तीन भागों में बांटा है :

(1) निःशुल्क आय : इस वर्ग में वे सभी प्रकार की आय सम्मिलित हैं जो राज्यों को उपहार, चंदों आदि के रूप में प्राप्त होती हैं अर्थात जो सरकार को जनता द्वारा स्वेच्छा से दी जाती हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिए सरकार को किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता। युद्ध के समय लोगों द्वारा दिए गए ऐच्छिक चंदे निःशुल्क आय के उदाहरण हैं।

(2) अनुबंधीय आय : इस वर्ग के अंतर्गत वह आय सम्मिलित की जाती है जो सरकार को सार्वजनिक उद्योगों, भवनों, व्यापार तथा भूमि से प्राप्त होती है। इन वस्तुओं तथा सेवाओं से प्राप्त आय को सैलिगमेन ने कीमत के नाम से संबोधित किया है।

(3) अनिवार्य आय : करों से प्राप्त आय तथा क्षतिपूर्ति की आय इस वर्ग में सम्मिलित की गई है। सरकार एक सर्वशक्तिमान सत्ता होने के कारण नागरिकों से कोई भी संपत्ति अथवा वस्तु मांग सकती है जिसके उपलक्ष्य में वह उसकी क्षति पूर्ति कर भी सकती है और नहीं भी। राज्य द्वारा ठहराए गए दोषी व्यक्तियों पर

[1] Dalton : 'Principles of Public Finance', p. 31.

जुर्माने थोपे जा सकते हैं और उन्हें वे अदा करने होते हैं। आधुनिक समय में यह राज्य की आय का मुख्य साधन माना जाता है।

प्रो० बैस्टेबिल का वर्गीकरण

प्रो० बैस्टेबिल ने सार्वजनिक आय को दो भागों में विभक्त किया है

(1) वह आय जो सरकार को एक बड़े निगम अथवा न्यायाधीश होने के नाते प्राप्त होती है। यह आय राज्य को एक बड़े निगम होने के नाते तथा जनता को वस्तुएं और सेवाएं प्रदान करने के कारण होती है। सरकार की इस प्रकार की आय और एक साधारण फर्म की आय में कोई अंतर नहीं होता।

(2) वह आय जो राज्य अपनी सत्ता के कारण समाज की आय में से वसूल करता है इसी श्रेणी में शामिल की जा सकती है।

कुछ लेखकों ने बैस्टेबिल के इस वर्गीकरण की आलोचना करते हुए लिखा है कि इस वर्गीकरण के आधार पर शुल्क, उपहार, जुर्माना तथा विशेष निर्धारण को वर्गीकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि इनमें कर-संबंधी और अकर संबंधी दोनों आयों की विशेषताएं सम्मिलित हैं।

प्रो० एच०डी० एडम्स द्वारा वर्गीकरण

प्रो० एडम्स ने लोकआय को तीन भागों में विभाजित किया है

(1) **प्रत्यक्ष आय** यह ऐसी आय है जो राज्य को सार्वजनिक उद्योगों, उपहारों तथा जातियों से प्राप्त होती है।

(2) **व्युत्पन्न आय** इससे अभिप्राय उस आय से है जो राज्य को करों, शुल्कों तथा जुर्मानों आदि से प्राप्त होती है।

(3) **अप्रत्याशित आय** इस श्रेणी के अंतर्गत उस आय को सम्मिलित किया जाता है जो सरकार को राजकोषीय विपत्रों तथा अन्य ऋणों से प्राप्त होती है।

एडम्स के अनुसार सरकार को जनता से प्राप्त आय पर अधिक निर्भर रहना चाहिए। आधुनिक काल में ऐसी निर्भरता असंभव-सी हो गई है। अब कर-आगम को ही सार्वजनिक आय का महत्त्वपूर्ण साधन नहीं माना जा सकता। राज्य स्वयं अपने उद्योगों से भी पर्याप्त आय प्राप्त करता है। अतएव एडम्स का वर्गीकरण आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है।

प्रो० डाल्टन द्वारा वर्गीकरण

डाल्टन ने सार्वजनिक आय के स्रोतों का वर्गीकरण निम्न आधार पर किया है

(1) कर द्वारा प्राप्त आय,

(2) युद्ध या अन्य कारणों से होने वाली क्षतिपूर्ति तथा उपहार की आय,

(3) आरोपित ऋण से प्राप्त आय (प्राचीनकाल में राजा जनता पर दबाव डाल कर ऐसे ऋण प्राप्त किया करते थे),

(4) न्यायालयों द्वारा अपराधियों पर लगाए गए द्राव्यिक दंड से प्राप्त आय,

(5) सार्वजनिक संपत्ति जैसे खेतों, भवनों आदि से वसूल की गई आय,

(6) राजकीय उद्योगों से प्राप्त आय,
(7) गैर व्यावसायिक उद्देश्य से उत्पन्न की गई सेवाओं से प्राप्त शुल्क की आय,
(8) स्वेच्छा से दिए गए सार्वजनिक ऋणों से प्राप्त आय,
(9) एकाधिकारी उपक्रमों से प्राप्त आय, उदाहरणार्थ अफीम और नमक का उत्पादन तथा बिक्री और विद्युत-शक्ति का उत्पादन तथा वितरण,
(10) विशेष निर्धारण से प्राप्त आय,
(11) छापेखाने के उपयोग से लाभ,
(12) स्वेच्छा से दिए गए उपहार से प्राप्त आय ।

यद्यपि डाल्टन ने सार्वजनिक आय के वर्गीकरण को बहुत ही विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है, परंतु वह स्पष्ट, निश्चित और न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता । ऋण से प्राप्त आय को सार्वजनिक आय का अंग नहीं माना जा सकता ।

प्रो० जे० के० मेहता द्वारा वर्गीकरण

प्रो० जे० के० मेहता ने सार्वजनिक आय को चार श्रेणियों में विभाजित किया है (1) कर संबंधी आय, (2) शुल्क, (3) महसूल, (किराया-भाड़ा), तथा (4) विविध आय । उदाहरणार्थ उपहार, जुर्माना, विशिष्ट कर आदि ।

भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा वर्गीकरण

भारतीय रिजर्व बैंक ने सार्वजनिक आय का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, वह सरल, संक्षिप्त एवं व्यावहारिक प्रतीत होता है । निम्न चार्ट इस वर्गीकरण का स्पष्टीकरण करता है :
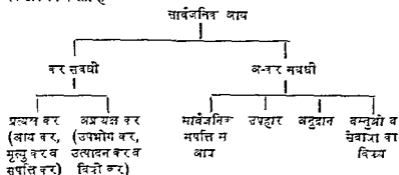
ऊपर वर्णित सार्वजनिक सेवाओं के विभिन्न प्रकार की आयों के बीच सीमा रेखाएं पूर्णतया स्पष्ट नहीं हैं । वे धीरे-धीरे एक प्रकार से दूसरे प्रकार में समरस हो जाती हैं । कर धीरे-धीरे 'मूल्यों' में समरस हो जाते हैं क्योंकि लोकसत्ताओं द्वारा करदाताओं को प्रदान की जाने वाली और करदाताओं द्वारा किए जाने वाले भुगतानों के बीच संबंध बहुत कुछ अनिश्चित होता है । जिन स्थानों पर पानी के मीटरों का प्रयोग नहीं होता वहां जल सेवा के लिए वसूल किया जाने वाला शुल्क इसका उदाहरण है ।

अपराधों के लिए लगाए जाने वाले जुर्मानों के उपलक्ष्य में कोई प्रत्यक्ष प्रत्युपकार नहीं मिलता। इसलिए वह भी कर की श्रेणी में सम्मिलित हो सकता है। करों तथा जुर्मानों के बीच अंतर केवल उद्देश्य का है। लोकसत्ता मुख्य रूप से आय प्राप्त करने के लिए कर लगाती है और जुर्माने मुख्य रूप से लोगों को कुछ कृत्यों से दूर रखने के लिए लगाए जाते हैं। अगर मोटर चालकों पर रफ्तार की मर्यादा भंग करने पर प्रत्येक बार 1 रुपए का जुर्माना किया जाए तो ऐसे जुर्मानों को तेज रफ्तार पर कराधान समझा जा सकता है जिसकी तुलना पैट्रोल के करारोपण से की जा सकती है।

यही बात सीमा शुल्कों पर भी लागू होती है। अगर किसी वस्तु पर शुल्क की दर बढ़ाए जाने पर उससे मिलने वाली आय बढ़ जाती है तो वह शुल्क कर का ही एक रूप है। यदि दर उस बिंदु के ऊपर उठ जाती है जहां आय अधिकतम थी, तो स्पष्ट हो जाता है कि किसी प्रकार के जुर्माने का तत्त्व उसमें विद्यमान है।

एक ओर शुल्कों और दूसरी ओर करों तथा लोक एकाधिकार लाभों के बीच भी स्पष्ट अंतर नहीं होता क्योंकि अक्सर सेवा प्रदान किए जाने की लागत उसके वसूल किए गए शुल्क से कम होती है। किसी भी उद्यम को चलाने के लिए किसी लोक अधिकरण के पास एकाधिकार शक्ति हो सकती है। फिर भी वह निर्णय ले सकता है कि लोकहित को ध्यान में रखते हुए उद्यम की उपज उत्पादन व्यय पर या उससे नीचे मूल्य पर बेची जाएगी।

शुल्कों और लोक उद्यमों से मिलने वाली प्राप्तियों के बीच भी आमतौर से अंतर स्पष्ट नहीं होता क्योंकि ऐसी सेवाओं के बीच, जो व्यावसायिक स्वभाव की होती हैं, और ऐसी सेवाएं जो इस प्रकार की नहीं होतीं, कोई स्पष्ट अंतर नहीं है। इस प्रकार, कुछ लेखकों ने डाकखाने की समस्त आय को शुल्कों के वर्ग में रखने का सुझाव दिया है।

इस विवेचन का सामान्य निष्कर्ष यह है कि सार्वजनिक आय के साधनों का वर्गीकरण तो अवश्य किया जा सकता है, किंतु बहुत-से संबंधित अंतर स्पष्ट नहीं हो पाते। जैसा डाल्टन ने कहा है कि *'वर्गीकरण की खोज की क्रिया में जितना ज्ञान-वर्धन हो जाता है उतना वर्गीकरण तय हो जाने पर नहीं होता।'*

सार्वजनिक आय के स्रोत

उपरोक्त वर्गीकरण के विवाद को समाप्त करते हुए सार्वजनिक आय के स्रोतों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है

(क) कर संबंधी स्रोत

(ख) अ-कर संबंधी स्रोत

कर संबंधी स्रोत

कर लोकप्राधिकरण द्वारा लगाया गया अनिवार्य अंशदान होता है जो बदले में करदाता को प्रदान की जाने वाली सेवा के आकार से कोई संबंध नहीं रखता। प्राचीन काल से करारोपण सार्वजनिक आय का मुख्य स्रोत रहा है, आज भी सार्व-

जनिक आय का एक बड़ा भाग करों द्वारा प्राप्त होता है ।

प्रो० टासिग ने कर की परिभाषा इस प्रकार दी है, 'कर वह अनिवार्य प्रभार है जो किसी लोकप्राधिकरण द्वारा लगाया जाता है । सरकार द्वारा लगाए गए अन्य प्रभारों से भिन्न कर का मूल तत्त्व करदाता तथा लोकप्राधिकरण के बीच प्रत्यक्ष प्रत्युपकार का अभाव होता है ।' *प्रो० सैलिगमैन ने कर की परिभाषा देते हुए लिखा है*, 'कर एक व्यक्ति का सरकार के लिए अनिवार्य अंशदान है, उन खर्चों को पूरा करने के लिए जो सबके सामान्य हित में किए जाते हैं । इसका सम्बन्ध विशेष लाभों की प्राप्ति के लिए नहीं होता ।' प्रो० प्लेहन के अनुसार 'कर धन के रूप में दिया गया वह सामान्य अनिवार्य अंशदान है जो राज्य के निवासियों को सामान्य लाभ पहुंचाने के लिए किए गए व्यय को पूरा करने हेतु व्यक्तियों से लिया जाता है । कर सामान्य लाभ पहुंचाने के लिए न्यायसंगत कहा जा सकता है । लेकिन उसे नापा नहीं जा सकता ।'

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से कर की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर संकेत मिलता है

(1) कर एक अनिवार्य भुगतान है ।

(2) सरकार करदाता को कर के उपलक्ष्य में कोई विशेष लाभ प्रदान नहीं करती अर्थात् सरकार और करदाता के बीच प्रत्यक्ष प्रतिफल (*Quid Pro Quo*) के सम्बंधों का अभाव रहता है ।

(3) कर से उत्पन्न आय का प्रयोग सार्वजनिक लाभ के लिए किया जाता है ।

(4) यद्यपि कर का भुगतान कोई भी व्यक्ति अपनी आय तथा पूंजी में से कर सकता है परन्तु अन्ततोगत्वा कर का भुगतान आय में से ही किया जाता है, क्योंकि पूंजी भी बची हुई आय का एक रूप होती है ।

(5) यद्यपि कर वस्तु व सम्पत्ति पर लगाया जाता है परन्तु उसका भुगतान व्यक्ति ही करते हैं और यह उनका निजी उत्तरदायित्व समझा जाता है ।

(6) करारोपण किसी भी सेवा का लागत मूल्य नहीं है ।

(7) करारोपण वैधानिक सत्ता द्वारा निर्धारित किया जाता है ।

अ-कर साधन-स्रोत

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक राज्यों के कार्यों का इतना विस्तार नहीं हुआ था जितना उसके पश्चात् हुआ है । उस समय सरकार सार्वजनिक जीवन में बहुत कम हस्तक्षेप करती थी । करों से जो भी आय प्राप्त होती थी उसी के द्वारा कार्यों को पूरा कर लिया जाता था । परन्तु विश्व युद्ध के पश्चात् राज्य के कार्यक्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि हुई है । सरकार अब आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हस्तक्षेप करने लगी है । अपने विस्तृत कार्यों को सम्पन्न करने के लिए जितने धन की आवश्यकता होती है वह करों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता । इसलिए सरकार को अन्य साधनों की खोज करनी पड़ती है । अ-कर साधनों का महत्त्व इसलिए दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है । अमरिका, जापान, दक्षिणी अफ्रीका

व मध्य पूर्व एशिया के देश अपनी कुछ आय का एक-तिहाई भाग, कनाडा और फ्रांस एक-चौथाई भाग और इंग्लैंड दसवा भाग अ-कर साधनो से प्राप्त करते हैं। भारत का लगभग 37 6 प्रतिशत भाग अ-कर साधनो से उपलब्ध होता है और रूस की समस्त आय का 90 प्रतिशत भाग अ-कर साधनों से सपादित होता है।

सक्षेप मे आधुनिक वित्त व्यवस्था मे अ-कर साधनो का महत्त्व निम्न तीन कारणो से स्पष्ट किया जा सकता है

(1) प्रत्येक देश मे कराधान की एक सीमा होती है, इसके पश्चात करो का लगाना जनमत को प्रतिकूल करना होता है इसलिए सरकार को अ-कर साधनो की सहायता लेनी पडती है।

(2) करारोपण देश के उत्पादन तथा लोगो की बचत पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, जबकि अ-कर साधनो के द्वारा तो उत्पत्ति मे वृद्धि होती है। लोगो को रोजगार मिलता है तथा बचत तथा विनियोग करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव नहीं पडता। इसलिए इसे करारोपण से श्रेष्ठ माना जाता है।

(3) सरकार इन साधनो से अर्थव्यवस्था को सतुलित करने मे समर्थ होती है। अ-कर साधनो के द्वारा अर्थव्यवस्था पर पूर्ण नियत्रण भी रखा जा सकता है।

अ-कर साधनो को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है

1 व्यावसायिक आय प्रत्येक देश मे कुछ उद्योग तथा सपत्ति सरकार के स्वामित्व मे होते हैं। समाजवादी एव साम्यवादी देशों मे तो समस्त उद्योग सरकार के अधिकार मे होते हैं। ऐसे ही अनेक लोकसस्थाए विभिन्न प्रकार के उद्योगो और व्यवसायो का सचालन स्वय करती हैं। परिवहन, विद्युत एव डाक-तार इत्यादि ऐसी जनहित सेवाए तथा अन्य उद्योगो का सचालन तथा उनसे उत्पादित वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त आय व्यावसायिक आय के उदाहरण हैं।

कुछ ऐसी भी सपत्तिया होती हैं जो प्राय राष्ट्र के अधीन रहती हैं, उदाहरणार्थ वन, पर्वत, नदिया, खनिज आदि। इन मदो से प्राप्त होने वाली आय इसी वर्ग मे सम्मिलित की जाती है। डाल्टन का मत है, 'लोकसत्ता अपनी सपत्ति तथा उद्योगो से प्राप्त निवल मौद्रिक आय द्वारा अपनी कुल आय मे वृद्धि करती है। इस आय की प्राप्ति से लोकसत्ता करो मे थोडी कमी और खर्चों मे वृद्धि कर सकती है जो इसके अभाव मे सभव नहीं है।'

प्राय सार्वजनिक उद्योगो का उद्देश्य लाभोपार्जन नही होता वरन किसी नीति को व्यवहार मे लाना होता है। इन उद्योगों के सचालन के पीछे चाहे कुछ भी कारण क्यो न हो, सरकार को थोडी-बहुत आय अवश्य प्राप्त कराते हैं। सरकार को जो आय इस मद से मूल्य के रूप में प्राप्त होती है वह उनके बदले मे प्रत्यक्ष सेवाए एव वस्तुए प्रदान करता है, अर्थात यहा प्रत्युपकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रत्युपकार का यह तत्त्व ही मूल्य मे प्राप्त आय को करो से भिन्न कर देता है।

मूल्य तथा कर मे निम्न अतर होते हैं

(क) कर अनिवार्य होते है जबकि मूल्य ऐच्छिक । दूसरे शब्दो मे जनता को करो का भुगतान अनिवार्य रूप मे करना पडता है परतु मूल्य का भुगतान अनिवार्य रूप मे नही करना पडता । मूल्य का भुगतान केवल उन्ही लोगो द्वारा होता है जो सरकार द्वारा उत्पन्न वस्तुओ तथा सेवाओ का उपभोग करते हैं ।

(ख) एक व्यक्ति जब मूल्य अदा करता है तो उसके बदले म प्रत्यक्षत कोई सेवा या वस्तु प्राप्त करता है परतु करदाता कर की अदायगी के बदले मे यह आशा नही करता कि कर से प्राप्त आय उसी के लाभ के लिए खर्च की जाएगी । कहने का तात्पर्य यह है कि कर से प्राप्त आय को जनता के सामान्य कल्याण पर व्यय किया जाता है जबकि मूल्य के बदले म लाभ केवल मूल्य अदा करने वाले को ही दिया जाता है । मूल्य और कर म यह एक अत्यत महत्त्वपूर्ण अतर है ।

2 प्रशासनिक आय सरकार के मुख्य कर्त्तव्यों मे एक कर्त्तव्य यह भी है कि वह देश मे शाति और सुरक्षा बनाये रखे । इस सबध मे सरकार कुछ नियम बनाती है और जो समाज विरोधी तत्त्व उनका उल्लघन करता है वह आर्थिक दड का भागी होता है । इस प्रकार राज्य को दड व्यवस्था से भी कुछ आय प्राप्त होती है । सक्षेप म प्रशासनिक आय के अतर्गत निम्न मदें सम्मिलित की जाती हैं

(क) शुल्क : सरकार समाज को कुछ सेवाए प्रदान करती है जिसके बदले म वह पूर्ण अथवा आशिक लागत वसूल करती है । इस लागत को वसूलयाबी शुल्क कहा जाता है ।

प्रो० एडम्स के मतानुसार शुल्क विशेष सेवा के बदले मे स्वीकार किया जाता है तथा यह सेवा राज्य के किसी विस्तृत कार्य के कारण उत्पन्न होती है । प्लेहन का दृष्टिकोण है कि 'फीस धन के रूप मे एक अनिवार्य अशदान है जो किसी प्राकृतिक अथवा कृत्रिम व्यक्ति को सार्वजनिक अधिकारी की आज्ञानुसार सरकार के किसी कार्य मे लगे व्यय के किसी अथवा सपूर्ण भुगतान के लिए देना पडता है । यह जहा सामान्य लाभ पहुचाता है वहा एक विशेष प्रकार का लाभ भी पहुचाता है।' सैलिगमैन के शब्दों में, 'शुल्क एक भुगतान है जोकि राज्य द्वारा मुख्यत जनहित के लिए प्रदान की गई सेवा की लागत को पूरा करने के हेतु दिया जाता है ।' इन परिभाषाओ के अध्ययन से शुल्क के कुछ लक्षण स्पष्ट होते हैं

(1) शुल्क किसी व्यावसायिक सेवा के बदले मे भुगतान नही है, अपितु प्रशासनिक एव न्याय सबधी सेवा का भुगतान है ।

(2) शुल्क मे प्रत्युपकार उपस्थित रहता है । साधारणतया शुल्क निजी व्यक्तियो द्वारा स्वेच्छापूर्वक दिया जाता है जिसके लिए वे लोकसत्ता के साथ अनुबध करते हैं । ये अनुबध स्पष्ट अथवा निहित हो सकते हैं । परतु कर का भुगतान अनिवार्य होता है ।

(3) शुल्क के अतिम रूप मे कभी-कभी सेवाए प्रशासनिक नियत्रण के हेतु दी जाती हैं । लाइसेंस शुल्क इसका उदाहरण है ।

(4) यद्यपि शुल्क के देयता को विशेष लाभ प्राप्त होता है तथापि शुल्क में सार्वजनिक हित का उद्देश्य निहित होता है।

(5) शुल्क की मात्रा प्रदान की जाने वाली सेवा की पूरी अथवा आंशिक लागत के रूप में हो सकती है।

यह आवश्यक नहीं होता कि किसी सेवा के प्रदान करने का सपूर्ण व्यय शुल्क द्वारा प्राप्त हो जाए। इसका केवल एक भाग ही प्राप्त हो सकता है। ऐसी स्थिति में सेवा प्रदान करने का केवल एक उद्देश्य यह होता है कि वे लोग भी उन सेवाओं से लाभ प्राप्त कर सकें जो शुल्क चुकाने में असमर्थ हैं तथा जिन्हे उनकी आवश्यकता भी है। शुल्क उन स्थितियों में उपयुक्त होता है जहा सरकार सेवा के दुरुपयोग से बचाना चाहती है। कोर्ट फीस, स्टाप फीस, रजिस्ट्रेशन फीस आदि शुल्क के अच्छे उदाहरण है।

शुल्क और मूल्य मे अतर : (1) शुल्क मे मूल्य की अपेक्षा लोकहित का अश अधिक होता है क्योंकि फीस के अतर्गत उसके भुगतानकर्ता को विशेष लाभ होने के साथ-साथ जनसाधारण को भी सामान्य लाभ प्राप्त होता है। (2) शुल्क जनोपयोगी सेवाओं के बदले में लिया जाता है जबकि मूल्य व्यापारिक ढग की सेवाओं के बदले में लिया जाता है।

शुल्क और कर मे अतर (1) शुल्क किसी विशेष लाभ के बदले में दिया जाता है जबकि कर की अदायगी जनहित के लिए की जाती है। (2) करदाता को कर के भुगतान से कोई प्रत्यक्ष एव समान लाभ नहीं प्राप्त होता जबकि शुल्क देयता को शुल्क के बदले में कुछ विशेष लाभ प्राप्त होते है। (3) शुल्क की मात्रा सेवा लागत के बराबर या सेवा से प्राप्त लाभ के अनुपात में हो सकती है। परतु कर और लाभ मे कोई ऐसा सबध नही होता। दोनो के अतर को स्पष्ट करते हुए हटर ने लिखा है, 'शुल्क एक अर्धअनिवार्य कर है जो मुख्यत सार्वजनिक हित के दृष्टिकोण से दिया जाता है किंतु इससे उस व्यक्ति को भी एक निश्चित लाभ प्राप्त होता है जो शुल्क देता है।'

कभी-कभी शुल्क तथा कर में भेद करना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में सैलिगमेन का विचार अत्यत सार्थक सिद्ध होता है। सैलिगमैन के मतानुसार, 'लाइसेंस शुल्क उसी समय शुल्क कहा जाएगा जब लाइसेंस लेने वाले को उससे लाभ हो, परतु जब उससे मिलने वाली आय से सरकारी अधिकारी को कुछ लाभ मिलता है तो वह कर के समान ही होता है।'

(ख) लाइसेंस शुल्क लुट्ज के अनुसार लाइसेंस शुल्क उस अवस्था में दिया जाता है जिसमें सार्वजनिक अधिकारी स्वय कोई प्रत्यक्ष या स्पष्ट सेवा न करके किसी व्यक्ति को कार्य करने की आज्ञाप्रदान करते है अथवा उसे अधिकार सौंपते है। साधारण बोलचाल मे शुल्क तथा लाइसेंस शुल्क मे कोई भेद नही समझा जाता परतु आर्थिक दृष्टि से इनमे अतर है। दोनो मे भेद करते हुए लुट्ज ने बतलाया है, 'शुल्क उन मामलों में दिया जाता है जब वास्तव में कोई सेवा प्रदान की जाती है जबकि

लाइसेंस शुल्क उन मामलों में दिया जाता है जब सार्वजनिक अधिकारी कोई कार्य न करके किसी व्यक्ति को कार्य करने का अधिकार प्रदान करता है।' लाइसेंस शुल्क में नियमन तथा नियन्त्रण का अंश रहता है। कुछ सामाजिक सेवाएं ऐसी होती हैं जिन को सम्पन्न करने के लिए कुछ ही व्यक्तियों को अधिकार दिया जाता है तथा लाइसेंस के द्वारा इनकी गतिविधियों को नियमित किया जाता है। जैसे मादक वस्तुओं के विक्रय के लिए लाइसेंस द्वारा अधिकार देना, बन्दूक का प्रयोग करने के लिए बन्दूक लाइसेंस का देना। यदि कोई व्यक्ति लाइसेंस शुल्क को अदा करना भूल जाता है तो उनका वह अधिकार भी समाप्त हो जाता है जो उसे लाइसेंस के द्वारा प्राप्त हुआ था।

(ग) जुर्माना तथा प्रत्यापतन जुर्माना तथा अर्थ दंड वह धनराशि है जो सरकार किसी निवासी से वैधानिक नियमों के उल्लंघन करने पर वसूल करती है। वस्तुतः जुर्माने का उद्देश्य आय अर्जित करना नहीं होता अपितु व्यक्तियों को वैधानिक नियमों के उल्लंघन से रोकना होता है। आधुनिक समाज के लोगों में सुधार लाने के लिए उनके आत्म विश्वास पर अधिक बल दिया जाने लगा है इसलिए जन-मत दंड का विरोध करने लगा है। इसलिए इस मद से आय घटती जा रही है।

कभी-कभी सरकार को व्यक्तियों की सम्पत्ति को जब्त करके भी आय प्राप्त होती है। जब कोई व्यक्ति अपने उत्तराधिकारी का नामांकन किए बिना या बिना वसीयत लिखे मर जाता है तो ऐसे मृतक की सम्पत्ति सरकार जब्त कर लेती है। इस स्रोत से भी सरकार को कोई विशेष आय नहीं होती।

(घ) विशेष कर निर्धारण विशेष कर निर्धारण अमरीकी आविष्कार है। सैलिगमैन ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है, 'विशेष कर निर्धारण एक अनिवार्य अंशदान है जो उठाए जाने वाले लाभों के अनुपात में लगाया जाता है, जिससे लोक-हित में परिसम्पत्ति के विशिष्ट सुधार के लिए किए गए व्यय को प्राप्त किया जा सके। कभी-कभी सरकार कुछ ऐसी सेवाएं प्रदान करती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों की सम्पत्ति में अनायास बिना किसी परिश्रम के वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार अनर्जित आय वृद्धि पर सरकार कर लगाकर उस आय का एक भाग वसूल कर लेती है। उदाहरण के लिए किसी लोकसंस्था द्वारा सड़क निर्माण कराने से उसके आस-पास की भूमि या मकान का मूल्य बढ़ जाता है जिसका एक अंश वह लोक-संस्था विशेष कर निर्धारण द्वारा प्राप्त कर लेती है। इसी प्रकार यदि किसी नगर में नगर-पालिका कोई पार्क बना दे या नालियों की उचित व्यवस्था करवा दे तो उसके समीप के व्यक्तियों को विशेष लाभ प्राप्त हो जाता है जो उसके परिश्रम के द्वारा नहीं हुआ है। इसलिए नगरपालिका इन विशेष लाभों पर कर लगाती है। प्रो० टेलर का विचार है कि लोक क्रियाओं के फलस्वरूप नागरिकों की सम्पत्ति के मूल्य में वृद्धि होने पर ही विशेष कर लगाया जाना है। इंग्लैंड में ऐसे विशेष कर निर्धारण को सुधार कर (Betterment Levy) के नाम से सम्बोधित किया जाता है। भारत में आन्ध्र, मद्रास, उड़ीसा तथा पंजाब राज्य सरकारों ने भूमि पर सुधार कर लगाए हैं।

प्रो० सैलिगमैन ने विशेष कर निर्धारण मे निम्न गुण बतलाए है

(1) इन करो का कोई विशेष उद्देश्य हो।

(2) विशेष सेवा से उत्पन्न लाभ को नापा जा सके।

(3) इस प्रकार आरोही न होकर लाभ के अनुपात मे हो।

(4) यह स्थानीय विकास का प्रतिफल हो।

(5) स्थानीय परिसम्पत्ति के मूल्य मे वृद्धि हो।

विशेष कर निर्धारण तथा कर मे समानताए और अतर विशेष कर निर्धारण कर से मिलता-जुलता है। क्योंकि यह कर की तरह ही अनिवार्य भुगतान होता है। परतु कर मे इस आधार पर भिन्न होता है कि विशेष कर निर्धारण के अदा करने वाले को निश्चित एव प्रत्यक्ष रूप मे प्रत्युपकार मिलता है जबकि कर अदा करने वाले को कोई ऐसा प्रत्यक्ष प्रत्युपकार नही मिलता। कर सामान्य हित के लिए लगाए जाते हैं परतु विशेष कर अभिनिर्धारण इसके अदा करने वाले को विशेष लाभ पहुचाता है। विशेष कर निर्धारण से प्राप्त आय को सार्वजनिक स्थाई पूजी के विकास के लिए खर्च किया जाता है जबकि कर से प्राप्त आय किसी भी रूप मे खर्च की जा सकती है।

विशेष कर निर्धारण तथा मूल्य मे बहुत कुछ समानता इसलिए दिखाई पडती है क्योकि दोनो का सबध प्रत्यक्ष प्रत्युपकार से है। फिर भी ये एक-दूसरे से भिन्न इसलिए है कि विशेष कर निर्धारण का भुगतान ऐच्छिक नही होता जबकि मूल्य का भुगतान ऐच्छिक होता है।

विशेष कर निर्धारण तथा शुल्क मे अतर (1) विशेष कर निर्धारण विशेष स्थानीय सुधार के लिए लगाया जाता है परतु शुल्क प्रशासन सबधी कार्यों के लिए लगाया जाता है।

(2) विशेष कर निर्धारण का भुगतान केवल एक बार होता है जबकि शुल्क का भुगतान अनेक बार हो सकता है।

(3) विशेष कर निर्धारण की दर साधारणतया लाभ के भुगतान मे होती है जबकि शुल्क की दर पहले से ही निश्चित होती है।

(4) विशेष कर निर्धारण सामूहिक रूप मे अर्थात कुछ व्यक्तियो पर एक साथ लगाया जाता है जबकि शुल्क व्यक्तिगत रूप से लगाया जाता है। शुल्क का भुगतान केवल व्यक्ति विशेष को होने वाले लाभ के अनुसार होता है।

(3) उपहार तथा अनुदान गैर सरकारी कर दाताओ द्वारा स्वेच्छा से दिए गए अशदान जो विशेष उद्देश्यों के लिए दिए जाते है, उपहार कहलाते हैं। उदाहरण के लिए यह उपहार युद्ध सचालन के लिए, अस्पताल खोलने के लिए, अकाल पीडितों की सहायता के लिए, इत्यादि हो सकते है। ऐसे अशदानो मे युद्धकाल म देशभक्ति भावना के कारण वृद्धि होने की सभावना रहती है। डाल्टन ने इस मद से प्राप्त आय को 'ईमान अदायगी' कहा है। उपहार सदैव स्वेच्छापूर्वक दिए जाते हैं और उपहार देने वालों को इसके बदले म कोई लाभ नही मिलता। हमारे देश को अमरीकी

सरकार ने बहुत बड़ी धनराशि उपहार के रूप में प्राप्त हुई है।

अनुदान भी धनराशि का वह रूप है जो सरकार की स्वेच्छापूर्वक दी जाती है। अनुदानों के माध्यम से एक सरकार दूसरी सरकार को सामान्यत किसी विशेष काम के लिए एक विशेष विधि से, वित्तीय सहायता देती है। राज्य सरकारें काफी समय से स्थानीय सरकारों को शिक्षा और राजमार्ग संबंधी अनुदान देती रही हैं। संघीय सरकार काफी लंबे समय से राज्य सरकारों को राजमार्गों के निर्माण और रख-रखाव के लिए तथा शिक्षा आदि के लिए देती रही है। संघीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को दिए जाने वाले अनुदानों का उद्देश्य वित्तीय कठिनाइयों को दूर करते हुए राज्य के विभिन्न अंगों के मध्य साम्य स्थापित करना तथा उनका उचित नियमन व निर्देशन करना होता है। यह अनुदान शर्त रहित भी हो सकते हैं और शर्त सहित भी। शर्त सहित अनुदान कुछ विशिष्ट कार्यों की पूर्ति के लिए ही दिए जाते हैं।

अनुदान एक सरकार द्वारा दूसरी सरकार को भी दिए जाते हैं। आधुनिक काल में ऐसे अनुदानों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। अनेक विकसित देश अल्प विकसित देशों को अनुदान देकर आर्थिक सहायता प्रदान कर रहे हैं। अमरीका, सोवियत संघ, कनाडा, आस्ट्रेलिया, पश्चिमी जर्मनी, जापान आदि सरकारों ने अर्द्ध विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए, इस रूप में सहायता प्रदान की है।

उपहारों और अनुदानों की प्राप्तियां एक ही प्रकृति की हैं, इन दोनों में यह विशेष गुण है कि वे स्वेच्छा से दिए जाते हैं तथा इनके दाताओं को किसी प्रत्यक्ष लाभ की चाह नहीं होती। अनुदान की दिशा में, दाता सरकार एक अन्य स्तर पर सरकारी काम करने के लिए वित्तीय सहायता देती है। दाता सरकार वह कार्य स्वयं करने के बजाय अनुदान इसलिए देती है, क्योंकि या तो संविधान में ऐसा कोई बंधन है या फिर अनुदान पाने वाली सरकार सर्वसम्मत प्रशासनिक अभिकरण है। निजी उपहार भी पूर्णत स्वेच्छा से दिए जाते हैं तथा उनसे देने वाले को सिवाय इस संतोष के और कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता कि उसने उचित गतिविधियों को आगे बढ़ाया है।

प्रत्यक्ष व परोक्ष कर

प्रत्यक्ष व परोक्ष करों के बीच प्राचीन समय से ही भेद किया गया है। परन्तु प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों ही शब्द अस्पष्ट रहे हैं। कभी भी इनकी कोई प्रामाणिक व्याख्या नहीं की गई है। अभी तक अर्थशास्त्री इनके भेद में एकमत नहीं हुए हैं। भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियों ने इस संदर्भ में भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किए हैं।

प्रो० कुक के अनुसार, 'उत्पादन पर लगाए जाने वाले कर प्रत्यक्ष कर और उपभोग पर लगाए जाने वाले परोक्ष कर हैं।' जान स्टुअर्ट मिल का कथन है कि, 'प्रत्यक्ष कर वह कर है जो कि उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा माँगा जाता है जिनके विषय में यह आशा की जाती है कि वे उसे अपने पास से अदा करेंगे और परोक्ष कर वह कर है जो किसी एक व्यक्ति से इस इच्छा तथा आशा से माँगा जाता है कि वह उसका भार अन्य किसी

व्यक्ति के ऊपर डालकर अपनी हानि पूर्ति कर लेगा।'[1]

अभिप्राय यह है कि यदि सरकार कर इस आशा से लगाती है कि उसका भार करारोपित व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति पर विवर्तित न कर सके तो वह प्रत्यक्ष कर होता है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति कर के भार को किसी अन्य व्यक्ति पर विवर्तित करने मे समर्थ होता है तो इस प्रकार का कर अप्रत्यक्ष कर कहलाता है।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करो के सबध मे जान स्टुअर्ट मिल के विचार तर्कसगत नही मालूम पडते हैं। क्योकि प्रथम दोष इसमे यह है कि सरकार करो का भार जिस आदमी पर डालना चाहती है उस पर न पडे। द्वितीय, कर का भार विभिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न पडे।

आरमिटेज स्मिथ के कथनानुसार 'प्रत्यक्ष करारोपण से तात्पर्य होता है कि कर विवर्तित या हस्तातरित नही होता, अपितु यह उसी व्यक्ति पर लगाया जाता है जिससे यह आशा की जाती है कि वह भार सहन करेगा। आय कर प्रत्यक्ष करारोपण का श्रेष्ठ उदाहरण है।'[2]

इस परिभाषा के अध्ययन से प्रत्यक्ष कर का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। प्रत्यक्ष कर की एक मात्र विशेषता यह है कि इसका अतिम भार उसी व्यक्ति पर होता है जो सरकार को इसको अदा करता है। व्यक्तियो की शुद्ध आय पर जो भी कर लगाए जाते है सभी प्रत्यक्ष कर होते हैं, क्योकि शुद्ध आय पर जो भी कर लगाया जाता है उसका विवर्तन सभव नही होता है।

आरमिटेज स्मिथ ने परोक्ष करो के बारे मे कहा है कि परोक्ष कर वस्तुओ और सेवाओं पर ऐसे कर होते हैं जो अन्य व्यक्तियो पर विवर्तित किए जा सकते हैं।'

तात्पर्य यह है कि परोक्ष करो का भार अतिम रूप से उन व्यक्तियो पर नही रहता जिन पर कि सरकार ये कर लगाती है अथवा जो इन्हे सरकार को अदा करते हैं। बिक्री कर, सीमा शुल्क, उत्पादक कर आदि परोक्ष कर के उदाहरण हैं।

प्रो० फिंडले शिराज के अनुसार, 'प्रत्यक्ष कर वे कर हैं जो व्यक्तियो की सपत्ति तथा आय पर लगाए जाते है और जिनका भुगतान उपभोक्ताओ द्वारा सरकार को किया जाता है। बाकी सब कर अप्रत्यक्ष होते हैं। उनके अनुसार सपत्ति कर, मृत्यु कर, व्यक्ति कर प्रत्यक्ष कर हैं और सरकार को सीधे दिए जाने वाले उपभोग कर प्रत्यक्ष कर होते हैं।'[3]

यह परिभाषा भी त्रुटि रहित नही है। इस परिभाषा मे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करो मे भेद भुगतान करने की विधि के आधार पर किया गया है और इसलिए प्रत्येक कर प्रत्यक्ष हो जाता है। प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करो का भेद करते समय कर के भार

1 J S Mill Principles of Political Economy', p 823
2 G Armitage Smith Principles and Methods of Taxations', p 36
3 Findley Shirras 'Science of Public Finance, p 119

को भी ध्यान में रखना चाहिए जिस पर इसमें ध्यान नहीं दिया गया है।

डी मार्को ने प्रशासनिक आधार पर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करों को परिभाषित किया है। उनके कथनानुसार 'प्रत्यक्ष कर वह कर होते हैं जो कि ऐसी सूचियों के आधार पर वसूल किए जाते हैं जिसमें कि करदाताओं के नाम लिखे जाते हैं जबकि परोक्ष कर वे कर होते हैं जो कुछ निश्चित कार्यों के अवसर पर वसूल किए जाते हैं तथा निर्धारित समय पर नहीं लिए जाते।'[1]

इसके दोषों को हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं, जैसे मोटर गाड़ियों पर लगाए जाने वाले कर यद्यपि नामों की सूचियों के अनुसार वसूल किए जाते हैं किंतु वे उपभोग पर लगाए जाने वाले कर हैं।

प्रो० केल्डोर के अनुसार, 'आय तथा संपूर्ण संपत्ति पर लगने वाला कर प्रत्यक्ष है, जबकि संपत्ति के क्रय-विक्रय पर लगने वाला कर अप्रत्यक्ष कर कहलाता है।'

प्रो० जे० के० मेहता के अनुसार, 'वही कर प्रत्यक्ष कर है जिसको पूरी तरह से उसी व्यक्ति के द्वारा चुकाया जाना है जिस पर उसे लगाया जाता है अर्थात् उसका तत्काल भार उसी व्यक्ति पर पड़ना चाहिए जो कर अधिकारी को कर की राशि चुकाता है। अप्रत्यक्ष कर वह है जिसे भुगतान करने वाला व्यक्ति दूसरों पर पूर्णतया या आंशिक रूप में टाल देता है।'

इस प्रकार प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करों के भेद के संबंध में मतभेद चला आ रहा है। उपरोक्त अध्ययन से प्रतीत होता है कि करों का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप में भेद किए जाने का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। सैलिगमैन ने इस संबंध में उचित ही कहा है कि 'आधुनिक विज्ञान ने तो करों के बीच भेद करने के इस आधार का परित्याग कर दिया है।'

प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करों के गुण-दोष

प्रत्यक्ष करों के गुण

आधुनिक अर्थशास्त्री प्रत्यक्ष करों के निम्न गुणों को मान्यता देते हैं :

(1) कर देने की सामर्थ्य का द्योतक : प्रत्यक्ष कर क्योंकि आय प्राप्तकर्त्ता की कुल आय पर लगाए जाते हैं इसलिए सरकार इन्हें न्यायशीलता के सिद्धांत को ध्यान में रखकर लगाती है। क्योंकि यह कर प्रगतिशील दर से यानि अमीरों पर अधिक व गरीबों पर कम मात्रा में लगाए जाते हैं अतः प्रत्यक्ष कर करदान क्षमता के सिद्धांत की पुष्टि करते हैं। लेकिन डाल्टन इसके विरुद्ध हैं। वह कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष कर केवल प्रत्येक व्यक्ति कर के रूप में और परोक्ष करारोपण विलासिता की वस्तुओं पर, जिन्हें केवल धनी व्यक्ति ही खरीद सकते हैं, कर के रूप में सीमित कर दिया जाए तो स्थिति बिल्कुल ही विपरीत हो जाएगी।' वह कहते हैं कि न्यायशीलता के सिद्धांत का पालन सभी प्रत्यक्ष करों का

1 Antonio De Viti De Marco 'First Principles of Public Finance,' (1950), p 130

अनिवार्य गुण नहीं है। कहीं इसका पालन होता है और कहीं नहीं।

(2) उत्पादकता : सभी प्रत्यक्ष करों म उत्पादकता का गुण व्यापक रूप से विद्यमान होता है। प्राय इनके एकत्रीकरण में हुए व्यय से आय अधिक मात्रा म होती है। क्योंकि दो-तीन प्रत्यक्ष करो, जैसे आय कर तथा निगम कर मे ही सरकार को कुल आय का आधे से अधिक भाग प्राप्त होता है।

(3) निश्चितता के सिद्धांत का द्योतक · प्रत्यक्ष करो में निश्चितता के सिद्धान्त का पालन होता है क्योंकि प्रत्यक्ष कर अधिकतर आय के स्रोत पर ही लगाए जाते हैं तथा करदाता को यह ज्ञात होता है कि उसे किस समय कितना कर देना होगा तथा सरकार यह बात ध्यान मे रखती है कि उसको प्रत्यक्ष करो से कितनी आय प्राप्त होगी।

(4) मितव्ययता परोक्ष करों की तुलना मे प्रत्यक्ष करो के इकट्ठा करने पर सरकार को अधिक व्यय नही करना पडता है। इन करो के एकत्रीकरण के लिए अधिक प्रशासन का विस्तार नही करना पडता है। इससे उसका व्यय कम होता है तथा आय अधिक होती है।

(5) लोच · क्योंकि प्रत्यक्ष कर अधिकतर व्यक्ति की शुद्ध आय पर होते हैं इसलिए इन करो से सरकार को होने वाली राष्ट्रीय आय मे तथा उसके वितरण के स्वरूप मे परिवर्तन करने के लिए काफी लोच उपस्थित होती है। जब देश के आर्थिक विकास के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है तो प्रत्यक्ष करो की दर पूर्ववत रहने पर भी सरकार को अधिक आय प्राप्त होती है तथा आर्थिक सकट के समय जब दुर्भिक्ष या किसी अन्य कारण से राष्ट्रीय उत्पादन में कमी आ जाती है तो इसके परिणामस्वरूप लोगो की आय कम हो जाती है। इस प्रकार स्वत ही सरकार की आय म भी कमी आ जाती है क्योंकि प्रत्यक्ष कर अधिकतम प्रगतिशील दर से करारोपित किए जाते हैं। अत सरकार युद्ध के समय इन करो के माध्यम से अधिक आय प्राप्त करने मे समर्थ होती है।

(6) नागरिकों मे जागरूकता उत्पन्न होना : शासन की प्रजातान्त्रिक प्रणाली सर्वोत्तम मानी जाती है। इसकी सफलता के लिए लोगो मे सरकार के प्रति कर्त्तव्य की चेतना और जागरूकता आवश्यक है। प्रत्यक्ष कर इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। नागरिक जब कर देता है तो वह उसका भार सहन करता है तथा कर अदा करने पर वह राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करता है तथा उसके द्वारा किए गए त्याग का सरकार के द्वारा अपव्यय तो नही किया जा रहा, इसके प्रति पूर्णरूप से जागरूक रहता है।

प्रत्यक्ष करो के दोष

प्रत्यक्ष करो के गुण ही गुण हों यह सम्भव नही है, इनके दोष भी हैं जो निम्नलिखित हैं

(1) असुविधाजनक : करदाता की दृष्टि से सभी प्रत्यक्ष कर असुविधाजनक और कष्टदायक होते हैं। इन करो को भुगतान करने के लिए सभी व्यक्तियों को आय का लेखा-जोखा रखना पडता है तथा यदि अधिकारी गण लेखे-जोखे को गलत मानते हैं तो

वे मनमाने रूप मे करारोपण करते हैं जिससे करदाता को अधिक कष्ट सहन करना पड़ता है। दूसरे, व्यक्ति की आय वर्ष में धीरे-धीरे होती है जबकि वह कर एक साथ अदा करता है जिससे उसे मानसिक कष्ट की अनुभूति होती है।

(2) **कर अपवचन** : प्रत्यक्ष करो का भार वेतन भोगी वर्ग पर और सुनिश्चित आय वाले व्यक्तियो पर पूर्ण रूप से पडता है, परतु व्यापारी वर्ग के लोग तथा उद्योगपति झूठे वही खाते रखकर अपनी आय कम दिखाते हैं और इस प्रकार सरकार को धोखा देकर कर भार से बच जाते हैं। कुछ वर्षों पूर्व भारत सरकार ने कर अपवचन की समस्या के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध अर्थशास्त्री निकोलस काल्डोर को आमंत्रित किया था। उन्होंने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था कि इस देश मे प्रति वर्ष 200 करोड से 300 करोड रुपयो तक कर का अपवचन होता है। उनके मतानुसार भारतवर्ष मे अधिकाश कर अपवचन प्रत्यक्ष करो का है।

(3) **बचत व विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव** प्राय प्रत्यक्ष करो का अधिकाश भार उन व्यक्तियो पर होता है जो पूजीपति होते हैं तथा जिनकी आय अधिक होती है। इन व्यक्तियो के द्वारा यह तर्क दिया जाता है कि प्रत्यक्ष करो के करारोपण के कारण उनकी बचत करने की सामर्थ्य कम हो जाती है फलत पूजी निर्माण मे बाधा उत्पन्न होती है। परतु पूजीपति वर्ग का यह तर्क भ्रमगत तथा भ्रान्तिपूर्ण है क्योकि यह इस मान्यता पर आधारित है कि सरकार द्वारा प्रत्यक्ष करो के रूप मे एकत्रित की जाने वाली समस्त धनराशि अनुत्पादक और अनुपयोगी कार्यों पर ही व्यय की जाएगी। वास्तविकता यह है कि अनेक प्रत्यक्ष कर पूजीपति और दूसरे धनी वर्गों की विलासिता पर अपव्यय को कम करते हैं।

परोक्ष करो के गुण

परोक्ष कर प्रत्यक्ष कर के पूरक माने जाते हैं जिनका प्रत्यक्ष करो मे नितात अभाव रहता है। परोक्ष कर प्राय निम्नलिखित गुणो से युक्त होते हैं

(1) **विस्तृत आधार** : परोक्ष करो का आधार सामान्यत प्रत्यक्ष करो की तुलना मे विस्तृत होता है। जहा प्रत्यक्ष कर बहुत थोडे व्यक्तियो के द्वारा दिए जाते हैं वहा परोक्ष करो का भार कम या अधिक अश मे सभी व्यक्तियो पर होता है। यदि कर भारी होते हैं तो उनका भार भी सीमित व्यक्तियो पर होता है। उनके पूजी के सचय विनियोग और कभी-कभी देश की सपूर्ण अर्थव्यवस्था पर गभीर प्रभाव पडते हैं। परोक्ष कर प्राय न तो भारी होते हैं और न ही उनका भार सीमित व्यक्तियो पर पडता है। इसलिए इन करो का देश की पूजी के सचय और विनियोग पर कोई घातक प्रभाव नही पडता।

(2) **लोच** अनेक परोक्ष करो मे लोच का गुण पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान होता है। देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ जब लोगो की आय मे वृद्धि होती है तो उनका उपभोग वस्तुओ पर व्यय बढ जाता है। फलत सरकार की परोक्ष करो से प्राप्त होने वाली आय भी स्वत बढ जाती है। अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओ पर लगाए जाने वाले परोक्ष करो से सरकार की आय केवल कर की दर मे परिवर्तन कर देने मात्र से ही

बढाई-घटाई जा सकती है जो परोक्ष करों की लोच का प्रतीक है।

(3) **कर अपवचन कठिन :** प्राय परोक्ष करो का अपवचन सरल नही होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि ये कर व्यापारियो तथा उत्पादकों द्वारा सरकार को दिए जाते हैं और यह लोग इन्हें उपभोक्ताओं पर विवर्तित कर देते हैं। ऐसी स्थिति में उत्पादक कर सीमा शुल्क आदि के क्रेताओं से वस्तु की बिक्री के समय ही वसूल कर लेते है। जिससे कर अपवचन सरलता से सभव नही होता।

(4) **सभी व्यक्तियों पर :** इस कर का भुगतान राष्ट्र के सभी नागरिक अपनी करदान क्षमता के अनुसार सरकार को करते हैं। इसमे धनी व्यक्तियो पर अधिक कर भार पडता है तथा निर्धन वर्ग पर कम। अत परोक्ष कर आलोचना का विषय कम बनते हैं।

(5) **सामाजिक लाभ :** अनेक परोक्ष कर सामाजिक कल्याण में वृद्धि करते हैं। जब किसी देश की सरकार मदिरा, तबाकू, अफीम, गाजा, भाग आदि मादक पदार्थों के विक्रय पर कर लगाती है तो इन हानिकारक वस्तुओं का उपभोग हतोत्साहित होता है और फलत सामाजिक कल्याण में वृद्धि होती है। इसके विपरीत कोई भी ऐसा प्रत्यक्ष कर नही है जिसके द्वारा हानिकारक वस्तुओं के उपभोग पर नियत्रण लगा सकना सभव हो।

परोक्ष करो के दोष

परोक्ष करो के कुछ प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं

(1) **न्यायशीलता का अभाव** परोक्ष कर चाहे वस्तु के उत्पादन पर हो या बिक्री पर इनकी दर निर्धन और धनी सभी व्यक्तियो के लिए समान होती है। इसलिए प्राय परोक्ष करो का वास्तविक भार निर्धन वर्ग के लोगो पर अधिक रहता है। अन्तु य कर न्यायशीलता के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं।

(2) **मितव्ययता का अभाव :** परोक्ष करो के एकत्रितकरण पर सरकार को बहुत अधिक व्यय करना पडता है। प्रत्यक्ष करो की तुलना मे जनता से परोक्ष कर एकत्रित करने के लिए सरकार को विस्तृत प्रशासकीय व्यवस्था करनी पडती है जिस पर काफी व्यय होता है। कर एकत्रित करने पर अधिव्यय होना मितव्ययिता के सिद्धात के प्रतिकूल है।

(3) **आय की असमानताओं में वृद्धि :** प्राय परोक्ष कर स्वरूप मे प्रतिगामी होते हैं। इसलिए इनके द्वारा देश में आय का वितरण अधिक असमान हो जाता है। हम विस्तार के साथ स्पष्ट कर चुके हैं कि सामान्यत परोक्ष करो का भार निर्धन वर्ग पर धनी वर्ग की तुलना में अधिक होता है। इसलिए करारोपण के बाद निर्धन वर्ग के लोगो की दशा धनी वर्ग के व्यक्तियों की तुलना मे अधिक निकृष्ट हो जाती है तथा आय की असमानता की खाई को अधिक चौडा होने मे सहायता मिलती है।

(4) **मंदीकाल मे कम आय :** मदीकाल मे नागरिकों की क्रय-शक्ति कम हो जाती है। वे वस्तुओ और सेवाओं का अधिक मात्रा मे क्रय नही कर पाते। इसलिए मदीकाल मे परोक्ष कर अधिक उत्पादक सिद्ध नही हो पाते।

(5) **अनिश्चितता :** अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं पर करो के अतिरिक्त

अन्य वस्तुओं के उत्पादन अथवा विक्रय पर जो भी कर लगाए जाते हैं उनसे सरकार को होने वाली आय सुनिश्चित नहीं होती। इसका प्रधान कारण यह होता है कि परोक्ष करों से सरकार को होने वाली आय वस्तुओं की माग की लोच पर निर्भर होती है।

(6) नागरिक भावना उत्पन्न करने में असमर्थ - यद्यपि परोक्ष कर सभी व्यक्तियों के द्वारा दिया जाता है और इसका भार निर्धन तथा धनी दोनों ही वर्गों के लोगों पर कम या अधिक अंश में होता है परन्तु स्पष्ट ही है कि सभी व्यक्तियों को उत्पादन कर तथा बिक्री कर अदा करने पड़ते हैं, परन्तु कोई भी व्यक्ति करों के वास्तविक भार से परिचित नहीं होता। इसका मुख्य कारण यह है कि किसी को भी परोक्ष करों की वास्तविक कुल राशि का पता नहीं होता। उपभोक्ता द्वारा परोक्ष कर कीमत के रूप में ही वस्तु विक्रेता को दिए जाते हैं। अत प्राय उपभोक्ता वस्तु की कीमत और कर की राशि मे भेद नहीं कर पाता। ऐसी अवस्था में उनमें राज्य के प्रति उपेक्षा की भावना आ जाना स्वाभाविक है।

निष्कर्ष

प्रत्यक्ष और परोक्ष करो के सबंध में लक्षण तथा गुण दोनों की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यत प्रत्यक्ष करों का अधिकांश भार धनिक वर्ग के व्यक्तियों पर होता है क्योंकि प्रगतिशील कर प्रणाली में प्राय निर्धन वर्ग को कर मुक्त कर दिया जाता है। परंतु परोक्ष कर वस्तुओं पर कर होने के कारण सभी व्यक्तियों पर एक ही दर के हिसाब से लगाए जाते हैं और इसलिए निर्धन वर्ग पर इनका भार अधिक होता है। परन्तु ऐसा होना अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं होता क्योंकि यदि आय कर तथा अन्य प्रत्यक्ष करो की दरें प्रगतिशील न होकर प्रतिगामी हो तो प्रत्यक्ष करों का अधिकांश भार निर्धन वर्गो पर पड़ेगा। इसके विपरीत यदि परोक्ष कर केवल विलासिता की वस्तुओं पर लगाए जाए तो उनका अधिकांश भार धनिक वर्ग पर होगा।

प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करों के बारे में भी डॉ० मार्को का कथन है कि 'एक प्रकार के करों की तुलना में दोनों ही प्रकार के करारोपण के द्वारा अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण अथवा अपूर्ण कर व्यवस्था प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार की प्रणाली सपूर्ण करारोपित क्षेत्र पर बराबर दबाव डालकर न केवल करारोपण में समानता का गुण उत्पन्न करती है वरन् इनमें अधिकतम आय की भी प्राप्ति होती है।'[1]

(1) प्रशासनिक दृष्टिकोण : प्रशासनिक व्यय एवं क्षमता की दृष्टि से भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों की तुलना महत्वपूर्ण है। इस दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष कर न्यून आय वाले व्यक्तियों पर नहीं लगाए जाते हैं और उन्हें उपयुक्त सीमा तक छूट प्रदान की जाती है जैसे भारतवर्ष में न्यूनतम आय कर छूट सीमा 6000 रु० वार्षिक है। इस प्रकार परोक्ष कर प्रत्यक्ष करने उत्तम है।

इस आधार पर प्रत्यक्ष व परोक्ष करों में भेद करना उचित नहीं है क्योंकि किसी

1 Antonio De Viti De Marco op cit., p 135

भी देश मे व्यक्तियो को ऐसे समूहो मे विभक्त करना सभव नही है कि प्रत्यक्ष कर किस वर्ग पर तथा परोक्ष कर किस वर्ग मे लगाए जाए। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन व्यक्तियो पर प्रत्यक्ष कर लागू नही होते उनको अप्रत्यक्ष करो का भुगतान अवश्य करना होता है।

द्वितीय, आधुनिक प्रशासन व्यवस्था मे इतने क्रातिकारी परिवर्तन हो चुके हैं कि आय एव अन्य प्रत्यक्ष कर नीची आय वाले व्यक्तियो पर भी लगाए जाते हैं। अत इन दोनो करो मे प्रशासकीय आधार पर अतर करना उचित नही है।

प्रो० प्रेस्ट का मत है कि परोक्ष कर अल्पविकसित देशो के लिए अत्यत उपयुक्त होते हैं क्योकि शिक्षा के अभाव के कारण अधिकाश लोग हिसाव-किताब नही रख पाते हैं। अत अल्पविकसित देशो मे अप्रत्यक्ष कर प्रत्यक्ष करो से उपयुक्त रहते हैं।

(2) वितरणात्मक दृष्टिकोण वितरणात्मक दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर भी अप्रत्यक्ष व प्रत्यक्ष करो म तुलना की जा सकती है। प्रत्यक्ष कर क्योकि प्रगतिशील दरो पर अर्थात् धनिक वर्ग पर अधिक तथा गरीब वर्ग पर कम दर से लगाए जाते हैं अत पूजीवादी व्यवस्था मे धन की असमानता को दूर करने मे प्रत्यक्ष कर सहायक होते हैं। प्रत्यक्ष कर अधिक आरोही तथा परोक्ष कर सामान्य अवरोही दर से लगाए जाते हैं तथा उन (परोक्ष) करो का भार सभी व्यक्तियो को सहन करना पडता है क्योकि ये अतिम रूप मे उपभोक्ता पर पडते हैं।

यह उपरोक्त विचार कुछ भ्रमपूर्ण है। जहा तक वितरणात्मक प्रभावो का सबध है दोनो प्रकार के करो को समान सिद्धातो पर लागू किया जा सकता है और ये दोनो ही धन की असमानता को कम करने म भी सहायक सिद्ध हो सकते हैं। यदि आवश्यक वस्तुओ पर बहुत नीची दर से तथा विलासिता की वस्तुओ पर बहुत ऊची दर से कर लगाए तो परोक्ष कर भी प्रगतिशीलता का गुण दिखा सकते हैं। प्रत्यक्ष करो की स्थिति मे आय का समायोजन उत्पादन के साधनो के बाजार द्वारा होता है क्योकि व्यक्ति की आय की मात्रा तथा भुगतान किए जाने वाले कर की मात्रा के बीच एक व्यवस्थित सबध पाया जाता है। परोक्ष करों की स्थिति मे, आय के समायोजन की प्रक्रिया वस्तु बाजार द्वारा सपन्न होती है। इस आधार पर यह कहना मुश्किल है कि प्रत्यक्ष कर प्रगतिशील तथा परोक्ष कर प्रतिगामी होते है। इसी प्रकार विलासिता की वस्तुओ पर लगाए जाने वाले परोक्ष कर उत्पादन के साधनो का विवर्तन उन क्षेत्रो की ओर कर सकता है जोकि सामान्यत जनता की माग को पूरा करते हैं। इस अवस्था मे परोक्ष कर भी उतना ही प्रगतिशील हो सकता है जितना कि प्रत्यक्ष कर।

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो मे सबध

अनेक अर्थशास्त्रियो का यह मत है कि प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करो मे भेद करने से अथवा तुलना करके उनमे से किसी एक को चुनने से कोई लाभ नही होगा। आधुनिक विचार-धारा यह है कि किसी भी देश की कर व्यवस्था मे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ही प्रकार के

करों के मध्य एक उचित संतुलन होना चाहिए। इस संबंध में सुप्रसिद्ध इटैलियन अर्थशास्त्री डी मार्को के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने दोनों करों के संबंध में दो महत्त्वपूर्ण बातें बतलाई हैं।

(1) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों का परस्पर पूरक होना

समाज में कुछ व्यक्तियों की आय आसानी से मालूम की जा सकती है, जैसे वेतनभोगी व्यक्तियों की आय। इनके विपरीत कुछ व्यक्तियों की आय अनिश्चित रहती है जिसको मालूम करना एक कठिन कार्य है, जैसे व्यापारी वर्ग की आय। अब यदि व्यक्तिगत आय कर लगाया जाता है तो इस कर का भार वेतनभोगी वर्ग पर व्यापारी वर्ग से अधिक पड़ेगा। दूसरे शब्दों में वेतनभोगी वर्ग के त्याग की मात्रा व्यापारी वर्ग से अधिक होगी। इस प्रकार सभी वर्गों पर कर भार समान रूप से नहीं पड़ता। परन्तु अप्रत्यक्ष व प्रत्यक्ष करों से आय की असमानता को कम किया जा सकता है। क्योंकि धनिक वर्गों पर अधिक आय के कारण खर्च करने के लिए भी काफी धन रह जाता है। धन की इस असमानता का व्यय कर अर्थात् परोक्ष कर लगाकर दूर किया जा सकता है। एक उदाहरण द्वारा इस विचारधारा का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

मान लीजिए एक भूस्वामी तथा एक पेशेवर व्यक्ति की विशुद्ध आय बीस-बीस हजार रु० है। यह भी मान लीजिए कि प्रथम व्यक्ति ने अपनी वार्षिक आय का अनुमान 18,000 रु० तथा दूसरे ने अपनी वार्षिक आय का अनुमान अपने विवरण पत्र में 9,000 रु० बतलाया है। यदि सरकार इन दोनों पर 20 प्रतिशत का प्रत्यक्ष कर लगाती है तब प्रथम व्यक्ति को 3,600 रु० तथा दूसरे को 1,800 रु० अदा करने पड़ते हैं। इस प्रकार यह दोनों व्यक्ति मिलकर सरकार को 5,400 रु० की धनराशि कर के रूप में अदा करते हैं। हम यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि यह धनराशि सरकार की निर्दिष्ट आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त है। सच पूछा जाए तो इस धनराशि का भार दोनों व्यक्तियों पर समान रूप से 2,700-2,700 रु० पड़ना चाहिए। भूस्वामी पेशेवर की तुलना में 900 रु० क्यों अधिक दे?

अब हम यह मान लें कि 20 प्रतिशत की करारोपण दर 10 प्रतिशत अप्रत्यक्ष तथा 10 प्रतिशत परोक्ष कर में विभाजित कर दी जाती है। अब भूस्वामी 1,800 रु० प्रत्यक्ष कर और पेशेवर व्यक्ति 900 रु० प्रत्यक्ष कर के रूप में भुगतान करेगा।

जहां तक परोक्ष कर का प्रश्न है, भूस्वामी यह कर 18,200 रु० (20,000 रु०—1,800 रु०) पर तथा पेशेवर 19,100 रु० (20,000 रु०—900 रु०) पर अदा करेगा। इस प्रकार प्रथम 1,820 रु० तथा द्वितीय 1,910 रु० परोक्ष कर की अदायगी करेगा। इस रीति से प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर के रूप में भूस्वामी (1800 रु० + 1820 रु०) = 3620 रु० तथा पेशेवर व्यक्ति (900 + 1910) = 2810 रु० का भुगतान करेगा। यह उदाहरण इस ओर संकेत करता है कि प्रत्यक्ष कर की तुलना में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर कर-भार को समान रूप से वितरित करते हैं। थोड़े-थोड़े समय के बाद व्यक्तियों की आय में

परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनो की माशा का अनुमान तथा उनका मापना असभव होता है। हम यह तो कह सकते है कि श्राय यदि कम होती है तो उपभोग में बढोत्तरी होती है। परोक्ष कर व्यक्ति की श्राय के परिवर्तन को दृष्टिगत रख सकते हैं और इन परिवर्तनो को अपनी परिधि पर लाकर उन पर कर वसूल कर लेते हैं।

जिस प्रकार से परोक्ष कर प्रत्यक्ष कर के पूरक हैं उसी तरह प्रत्यक्ष कर भी परोक्ष करो के पूरक है। परोक्ष कर उन वस्तुश्रो पर नही लगाए जा सकते है जिनका कि उत्पादक प्रारभ म खुद ही उपभोग करता है जैसे किसान गेहू को उपभोग के लिए भी बचा सकते हैं। अत यहा पर प्रत्यक्ष कर ही लगाना उचित है।

प्रत्यक्ष करो का परोक्ष करो के पूरक के रूप में दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि जहा परोक्ष करो के अपवचन की समावना अधिक रहती है वहा प्रत्यक्ष करो का लगाना आवश्यक हो जाता है। परोक्ष करो का अपवचन वहा होता है जहा उत्पादक अपनी वस्तुओं का स्वय उपभोग करते है।

डी मार्को के अनुसार क्योंकि परोक्ष कर सभी वस्तुश्रो तथा सेवाश्रो पर भी नही लगाए जा सकते हैं। अत अकेले परोक्ष करो के द्वारा न तो किसी व्यक्ति की श्राय का ठीक ठीक मूल्याकन ही किया जा सकता है। इस स्थिति म यह अत्यत आवश्यक है कि परोक्ष करो के साथ प्रत्यक्ष कर भी लगाए जाने चाहिए।

घर्षणात्मक शक्ति मे कमी

डी मार्को के अनुसार परोक्ष करो का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य भी है। श्राय का अनुमान और कर तो एकत्रित करने से जो घर्षणात्मक शक्तिया उत्पन्न होती है वे इन करो से कम हो जाती है। इनके अनुसार प्रत्यक्ष कर के लगने मे समाज मे बहुत-सी विरोधात्मक क्रियाए उत्पन्न हो जाती हैं जैसे (1) कर का विवर्तन, (2) कर का प्रसारण, (3) कर की चोरी इत्यादि।

यह विरोधात्मक शक्तिया तब तक चलती रहती हैं जब तक आर्थिक प्रणाली म कर द्वारा उत्पन्न असतुलन दूर होकर फिर से नया सतुलन स्थापित नही हो जाता। इसलिए डी मार्को ने केवल आर्थिक सतुलन बनाए रखने पर बल देते हुए कहा है 'प्रारभ से ही करो का विभाजन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि उपस्थित आर्थिक सतुलन या तो भग ही न हो या कम से कम भग हो।'[1]

प्रत्यक्ष करो के लगाने से घर्षणात्मक शक्तिया अधिक होती है। इसका कारण यह है कि उनका भुगतान करते समय व्यक्ति अधिक सचेत होता है क्योंकि कर देने से बहुत-सी आवश्यकताओं का त्याग करना पडता है। इसलिए वह कर से बचना चाहता है। इस अनुभूति से उसे मानसिक कष्ट होता है। किंतु परोक्ष करों का भुगतान करत समय इस प्रकार की कोई मानसिक वेदना का अनुभव नही होता। डी मार्को के शब्दो में, 'प्रत्यक्ष करो के परस्पर पूरक होने के अतिरिक्त परोक्ष कर व्यवस्था एक दूसरा कार्य भी

1 Antonio De Viti De Marco op cit, p 137

करती है—आय के अनुमान लगाने तथा प्रत्यक्ष करों के एकत्र करने में जो घर्षणात्मक शक्तियां उत्पन्न होती हैं, उन्हें न्यूनतम करते है।'[1] परोक्ष करों द्वारा घर्षण न्यून हो जाने तथा विरोधी भावनाओं के कम हो जाने के निम्न कारण हैं

(1) क्योंकि परोक्ष कर ठीक उसी समय अदा किया जाता है जबकि आय खर्च की जाती है।

(2) क्योंकि परोक्ष कर वस्तुओं के मूल्यों में जुड़े रहते हैं इसलिए करदाता उनका सहज भुगतान कर देते हैं। उन्हें कर भुगतान का अनुभव ही नहीं हो पाता। अतः कर भुगतान तथा आवश्यकता की सन्तुष्टि में कोई विरोध उत्पन्न नहीं हो पाता।

(3) परोक्ष कर का भुगतान थोड़ी-थोड़ी मात्रा में होता है इसलिए करदाता किसी मानसिक क्लेश का न तो अनुभव करता है और न ही उसका विरोध करता है।

(4) यदि करदाता परोक्ष कर का भुगतान नहीं करना चाहता तो उसे उस वस्तु के उपभोग से वंचित रहना पड़ता है। चूंकि कोई भी व्यक्ति इस कष्ट को सहन नहीं करना चाहता इसलिए वह इस कर को प्रसन्नतापूर्वक भुगतान करके अपनी आवश्यकता की तृप्ति करता है।

(5) परोक्ष कर लगाते समय आय के अनुमान लगाने की आवश्यकता नहीं होती। सरकार तथा करदाता के बीच अनेक घर्षण तथा विरोध केवल आय के अनुमान लगाते समय होता है। सरकार को परोक्ष कर लगाते समय प्रत्यक्ष कर की भांति इसका निर्धारण नहीं करना पड़ता और न ही करदाता को आय की सीधी गणना करनी पड़ती है। इसलिए दोनों पक्ष सन्तुष्ट रहते हैं। डी मार्को के उपर्युक्त विचारों को पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि यह देखा गया है कि अनेक बार सरकार जानबूझ कर घर्षण उत्पन्न करना चाहती है। उत्पादन और वितरण में परिवर्तन करने के लिए सरकार कभी कभी स्वेच्छा से समाज में घर्षणात्मक शक्तियां उत्पन्न करती है।

1 Antonio De Viti De Marco op. cit., p. 136.

8

कराधान के उद्देश्य तथा परिनियम

समय की प्रगति के साथ-साथ कराधान के उद्देश्यो मे भी परिवर्तन आया है। एक समय था जब कराधान का मुख्य उद्देश्य केवल आय प्राप्त करना था। उस समय सरकार के कार्य सीमित थे। परतु आज का कल्याणकारी राज्य कराधान को केवल आय प्राप्ति का साधन न मानकर कुछ अन्य उद्देश्यो को भी ध्यान मे रखता है। इन उद्देश्यो का वर्णन नीचे किया गया है।

(1) वित्तीय दृष्टिकोण

कराधान के सबध मे एक परपरागत दृष्टिकोण यह बना हुआ है कि 'कराधान केवल आय के लिए ही हो अर्थात कराधान का यह उद्देश्य है कि राज्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आय प्राप्त करे और आर्थिक जीवन पर उसका कोई प्रभाव न पडे। सक्षेप मे, *कर आय की दृष्टि से उत्पादक होना चाहिए।*

वैसे तो उद्देश्य सरल दिखाई पडता है क्योकि सरकार का कोई दूरस्थ उद्देश्य उसमे छिपा हुआ नही है, परतु इस उद्देश्य को मध्य-विक्टोरियन का नारा दिया जाता है जो आधुनिक काल म *उपयोगी नही है। कर का उपयोग सामाजिक कल्याण के उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए होना चाहिए जैसे धन के पुनर्वितरण द्वारा आय की* विषमता को दूर करना।

(2) सामाजिक-आर्थिक दृष्टिकोण

अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि कर का उद्देश्य सामाजिक जीवन को नियमित करने का है, कुछ कर तो अवश्य ही ऐसे मिलेंगे जिनका उद्देश्य उपभोग को नियत्रित तथा नियमित करना है। मदिरा पर उत्पादन शुल्क ऐसा ही एक उदाहरण है। *यहा कर का मुख्य उद्देश्य आय की प्राप्ति नही अपितु नियमन का है।* भारत मे शराब बदी की नीति का उद्देश्य आय अर्जन के स्थान पर कुछ निश्चित आर्थिक एव सामाजिक उद्देश्यो को प्राप्त करना है।

अब तो करो का उपयोग राष्ट्रीय आय के स्तर को नियमित करने म भी किया जाने लगा है। यह वास्तव मे कर के नियमन का विस्तृत रूप ही है। कर द्वारा व्यक्ति

की आय के एक भाग का सरकार को हस्तान्तरण करा कर व्यक्तिगत उपभोग तथा विनियोग को प्रभावित किया जा सकता है तथा राष्ट्रीय आय के स्तर को परिवर्तित किया जा सकता है। वे कर जो वस्तुओं के मूल्य में जुड़ जाते हैं उनके क्रय को घटाते हैं तथा जो अतिरिक्त आय में से वसूल किए जाते हैं वे व्यक्तिगत उपभोग तथा विनियोग के लिए धनराशि को कम कर देते हैं। जब आय-व्यय स्तर निम्न हो और उसे ऊपर उठाना हो तब आय प्राप्ति के उद्देश्य की तुलना में व्यय-नियन्त्रक कराधान को प्राथमिकता देनी होती है।

इस प्रकार करों का उत्पादन, उपभोग तथा धन के वितरण में विचारपूर्ण तथा वांछित परिवर्तन करने और रोजगार के स्तर में स्थायित्व लाने में उपयोग किया जा सकता है। ऐसे उद्देश्यों के लिए लगाया जाने वाला कराधान व्यय-नियन्त्रक कहलाता है।

(3) क्रियागत वित्त

कराधान का पुराने समय से चला आ रहा उद्देश्य राज्य की आय में वृद्धि करना था। यद्यपि आय उद्देश्यों के लिए सरकार के प्रयत्न केवल करों के उपयोग तक सीमित नहीं है, फिर भी यह उद्देश्य सर्वोपरि रहा है। अब इस विचारधारा में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। प्रो० ए० पी० लरनर के नेतृत्व में अर्थशास्त्रियों का एक ऐसा वर्ग है जो इस विचार की उपेक्षा करता है कि करारोपण का उद्देश्य केवल सार्वजनिक आय की वृद्धि करना है। उनका कहना है कि लोकवित्त, क्रियागत वित्त होना चाहिए। उनके अनुसार राजकोषीय साधन समाज में जिस प्रकार कार्य करते हैं उसे क्रियागत वित्त कहा जाता है।

इस विचारधारा के अंतर्गत राजस्व क्रियाओं की उपादेयता का निर्धारण इस उद्देश्य से किया जाना चाहिए कि वे अर्थव्यवस्था में क्या कार्य करती हैं। करारोपण, सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण, रोजगार व आय में स्थायित्व लाने हेतु सन्तुलित या असन्तुलित बजट का निर्माण समाज को किस प्रकार प्रभावित करता है। क्रियागत वित्त के सिद्धांत को स्वीकार करने के उपरांत सरकार पर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के संचालन की निगरानी रखने का उत्तरदायित्व आ जाता है। एक सम्पन्न अर्थव्यवस्था में अब राज्य एक मूकदर्शक के रूप में खड़ा नहीं रह सकता। यदि बेरोजगारी बढ़ने लगे, लाभ गिरने लगें और आय अस्थिरता की शिकार हो जाए तब ऐसी दशाओं में हम यह आशा नहीं करते कि सरकार उदासीन रहेगी। ऐसे समय में राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि वह राजकोषीय उपायों द्वारा स्थिति पर काबू पाए।

क्रियागत वित्त के अंतर्गत किसी अन्य विचार के स्थान पर राष्ट्रीय आय का एक समुचित स्तर बनाए रखने का विचार मुख्य होता है जो पूर्ण रोजगार को बनाए रखने में सहायक होता है। जहाँ तक कराधान का प्रश्न है क्रियागत वित्त की मान्यता वैसी ही होती है जैसी कि निम्न वाक्य में प्रो० ए० पी० लरनर द्वारा बताई गई है 'जिन प्रभावों के बारे में सरकार को विचार करना चाहिए, वे मुख्य रूप से जनता पर पड़ने वाले प्रभाव हैं, जिसके हित में सरकार से कार्य करने की आशा की जाती है।

सरकार पर पडने वाले प्रभाव सदैव अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण होते हैं। उदाहरण के लिए, किसी भी कर अदायगी के ये दो प्रभाव होते हैं कि करदाता के पास धन घटता है और सरकार के पास धन बढ़ता है। इन प्रभावों में से पहला महत्त्वपूर्ण है। इस कारण कर तभी लगाना चाहिए जब करदाता के पास धन घटाने का उचित कारण हो। सरकार पर प्रभाव कि सरकार के पास अधिक धन होगा, महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि सरकार करदाताओं को निर्धन किए बिना सदैव बडी आसानी से अधिक धन प्राप्त कर सकती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कर इसलिए नहीं लगाए जाने चाहिए क्योंकि सरकार को धन की आवश्यकता है। आर्थिक सौदो पर केवल तभी *कर लगाने चाहिए जब इन सौदों को निरुत्साहित करना उचित समझा जाए। व्यक्तियों* पर तभी कर लगाने चाहिए, जब करदाता को और अधिक निर्धन बनाने का उद्देश्य हो।'[1]

क्रियागत वित्त का उद्देश्य माग को ऊंचे स्तर पर बनाए रखना, पर्याप्त उत्पादन करना, उचित मूल्यों को बनाए रखना तथा रोजगार व आय को बढ़े हुए स्तर पर बनाए रखना है। क्रियागत वित्त की धारणा इसलिए अधिक रूढिवाद कही जाती है क्योंकि यह सरकार पर अधिकाधिक क्रियाओं को सम्पन्न करने का उत्तरदायित्व लाद देती है। लरनर का विचार है कि करारोपण का मुख्य उद्देश्य आय की प्राप्ति न होकर ऐसे उद्देश्यों की प्राप्ति होनी चाहिए जो सामाजिक रूप से उचित हो ' उदाहरण के लिए मादक पदार्थों पर कर लगाने का उद्देश्य इन वस्तुओं के उपभोग को कम कराना हो सकता है। ऐसे ही विदेशों से सस्ते माल के आयात द्वारा स्वदेश में उत्पन्न स्पर्द्धा को, आयात कर द्वारा रोकना उचित है। स्वदेशी वस्तुओ का विदेशो में निर्यात बढाने के लिए उन्हें निर्यात कर से मुक्त किया जा सकता है। अर्द्धविकसित देशों में बचत को प्रोत्साहित करने के लिए उपभोग पर कर लगाया जा सकता है। प्रगतिशील कर की सहायता से धन के वितरण को समाज में समान बनाया जा सकता है। आर० जे० चैल्हिया के शब्दों में 'अब कर को केवल राज्य के लिए मुद्रा उपलब्ध कराने वाले यन्त्र के रूप में नहीं देखा जा सकता, अब तो स्थायित्व और प्रगति को प्रोत्साहित करने के लिए ये सरकार के अधीन एक महत्त्वपूर्ण यन्त्र है।'[2]

ठीक ऐसे ही सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य देश में केवल शांति और सुरक्षा बनाए रखना ही नहीं अपितु अर्थव्यवस्था में उत्पन्न व्यापार चक्रों को आय में परिवर्तित करके उन्हें रोकना भी है। यदि कोई राज्य सकल्पबद्ध हो तो वह सार्वजनिक आय द्वारा व्यावसायिक उतार-चढावों को रोक सकता है। सार्वजनिक आय एक ऐसा यन्त्र है जिसकी सहायता से एक प्रगतिशील समाज, धन के वितरण की विषमता को दूर कर सकता है। यदि सार्वजनिक आय का उद्देश्य देश में पूर्ण व्यवसाय की स्थिति को उत्पन्न करना है तो सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य व्यापार चक्रों के दुष्परिणामों को रोकना है। ऐसे ही

1 A P Lerner 'An Integrated Full Employment Policy,' Quarterly *Review of the American Labour Conference on International Affairs*, January 1946, p 70

2 Raja J Chelliah 'Fiscal Policy in Under developed Countries', (1960), p 46

सार्वजनिक ऋण का उद्देश्य देश में आर्थिक विकास करना है। जब तक ऐसा होता रहे तब तक सार्वजनिक आय, व्यय तथा ऋण चिंता का विषय नहीं होते हैं।

क्रियात्मक वित्त की धारा निम्न दो नियमों पर आधारित है

(क) सरकार का यह उत्तरदायित्व है कि वह देश में वस्तुओं तथा सेवाओं पर व्यय किए जाने वाले कुल व्यय की दर ऐसी बनाए जो उस दर से कम हो न अधिक। जिन चालू मूल्यों पर वे समस्त वस्तुएं तथा सेवाएं क्रय की जा सकें उनका उत्पादन सम्भव है।

इस सिद्धांत के विरुद्ध यह आरोप लगाया जाता है कि सरकार चाहने पर भी व्यय की दर को नियंत्रित नहीं कर सकती क्योंकि चलन-वेग का निर्धारण उसकी परिधि के बाहर होता है।

(ख) सरकार को मुद्रा उस समय ही उधार लेनी चाहिए जब वह यह चाहे कि जनता के पास मुद्रा का परिमाण कम हो जाए और सरकारी ऋण-पत्रों की अधिकता द्वारा मुद्रा प्रसार की गम्भीरता कम हो जाए। परन्तु इस नियम को व्यवहार में लाने में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि यह कौन और कैसे निर्धारित करेगा कि जनता के पास कितनी मुद्रा तथा कितने सरकारी ऋण-पत्र रहने चाहिए।

यही नहीं, क्रियागत वित्त के ऊपर और अनेक रूपों में आक्रमण किए गए हैं। क्रियागत वित्त का यह नवीन विचार जर्मन के राजनीतिज्ञों से तो मेल खाता है जो राज्य को एक स्वामी के रूप में मानते हैं परन्तु अमरीकी विचारधारा से मेल नहीं खाता जो राज्य को एक ऐसी संस्था के रूप में स्वीकार करते हैं जिसका कार्य निश्चित जनसेवा प्रदान करना है। ऋण इस राज्यकोषीय सिद्धांत की कुंजी है इसलिए क्रियागत वित्त के समर्थक यह चाहते हैं कि यदि हमें आर्थिक गतिविधियों का नियमन करना है तो बाजार का प्रतिस्थापन सार्वजनिक ऋण से कर देना चाहिए। क्रियागत वित्त की यह धारणा इस तर्क पर न्यायोचित प्रतीत होती है कि निजी साहसी उत्पादन को सम्भव बना सकते हैं परन्तु माग को नहीं। परन्तु राज्य माग को नियंत्रित कर सकता है। इस प्रकार उद्योगपतियों का कार्य उत्पादन करना और सरकार का कार्य उत्पादन को क्रय करने के लिए सन्तुलित क्रय-शक्ति का निर्माण करना है। अन्तिम साध्य पूर्ण रोजगार की प्राप्ति ही होती है। क्रियागत वित्त सिद्धांत के अन्तर्गत करारोपण, सार्वजनिक ऋण तथा व्यय की नीतियों द्वारा यह प्रयास किया जाता है कि मौद्रिक आय की अपेक्षा मौद्रिक व्यय की अधिकता को नोट छाप कर पूरा किया जाए। इस सिद्धांत की यह मान्यता है कि बैंकों से लिए गए ऋण तथा नोट निर्गमन मुद्रा प्रसार की दशा को उत्पन्न नहीं कर सकते। इस विचार के समर्थक यह मानते हैं कि अत्यधिक मुद्रा को कर द्वारा घटाया जा सकता है। परन्तु इस सिद्धांत को व्यवहार में लाते समय यह कठिनाई उपस्थित होती है कि अर्थव्यवस्था में भरी जाने वाली यह स्फीति मुद्रा के चलन वेग के द्वारा प्रभावहीन हो सकती है क्योंकि राज्य चलन वेग को सरलता से नियंत्रित नहीं कर सकता।

(4) उत्प्रेरक कर

हाल के कुछ वर्षों से 'उत्प्रेरक कर' को काफी प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कर

के इस दृष्टिकोण के अतर्गत व्यापारिक उद्यमो से प्राप्त आय को अपेक्षाकृत आदर दिया जाता है तथा उत्पादन को बढाने के लिए आवश्यकतानुसार पुरस्कार तथा दड भी दिए जाते हैं । इनमे से कुछ ही प्रस्तावित उद्देश्य प्राप्त हो पाते हैं अन्य नही। ऐसा क्यो होता है उसके निम्न कारण हैं

(क) अर्थव्यवस्था मे ऐसे सामान्य अवसर उपलब्ध होने चाहिए जो साहसियो मे लगन तथा उत्प्रेरणा बनाए रखें । यदि एक सतोषजनक कर प्रणाली मे ऐसा नही होता तो उसके वास्तविक कारणो की जाच की जानी चाहिए तथा उसका उचित उपचार करना चाहिए जैसे सतुलित अतर्राष्ट्रीय व्यापार की पुन स्थापना, स्वदेश तथा विश्व की परिस्थितियो के अनुसार कृषि का समायोजन, श्रमिक तथा पूजीपतियो मे सामान्य सबध की स्थापना, उपभोग तथा उत्पादन क्षमता मे प्रभावपूर्ण सतुलन बनाए रखना तथा उद्योग और सरकार मे उचित सहयोग बनाए रखना इत्यादि ।

(ख) उद्योग मे दानशीलता तथा दडो का चुनाव यदि राजनीतिक आधार पर किया गया हो तो वह दूषित साबित होता है और अर्थव्यवस्था की क्रियाशीलता मे बाधाए उत्पन्न करता है ।

(ग) यह सदेहात्मक है कि अविश्वस्तता के करारोपण द्वारा विश्वास को बढाया जा सकता है ।

(घ) कुछ उद्योगो को उपदान अन्य उद्योगो की लागत के आधार पर भी दिया जा सकता है जो अन्यायपूर्ण साबित होगा और उत्प्रेरणा को आघात पहुचाएगा ।

करारोपण परिनियम

आज के युग मे करारोपण क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक हो गया है। अत इसको व्यवहार मे लाने के लिए कुछ सामान्य परिनियमो की रचना की गई है। यहा हमे करारोपण परिनियमो (Canons of Taxation) तथा करारोपण के सिद्धातो (Principles of Taxation) मे अतर समझ लेना चाहिए।

करारोपण के परिनियमो से हमारा तात्पर्य उन विशेषताओ से है जो एक अच्छे कर मे निहित होनी चाहिए। ये वे सिद्धात नही है जिनके आधार पर करो को वितरित किया जाता है, अपितु एक अच्छे कर के गुण हैं। करारोपण परिनियम का सबध कर लगाने की रीति एव सकलन से है। ये ही करो की दरो तथा राशियो का निर्देशन करते हैं। दूसरी ओर करो के सिद्धात करों के भार का विभिन्न व्यक्तियो और समूह मे वितरण को निर्धारित करते हैं। इनका सबध किसी कर के निजी गुणो से नहीं परतु सपूर्ण कर प्रणाली से होता है।

कभी-कभी करारोपण के सिद्धातो तथा एक अच्छी कर प्रणाली की विशेषताओं मे भी भ्रम पैदा हो जाता है। एक अच्छी कर-पद्धति की विशेषताओ के अतर्गत उन विचारो का अध्ययन होना है जिन्हे सरकारी अधिकारियो को करो का उचित सगठन करते समय ध्यान मे रखना पडता है। सरकारी अधिकारी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कर,

एकाकी अथवा बहुकर प्रणाली, प्रगतिशील अथवा समानुपातिक करों के सम्बन्धीकरण की अच्छी कर प्रणाली की विशेषता में मानते हैं। इस प्रकार करारोपण के सिद्धान्त किसी कर के व्यक्तिगत कहे जा सकते हैं, जबकि किसी अच्छी प्रणाली की विशेषताएं, सम्पूर्ण कर प्रणाली के गुण होते हैं।

एडम स्मिथ के करारोपण के परिनियम

एडम स्मिथ सबसे पहले लेखक हैं जिन्होंने अपनी पुस्तक 'वैल्थ आफ नेशन्स' में कराधान के परिनियमों के सबध में सामान्य रूप के विचार प्रकट किए। वे परिनियम अग्रलिखित हैं

(1) क्षमता, न्याय अथवा समानता परिनियम : अपने इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए एडम स्मिथ ने कहा है 'प्रत्येक राज्य की प्रजा को सरकार के पालन-पोषण हेतु यथासम्भव क्षमतानुसार अशदान करना चाहिए, अर्थात् उस आय के अनुपात में जिसका आनद राज्य की संरक्षता में प्राप्त करते हैं।' अनेक अर्थशास्त्रियों में इस सबध में एकमत नहीं है कि एडम स्मिथ की 'समानता' से तात्पर्य आनुपातिक करारोपण से था या प्रगतिशील करारोपण से। बास्टर तथा कुछ अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों के मतानुसार 'समानता' का अर्थ आनुपातिक करारोपण से है जबकि सेलिगमैन तथा कोहन आदि अर्थशास्त्रियों के मतानुसार 'समानता' का अर्थ प्रगतिशील करारोपण से है। फिडले शिराज ने इस विवाद को समाप्त करते हुए कहा है कि 'वित्तीय धारणा के इतिहास में भिन्न-भिन्न काल में 'समानता' का अर्थ परिवर्तित होता रहा है, परन्तु अब इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि स्वीकृत सिद्धान्त करदान क्षमता का है। सच पूछा जाए तो समानता के सिद्धान्त का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार राज्य को अशदान करना चाहिए।' स्वय एडम स्मिथ ने इस मत की पुष्टि इन शब्दों में की है, 'यह अत्यधिक उचित है कि धनिकों को सार्वजनिक व्यय हेतु केवल अपनी आय के अनुपात में ही अशदान नहीं करना चाहिए वरन् उस अनुपात से कुछ अधिक करना चाहिए।'

(2) सुविधा परिनियम : एडम स्मिथ के अनुसार, 'प्रत्येक कर ऐसे समय और ऐसी रीति से वसूल किया जाना चाहिए जिससे उसको अदा करना करदाता के लिए सबसे अधिक सुविधाजनक हो।' उदाहरण के लिए भूमि अथवा मकानों पर लगाया गया कर उस समय वसूल किया जाए जबकि भूमि या मकान मालिक को किराया चुकाया जाता है। इससे करदाता को कर देने में बहुत सुविधा रहेगी। इसी प्रकार बिक्री कर की वसूली वस्तु के विपणन के समय करने से करदाता को सुविधा रहती है। अप्रत्यक्ष कर इतने सुविधाजनक होते हैं कि अगर कोई व्यक्ति करों की भुगतान की तुलना में वस्तुओं की कीमत देने में अधिक असुविधा महसूस करता है तो यह उसकी अपनी गलती है। उपभोग्य वस्तुओं, जैसे विलासिता तथा देश की वस्तुओं पर कर बहुत सुविधापूर्ण होते हैं क्योंकि उपभोक्ताओं को जिन्हें जिस रूप में कर देना पड़ता है वह बहुत सुविधाजनक होता है। जैसे-जैसे वह धीरे-धीरे वस्तुए खरीदता है वैसे-वैसे वह थोड़ा-थोड़ा कर

अदा करता रहता है क्योंकि वस्तुओं को खरीदना उसकी इच्छा पर निर्भर करता है।

(3) निश्चितता परिनियम स्मिथ के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को जो कर देना है, निश्चित होना चाहिए, मनमाना नहीं। भुगतान का समय, भुगतान की विधि, भुगतान की राशि आदि करदाता तथा राज्य दोनों को स्पष्ट होनी चाहिए। वस्तुत निश्चितता करदाता तथा राज्य दोनों की दृष्टि में ही लाभप्रद होती है क्योंकि एक ओर तो व्यक्ति अपनी आय तथा व्यय म हेरफेर कर सकता है चूंकि उसे यह ज्ञात होता है कि कब और कितना भुगतान कर के रूप में करना है तथा दूसरी ओर राज्य अपने बजट सबधी अनुमान निश्चिततापूर्वक लगा सकता है क्योंकि उसे यह भी ज्ञात होता है कि कब और कितनी राशि कर के रूप मे प्राप्त होगी। इस सिद्धात के अनुसार करदाता का शोषण नही होता। एडम स्मिथ के अनुसार, 'कर के मामले में किसी व्यक्ति को जो रकम अदा करनी है उसकी निश्चितता इतने महत्त्व की बात है कि समस्त देशों के अनुभव के आधार पर मेरा विचार है कि काफी बड़ी मात्रा की असमानता भी इतनी भयानक नहीं होती जितनी कि बड़ी मात्रा की अनिश्चितता।'

करारोपण के इस सिद्धात को हैडले ने भी स्वीकार किया है। वास्तव में कर की निश्चितता करदाता और राज्य दोनों ही के लिए लाभप्रद होती है, करदाता अपने बजट क बारे मे निश्चित रहता है और उसका कर भुगतान खर्च कम होता जाता है। प्राय कहा भी जाता है कि पुराना कर कर नही होता। इसका आशय यही है कि पुराने कर को देने से अभ्यस्त और निश्चित स्थिति का पूर्व ज्ञान होने से उसका भार अधिक मालूम नही पडता। कर की निश्चितता से राज्य भी अपने बजट के बारे म निश्चित रहता है और उसका कर एकत्र करने का चर्च भी कम होता जाता है। इन सब बातो से आर्थिक कल्याण बढता जाता है।

(4) मितव्ययिता परिनियम : इस परिनियम के अनुसार कर वसूल करने का खर्च न्यूनतम होना चाहिए। यदि कर वसूल करने में अधिक खर्च होगा तो राज्य को इतनी आय प्राप्त नही होगी जितना कि व्यक्तियो पर उस कर का भार पडेगा। करारोपण एक प्रकार का उत्पादन है, इसमें जितनी मितव्ययिता से कार्य किया जाएगा उतना ही ज्यादा लाभ राज्य और करदाताओं को प्राप्त होगा। एडम स्मिथ के शब्दों में, 'प्रत्येक कर इस प्रकार लगाना और वसूल किया जाना चाहिए कि उसके द्वारा सरकारी कोष मे जितना द्रव्य आए उससे अधिक मात्रा मे द्रव्य जनता की जेब से न निकाला जाये।'

इस प्रकार मितव्ययिता का यह अर्थ होगा कि कर वसूली मे कम से कम खर्च होना चाहिए और इससे समाज के उत्पादन तथा मनुष्यों के धन व उनकी बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव नही पडना चाहिए। कर के इकट्ठा करने मे

सावधानी इसलिए आवश्यक है, क्योंकि इससे सम्बद्ध अनेक प्रकार के अपव्यय होते हैं :

(1) कभी-कभी कर का भार करदाताओं के ऊपर बोझ बन जाता है और उनके लिए करदाताओं को विशेषज्ञ रखने पड़ते हैं।

(2) अधिक कर्मचारियों की नियुक्ति से समस्त कर से प्राप्त आय उनकी जेबों में चली जाती है।

अन्य परिनियम

एडम स्मिथ के पश्चात कुछ अर्थशास्त्रियों ने करारोपण परिनियम के अन्य सिद्धांत भी प्रस्तुत किए जिनका उल्लेख नीचे किया गया है।

(1) लोच परिनियम बैस्टेबिल ने लोच परिनियम को काफी महत्त्व प्रदान किया है। उसने इस सिद्धांत की अनिवार्यता पर विशेष बल देते हुए बताया है कि *करारोपण का निरूपण इस प्रकार होना चाहिए कि उसे आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया जा सके।* लोच की अनुपस्थिति में सरकार को संकटकालीन स्थिति में परेशानी होगी। संकटकालीन स्थिति के लिए, विकास कार्यों के लिए, घाटे के प्रबंध के लिए तथा दिन-प्रतिदिन सरकारी व्यय की पूर्ति के लिए करों में लोच का गुण आवश्यक है। इस दृष्टि से आय कर को सार्वजनिक आय का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है क्योंकि इसमें पर्याप्त लोच होती है। आय कर की तुलना में सम्पत्ति तथा वस्तुओं पर लगाए जाने वाले कर इतने लोचपूर्ण नहीं होते।

(2) सरलता परिनियम स्मिथ के मतानुसार, 'प्रत्येक कर ऐसे समय तथा ऐसी नीति से उगाया जाना चाहिए जिससे कि उसको अदा करना करदाता के लिए सबसे अधिक सुविधाजनक हो।' उदाहरण के लिए भूमि अथवा मकानों के किराए पर लगाया गया कर यदि उस समय वसूल किया जाय जिस समय किरायेदार किराया भूमि या मकान के मालिक को चुकाता है, तो करदाता को इसके अदा करने में सुविधा रहेगी। साथ ही कर प्रणाली के अन्दर इस प्रकार के कर लगाए जाएं जिनके उद्देश्य और प्रभाव की जानकारी सरलता से हो सके, कर भुगतान करने में कोई कठिनाई न हो तथा करदाता को प्रशासनिक एवं हिसाब-किताब संबंधी किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़े। कर प्रणाली के जटिल होने पर लोग सदैव सरकार से असन्तुष्ट रहेंगे।

वस्तुस्थिति यह है कि आधुनिक सरकारों की दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई वित्तीय आवश्यकताओं ने तथा करभार को अधिक समान और न्यायपूर्ण बनाने की चाह ने आजकल की कर प्रणालियों को पर्याप्त उलझनपूर्ण बना दिया है।

(3) समन्वय परिनियम कर प्रणाली में समन्वय होना चाहिए। करारोपण इस प्रकार का होना चाहिए कि विभिन्न करों के एकत्रित करने में सीमाओं का उल्लंघन न हो। एक कर अधिकारी दूसरों के अधिकारों की सीमा में प्रवेश न करे

और उनम आपस म समुचित सामजस्य स्थापित हो जाए। एक लोकतत्र मे केन्द्र, राज्य और प्रातो तथा स्थानीय संस्थाओ द्वारा विभिन्न कर लगाए जाते हैं, जबकि करदाता वही होते हैं। अत यह आवश्यक है कि इनके करो के मध्य उचित समन्वय स्थापित किया जाए। विरोधी करो के दोषो को पारस्परिक समन्वय द्वारा ही दूर किया जा सकता है। ऐसा करने से एक कर दूसरे कर के लिए पूरक का काय कर सकता है।

(4) उत्पादिता परिनियम बेस्टेबिल ने करारोपण के परिनियमो मे उत्पादिता परिनियम को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उनके अनुसार उत्पादिता से अभिप्राय यह है कि वर्तमान मे राज्य को कर म पर्याप्त आय प्राप्त हो तथा इस आय का प्रवाह भविष्य म भी अनवरत रहे। इसलिए अनेक छोटे-छोटे करो की तुलना मे एक बडे उत्पादक कर को अधिक प्रधानता दी जाती है। उत्पादिता का विस्तृत अथ यह भी लगाया जाता है कि कर का भार करदाताओ की उत्पादन शक्ति को नष्ट न करे तथा उनकी आय उपभोग व बचत करने की शक्ति व इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव न डाले। यदि कर प्रणाली मे इस परिनियम का समावेश होता है तो नागरिको के रहन-सहन का स्तर ऊचा होता है तथा उत्पादन का क्षेत्र भी विस्तृत होता है।

(5) विविधता परिनियम विविधता अथवा अनेकता के परिनियम पर बल दिया है। कर पद्धति म एक कर नही बल्कि विविध कर होने चाहिए ताकि नागरिको का प्रत्येक वर्ग सरकार को धन प्राप्त करा कर अपने उत्तरदायित्व का उचित भार वहन कर सके। करो का गठन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि देश का कोई व्यक्ति अपने को कर देने स बचा न पाए।

परन्तु हम यह नहीं भूलना चाहिए कि बहुसख्यक करो की वसूली अधिक खर्चीली हो जाती है। इसलिए करो की अधिक अनेकता को उचित नहीं ठहराया जा सकता। इस प्रकार की विविधता का प्रयोग एक निश्चित सीमा के अदर ही करना चाहिए।

(6) वाछनीयता परिनियम यह परिनियम इस ओर सकेत करता है कि कर पर्याप्त सोच-विचार के पश्चात लगाया जाये जिसस प्रत्येक कर के पीछे कोई न कोई आधार रहे और उनकी अनिवार्यता प्रकट की जा सके। करदाता मे यह विश्वास जाग्रत हो कि उस पर लगाया गया कर उचित है। आज के प्रजातन्त्रीय युग म करदाता स्वामी है जो प्रत्येक कर के सबध म यह जानने के इच्छुक होते हैं कि वह कर किन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए लगाया गया है अथवा क्या वह कर उचित है। यदि उनकी सतुष्टि हो जाती है तो ठीक है अन्यथा व प्रत्येक वाछित कर का भरपूर विरोध करते हैं। अनुचित करो का जनता पर बुरा प्रभाव पडता है।

(7) एकरूपता परिनियम निट्टी और कानाड ने एक और परिनियम का प्रतिपादन किया है जिसका अर्थ है कि एक अच्छी कर प्रणाली म जितन भी कर

हों उन सभी में एकरूपता होनी चाहिए अर्थात सभी करों के लगाने की विधि तथा उनकी दरों के निर्धारण के उद्देश्यों में समानता हो। एकरूपता से कर प्रणाली में सरलता आ जाती है तथा हिसाब-किताब की अधिक जटिलताएं समाप्त हो जाती हैं।

(8) कोमलता तथा पर्याप्तता परिनियम प्रो० फिण्डले शिराज ने कोमलता तथा पर्याप्तता के परिनियमों का उल्लेख किया है। कोमलता का आशय यह है कि कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि बिना किसी उथल-पुथल के नए कर लगाए जा सकें और पुरानों को हटाया जा सके। इस दृष्टि से कोमलता और लोच में कोई विशेष भेद नहीं समझा गया है। पर्याप्तता का अभिप्राय यह है कि कर व्यवस्था से सरकार को आवश्यकतानुसार आय प्राप्त हो सके। आय पर्याप्त है या नहीं यह इस बात पर निर्भर करता है कि राज्य की आवश्यकताएं कितनी हैं? राज्य के निरंतर बढ़ते हुए कार्यों के कारण यह आवश्यक नहीं है कि जो आय इस वर्ष पर्याप्त हो वह अगले वर्ष भी पर्याप्त रहे। 'पर्याप्तता' एक सापेक्षिक शब्द है। जब तक परिस्थितियों का उल्लेख न किया जाय तब तक यह गुण महत्त्वहीन है।

साधारण रूप में एक अच्छी कर प्रणाली में उपरोक्त सभी परिनियमों का समावेश होना चाहिए, परंतु व्यवहार में यह संभव नहीं है। ब्रुट्स ने ठीक ही कहा है, 'न तो कोई कर पूर्णरूप से अच्छा है और न ही कोई पूर्णरूप से खराब।' वस्तुतः किसी कर प्रणाली को अच्छा या बुरा ठहराने के लिए करों पर पृथक-पृथक ध्यान न देकर संपूर्ण प्रणाली पर ध्यान दिया जाना अपेक्षित है। इस विचार का श्रीमती हिक्स ने निम्न शब्दों में उल्लेख किया है, 'प्रत्येक कर को पृथक-पृथक न लेकर संपूर्ण कर प्रणाली को लेना चाहिए तथा वांछित वितरण व्यवस्था की स्थापना एक ऐसी क्षतिपूरक कर संरचना द्वारा करनी चाहिए जिसमें एक कर के दोष दूसरे करों से दूर हो जाएं। केवल उन्हीं करों के चयन का प्रयत्न करना जिनसे कर संबंधी सिद्धांतों का परिपालन हो सके, व्यर्थ है। क्योंकि ऐसे कर यथार्थ में हैं ही नहीं।' डाल्टन के विचारानुसार भी, 'लोकवित्त की किसी भी प्रणाली पर समूचे रूप में विचार करने के बाद ही उसके गुणों या अवगुणों के बारे में कोई अंतिम फैसला किया जा सकता है। इसी प्रकार किसी कर प्रणाली पर भी समूचे रूप में ही विचार किया जाना चाहिए क्योंकि विभिन्न कर अपने कुछ प्रभावों द्वारा एक-दूसरे को सुधार और संतुलित कर सकते हैं।'

एक अच्छी कर पद्धति की विशेषताएं

आधुनिक लेखकों ने एक अच्छी कर पद्धति की आवश्यकता अनुभव की है। परन्तु किसी ऐसी पद्धति की आशा करना जो सभी दोषों से मुक्त हो, कठिन है। प्रसिद्ध विचारक एडमंड बर्क ने इस संदर्भ में लिखा है कि 'कर लगाना और लोगों को प्रसन्न करना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार प्रेम करना और बुद्धिमान होना'।

वास्तव में हम उस कर प्रणाली को अच्छा कहेंगे जो करारोपण के विभिन्न उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त करने में सहायक हो सके। ऐसी कर पद्धति की निम्न गुणों के आधार पर व्याख्या की जाती है

(1) करारोपण के सिद्धान्त का अवलोकन

एक अच्छी कर पद्धति अथवा एक आदर्श कर संरचना वह हो सकती है जिसमें करारोपण के विभिन्न सिद्धांतों का अवलोकन किया गया हो अर्थात उसमें निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हों

1 कर पद्धति न्यायशील हो। वह न्यायशील उस समय कही जाएगी जब समान आर्थिक स्थिति वालों से करारोपण के उद्देश्य से समान व्यवहार किया जाए।[1]

2 करदाता तथा सरकार के दृष्टिकोण से प्रणाली में निश्चितता, सरलता तथा मितव्ययिता पाई जाती हो।

3 कर पद्धति लोचदार तथा व्यावहारिक हो।

4 कर प्रणाली उत्पादक हो। उसमें वर्तमान तथा भावी आय के स्रोत प्रभावित हो सकें।

5 *प्रत्येक कर का आर्थिक ढांचे में एक निश्चित तथा उचित स्थान हो।*

6 कर पद्धति का आधार यथासम्भव विस्तृत हो।

7 कर प्रणाली जनता को मान्य हो।

(2) त्याग की समानता

इस विषय के नियम के अंतर्गत 'समान स्थिति वाले व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार होना चाहिए।' इन सभी व्यक्तियों पर करों का भार समान मात्रा में डालना चाहिए जोकि समान परिस्थितियों में रहते है तथा विभिन्न परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्तियों के साथ एक सापेक्षिक व्यवहार किया जाना चाहिए जो उचित कहा जा सके। दूसरे शब्दों में जो व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति में हैं उनसे अधिक कर लिया जाए और जो व्यक्ति निर्धन हैं उन पर कर का भार हल्का रखा जाए *और अधिक निर्धनों को कर मुक्त रखा जाए।* इस दृष्टि से *आनुपातिक कर को* अच्छा न मान कर प्रगतिशील अथवा आरोही कर को उचित माना जाता है। प्रगतिशील कर से एक ओर तो सरकार को अधिक आय प्राप्त होती है तथा दूसरी ओर धन के वितरण की विषमताओं में कमी आती है।

(3) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कर में समन्वय

प्रायः प्रत्यक्ष करों का भार धनी वर्ग पर और परोक्ष करों का भार निर्धन वर्ग पर पड़ता है। इनमें से यदि किसी एक को प्रधानता दी जाय तो कर पद्धति न्यायसंगत नहीं कही जा सकती। अतः समता लाने के लिए यह आवश्यक है कि

1. Dalton 'Public Finance,' p 87.

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों में उचित समन्वय हो और ये दोनों प्रकार के ही कर लगाए जाए ताकि समाज के विभिन्न वर्गों पर कर-भार समान पड़े। हा, यह अवश्य हो सकता है कि प्रत्यक्ष करो की सख्या अथवा मात्रा परोक्ष कर की अपेक्षा अधिक रखी जा सकती है जिससे कि समाज के धनी वर्ग पर अधिक भार पड़े।

(4) बहु-कर प्रणाली

आधुनिक औद्योगिक एव व्यावसायिक विकास के साथ-साथ सरकार के कार्यों म वृद्धि होती जा रही है। एकलकरवादी केवल एक ही उत्पादन कर पर बल देते थ। परन्तु आज यह विचार मिथ्या है। आधुनिक विचारधारा यह है कि एक व्यक्ति समाज को सरकार की आवश्यकताओं के लिए जितना अशदान कर सके उससे उतना अवश्य वसूल किया जाए। इसलिए आधुनिक दृष्टिकोण से बहु-कर प्रणाली का समर्थन किया जाता है। इसलिए कर प्रणाली में विभिन्न करों को इस प्रकार गठित करना चाहिए कि उनके बीच आदर्श समन्वय बना रहे तथा अधिक आय भी प्राप्त हो जाए।

(5) सामाजिक दृष्टिकोण से लाभदायक

प्रो० डाल्टन ने स्पष्ट लिखा है कि 'करारोपण की सर्वोत्तम प्रणाली वही है जिससे अधिकतम लाभ मिले, अथवा बुरा आर्थिक प्रभाव कम से कम हो।' कर पद्धति को इस सिद्धात के अनुरूप होना चाहिए। जब करदाता कर का भुगतान करता है तो उसे अपना उपभोग घटा कर त्याग करना पड़ता है। इसलिए यह देखना होता है कि कर के रूप मे ऐसी आय प्राप्त करने से त्याग की मात्रा या उपयोगिता का विनाश अधिक होता है या कम। दूसरे, सरकार जब सार्वजनिक व्यय के रूप में लाभ प्रदान करेगी तो अपेक्षाकृत अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी या कम, इसका उत्तर अनेक बातों पर निर्भर करता है। यदि उपभोक्ता इस आय से हानिकारक वस्तुओं का उपभोग करता है तो ऐसी आय को कर के रूप में प्राप्त करके, जनहित में व्यय करना सर्वथा उचित होगा। दूसरी ओर यह भी ध्यान देना होगा कि करारोपण से उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। उत्पादन घटाने वाले कर अच्छे नहीं माने जाते। इस आधार पर कर प्रणाली को सामाजिक दृष्टिकोण से लाभदायक होना चाहिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि न्यूनतम त्याग तथा अधिकतम सामाजिक कल्याण प्रदान करना एक कर का कार्य नहीं हो सकता। यह कार्य तो सम्पूर्ण कर पद्धति द्वारा सपन्न होता है और एक अच्छी कर व्यवस्था में ऐसे करों की बहुलता होनी चाहिए जो उत्पादन तथा वितरण पर अनुकूल प्रभाव डालें।

(6) अर्थव्यवस्था की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुकूल होना

एक श्रेष्ठ कर प्रणाली की रचना इस प्रकार की जानी चाहिए कि वह अर्थव्यवस्था की कुछ मूलभूत तथा बदलती हुई आवश्यकताओं अथवा लक्ष्यों की पूर्ति कर सके। तीसरे दशक की मदी के बाद कर प्रणाली की रचना को एक नई दिशा दी गई।

आर्थिक उतार-चढ़ावा पर नियत्रण पूर्ण रोजगार की प्राप्ति, चिरकालीन गतिहीनता की प्रवृत्तियो को रोकना तथा युद्धकाल म मुद्रा-स्फीति पर अकुश लगाना सरकार की नीति के महत्त्वपूर्ण लक्ष्य होते है जिनके अनुरूप कर प्रणाली ढालने की आवश्यकता होती है।

(7) ससाधनो का अनुकूलतम आवटन

एक आदर्श कर प्रणाली वही कही जा सकती है जो स्रोतो के अधिकतम उपयोग म बाधक सिद्ध न हो। ऐसा तभी हो सकता है जब आर्थिक दृष्टिकोण से कर प्रणाली उदासीन रहे अर्थात जब मूल्य यत्र का क्रियान्वयन विभिन्न वस्तुओं के अनुकूलतम उत्पादन उपभोक्ता तथा साधन स्वामियो के चयन की प्राथमिकताओ म अवरोध उत्पन्न न करे। यदि स्वतत्र मूल्य-यत्र अर्थव्यवस्था को इस प्रकार सचालित करने मे असमर्थता प्रकट करता है तब वहा विशिष्ट करो की सेवा लेकर स्रोतो को अनुकूलतम उत्पादन की ओर गतिमान किया जा सकता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था मे *कर प्रणाली मूक दर्शक नही रह सकती क्योकि वहा आर्थिक विकास म सरकार* महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसलिए ऐसे करो को ही कर प्रणाली के तत्त्वा के रूप म स्वीकार करना चाहिए जो स्रोतो के अनुकूलतम उपयोगो को प्रोत्साहित कर सकें।

9

करारोपण में न्याय की समस्या

करारोपण एक ऐसी प्रक्रिया है जो प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण को तथा प्रत्येक व्यावसायिक संगठन की लाभ की स्थिति को प्रभावित करती है। अर्थशास्त्र के विद्वानों ने इसे कर का द्रव्य भार तथा कर का वास्तविक भार कह कर पुकारा है। कर किस आधार पर और कितना लिया जाना चाहिए, समाज में किस व्यक्ति से कर लें और किस से न लें, इन सब बातों पर सरकार को न्याय की दृष्टि रखनी चाहिए। यदि कर का वितरण उचित नहीं होगा तो समाज का त्याग आवश्यकता से अधिक होगा। यही नहीं, सुचारु रूप में वितरण न होने पर समाज में कलह तथा विद्रोह की भावना का जन्म होगा। इसमें सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के अस्त-व्यस्त हो जाने का भी भय रहता है। श्रीमती हिक्स के मतानुसार, 'गलत ढंग से संगठित और वितरित 'कर-प्रणाली' ही रोमन साम्राज्य के पतन का कारण थी। इसी प्रकार फ्रांसीसी क्रांति का मुख्य कारण भी दोषपूर्ण कर प्रणाली थी जिसमें निर्धन वर्ग पर धनिक व पादरियों की अपेक्षा कर भार अधिक था।' अतः स्पष्ट है कि आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक सभी दृष्टिकोणों से कर का भार न्यायपूर्ण भार हो। कर के न्यायपूर्ण वितरण की दृष्टि से अर्थशास्त्रियों ने समय-समय पर अनेक सिद्धांतों का उल्लेख किया है।

वित्तीय सिद्धांत

इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय फ्रांसीसी अर्थशास्त्री कालबर्ट को है। उनका कहना था, 'बतख को इस प्रकार नोचो कि वह कम से कम विरोध के साथ चिल्लाए।' इस सिद्धांत के अनुसार कर इस प्रकार लगाना चाहिए कि राज्य को अधिक से अधिक आय प्राप्त हो जाए तथा जनता कम से कम विरोध करे। इस सिद्धांत का संबंध स्पष्टतः 'कर' के न्यायपूर्ण वितरण से नहीं है अपितु राज्य के द्वारा अधिक से अधिक आय प्राप्त करने से है।

व्यावहारिक जगत में कर प्रणाली को इस सिद्धान्त पर आधारित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसका सम्पूर्ण भार जनता के उस भाग को सहन करना पड़ेगा जिसमें विरोध करने की सामर्थ्य नहीं है। ऐकिक शासन में भले ही कर प्रणाली को इस सिद्धान्त पर आधारित किया जा सके, परन्तु प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था में यह कभी नहीं हो सकता कि निर्धन और असहाय व्यक्तियों पर कर का अधिक भार डाला जाए। विशेषकर आधुनिक काल में जहां प्रत्येक देश की सरकार कल्याणकारी राज्य की स्थापना का स्वप्न देख रही है। वह इस सिद्धान्त को लेशमात्र भी महत्त्व नहीं दे सकती क्योंकि इस पर आधारित कर प्रणाली के द्वारा राष्ट्रीय कल्याण में वृद्धि होने के स्थान पर ह्रास ही होता है। इसलिए करारोपण का वित्तीय सिद्धान्त अव्यावहारिक तथा कालातीत हो चुका है।

लाभ का सिद्धांत

18वीं शताब्दी के मध्य तक, कराधान का हितानुसार सिद्धान्त राज्य के उस अनुबंध सिद्धांत का एक पूरक था जिसे उस समय के राजनैतिक विचारकों ने सामान्य रूप से स्वीकार किया था जिनमें हॉब्स, लॉक, रूसो तथा ह्यूम विचारकों के विचारों में अनुबंध ही संगठित समाज का आधार था।

एडम स्मिथ से लगभग 100 वर्ष पूर्व सर विलियम पैटी ने कहा था, 'यह बात सामान्यतः सभी मनुष्यों द्वारा स्वीकार की जाती है कि मनुष्यों को सरकारी व्यय में अपना योगदान देना चाहिए, परन्तु यह योगदान सार्वजनिक शांति में उनके भाग तथा हितों के अनुसार ही होना चाहिए।'

जहां इस एडम स्मिथ का समर्थन प्राप्त था, वहां आधुनिक रूप में लिन्दहाल ने इसे ऐच्छिक विनिमय सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित किया है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत निजी क्षेत्र के नियम को सरकारी क्षेत्र में कर निर्धारण के लिए लागू किया गया है।

इस सिद्धांत के अनुसार कर की दर उस लाभ के अनुपात में होनी चाहिए जो कि प्रत्येक करदाता को सरकार की छत्रछाया में प्राप्त होता है अर्थात जो मनुष्य जितना अधिक लाभ सरकारी क्रियाओं से प्राप्त करेगा उसको उतना अधिक कर देना पड़ेगा। जान स्टुअर्ट मिल ने कहा है, 'लाभ सिद्धांत' के अन्तर्गत सरकार एवं करदाता का संबंध प्रयुक्तकार के रूप में होता है।'

इस सिद्धांत के प्रतिपादकों का कहना है कि इस आधार पर करों का सुविधा-पूर्वक विभाजन किया जा सकता है तथा इसका प्रेरणाहारी प्रभाव नहीं पड़ता।

गुण

इस सिद्धान्त में निम्न गुण पाए जाते हैं

1. न्यायोचित इस सिद्धान्त का मूल गुण यह मान्यता है कि सरकारी . . .

तथा इसमे यह अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। स्थानीय सस्थाए बिजली तथा जल की आपूर्ति पर इसी सिद्धात के अनुसार कर लगाती हैं। पेट्रोल पर लगा कर भी किसी सीमा तक इसी सिद्धात पर आधारित है, क्योकि यह कर केवल मोटर के मालिको से ही प्राप्त किया जाता है जो सडक से लाभ उठाते हैं। ब्यूहलर के शब्दो म यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लाभ का सिद्धात करो के निर्धारण के सबध में चाहे कितना ही असतोषजनक प्रमाण हो, करारोपण पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है।[1]

कराधान का सामर्थ्य सिद्धात

'कानून के आगे सबको बराबर समझना चाहिए' की उक्ति को कराधान के करदेय योग्यता सिद्धात का प्रेरक स्रोत कहा जा सकता है। यह सिद्धात इस बात के ऊपर आधारित है कि प्रत्येक राज्य की प्रजा को अपनी-अपनी योग्यता के अनुपात म कर की अदायगी करनी चाहिए, यह अश आय के उस अनुपात मे हो जोकि वे राज्य के सरक्षण मे भोगते हैं। सरकार को कर अदा करने का दायित्व एक सामाजिक और सामूहिक जिम्मेदारी माना जाता है। इस सबध में मुख्य प्रश्न यह उठता है कि कर कौन अदा करे तथा कितनी धन राशि अदा करे। सोलहवी शताब्दी म *जिनिक्यारडिनी तथा जीन बोडिन ने सामर्थ्य के आधार पर कराधान का समर्थन* किया है। विलियम पटी तथा एडम स्मिथ ने भी करदेय योग्यता के सिद्धात को स्वीकार किया है। एडम स्मिथ के शब्दो मे 'प्रत्येक राष्ट्र के सदस्यो को सरकार की सहायता के लिए यथासभव अपनी सामर्थ्य के अनुपात मे अर्थात उस आय के अनुपात म जो वे सरकार के सरक्षण मे प्राप्त करते हैं, धन देना चाहिए।'[2]

जे० एस० मिल ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति को सरकार के लिए समान त्याग करना चाहिए, जिस प्रकार कि एक सरकार को व्यक्तियो अथवा वर्गों के नीचे दावो की दृढता के बारे मे कोई भेदभाव नही करना चाहिए उसी *प्रकार सरकार उनसे जिन त्यागो की आशा करती है वे (त्याग) उन सबसे यथा*सभव वैसा दबाव डालकर कराये जाने चाहिए। यही वह रीति है जिसके द्वारा सपूर्ण रूप मे न्यूनतम त्याग किया जाता है—राजनीति के एक सिद्धात के रूप मे कराधान मे समानता का मतलब है, त्याग की समानता। इसका अर्थ है 'सरकार द्वारा दिए जाने वाले धन का निर्धारण इस प्रकार से किया जाए कि कोई भी व्यक्ति अपने भाग की अदायगी मे, *अन्य प्रत्येक व्यक्ति के भाग की तुलना में न तो अधिक असुविधा अनुभव करे और न कम।*[3]

---

1 A C Buehler Public Finance', p 350.
2 Adam Smith 'Wealth of Nations', Vol II, p 310
3 J S Mill 'Principles of Political Economy', Book V, Chapter II, Sec 2

वास्तव में करदेय योग्यता का सिद्धान्त अन्य सभी सिद्धान्तों की अपेक्षा न्याय के अधिक अनुरूप है। बेस्टेबल के शब्दों में 'क्षमता कर निर्धारण का एक नैतिक आदर्श सिद्धान्त है।' और सीहन के अनुसार, 'क्षमता नैतिक मूल्यों व विस्तृत सिद्धान्तों की एक विशिष्ट प्रणाली है।'

परन्तु आदर्श होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से यह एक कठिन सिद्धान्त है। इसमें प्रथम कठिनाई तो यह है कि करदेय योग्यता किस प्रकार और किस आधार पर निश्चित की जाए तथा दूसरी महत्त्वपूर्ण कठिनाई यह है कि प्रत्येक मनुष्य की करदेय क्षमता किस आधार पर मापी जाए। इस समस्या के हल के लिए अर्थात् करदेय योग्यता का उचित आधार ज्ञात करने के लिए समस्या का प्रायः दो दृष्टि-कोणों से अध्ययन किया गया है

(अ) व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण

करदाताओं को कर देने से कुछ भार सहन करना पड़ता है अथवा इनसे उन्हें कुछ कष्ट होता है या इन्हें कुछ त्याग करना पड़ता है। इस अध्ययन में करदाता के कर देने की योग्यता का अनुमान उसके कष्ट उठाने, त्याग करने की शक्ति तथा असुविधाओं को सहने की शक्ति से लगाया जाता है। अतएव करदेय योग्यता मनुष्य के त्याग करने की क्षमता पर निर्भर होती है, फिर भी सभी स्वीकार करते हैं कि किसी करदाता विशेष को कर का भुगतान करने में किस मात्रा में संतुष्टि का त्याग करना पड़ता है अथवा एक व्यक्ति के त्याग की मात्रा दूसरे व्यक्ति के त्याग की मात्रा से कितनी कम या अधिक है। परन्तु प्रो० पीगू ने इस कठिनाई के महत्त्व को स्वीकार न करते हुए कहा, 'जीवन के साधारण कार्यों में व्यक्तियों के स्वभाव व प्रकृति भिन्नता, जातीय भिन्नता, आदतों, प्रशिक्षण आदि की भिन्नता को स्वीकार करते हुए, हम सर्वदा यह मान लेते हैं कि प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तियों के समूह पर समान परिस्थितियों का लगभग समान मानसिक प्रभाव पड़ता है।'[1] करदेय योग्यता की मापने से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन भावात्मक दृष्टिकोण से किया जाता है। इस विषय में तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं

(क) समान त्याग का सिद्धान्त इस सिद्धान्त के अनुसार करारोपण तभी न्यायपूर्ण हो सकता है जबकि प्रत्येक मनुष्य के लिए त्याग की मात्रा समान हो। डाल्टन के अनुसार, 'करारोपण का भार इस प्रकार वितरित होना चाहिए कि सभी करदाताओं पर प्रत्यक्ष वास्तविक भार समान हो।' मिल ने भी इसी प्रकार व्यक्त किया है—'राजनीति के एक सिद्धान्त के रूप में करारोपण की समानता का अर्थ है कि सरकार के खर्च के लिए प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दिये जाने वाले धन का इस प्रकार निर्धारण किया जाए कि वह भुगतान के भाग में प्रत्येक अन्य व्यक्ति की अपेक्षा न्यून या अधिक असुविधा अनुभव न करे।' समान त्याग का अर्थ पीगू के शब्दों

1 A.C. Pigou 'A Study of Public Finance', p. 40.

मे, 'न्यूनतम आय के ऊपर सभी आयो को काटना और करारोपण के उपरात सभी आयो को समान स्तर पर लाना है।[1] त्याग करने का सबध मनुष्य की मानसिक दशा से है जो भिन्न भिन्न होती है। अत विभिन्न मनुष्यो के त्याग की तुलना नही की जा सकती। यदि कर लगाने के लिए आय को आधार मान लिया जाए तो समान रूप से त्याग करने के लिए तीन परिस्थितिया की कल्पना की जाती है

(1) जब आय तेजी से बढती है और उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार आय की प्रत्येक वृद्धि के साथ आय की सीमात उपयोगिता गिरती जाती है तो कर की दर प्रगतिशील होगी। प्रगतिशील कर दरा की सूची वह है जिसम कर आधार के साथ साथ कराधान की दर भी बढती है। निम्नाकित चित्र 14 यह बताता है कि करो को तीन प्रकार से प्रगतिशील बनाया जाता है।
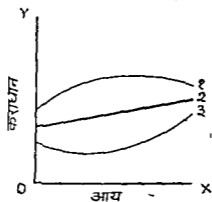
चित्र 14

(2) *आनुपातिक कर दरा की सूची वह है जिसम कर आधार मे परिवर्तन होने पर कराधान की दर स्थिर रहती है। अर्थात जब आय धीरे-धीरे बढती है और सीमात उपयोगिता धीरे धीरे कम होती है तो समान त्याग प्राप्त करने के लिए आनुपातिक कर लगाया जाता है,* जैसा कि अगले पृष्ठ पर चित्र 15 मे स्पष्ट है।

(3) प्रतिगामी कर दरो की सूची वह है जिसमे आधार बढने के साथ कराधान की दर घटती है। यदि आय गिर रही है तो उसके फलस्वरूप आय की सीमान इकाइयो मे प्रारभ मे सीमात उपयोगिता बढती जाती है। ऐसी अवस्था मे समान

1 A C Pigou 'A Study of Public Finance', (1951), Macmillan & Co Ltd, London, p 57

त्याग के लिए प्रतिगामी करारोपण आवश्यक है। जैसा कि चित्र 15 से प्रदर्शित होता है।

इस चित्र से स्पष्ट है कि आय में कमी होने पर सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है। अतः त्याग की मात्रा समान करने के लिए प्रतिगामी कर लगाना होगा।
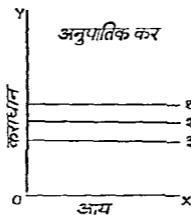
चित्र 15

प्रगतिशील वैकल्पिक दर सूचिया
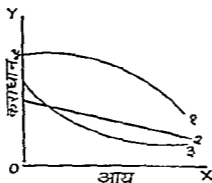
चित्र 16

उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त दोनों चित्रों में वक्र रेखाएं 1, 2, 3 कर की विभिन्न दरों को प्रकट करती हैं जिनमें से प्रत्येक स्थिति में कोई भी भी दर प्रयुक्त की जा सकती है।

वास्तव में त्याग की समानता का अर्थ स्पष्ट नहीं है। प्रो० पीगू का विचार

है कि समान परिस्थितियों के व्यक्तियों के त्याग की समानता का अर्थ तो समझ में आता है परन्तु असमान परिस्थितियों में त्याग की समानता का अर्थ स्पष्ट नहीं है। *यदि इससे तात्पर्य सभी व्यक्तियों द्वारा समान मात्रा में कर का भुगतान है* तो यह अन्यायपूर्ण है क्योंकि सभी व्यक्तियों की द्रव्य की सीमांत उपयोगिता व करदेय क्षमता समान नहीं होती है। अतः यह सिद्धांत व्यावहारिक नहीं है। इसलिए इस सिद्धांत को लागू करना, यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

(ख) समानुपातिक त्याग का सिद्धांत : *इस सिद्धांत के अनुसार करदाताओं* पर कर का भार उनकी आर्थिक शक्ति के अनुपात में निश्चित होता है। यह भार समान नहीं रहता है। अर्थात कर की दर आय के घटने-बढ़ने के साथ कम-अधिक होती रहती है। जिन व्यक्तियों में अधिक त्याग करने की शक्ति होती है वे अधिक *धनराशि कर के रूप में अदा करते हैं और जिनमें तुलनात्मक रूप से कम शक्ति* होती है वे कर कम अदा करते हैं और जिनमें बिल्कुल नहीं है, वे कर मुक्त रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस पद्धति के अनुसार करारोपण न्यायसंगत होने के लिए प्रगतिशील होना चाहिए।

(ग) न्यूनतम त्याग का सिद्धांत इस सिद्धांत के प्रतिपादन का श्रेय एजवर्थ तथा कारवर को है। पीगू तथा डाल्टन जैसे अर्थशास्त्रियों ने उसका समर्थन किया है। इस सिद्धांत के अंतर्गत कर भार की समस्या का अध्ययन सामूहिक रूप में किया जाता है न कि व्यक्तिगत रूप में। इस सिद्धांत के अनुसार कर का निर्धारण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि सब करदाताओं द्वारा जो कुछ भी सामूहिक त्याग किया जाता है उसकी मात्रा कम से कम हो और सामूहिक सामाजिक लाभ की मात्रा अधिकतम हो। यह उसी समय हो सकता है जब कि सभी करदाताओं का सीमांत त्याग बराबर या लगभग बराबर हो। अर्थात कर इस प्रकार लगाया जाना चाहिए कि प्रत्येक करदाता को मुद्रा की अंतिम इकाई देने से समान त्याग का अनुभव हो। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कर के रूप में एक रुपया अदा करने में उतनी ही त्याग की अनुभूति होनी चाहिए जितनी कि एक रुपया अदा करने में दूसरे व्यक्ति को होती है। इस विचार को एक उदाहरण द्वारा भली-भांति समझाया जा सकता है।

मान लीजिए कि तीन व्यक्ति क, ख, ग हैं। जब उन्हें एक रुपया कर के रूप में अदा करना पड़ता है तो उनका त्याग इस प्रकार का होता है

रुपये की इकाइयां	त्याग		
	क	ख	ग
1 रुपया देने में	4	5	8
2 रुपए देने में	5	6	10
3 रुपए देने में	7	8	12
4 रुपए देने में	8	10	15
5 रुपए देने में	10	15	25

मान लीजिए कि राज्य को 8 रुपये कर के रूप में वसूल करने हैं तो 'क' से 4 रु०, 'ख' से 3 रु० और 'ग' से 1 रु० वसूल करना चाहिए। इस स्थिति में सबका सीमांत त्याग बराबर होगा।

यह सिद्धांत अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम पर आश्रित है, जिसके अनुसार आय अधिक होने के साथ-साथ व्यक्ति विशेष के लिए उसकी उपयोगिता कम होती जाती है। अतः बहुत अधिक आय वाले व्यक्तियों की अन्तिम इकाइयां कर के रूप में ले ली जाएं तो ऐसे व्यक्तियों को विशेष कष्ट न होगा। इसके विपरीत न्यून आय वालों को कर से मुक्त किया जाना चाहिए क्योंकि उनके लिए रुपये की सीमांत उपयोगिता अधिक होती है।

यदि न्यूनतम त्याग के सिद्धांत को लागू किया जाए तो सर्वप्रथम कर उस व्यक्ति पर लगाया जाना चाहिए जिसकी आय अधिकतम हो। क्योंकि उस व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला त्याग न्यूनतम होगा तथा करारोपण के कारण जब व्यक्ति की आय घटते-घटते उसके बाद वाले दूसरे नंबर के बड़े धनी व्यक्ति के स्तर पर आ जाए तब इन दोनों व्यक्तियों पर कर लगाना चाहिए। ऐसा इस कारण होगा क्योंकि तब दोनों ही व्यक्तियों को कर के रूप में एक रुपया अदा करने में समान भार अनुभव होगा। इसके पश्चात करारोपण द्वारा उन दोनों ही व्यक्तियों को समाज के तीसरे नंबर के धनी व्यक्ति के स्तर तक ले आना चाहिए। यह क्रम उस समय तक जारी रहना चाहिए जब तक कि सरकार को यथेष्ट मात्रा में आय प्राप्त न हो जाए। इसका अर्थ यह हुआ कि एक निश्चित स्तर से ऊपर की सभी आयों को करारोपण द्वारा घटाकर उस निश्चित स्तर पर लाना चाहिए, जैसा प्रो० पीगू ने कहा 'सम-सीमांत त्याग को पूर्ण रूप से अपनाई गई प्रणाली में न्यूनतम आय के ऊपर की प्रत्येक आय को काटकर कम कर देने का अर्थ निहित है।'

आलोचनाएं करारोपण का यह सिद्धांत अन्य सिद्धांतों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। यद्यपि प्रो० पीगू ने इसे 'करारोपण का अंतिम सिद्धांत' कहा है फिर भी यह सिद्धांत दोषरहित नहीं कहा जा सकता

1 त्याग एक भावात्मक विचार है अतः त्याग की मात्रा का माप कठिन ही नहीं वरन असंभव है। फिर कर के रूप में एक रुपये का भुगतान करने से एक व्यक्ति को जो त्याग करना पड़ता है वह संभव है कि उसकी आय पर निर्भर न हो अपितु कुछ अन्य परिस्थितियों जैसे उसके परिवार के आकार आदि पर भी निर्भर हो। कर देने की सामर्थ्य केवल आय की मात्रा पर ही निर्भर नहीं करता अपितु आय के स्रोत तथा उसकी प्रकृति पर भी निर्भर करता है। वास्तव में संपत्ति से होने वाली आय के बीच तथा स्थिर रहने वाली आय और घटने-बढ़ने वाली आय के बीच महत्त्वपूर्ण अंतर होता है।

2 यदि इस सिद्धांत को पूर्ण रूप से लागू किया जाए और फलस्वरूप सभी व्यक्तियों की आय को एक निश्चित स्तर तक घटा दिया जाए तो इससे प्रगतिशील

कराधान को कोई प्रोत्साहन न मिल कर 'सर्वस्व अपहरण' को ही बढ़ावा मिलेगा। लाभ तथा आय के कराधान पर नियुक्त ब्रिटिश शाही आयोग के विचारानुसार "न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त केवल ऐसी स्थिति के अतिरिक्त और कहीं लागू नहीं हो सकता जो कि इसके सैद्धान्तिक परिणाम से बहुत दूर ही आगे का मार्ग बंद कर देती है।

3 इस सिद्धांत में एक मुख्य दोष यह है कि इसमें केवल वर्तमान त्यागों की ओर ही ध्यान दिया गया है और करारोपण से उत्पन्न होने वाले भावी परिणामों को भुला दिया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रगतिशील कर प्रणाली के आधार पर कर लगाए जाते हैं। उदाहरण के लिए एक धनी व्यक्ति पर जब कर लगाया जाता है तो उसकी बचत कम हो जाने के कारण पूंजी निर्माण निरुत्साहित हो जाएगा। फलस्वरूप रोजगार एवं उत्पादन का स्तर गिर जाएगा। इस प्रकार भविष्य में समाज का कल्याण होने के बजाय, समाज का पतन होगा।

4 इस सिद्धांत के अनुसार करारोपण के अच्छे एवं बुरे परिणामों का पता लगाना कठिन है। अनेक बार बहुत से व्यक्तियों को बहुत अधिक त्याग करना पड़ता है लेकिन करारोपण का नैतिक एवं सामाजिक प्रभाव अच्छा हो सकता है, जैसे मादक पदार्थों पर कर। इससे कुछ व्यक्ति तो उपभोग से वंचित रहेंगे तथा कुछ को त्याग करना पड़ेगा। इस प्रकार के कुछ करों से समाज का सुधार होता है। प्रो० पीगू का विचार है कि त्याग की अपेक्षा करों के अच्छे परिणामों की ओर ध्यान देना चाहिए।

वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण

क्योंकि त्याग या व्यक्तिनिष्ठ सिद्धांतों को लागू करने में अनेक कठिनाइयां सामने आती हैं अतः अमेरिका के कुछ अर्थशास्त्रियों ने, कर अदा करने की सामर्थ्य को ज्ञात करने के लिए वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का आश्रय लिया है। प्रो० सेलिगमैन ने वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के अर्थ में, सामर्थ्य को प्रकट करने के लिए उत्पादन शक्ति शब्द को प्रयुक्त किया है उत्पादन शक्ति का सिद्धांत करदाता की भावनाओं की तुलना में करदेय क्षमता के द्राव्यिक मूल्य पर अधिक बल देता है। सेलिगमैन के मतानुसार त्याग का सिद्धांत तो वास्तव में उपभोग का सिद्धांत है जो कि इस धारणा पर आधारित है कि पृथक्-पृथक् व्यक्तियों पर कर का कितना भार पड़ता है और उसकी कितनी आय उसके अपने उपभोग के लिए शेष बच रहती है। परन्तु उत्पादन शक्ति का सिद्धांत वस्तुनिष्ठ बातों पर ध्यान देता है जिसमें कि करदाता की आय तथा संपत्ति आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य की कर देने की क्षमता आंतरिक बातों से न नाप कर बाह्य दृष्टिकोण से नापते हैं। जैसे

1. मनुष्य की आय : कुछ लेखक 'मुद्रा आय' को कर देने की योग्यता का उचित आधार मानते हैं। आजकल करारोपण के लिए इसी को आधार माना जाता है। *अधिक आय वालों पर अधिक कर भार और नीची आय वालों पर कम कर*

भार डाला जाता है। कुछ लोग जिनकी आय बहुत कम होती है, वे कर भार से मुक्त भी रखे जाते हैं। या दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि कर देने की योग्यता आय के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ती है तथा आय के घटने के साथ-साथ घटती है।

परन्तु मुद्रा आय को भी करदान योग्यता का संतोषजनक प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि

1 दो व्यक्तियों की मौद्रिक आय समान होते हुए भी उनकी करदान क्षमता अलग-अलग हो सकती है। एक के दायित्व दूसरे की अपेक्षा अधिक हो सकते हैं उदाहरणार्थ एक व्यक्ति का परिवार छोटा हो सकता है जबकि दूसरे का परिवार बड़ा। ऐसी स्थिति में दोनों व्यक्तियों पर समान दर से कर लगाना न्यायोचित नहीं होगा।

2 कुछ व्यक्ति अपने परिश्रम द्वारा 'आय' अर्जित करते हैं जबकि कुछ को अपनी पैतृक संपत्ति से आय प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में भी कर की समान दर उचित नहीं मानी जा सकती।

उपरोक्त कठिनाइयों को देखते हुए लार्ड स्टाम्प का मतव्य है कि यदि कर लगाते समय निम्न बातों को विचाराधीन रखा जाए तो अन्य आधारों की तुलना में आय का आधार 'कर देय योग्यता' का एक सर्वोत्तम प्रमाण हो सकता है

(अ) न्यूनतम छूट . उचित जीवन निर्वाह के लिए एक न्यूनतम छूट देनी चाहिए।

(ब) कुटुम्ब की संख्या कर की दर लगाते समय परिवार के सदस्यों की संख्या का ध्यान रखना चाहिए अर्थात छोटे परिवार से अधिक कर और बड़े से कम कर वसूल करना चाहिए।

(स) वसूली का समय जिस समय आय प्राप्त होती हो उसी समय कर वसूल करना चाहिए क्योंकि संभव है कि करदाता अगले वर्ष भारी आर्थिक हानियों या अन्य कारणों से कर की अदायगी न कर सके।

(द) आय का स्वरूप अपने प्रयास से प्राप्त निजी धन की अपेक्षा उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई संपत्ति पर अधिक कर लगाना चाहिए।

(य) अतिरिक्त आय अतिरिक्त आय मिलने वाले व्यक्ति पर अपेक्षाकृत अधिक कर लगाना चाहिए।

2. मनुष्य की संपत्ति : कुछ विचारकों ने संपत्ति को करदान सामर्थ्य का अधिक अच्छा आधार बताया है। इनके अनुसार जिन व्यक्तियों के पास अधिक संपत्ति है उनसे उतना ही अधिक कर लेना चाहिए। मनुष्य की संपत्ति यह प्रकट करती है कि उसकी समाज में कैसी स्थिति है। जिसके पास जितनी अधिक धन-संपत्ति होती है वह उतना ही धनी समझा जाता है। जिसके पास कम संपत्ति होती है वह व्यक्ति उतना ही कम धनी समझा जाता है। धनी व्यक्ति की कर देने की योग्यता अधिक होती है

और जो कम धनी होता है उसकी कर देने की योग्यता भी कम होती है। इस प्रकार सपत्ति करदाता की कर देय योग्यता मापने मे सहायता देती है।

किंतु किसी मनुष्य की सपत्ति को भी कर देने की क्षमता का उचित आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि

(अ) समाज म ऐसे भी बहुत से व्यक्ति होते हैं जिनकी आय तो अधिक होती है परतु वे मितव्ययी नही होते जिसके परिणामस्वरूप उनके पास सपत्ति नही होती। ऐसी स्थिति मे सपत्ति को कर देने की क्षमता का आधार मानना, मितव्ययिता पर कर लगाना है। इसके प्रभाव अनार्थिक होते हैं।

(ब) सपत्ति के मूल्य आकने म कठिनाई होती है।

(स) अगर सपत्ति के आधार पर कर लगाया गया तो सपत्ति के एकत्रीकरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगे।

3 **उपभोग स्तर या व्यय** किसी व्यक्ति के कर देने की क्षमता का माप उसका उपभोग स्तर एव व्यय है। जिस व्यक्ति का जितना अधिक व्यय हो उससे उतना ही अधिक कर वसूल किया जाना चाहिए। हाब्स मिल व फिशर का मत था कि करारोपण उपभोग एव व्यय की ऋण मात्रा के अनुसार किया जाना चाहिए। आधुनिक समय मे इस मत का समर्थन प्रो० निकोलस काल्डोर ने किया है। उनका मत है कि एक न्यूनतम सीमा के बाद जिस व्यक्ति का जितना अधिक व्यय हो उस पर उतना ही करारोपण होना चाहिए। यह विचार इस मान्यता पर आधारित है कि धनी व्यक्ति का उपभोग स्तर एक निर्धन व्यक्ति से अधिक ऊचा होता है। अत अधिक व्यय करने वाले म करदान योग्यता भी अधिक होती है।

वास्तव मे कर देने की योग्यता को मापने का यह आधार भी व्यावहारिक रूप से उचित नही कहा जा सकता। उपभोग को आधार मान कर हम करारोपण को न्यायसगत नही बना सकते, इसके मुख्य कारण निम्न हैं

(अ) किसी एक व्यक्ति का अधिक व्यय इस बात का निश्चित सूचक नही होता कि उसकी कर देने की क्षमता भी अधिक है जैसे एक बड़े परिवार का व्यय छोटे परिवार की अपेक्षा अधिक होता है। इसका आशय यह नही है कि बड़े परिवार की कर देने की क्षमता भी अधिक होगी।

(ब) उपभोग के अनुसार कर लगाने से व्यक्तियो को अपना उपभोग कम करना पड़ेगा। उपभोग कम होने म देश के उत्पादन एव रोजगार पर प्रेरणाकारी प्रभाव पडेगा।

अत निष्कर्ष रूप म यह कह देना कि देश म 'कर' लोगो की कर देने की योग्यता के अनुसार होना चाहिए पर्याप्त नही है। योग्यता या समानता का सिद्धात एक काल्पनिक विषय है। डाल्टन के अनुसार समानता एक काल्पनिक स्वामिनी है जिसका बोध दार्शनिको द्वारा तथा जिसका दृढतापूर्वक पालन राजनीतिज्ञो द्वारा ही किया जा सकता है।'

प्रश्न यह है कि करदेय योग्यता को प्रमाणित करने के लिए व्यक्तिनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोणों में से कौन-सा अधिक उपयुक्त है। व्यक्तिनिष्ठ अथवा आनरिक सिद्धान्त करदाता के त्याग पर निर्भर करता है और त्याग की भावना मानसिक स्थिति से घनिष्ठ रूप से संबंधित होती है इसलिए उसका मापना एक कठिन कार्य है। सच पूछा जाए तो करदेय योग्यता सिद्धांत में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह करारोपण और करदेय क्षमता के मध्य समन्वय स्थापित करने के लिए कोई उचित विधि प्रदान नहीं करता। न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त भी इस दिशा में अपूर्ण है। दोनों ही सिद्धान्तों में यह भाव है फिर भी दोनों सिद्धान्त एक ओर अवश्य संकेत करते हैं कि कर प्रणाली आरोही होनी चाहिए परन्तु इतनी सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि 'आरोही-कर' बहुत आगे तक न बनाया जाए अन्यथा यह संभव है कि लोगों में उत्प्रेरणा समाप्त हो जाए तथा करवंचन को प्रोत्साहन मिले।

डाल्टन एवं पीगू का कहना है कि कराधान सामर्थ्य का सिद्धांत एक पक्षीय है क्योंकि यह व्यय पक्ष को दृष्टिगत नहीं रखता है। प्रो० पीगू एवं डाल्टन ने इसमें व्यय पक्ष को सम्मिलित कर बजट के निर्माण के अधिकतम कल्याण सिद्धांत का पालन किया है।

करारोपण के अधिकतम कल्याण का सिद्धांत

करारोपण के विभिन्न सिद्धान्तों की शृंखला में अंतिम कड़ी अधिकतम कल्याण के सिद्धांत की है। यह समानता सिद्धांत से भिन्न है। समानता के सिद्धान्त का क्षेत्र केवल सामाजिक सेवा की लागत के न्यायोचित वितरण तक सीमित है। जर्मन अर्थशास्त्री एडल्फ वैगनर द्वारा प्रतिपादित करारोपण का सामाजिक कल्याण सिद्धान्त आय के वितरण की संपूर्ण समस्या को अपनी परिधि में लेता है। ये दोनों सिद्धांत बजट के आय पक्ष अथवा कर के पहलू को ही दृष्टि में रखते हैं। इन्होंने 'सार्वजनिक सेवा के निर्धारण को हवा के मध्य लटका हुआ छोड़ दिया है।'[1]

रिचार्ड ए० मसग्रेव ने सार्वजनिक सेवाओं के निर्धारण को भी अपने सिद्धांत में समाविष्ट किया है। यही करारोपण के अध्ययन का सामाजिक पहलू है। डाल्टन तथा पीगू ने इस दिशा में अन्वेषक के रूप में कार्य किया है। डाल्टन ने बजट नीति के संबंध में निम्न दो सिद्धांतों का वर्णन किया है

(1) विभिन्न सार्वजनिक उपयोगों में साधनों का इस प्रकार वितरण किया जाना चाहिए जिसमें प्रत्येक व्यय से प्राप्त सीमान्त सन्तोष बराबर हो।[2]

(2) सार्वजनिक व्यय उस सीमा तक किया जाना चाहिए जहाँ व्यय की अन्तिम इकाई से प्राप्त लाभ करों के रूप में प्राप्त अन्तिम इकाई से उत्पन्न त्याग के

---

1 Richard A Musgrave 'The Theory of Public Finance', (1959), Mc. Graw Hill Book Co, Inc, N York, p 113

2 A C Pigou op cit, p 31

बराबर हो।[1] इस प्रकार से सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में प्राप्त सीमान्त संतोष समान हो जाता है।

अधिकतम कल्याण के सिद्धान्त की विचारधारा को निम्न चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है

बजट क्रियाओं द्वारा लाभ-हानि
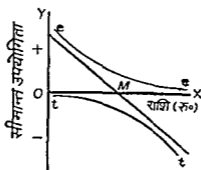
चित्र 17

OX अक्ष पर कोष की मात्रा तथा OY अक्ष पर संतोष को लिया गया है। ये कोष स्रोतों का निजी व्यय से सार्वजनिक व्यय में स्थानान्तरण दिखलाते हैं। यही समाज के संतोष का त्याग है। रेखा ee सीमान्त सामाजिक लाभ का प्रतिनिधित्व करती है। जैसे-जैसे सार्वजनिक व्यय की क्रमागत इकाइयां बढ़ाई जाती हैं वैसे-वैसे यह रेखा नीचे की ओर गिरती जाती है। रेखा tt सीमान्त सामाजिक असंतोष का प्रतिनिधित्व करती है। जैसे-जैसे निजी व्यय में से आय की इकाइयों का क्रमागत स्थानान्तरण करों द्वारा सार्वजनिक व्यय के रूप में होता है यह असंतोष अथवा त्याग बढ़ता जाता है। रेखा ee विशुद्ध सामाजिक लाभ की रेखा है। यह रेखा सीमान्त सामाजिक लाभ में से सीमान्त सामाजिक त्याग अथवा असंतोष को घटाकर बनाई गई है।

चित्र द्वारा हमें ज्ञात होता है कि बजट का अनुकूलतम आकार OM पर *निर्धारित होता है जहां कि सीमान्त सामाजिक लाभ सीमान्त सामाजिक त्याग के* बराबर हो जाता है। इस बिंदु पर विशुद्ध सामाजिक लाभ अधिकतम होगा। मसग्रेव ने इस सिद्धान्त के सन्दर्भ में कहा है, 'इस प्रकार न्यूनतम त्याग के दृष्टिकोण द्वारा करों के आवंटन को सार्वजनिक व्यय के निर्धारित करने वाले अधिकतम लाभ के दृष्टिकोण के अनुरूप बनाया जाता है।'[2]

1 H Dalton op. cit, Chap 2
2 Musgrave op cit p 114

करारोपण का यह सिद्धान्त आवंटन शाखा द्वारा विभिन्न व्यय स्रोत निर्धारण की योजना में व्यवहार में लाया जा सकता है। ऐसे ही वितरण शाखा द्वारा सार्वजनिक आय के विभिन्न सार्वजनिक सेवाओं के बंटवारे में इस सिद्धान्त का उपयोग किया जा सकता है। सार्वजनिक व्यय का एक अभिन्न अंग बन जाने के कारण यह सिद्धान्त 'कर के समानता के सिद्धान्त' से श्रेष्ठ समझा जाने लगा है। इस सिद्धान्त में कर के लाभ के सिद्धान्त की तरह संकीर्णता नहीं है क्योंकि यह सिद्धान्त अपनी परिधि में गुणधारित आवश्यकताओं को भी सम्मिलित कर लेता है उदाहरणार्थ बच्चों को स्कूल में दोपहर का भोजन, उपदानित निम्न लागत आवास तथा निःशुल्क शिक्षा इत्यादि।

इतना सब कुछ होते हुए भी यह सिद्धान्त पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस संबंध में एक कठिनाई यह उपस्थित होती है कि चित्र में दिखाई गई ee तथा tt तालिकाओं के मूल्य किस प्राथमिकता के आधार पर निर्धारित किए जाएं। केवल समान सीमांत लाभ का सिद्धान्त कोई ऐसा ठोस आधार प्रस्तुत नहीं करता जिसके द्वारा विभिन्न व्यय-कार्यक्रमों की सापेक्षिक कुशलताओं को ज्ञात किया जा सके।

10

कर भार का सिद्धांत

कर भार की समस्या का अध्ययन करते समय हम अनेक प्रश्नो पर विचार करते है। कर का भुगतान वास्तव म कौन कर रहा है ? क्या कर भार उसी व्यक्ति पर पड रहा है जिस पर कर लगाया गया है ? क्या कर भार सभी व्यक्तियों पर समान रूप म पडता है या असमान रूप म ? वास्तव म कर भार की समस्या इसलिए उत्पन्न होती है कि कर का भार सदैव उस व्यक्ति पर नही पडता जिससे वह वसूल किया जाता है। साधारणतया यह देखा जाता है कि जिन व्यक्तियो पर कर भार पडता है वे उस भार को स्वय सहन न करके दूसरो पर डाल देते है, जिससे यह कर भार दूसरा को सहन करना पडता है। कर भार के इस स्थानातरण को ही हम कर विवर्तन (shifting of taxes) कहते हैं। इस प्रकार कर विवर्तन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कर भार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को स्थानातरित हो जाता है।

प्राय करदाता वस्तुओ के मूल्य मे कर को जोडकर कर भार को दूसरो पर टालने की कोशिश करता है। कर भार से हमारा अभिप्राय प्रत्यक्ष मौद्रिक भार से होना है।

करापात का अर्थ

कर लगाने के फलस्वरूप जो परिणाम भिन्न-भिन्न व्यक्तियो पर पडते है, उनका वर्गीकरण निम्नानुसार किया जा सकता है
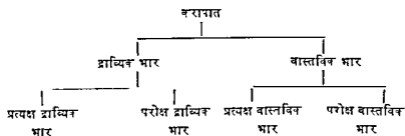
डाल्टन ने कर के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष भार और द्राव्यिक भार तथा वास्तविक भार में भेद किया है। करापात किसी भी कर का प्रत्यक्ष द्राव्यिक भार है। कर के प्रत्यक्ष द्राव्यिक भार से हमारा अभिप्राय उस द्राव्यिक भार से है जो कर चुकाने के संबंध में करदाता के ऊपर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। कभी-कभी कुछ विशेष परिस्थितियों में ऐसा भी होता है कि करदाता को कर की राशि की अपेक्षा अधिक धनराशि से वंचित होना पड़ता है। उस स्थिति में यह 'कर का परोक्ष द्राव्यिक भार' के नाम से पुकारा जाता है। यह स्थिति उस समय आती है जब विक्रेता कर तो अदा करता है परंतु उस कर को उपभोक्ता तक विवर्तित करने में उसे कुछ समय लगता है। अतः वह कर के विवर्तित करने की अवधि तक ब्याज की राशि कर में जोड़कर क्रेता से वसूल करता है। क्रेता को ब्याज के रूप में जो हानि सहन करनी पड़ती है वह परोक्ष द्राव्यिक भार है।

किसी व्यक्ति पर जो भार पड़ता है अथवा उसे आर्थिक कल्याण का जो त्याग करना पड़ता है वह उसका प्रत्यक्ष वास्तविक भार कहलाता है। यह उस समय उत्पन्न होता है जब उपभोक्ता को, कर के कारण वस्तु का मूल्य बढ़ जाने से उस वस्तु पर अधिक व्यय करना पड़ता है जिससे उसका व्यापार घटने के कारण आर्थिक कल्याण में ह्रास होता है। दूसरी ओर कर की अदायगी के फलस्वरूप उस किसी वस्तु के उपभोग में जो कमी करनी पड़ती है, वह उसका परोक्ष वास्तविक भार कहलाता है।

उपर्युक्त कर भार के प्रसंग में श्रीमती हिक्स ने औपचारिक तथा प्रभावपूर्ण करापात में अंतर बतलाया है। इनका औपचारिक कर भार प्रत्यक्ष द्राव्यिक भार के समान है।

कर भार के आशय को स्पष्ट करने के लिए निम्न धारणा का अंतर उल्लेखनीय होगा।

कर भार या करापात और कराधान में अन्तर

सरकार द्वारा लगाया गया कर किसी न किसी से वसूल किया जाता है। जो व्यक्ति या संस्था सरकार को सबसे पहले कर अदा करती है करापात उसी व्यक्ति या संस्था के ऊपर होता है। सरकार के यहां बनी हुई करदाताओं की पंजीकृत सूची में उस व्यक्ति या संस्था का नाम होता है जिस पर कि करापात होता है। वही व्यक्ति अपनी आय में से कर का सरकार के खजाने में जमा करने के लिए उत्तरदायी होता है। यदि वह व्यक्ति या संस्था खजाने में जमा की जानेवाली राशि को किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों से वसूल करने में सफल हो जाता है तो यह कहा जाएगा कि प्रथम व्यक्ति पर कराधान है और दूसरे व्यक्ति पर, जिसे वास्तव में कर भार सहन करना पड़ा है, करापात है। अतः करापात उस व्यक्ति पर माना जाएगा जिसकी आय कर अदा करने से वास्तव में कम हो जाती है। जब व्यक्ति कर को दूसरों पर नहीं टाल सकते तब करापात तथा कराधान दोनों एक ही व्यक्ति पर होते हैं।

इस प्रकार करापात से हमारा आशय उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों से है जो अंतिम रूप में कर के भार का सहन करते हैं। प्रो० पीगू के शब्दों में जो धन सरकारी कोष में पहुँचता है वह किसी की जेब से निकलता है या यदि कर के रूप में सरकार न लेती तो किसी की जेब में वह धन सुरक्षित रहता। अतः करापात से अनुगत यह ज्ञात किया जाता है कि कर विवर्तन के कारण क्या है और यह किस सीमा तक किया जाता है। करापात उस व्यक्ति पर होता है जो इसे किसी अन्य पर टाल नहीं सकता। दूसरे शब्दों में हम यों भी व्यक्त कर सकते हैं कि करापात उन व्यक्तियों पर होता है जिनको कि करों का द्रव्य भार अंतिम रूप में वहन करना पड़ता है।

करापात तथा कर के प्रभाव में अंतर

करापात तथा कर के प्रभाव सैद्धांतिक दृष्टिकोण से एक दूसरे से भिन्न हैं। करापात के अन्तर्गत हम करों के प्रत्यक्ष द्राव्यिक भार का अध्ययन करते हैं अथवा कर की राशि का भुगतान कौन करता है इस बात का अध्ययन करते हैं। करापात की मूल समस्या यह है कि उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों का पता लगाया जाए जिनको कि अंतिम रूप से कर अदा करना पड़ता है। जैसे कि प्रो० पीगू ने इस संबंध में कहा है कि राजकोष अथवा सरकारी खजाने में जो राशि आई है वह किस व्यक्ति की जेब से आई है। यदि वह राशि सरकार द्वारा न ली जाती तो वह किसकी जेब में रहती? इस प्रकार करापात का अध्ययन विवर्तन के कारणों तथा उसके परिणामों से संबंधित है। इसके अध्ययन से हम यह कह सकते हैं कि करापात उस व्यक्ति पर है जो कर के भार को किसी अन्य व्यक्ति पर विवर्तित नहीं कर सकता।

इसके विपरीत कर के प्रभावों का अर्थ बहुत विस्तृत होता है। इसके अन्तर्गत हम करों से उत्पन्न होने वाली सभी प्रकार की आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करते हैं। करारोपण से करदाता के उपभोग, बचत तथा कार्य करने की इच्छा या क्षमता व वस्तुओं के मूल्य आदि पर क्या प्रभाव पड़ता है। करारोपण के उपरान्त मूल्यों में परिवर्तन हुआ या नहीं। यदि मूल्य परिवर्तन हुआ है तो उससे उत्पादक की बिक्री तथा उपभोक्ता के उपभोग की मात्रा पर क्या प्रभाव पड़ा है। इन सब समस्याओं का अध्ययन करों के अन्तर्गत किया जाता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कर भार के अन्तर्गत केवल करों के प्रत्यक्ष द्राव्यिक भार का अध्ययन किया जाता है जबकि कर प्रभाव के अन्तर्गत करों से उत्पन्न होने वाली हर प्रकार की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

करापात और कर विवर्तन में अंतर

जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है करापात का आशय यह ज्ञात करना है कि किसी कर का करदाता पर कितना द्राव्यिक भार पड़ता है। इसके विपरीत कर विवर्तन का अर्थ है—करदाता द्वारा कर के भार को दूसरों पर टालना। कर

विवर्तन वह विधि है जिसके द्वारा कर का भार एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति पर हस्तान्तरित किया जाता है। वास्तव में कर विवर्तन करदाता की क्षतिपूर्ति है। इसलिए यह कहना स्वाभाविक है कि कर का विवर्तन मूल्य-संरचना द्वारा होता है, क्योंकि वह वस्तु का मूल्य बढ़ाकर अपने कर भार को दूसरों पर अन्तरण करता है।

इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि वस्तु का मूल्य बिना बढ़ाए वस्तु की मात्रा अथवा उसके गुण में कमी कर के भी कर का विवर्तन किया जा सकता है। परन्तु यह तर्क पूर्णतया सही नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा कर सर्वप्रथम अनैतिक होगा और द्वितीय, वस्तु को पूर्ववत मूल्य पर ही कम मात्रा में देने का अर्थ वास्तव में उस वस्तु का मूल्य बढ़ जाना ही होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कर भार का विवर्तन मूल्य-संरचना द्वारा ही हो सकता है।

कर भार का महत्व

कर भार की धारणा का लोक आगम में बहुत अधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। किसी देश के वित्त मंत्री को कर लगाने से पूर्व यह देखना आवश्यक होता है कि कर करदेय क्षमता के अनुसार लगाया जा रहा है या नहीं। क्योंकि कर लगाने का उद्देश्य आय प्राप्त करने के साथ-साथ धन की असमानता को भी दूर करना होता है। यह तभी संभव हो सकता है जबकि वित्त मंत्री को यह निश्चित रूप से ज्ञात हो कि कर का वास्तविक भार किस व्यक्ति पर पड़ रहा है। इस महत्त्व के कारण कर भार की धारणा का अध्ययन करारोपण का एक अभिन्न अंग मान लिया गया है। करारोपण का उद्देश्य केवल आय की वृद्धि ही नहीं वरन उसकी संपत्ति पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभावों को रोकना और सामाजिक-आर्थिक क्रियाओं का नियमन करना भी है।

प्रत्यक्ष करों का विवर्तन सरलता से नहीं हो पाता। अतः उन पर पड़ने वाले कर भार का ज्ञान सुगमता से किया जा सकता है। परोक्ष करों में कर विवर्तन बड़ी तीव्रता से होता है इसलिए कर भार की वास्तविक जानकारी प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयां सामने आती हैं जिनके कारण कर भार के अध्ययन का महत्त्व सीमित हो जाता है। इनमें से कुछ मुख्य कठिनाइयों का वर्णन नीचे किया गया है :

1. मूल्यों में परिवर्तन : कर के भार के वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करना सदैव संभव नहीं है क्योंकि कर भार के विवर्तन की जानकारी मूल्यों में हुए परिवर्तनों से ही हो सकती है। यदि कर के लगाने से मूल्य बढ़ जाते हैं तो कर के भार को विवर्तित कर दिया जाता है, अन्यथा नहीं। परंतु मूल्यों में परिवर्तन विवर्तन के कारण ही नहीं होते वरन अन्य कारणों से भी हो सकते हैं, जैसे लागत में वृद्धि, पूर्ति में कमी या मांग में वृद्धि इत्यादि। अतः ऐसी दशा में यह ज्ञात करना असंभव हो जाता है कि मूल्यों में कितनी वृद्धि कर विवर्तन के कारण हुई है और कितनी अन्य कारणों से।

2 कर भार तथा कर प्रभाव का अंतर ज्ञात करना कठिन दूसरे, कर भार व कर के प्रभावों में अन्तर मालूम करना कठिन होता है। सैद्धांतिक दृष्टि से तो हम इनके अंतर की व्याख्या कर सकते है परंतु व्यवहार में इनके अंतर का स्पष्टीकरण कठिन होता है।

3 कर भार की तुलनात्मक विचारधारा कर भार करारोपण के उचित वितरण का सही निर्देशक नहीं हो सकता क्योंकि किसी एक वर्ग पर पड़ने वाले कर भार का अध्ययन यह सिद्ध नहीं करता कि वह उन लोगों की तुलना में अधिक कष्ट उठा रहा है जो कर की अदायगी नहीं कर रहे हैं। प्रो० कैनन का विचार है, बहुत बार ऐसा होता है कि जब कोई कर लगाया जाता है तो उन लोगों को अधिक लाभ होता है जो कर अदा करते हैं और जो कर अदा नहीं करते हैं उन्हें हानि होती है। वह व्यक्ति जो किसी पुल पर लगाई गई चुंगी का भुगतान न करने के उद्देश्य से दो मील प्रति दिन अधिक चलता है उसे उन लोगों की अपेक्षा, जो चुंगी का भुगतान करते हैं, वास्तव में कठिनाई होती है।

इन सभी कठिनाइयों के होते हुए भी कर भार की धारणा का महत्त्व बिल्कुल समाप्त नहीं हो जाता। सरकार कर भार के अध्ययन द्वारा ऐसे उपाय अपना सकती है जिससे उसके पूर्व निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति हो जाए। सरकार इसके अध्ययन से कर भार ऐसे व्यक्तियों पर डाल सकती है जिन पर कि वह डालना चाहती है। किसी भी देश की वित्तीय व्यवस्था तथा उसका सर्वमुखी विकास इस तथ्य पर निर्भर करता है कि वहां कर भार का सही अध्ययन किस सीमा तक किया गया है, तभी उसका समाज में उचित वितरण तथा करारोपण के प्रभावों का ज्ञान हो सकता है। सेलिगमैन ने इस संदर्भ में ठीक ही लिखा है, यह कर भार निश्चित कर लेने पर ही संभव है कि हम करों के विस्तृत प्रभावों पर विचार कर सकें।'

कर विवर्तन की मुख्य विशेषताए

कर विवर्तन की मुख्य विशेषताओं का वर्णन नीचे किया गया है

(क) एक या अनेक बिंदुओं पर कर विवर्तन

जब कर का भार एक व्यक्ति से दूसरे, दूसरे से तीसरे तथा तीसरे से चौथे व्यक्ति पर विवर्तित होता है तो कहा जाता है कि कर का विवर्तन कई बिंदुओं पर होता है। उदाहरण के लिए यदि सरकार चीनी के उत्पादक पर कर लगाती है तो पहले वह उसे थोक व्यापारियों पर, थोक व्यापारी फुटकर व्यापारियों पर तथा फुटकर व्यापारी अंत में उपभोक्ताओं पर ढकेल देते हैं। इस प्रकार कर का विवर्तन अनेक बिन्दुओं पर होता है। जब वस्तु कर व्यापारियों द्वारा उपभोक्ताओं पर ढकेल दिया जाता है और अब कर का विवर्तन आगे संभव नहीं होता तो ऐसा विवर्तन एक बिंदु से दूसरे बिंदु पर कर विवर्तन कहलाता है।

(ख) कर विवर्तन की रीतियां

कर विवर्तन की दो रीतियां होती हैं

1 अग्रगामी विवर्तन : अग्रगामी विवर्तन में कर का भार आगे की ओर ले जाया जाता है। यह विवर्तन का अधिक सरल रूप है। जब किसी व्यापारी पर कर लगाया जाता है तो वह उस वस्तु के मूल्य में जोड़ कर उसकी अतिपूर्ति ग्राहकों से कर लेता है। टेलर के शब्दों में "जब कर को आगे की ओर अन्तिम रूप से उपभोक्ताओं पर विवर्तित कर दिया जाता है तो इसी क्रिया अग्रगामी विवर्तन कही जाती है।'

2 प्रतिगामी विवर्तन : व्यापारी जब वस्तुओं के करारोपण के उपरान्त यह अनुभव करता है कि कर वस्तुओं के मूल्यों में जोड़ने से वस्तुओं के मूल्य अधिक बढ़ जाएंगे और वस्तुओं की बिक्री कम हो जाएगी तो वह उस कर भार को लोगों पर जिनकी सेवाएं उत्पादन कार्य के लिए खरीदी गई हैं, थोड़ा कम मूल्य देकर हस्तान्तरित करने का प्रयास करता है। यदि वह इसमें सफल हो जाता है तो इस प्रकार के कर विवर्तन को प्रतिगामी विवर्तन कहेंगे।

कभी-कभी ऐसी परिस्थितियां भी आती हैं, जब व्यापारी वस्तु के कर को न तो आगे ढकेलने में सफल हो पाता है और न पीछे ढकेलने में। ऐसी स्थिति में वह कर के भार को स्वयं ही सहन करता है।

सेलिग्मैन ने कर विवर्तन को समय के अनुसार तीन भागों में विभाजित किया है (1) तात्कालीन विवर्तन, (2) अल्पकालीन विवर्तन तथा (3) दीर्घकालीन विवर्तन। तात्कालीन विवर्तन वर्तमान पूर्ति की कीमत में परिवर्तन करके किया जाता है। अल्पकालीन विवर्तन तब होता है जब साधनों द्वारा होने वाली भावी पूर्ति की कीमत में परिवर्तन करके विवर्तन किया जाए। इसके विपरीत यदि स्वयं उत्पत्ति के साधनों की कीमतों में परिवर्तन करके विवर्तन किया जाता है तो इसे दीर्घकालीन विवर्तन कहते हैं।

(ग) कर विवर्तन के स्वरूप

इसके दो रूप हैं—प्रथम, व्यापारी कर की मात्रा के बराबर वस्तु का मूल्य बढ़ाकर कर को वस्तु का उपभोग करने वालों पर विवर्तित कर दे। द्वितीय, यदि वह अपने इस प्रयास में सफल न हो सके तो वह वस्तु की मात्रा व गुण में या इनमें से किसी एक में कर के भार को विवर्तित कर सकता है।

(घ) कर विवर्तन का सहन करना

कर का भार कभी उत्पादक को तो कभी उपभोक्ताओं को और कभी-कभी उत्पादक, थोक व्यापारी व उपभोक्ता को आंशिक रूप में वहन करना पड़ता है।

कर विवर्तन व कर वंचन में भेद

साधारणतया कभी-कभी कर विवर्तन व कर वचन के अर्थ में समानता की भ्रान्ति दिखाई पड़ती है जिसे हम मृग-मरीचिका की सज्ञा दे सकते है। कर वचन से तात्पर्य कर की अदायगी से बचाव करना है। सर जेम्स ग्रिग ने कर की चोरी का घोर अपराध कहा है। जबकि कर विवर्तन का अर्थ करदाता द्वारा कर के भार को आंशिक या पूर्ण रूप से दूसरे पर विवर्तित करने से होता है। जेम्स ने कर विवर्तन को कर बचाव की कला कहा है। कर वचन तथा कर विवर्तन में निम्न भेद है

(1) कर विवर्तन से सरकार के राजस्व को हानि नहीं होती जबकि कर की चोरी से सरकार के राजस्व की हानि होती है।

(2) कर विवर्तन में कर भार किसी न किसी को सहन करना पड़ता है जबकि कर वचन में कर का भार किसी भी व्यक्ति को सहन नहीं करना पड़ता।

(3) कर विवर्तन कर से बचन की एक विधि है। सरकार इसे अवैध नहीं मानती। परंतु सरकार कर वचन को कानूनी अपराध मानती है।

(4) कर वचन से देश व व्यक्तियों का नैतिक पतन होता है जबकि कर विवर्तन में ऐसा कुछ नहीं होता।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो नैतिक दृष्टि से कर वचन और कर विवर्तन दोनों ही बुरे हैं। हा, कर विवर्तन उस समय अनैतिक नहीं कहा जा सकता जब सरकार इस उद्देश्य से ही कर लगाए कि कर का विवर्तन हो और वांछित व्यक्तियों को ही कर वहन करना पड़े।

कर भार के प्राचीन सिद्धात

कर विवर्तन के सबध में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए जाते रहे है, जिनमें दो सिद्धात उल्लेखनीय हैं

(1) सकेंद्रण सिद्धात

इस सिद्धात की व्याख्या फ्रेंच विचारकों के एक सम्प्रदाय 'निर्बाधवादियों' ने की है। इन विचारकों के अनुसार कोई कर किसी भी व्यक्ति पर और चाहे कहीं पर भी लगाया जाए, अंत में वह उत्पादकों के एक विशेष वर्ग भूमिपतियों पर ही केंद्रित होने लगता है। उनका विचार था कि कृषि एकमात्र उत्पादक व्यवसाय है और शेष व्यवसाय अनुत्पादक होते हैं। यदि अनुत्पादक व्यवसायों पर कर लगते है तो वे विवर्तित होकर अत में कृषि पर ही पड़ते हैं क्योंकि कृषि में ही अतिरेक उत्पन्न होता है। केवल कृषकों पर लगाए गए करों का विवर्तन नहीं होता। इस प्रकार करों के विवर्तन तथा पुनर्विवर्तन की निरंतर प्रक्रिया द्वारा सभी कर अत

में, कृषकों अथवा भूमिपतियों पर ही केंद्रित हो जाते हैं और उसके उपरान्त उन करों का विवर्तन नहीं हो सकता। अनावश्यक कर विवर्तन असुविधाजनक होते हैं। अतः निर्बाधवादियों ने सलाह दी कि केवल भूमि की शुद्ध आय पर ही कर लगना चाहिए। इसलिए उन्होंने एकल कर का समर्थन किया।

निर्बाधवादियों का यह सिद्धांत भ्रांतिपूर्ण समझा जाता है क्योंकि यह इस गलत धारणा पर आधारित है कि कृषि व्यवसाय ही उत्पादक व्यवसाय है। यदि कृषकों पर ही कर लगाया जाता है तो बड़ी आय अर्जित करने वाले अन्य व्यक्ति करारोपण से मुक्त हो जाएंगे। इस प्रकार धन के वितरण की असमानता दूर होने की अपेक्षा और बढ़ेगी। इस सिद्धांत में एक सत्य अवश्य है कि किसी भी कर की अदायगी अतिरेक में से ही की जा सकती है और अतिरेक के अभाव में यदि कर लगाया गया तो लोग उसको विवर्तित करने का ही प्रयत्न करेंगे।

(2) विसरण सिद्धांत

कर भार सम्बन्धी विसरण सिद्धांत की व्याख्या फ्रांसीसी अर्थशास्त्री कैनार्ड ने की है। इनके अनुसार कर किसी एक विशेष वर्ग पर केंद्रित नहीं होते, अपितु इसके विपरीत, उनका प्रसार तथा फैलाव सम्पूर्ण समाज में ही हो जाता है। कर चाहे किसी भी व्यक्ति पर लगाया जाए, वह प्रत्येक सौदे के द्वारा क्रेता और विक्रेता के मध्य उस समय तक बंटता रहता है जब तक वह समान रूप से सम्पूर्ण समाज में न फैल जाए। कैनार्ड ने विकेंद्रण की तुलना रक्तस्राव के परिस्राव से की है। वे लिखते हैं, 'यदि मनुष्य के शरीर की किसी नस में से रक्त निकाल लिया जाए तो रक्त की कमी केवल उस नस में न होकर सारे शरीर में हो जाती है। दूसरे शब्दों में यदि समाज में किसी एक व्यक्ति से कर लिया जाय तो उसका भार समाज के सभी लोगों पर पड़ेगा, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समाज रूपी शरीर का अंग है।'

एक अंग्रेज जज मैंसफील्ड के मतानुसार, 'कर उस पत्थर के समान है जो झील में गिर कर पानी में घेरा उत्पन्न कर देता है और फिर एक के बाद एक घेरा उत्पन्न होता रहता है और झील के समस्त पानी को आंदोलित कर देता है।'

सर हेमिल्टन ने इस प्रसंग में एक बार ब्रिटिश संसद में कहा था, 'विसरण सिद्धांत में भी कदाचित अधिक सच्चाई है, वह यह कि करों की प्रवृत्ति फैलने तथा समान होने की होती है और यदि वे निश्चितता तथा एकसारिता से लगाए जाएं तो वे फैलकर प्रत्येक सम्पत्ति पर ही अपना भार डालेंगे।'

अभिप्राय यह है कि सरकार कोई कर किसी व्यक्ति विशेष पर ही क्यों न लगाए वह विवर्तित होने की प्रवृत्ति दिखाता है। और यह क्रिया उस समय तक चलती रहती है जब तक कि कर सम्पूर्ण समाज में वितरित नहीं हो जाता। इस सिद्धांत के आधार पर ही यह कहा जाता है, 'एक पुराना कर, कर नहीं है', क्योंकि पुराने कर का भार अनेक विवर्तित होकर सम्पूर्ण समाज में विसरित हो जाता है

और लोग उसके अभ्यस्त होकर उसके मनोवैज्ञानिक एव द्राव्यिक भार को भूल जाते है। इस सिद्धात मे यह भी स्वीकार किया गया है कि करो का विवर्तन इस प्रकार होता है कि उनका भार सभी व्यक्तियों पर उनकी सापेक्ष करदान क्षमता के अनुसार होता है।

आलोचनाएं यह सिद्धात भी भ्रान्तिपूर्ण तथा अव्यावहारिक है क्योंकि

(क) इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी कर न्यायपूर्ण अथवा अन्यायपूर्ण नही है क्योंकि कर के सपूर्ण भार को न तो कोई एक व्यक्ति अथवा एक वर्ग सहन कर सकता है और न कोई व्यक्ति कर भार से मुक्त हो सकता है।

(ख) हम यह तो कह सकते हैं कि कर का विवर्तन कुछ हद तक हो सकता है लेकिन इसको स्वाभाविक और अनिवार्य मान लेना सर्वथा अनुचित है। अनेक प्रत्यक्ष कर जैसे आय कर, उत्तराधिकारी कर इत्यादि ऐसी प्रकृति के हैं जिनका विवर्तन ही नही हो सकता है।

(ग) यह सिद्धात इस मान्यता पर आधारित है कि बाजार मे पूर्ण तथा मुक्त प्रतियोगिता पाई जाती है, जो वास्तविक नही है।

उपरोक्त कमियो के होते हुए भी इस सिद्धात मे एक अच्छाई यह है कि इसने यह स्पष्ट कर दिया है कि अनेक परिस्थितियों मे यह सभव नही हो सकता कि कर विवर्तन का ठीक-ठीक पता लगाया जा सके।

कर भार का आधुनिक सिद्धांत

आधुनिक अर्थशास्त्री उपरोक्त सिद्धातो से सहमत नही हैं। इन अर्थशास्त्रियो ने कर भार की समस्या के हल करने मे मान और मूल्य (Value and price) के विश्लेषण को लागू किया है। जिन तत्त्वो से कर का विवर्तन निर्धारित होता है, वे इस प्रकार है

(1) विनिमय कार्य का सपन्न होना

आधुनिक अर्थशास्त्री इस बात पर बल देते हैं कि कर का विवर्तन विनिमय द्वारा होता है। प्राचीन सिद्धातो की भाति ये अर्थशास्त्री भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि कर का भुगतान,केवल अतिरेक मे से ही किया जाता है। अतिरेक की अनुपस्थिति मे कर का विवर्तन उस समय तक होना रहेगा जब तक ऐसी स्थिति उत्पन्न न हो जाए कि उसको अतिरेक प्राप्त हो। यदि करारोपित वस्तु ऐसी है जिसमे क्रेता और विक्रेता दोनो को अतिरेक प्राप्त हो रहा है तो कर का भार दोनों वर्ग सहन करेंगे।

(2) कर उत्पादन-लागत का एक अंश है

आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार कर उत्पादन-लागत का एक अंश है। जिस प्रकार मजदूरों को मजदूरी तथा पूजीपतियों को ब्याज दिया जाता है उसी प्रकार से

सरकार को कर दिया जाना है। इसलिए वस्तुओं का मूल्य इतना होना चाहिए जिससे कर की राशि का भुगतान किया जा सके। यदि कर का भुगतान वर्तमान मूल्य में से नहीं हो पाता है तो मूल्य में वृद्धि उस समय तक होती रहेगी जब तक कर का पूरा भुगतान न होने लगे। यदि करारोपण के उपरान्त मूल्य में केवल आंशिक रूप में वृद्धि होती है तो इसका यह अर्थ होगा कि कर का एक भाग क्रेता और शेष विक्रेता सहन करेगा।

(3) कर की प्रकृति

करदाता कर का कितना भार दूसरों पर विवर्तित कर सकता है यह कर की प्रकृति एवं स्वभाव पर निर्भर करता है। कर की प्रकृति से हमारा आशय है कि कर किस प्रकार की वस्तुओं पर लगाया गया है तथा कर का आधार क्या है। क्या कर आय पर लगाया गया है अथवा सम्पत्ति पर उत्पादन पर या बिक्री पर।

(4) उत्पादन की दशाएं

कर की व्यापकता वस्तुओं के उत्पादन की दशाओं पर भी निर्भर करती है। वस्तु का उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता में हो रहा है या एकाधिकार अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता में। इसके अतिरिक्त हम यह भी जानना आवश्यक है कि उत्पादन में कौन-सा नियम लागू हो रहा है? क्या वह उत्पत्ति वृद्धि नियम, ह्रास नियम या स्थिर नियम के अंतर्गत हो रहा है?

(5) मांग व पूर्ति की लोच

करदाता कितना कर दूसरों पर ढकेलने में सफल होगा यह करारोपित वस्तु की मांग और पूर्ति की लोच पर निर्भर करता है। यदि वस्तु की मांग लोचदार है तो क्रेता मांग को घटाकर और मूल्यों को गिराकर कर भार को विक्रेताओं पर विवर्तित कर सकता है। वस्तुओं की पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होती है, उत्पादक वस्तु की पूर्ति को घटाकर इसके मूल्य में वृद्धि करके कर भार को क्रेताओं पर विवर्तित करने में उतना ही अधिक सफल होता है। इस प्रकार बिक्री कर भार को क्रेताओं पर और क्रेता उसे विक्रेताओं पर वापिस टालने का सतत प्रयास करते हैं। इन दोनों में कौन कितना सफल होता है यह दोनों की सापेक्षिक सौदा करने की शक्ति पर निर्भर करता है जो स्वयं वस्तुओं की मांग और पूर्ति की लोच द्वारा निर्धारित होती है।

(6) कर की मात्रा

कर भार कर की मात्रा द्वारा भी प्रभावित होता है। यदि कर की मात्रा कम होती है तो विक्रेता अथवा उत्पादक उसे स्वयं सहन कर लेता है। यदि कर की मात्रा अधिक है तो प्रायः वह क्रेता को ही सहन करना पड़ता है। यदि कर बड़ी मात्रा में लगाया गया है तो क्रेता और विक्रेता को किसी एक-एक अनुपात में सहन करना होता है।

(7) स्थानापन्न वस्तुओ की उपलब्धि

स्थानापन्न वस्तुओ की उपलब्धि भी कर भार को निर्धारित करने मे अपना महत्त्व रखती है। यदि करारोपित वस्तु के स्थानापन्न सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं तो कर भार प्राय विक्रेता द्वारा सहन किया जाता है ।

(8) श्रम व पूजी की गतिशीलता

यदि श्रम और पूंजी अधिक गतिशील है तो कर का भार उपभोक्ताओ पर ढकेला जा सकता है और यदि वे गतिशील नही हैं तो लाचारी मे कर भार उत्पादको को स्वय सहन करना होता है।

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि कर भार तथा उसके विवर्तन को निर्धारित करने वाले अनेक कारण हो सकते हैं, परतु इन सब कारणो मे माग और पूर्ति की लोच मुख्य स्थान रखती है।

वस्तु की माग और पूर्ति की लोच तथा कर भार

किसी करारोपित वस्तु के कर का कितना भाग क्रेता तथा कितना भाग विक्रेता सहन करेगा, यह वस्तु की माग और पूर्ति की लोच पर निर्भर करता है। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन नीचे किया गया है।
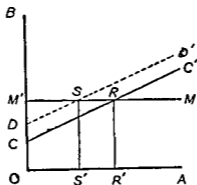
चित्र 18

1 पूर्णतया लोचदार माग

इस प्रकार की माग से अभिप्राय उस स्थिति से है जिसमे कीमत मे हुई मामूली सी वृद्धि से वस्तु की माग शून्य तक नीचे गिर जाती है और तनिक सी कम होने पर माग असीमित मात्रा मे बढ जाती है।

इस प्रकार की वस्तु की माग की लोच होने पर यदि सरकार कर लगाती है तो कर का सपूर्ण भार विक्रेता को सहन करना पडता है। इसको हम नीचे दिखाए गए चित्र मे समझा सकते हैं।

उपरोक्त चित्र मे MM' रखा माग वक्र रखा है और CC' तथा DD' पूर्ति वक्र रेखायें हैं। DD' वक्र रेखा कर के बाद की पूर्ति वक्र रेखा है। जब CD कर लगाया जाता है तो कर लगाने के बाद मूल्य SS' पहले मूल्य RR' के बराबर ही रहेगा लेकिन वस्तु की पूर्ति घटकर OR' से OS' हो जाएगी। इस स्थिति म कर भार पूर्ण रूप मे विक्रेताओ को वहन करना पडता है। व्यावहारिक जीवन म यह स्थिति देखन का नही मिलती है

2. वस्तु की लोचदार माग

इस प्रकार की माग स अभिप्राय उस स्थिति म है जिसम किसी वस्तु की कीमत मे हुए अल्प आनुपातिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप माग की मात्रा म अपेक्षाकृत अधिक परिवर्तन होता है।

इस स्थिति मे विक्रेता माग की लोच की सीमा तक तो कर भार स्वय वहन कर लेता है किंतु इसके बाद वह वस्तु के मूल्य म कर के भार को जोडकर वस्तु के मूल्य मे वृद्धि कर देता है, जैसा कि निम्न चित्र से स्पष्ट है
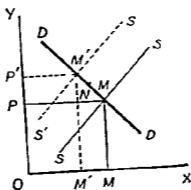
चित्र 19

प्रस्तुत चित्र मे करारोपण के कारण मूल्य MM मे बढकर M'M' हो जाएगा। यानी कि वस्तु के मूल्य मे NM' की वृद्धि हो गई है लेकिन वस्तु का मात्रा भी OM से घटकर OM' हो गई है। इस स्थिति मे विक्रेता को प्रथम स्थिति मे कम मात्रा में उत्पादन में कमी करनी पडती है। विक्रेता अधिकतम कर भार को स्वय वहन करेगा व बहुत ही कम कर भार उपभोक्ता पर विवर्तित करेगा। इस चित्र में NM' कर राशि क्रेताओं तथा NS' कर की राशि विक्रेता को सहन करनी पडेगी, यानी कि जिस वस्तु की माग लोचदार होती है उसम विक्रेता को क्रेता से अधिक कर के भार को वहन करना पडता है।

3 पूर्णतया बेलोचदार माग

इस प्रकार की माग से अभिप्राय उस स्थिति या दशा से है जिसम कीमत म हुए भारी परिवतना का भी माग पर कुछ प्रभाव नही पडता है।

इस दशा म कर लगने से विक्रेता कर भार पूर्ण रूप से क्रेताओ पर डालने म समय होता है क्योकि वस्तु की पूर्ति की माग बेलोचदार होती है। यह दशा अधिकतर आवश्यक वस्तुओ पर लागू होती है जैसे नमक। यदि नमक पर कर लगा दिया जाता है तो विक्रेता नमक के मूल्य म कर जोडकर क्रेता से वसूल कर लेता है क्योकि नमक की माग बेलोचदार होती है। इसको हम निम्न चित्र से स्पष्ट कर सकते हैं
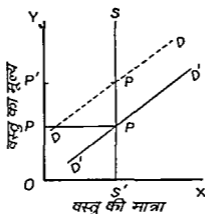
चित्र 20

उपरोक्त चित्र मे PP' करारोपण के कारण मूल्य में वृद्धि है। यह कर की मात्रा के बराबर है। वस्तु की माग OS' पूर्ववत ही रहेगी। इस प्रकार विक्रेता कर के भार को क्रेता पर डालने मे समर्थ होता है क्योकि क्रेता वस्तु की माग म कमी नही कर सकता है। अत इस स्थिति मे, जैसे नमक पर कर लगने पर, उस का भार पूर्णरूप से उपभोक्ता को सहन करना पडेगा।

4 कम बेलोचदार माग

माग की कम बेलोचदार माग से तात्पर्य उस दशा से है जिसमे किसी वस्तु की कीमत म हुए अधिक आनुपातिक परिवतन के परिणामस्वरूप माग मात्रा मे अपेक्षाकृत अल्प अनुपात मे परिवर्तन होता है। इस परिस्थिति म माग की लोच इकाई से कम होती है।

ऐसी स्थिति मे कर लगने पर विक्रेता कर भार को अधिक मात्रा मे वस्तु के मूल्य म शामिल कर लेने मे समर्थ होता है और कर भार को अधिक मात्रा म
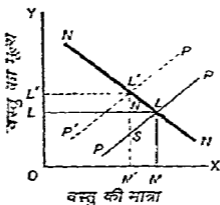
उपरोक्त चित्र में MM_1 MM_2 MM_3 तीन माग वक्र रेखाए हैं। MM' सबसे कम लोचदार तथा MM3 सबसे अधिक लोचदार माग वक्र रेखा है। SS रेखा कर से पूर्व की पूर्ति वक्र रेखा, तथा S S' वक्र रेखा कर से बाद की पूर्ति वक्र रेखा है। जब वक्र रेखा MM1 कम लोचदार माग की वक्र रेखा है तो इस स्थिति म T_1 P_1 कर उपभोक्ताओ तथा P_1 B_1 विक्रेताओ को सहन करना पडता है। दूसरी दशा म उपभोक्ताओं पर कर का भार पहली स्थिति से कम पडता है क्योकि T_1 P_1 रेखा से T_2P_2 रेखा छोटी है और विक्रेताओं द्वारा सहन किया जाने वाला कर भार अपेक्षाकृत अधिक है। तथा तीसरी दशा म विक्रेता क्रेताओ से अधिक कर भार की मात्रा सहन करता है जबकि उपभोक्ता T_3P_3 कर ही सहन करता है। प्रो० डाल्टन का मत है *'अन्य बातें समान रहने पर, कर लगाई हुई वस्तु की माग की लोच जितनी अधिक होगी उतना ही अधिक भार विक्रेताओ पर पडेगा।''*[1] क्योकि लोचदार मांग की वस्तु पर मूल्यो के परिवर्तन का अधिक प्रभाव पडेगा। कर लगने पर यदि विक्रेता सारा भार उपभोक्ताओ पर डालना चाहे तो वस्तु का मूल्य अधिक बढ जाने से उनकी माग कम हो जाएगी। इसलिए विक्रेता अपनी वस्तुओ को अधिक मात्रा मे बेचना चाहेंगे तो उनको कर का भार स्वय वहन करना पडेगा जिससे उपभोक्ताओ की माग में कमी न हो।

माग की लोच पर कर भार का जो प्रभाव पडता है उससे हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं :

(अ) वस्तु की माग पूर्णत बेलोचदार होने पर कर भार क्रेता पर पडता है।

(ब) वस्तु की माग पूर्णत लोचदार होने पर कर भार विक्रेता पर पडता है।

(स) वस्तु की माग जितनी अधिक लोचदार होती है कर का उतना ही अधिक भार विक्रेता पर पडता है।

(द) वस्तु की माग जितनी अधिक बेलोचदार होती है कर के भार का उतना ही अधिक अश क्रेता पर पडता है।

पूर्ति की भूमिका व करापात

कर का विवर्तन तथा कर का करापात वस्तु की पूर्ति पर भी आधारित होता है। अब हम पूर्ति की लोच की दृष्टि से कर भार की विवेचना करेंगे

---

1 Dalton 'Principles of Public Finance' (1949) Routledge & Kegan Paul Ltd., London, pp, 53 & 54

1. पूर्णतया लोचदार पूर्ति

पूर्ति से तात्पर्य उस मात्रा से है जो किसी विशेष मूल्य पर विक्रेताओं द्वारा बेची जाने के लिए प्रस्तुत की जाती है। अन्य बातें यथास्थिर रहने पर, यदि वस्तुओं की पूर्ति लोचदार हो तो ऐसी स्थिति में विक्रेता कर भार को उपभोक्ताओं पर ढकेलने में सफल हो जाता है। ऐसी स्थिति प्राय दीर्घकालीन बाजार में शीघ्र नष्ट न होने वाली वस्तुओं के संबंध में पाई जाती है।

सरकार जब किसी भी वस्तु पर कर लगाती है तो उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है। इसके फलस्वरूप करारोपण के कारण या तो वे अपने उत्पादन की मात्रा कम कर देते हैं या उत्पादन करना ही बंद कर देते हैं। इस अवस्था में वस्तु की पूर्ति में कमी होने के कारण धीरे धीरे वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार उत्पादक कर के भार को पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से क्रेताओं से वसूल करते हैं। इसको हम निम्न चित्र में समझा सकते हैं.
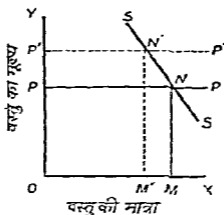
चित्र 23

उपरोक्त दशा में कर लगाए जाने वाली वस्तु की पूर्ति पूर्णरूप से लोचदार है। इस प्रकार इस दशा में सभी भार विक्रेता क्रेता पर डालने के अपने प्रयास में पूर्णतया सफल हो जाता है।

उपरोक्त चित्र में P'P' रेखा कर के बाद की व pp रेखा कर से पहले की पूर्ण लोचदार पूर्ति वक्र रेखाएं हैं। PP' कर भार की राशि है जिससे बाजार मूल्य MN से बढ़कर M'N' हो गया है, जो कि कर की मात्रा के बराबर है। अतः सम्पूर्ण कर भार उपभोक्ताओं पर ही पड़ रहा है।

2 पूर्णतया बेलोचदार पूर्ति

अन्य बातें समान रहने पर यदि वस्तु की पूर्ति पूर्ण बेलोचदार है तो ऐसी स्थिति मे विक्रेता मूल्य परिवर्तन के अनुसार वस्तु की पूर्ति मे घट-बढ नही कर पाता। इस प्रकार इस दशा मे कर के भार को स्वय उसको ही वहन करना पडता है क्योकि वह अल्पकाल मे वस्तु की पूर्ति मे परिवर्तन नही कर पाता। वह कर का विवर्तन क्रेताओ पर करने मे असफल होता है। इस दशा को हम निम्न चित्र से समझ सकते हैं
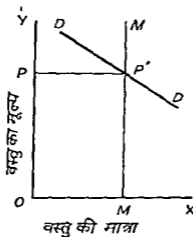
चित्र 24

उपरोक्त चित्र मे MM' वस्तु की बेलोचदार पूर्ति की वक्र रेखा है तथा DD वस्तु की माग है। DD माग व OP मूल्य पर वस्तु की OM मात्रा बिक रही है। इस दशा मे कर लगने मे न तो वस्तु की बिक्री ही कम होती है (क्योकि वस्तु की पूर्ति बेलोचदार है) और न ही वस्तु के मूल्य म कोई बढोत्तरी ही होती है। अत विक्रेता पर ही सपूर्ण कर का भार पडेगा।

3. पूर्ण लोचदार व पूर्ण बेलोचदार पूर्ति के बीच की स्थिति

करारोपित वस्तु की पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी उतनी ही अधिक मात्रा मे कर भार क्रेता वहन करेगा तथा वस्तु की पूर्ति जितनी ही अधिक मात्रा मे बेलोचदार होगी, कर भार उतनी ही अधिक मात्रा मे विक्रेता को वहन करना पडेगा। प्रो० डाल्टन के अनुसार, 'अन्य बातें समान रहने पर कर लगाई हुई वस्तु की पूर्ति की लोच जितनी अधिक होगी उतना ही अधिक कर का भार क्रेताओ को

वहन करना पड़ेगा।[1] क्योंकि लोचदार पूर्ति पर उत्पादन लागत में परिवर्तन का अधिक प्रभाव पड़ेगा इसलिए कर के लगने पर यदि भार कर विक्रेताओं ने सहन किया तो उत्पादन लागत बढ़ जाएगी और वस्तु का उत्पादन गिर जाएगा। अतः क्रेता इस प्रकार की वस्तु पर कर के भार को सहन करेंगे जिससे उनको प्राप्त होने वाली वस्तुओं की मात्रा में कमी न आए। इस प्रकार विक्रेता पूर्ति को कम करके कर के भार को क्रेताओं पर डालने का प्रयत्न करता है और क्रेता माँग कम करके इसको विक्रेताओं पर विवर्तित करने की कोशिश करता है। इसको हम निम्न चित्र की सहायता से समझा सकते हैं।
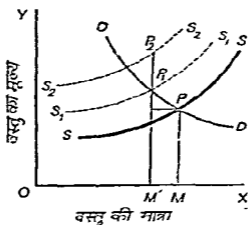
चित्र 25

उपरोक्त रेखाचित्र में जब पूर्ति की लोच कम है अर्थात S_1S_1 रेखा है तो कर का अधिक भार LQ क्रेताओं पर पड़ता है और कम भार L_1P_1 क्रेताओं पर। परन्तु जब पूर्ति अधिक लोचदार (SS_2) है तो कर भार विक्रेताओं पर कम हो जाता है—LQ के बराबर। परन्तु क्रेताओं को इस स्थिति में अब पहली स्थिति से अधिक (यानि LP_2) कर भार वहन करना पड़ता है। यदि पूर्ति रेखा क्षितिज बन जाए अर्थात पूर्ति पूर्णतया लोचदार हो जाए तो कर का सारा भार क्रेताओं पर ही जाएगा तथा विक्रेता कर के भार से मुक्त हो जाएंगे। इसी प्रकार जब माँग की रेखा पूर्णतया लोचदार हो जाती है तो कर का सारा भार विक्रेताओं पर पड़ता है, अर्थात क्रेता कर नहीं देते। इसके विपरीत जब पूर्ति रेखा उदग्र होगी अर्थात पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार होगी तो कर का संपूर्ण भार विक्रेताओं पर होगा। इसी प्रकार माँग की रेखा भी जब पूर्णतया बेलोचदार होगी तो कर का भार क्रेताओं पर होगा।

1 Dalton : Op Cit., p. 54.

निष्कर्ष के तौर पर टेलर का यह कथन है कि 'किसी कर को विवर्तित किया जा सकता है कि नहीं यह प्रतिपक्षी की उस शक्ति पर आधारित रहता है जिसके द्वारा उसका विवर्तन रोका जा सकता है। बचाव करने की यह शक्ति माग व पूर्ति की लोच म प्रदर्शित होती है। उपभोक्ताओं की माग का बेलोचदार होना बचाव की दुर्बलता का द्योतक है और माग का लोचदार होना शक्ति का। इसी प्रकार उत्पादकों व विक्रेताओ के लिए पूर्ति का बेलोचदार होना दुर्बलता प्रदर्शित करता है और लोचदार होना शक्ति का।[1] ठीक ही प्रतीत होता है। प्रो० डाल्टन के अनुसार भी, 'किसी भी वस्तु पर लगाए गए कर का प्रत्यक्ष द्राव्यिक बोझ क्रेताओ व विक्रेताओ के मध्य करारोपित नई वस्तु की माग व पूर्ति की लोच के अनुपात पर निर्भर करता है।'[2]

पूर्ण प्रतियोगिता मे कर विवर्तन

पूर्ण प्रतियोगिता मे तात्पर्य

पूर्ण प्रतियोगिता बाजार की उस दशा को कहते हैं, जहा पर निम्न दशाए विद्यमान होती हैं (1) क्रेता और विक्रेता अधिक सख्या मे हो, (2) क्रेताओं और विक्रेताओ को बाजार सबधी पूर्ण जानकारी होती है, (3) उत्पत्ति के साधनो का समुचित प्रयोग होता है, (4) सारे बाजार मे मूल्य एक सा होता है, (5) उत्पादन व्यय वस्तु के मूल्य के बराबर होता है।

जैसा कि उपरोक्त बातो से विदित है विक्रेता को बाजार मूल्य को स्वीकार करना पडता है। उसका पूर्ति के केवल थोडे मे भाग पर ही नियत्रण होता है। *यदि मूल्य पूर्ण प्रतियोगिता मे बढते हैं तो उसको उत्पादन कम करने के लिए बाध्य* होना पडता है। इस प्रकार उसका कुल लाभ या कुल बचत कम हो जाती है। इसको प्रो० जे०के० मेहता ने निम्न चित्र द्वारा दिखलाया है
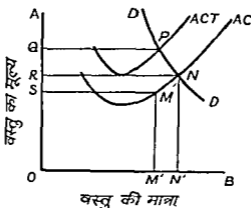
चित्र 26

1 Philip E Taylor 'The Economics of Public Finance' p 287.

2 *Dalton Op. Cit pp 55-56*

विक्रेता पूर्ण प्रतियोगिता के अन्दर केवल अपनी लागत ही प्राप्त कर पा रहा है। उसको अधिकतम लाभ या अतिरिक्त आय प्राप्त नहीं हो रही है। उपरोक्त चित्र मे AC औसत लागत वक्र है। ACT वक्र कर लगने के बाद की दशा को व्यक्त करती है। NN' मूल्य कर लगने से पहले तथा M'P मूल्य कर के बाद का मूल्य है। मूल्य में QR के बराबर वृद्धि हुई है। कर लगने से उपभोक्ता को QRNP मात्रा के बराबर त्याग करना पड़ता है जो सरकार को प्राप्त होने वाली आय QSMP के बराबर है। इस प्रकार उपभोक्ताओं की हानि=सरकार की आय। अत इस स्थिति में विक्रेता को कोई भी कर भार सहन नहीं करना पड़ता क्योंकि वह संपूर्ण कर का भार उपभोक्ता पर लादने में सफल होता है। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता में कर का भार उपभोक्ता ही सहन करता है।

उपरोक्त दशा व्यवहार मे नहीं पाई जाती है। अब हम एक ऐसी स्थिति पर विचार करेंगे जहा पर माग वक्र पूर्ति वक्र को निम्नतम बिंदु पर काटता है। इस प्रकार इस दशा में सरकार को मिलने वाले लाभ की अपेक्षा उपभोक्ता को हानि अधिक होती है जिसको निम्न चित्र से समझा सकते हैं
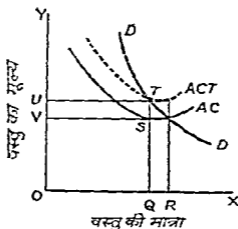
चित्र 27

उपरोक्त चित्र मे सरकार को प्राप्त होने वाली आय या लाभ और करारोपण के कारण उपभोक्ताओं को होने वाली हानि मे ऋणात्मक सबंध है। इस दशा में माग वक्र पूर्ति वक्र को निम्नतम बिंदु पर काटता है। इसमे उपभोक्ता सरकार के लाभ की अपेक्षा हानि अधिक सहन करता है।

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में कुल सामाजिक हानि अधिक होती है। पूर्ण-प्रतियोगिता मे कर केवल माग व पूर्ति की विचारधारा को दृष्टिगत रखते हुए ही

नहीं लगाना चाहिए अपितु अन्य बातों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है जो कि निम्न है

(1) **कर का स्वरूप** कर का विवर्तन कर के स्वरूप पर बहुत कुछ निर्भर होता है। सामान्यत निश्चित कर राशि जैसे लाइसेंस शुल्क अथवा आय और सपत्ति पर प्रतिशत करो का विवर्तन कठिन होता है। निश्चित राशि करो की प्रकृति स्थिर लागत जैसी होती है। अत कभी-कभी अल्पकाल म व्यावसायिक हित को ध्यान में रखते हुए उत्पादक इन्हें क्रेताओं पर विवर्तित करने के स्थान पर स्वय सहन करना पसद करते हैं। बिक्री तथा उत्पादन पर लगाए जाने वाले करों की प्रकृति परिवर्ती लागत की होती है। इसलिए विक्रेता और उत्पादक इन्हे विवर्तित करने का यथासभव प्रयास करते हैं। क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि विक्रेता अल्पकाल मे भी परिवर्ती लागत को क्रेताओ से वसूल करना चाहते हैं।

(2) **कर की राशि :** यदि करारोपित वस्तु के मूल्य के अनुपात मे कर की राशि बहुत कम होती है तो विक्रेताओं के लिए उसका विवर्तन असुविधाजनक होता है। यदि सरकार 75 पैसे के साबुन पर आधा पैसा कर लगाती है तो विक्रेता को इसे उपभोक्ताओं पर विवर्तित कर पाना सरल नही होगा। अतएव वह इस कर का भार स्वय ही सहन करेगा।

(3) **स्थानापन्न वस्तुए** किसी भी करारोपित वस्तु की स्थानापन्न वस्तुए जितनी अधिक होगी उस पर लगाये गए करो का विवर्तन उतना ही कठिन होता है। यदि विक्रेता करारोपित वस्तु के मूल्य में वृद्धि करके अथवा उसके गुण मे कमी करके विवर्तन का प्रयास करता है, तो स्थानापन्न वस्तुओ की बिक्री बढ जाने की संभावनाए अधिक हो जाती हैं। इस कारण करारोपित वस्तु की माग कम हो जाने के भय से विक्रेता उस वस्तु पर लगे हुए कर भार को स्वय सहन करता है।

(4) **श्रम व पूंजी की गतिशीलता :** श्रम व पूजी की गतिशीलता से अभिप्राय श्रम व पूजी के एक उद्योग से दूसरे उद्योग म स्थानान्तरण से है। जब भी सरकार विक्रेता पर कर लगाती है तो विक्रेता वस्तु के मूल्य म वृद्धि करके उसे उपभोक्ता पर विवर्तित करना चाहता है। ऐसा करने से विक्रेता की वस्तु की माग कम हो जाती है। यदि श्रम व पूजी की गतिशीलता है तो ऐसी स्थिति मे श्रम व पूजी को दूसरे उद्योग मे सुगमतापूर्वक स्थानान्तरित किया जा सकता है तथा उस प्रकार करारोपण का बुरा प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि गतिशीलता पूर्ण है तो उत्पादक को हानि नहीं उठानी पड़ती। यदि पूजी व श्रम मे गतिहीनता है तो कर का भार उत्पादक को स्वय वहन करना पडता है।

उत्पत्ति के नियमो का प्रभाव

उत्पादन के नियम भी कर भार एवं कर विवर्तन को प्रभावित करते हैं।

उत्पादन के तीन नियम हैं जिनके अंतर्गत किसी भी वस्तु का उत्पादन हो सकता है। ये हैं (क) क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (ख) क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम तथा (ग) क्रमागत उत्पत्ति समता नियम।

(क) क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम : इस नियम के अंतर्गत जैसे-जैसे उत्पादन में वृद्धि होती है उत्पादन की प्रत्येक इकाई की लागत बढ़ती जाती है। करारोपण के उपरान्त वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने के कारण माँग कम हो जाती है। इसलिए उत्पादक पूर्ति में कमी करके वस्तु की लागत को कम कर लेता है। ऐसी स्थिति में करारोपण से वस्तु के मूल्य में जो वृद्धि होती है वह कर की राशि की तुलना में कम होती है। इस प्रकार कर का कुछ भाग क्रेता सहन करता है और कुछ भाग विक्रेता। इसको हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए 100 वस्तुओं का उत्पादन 4 रु० प्रति इकाई की लागत पर हो रहा है और वह बाजार में 4 रु० प्रति इकाई के मूल्य पर बिकती है। यदि प्रत्येक वस्तु पर कर एक रु० की दर से लगाया जाता है तो बाजार में प्रत्येक इकाई का मूल्य 5 रु० हो जाता है। मान लीजिए मूल्य के बढ़ने से माँग कम हो जाती है और उत्पत्ति घटकर 80 इकाई हो जाती है तथा लागत 3 रु० से घट कर 2 रु० 50 पैसे हो जाती है। ऐसी अवस्था में कर को जोड़कर वस्तु का मूल्य 3 रु० 50 पैसे हो जाएगा। स्पष्ट है कि उत्पत्ति ह्रास नियम के अंतर्गत करारोपण के उपरान्त वस्तु के मूल्य में वृद्धि कर की राशि से कम होगी और इस प्रकार कर का सम्पूर्ण भार क्रेताओं को सहन करना पड़ेगा। इसे हम निम्न चित्र द्वारा समझा सकते हैं।
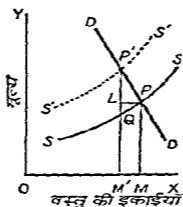
चित्र 28

OX पर उत्पादन तथा OY पर मूल्य दिखाया गया है। DD माँग रेखा तथा SS पूर्ति रेखा है। मूल्य P बिंदु से, जहाँ माँग तथा पूर्ति वक्र रेखाएं एक दूसरे

को काटती हैं, निर्धारित होता है। PQ कर की राशि है। करारोपण के उपरान्त की पूर्ति रेखा SS हो जाती है जो D रेखा को P बिंदु पर काटती है। मूल्य में केवल LP में वृद्धि हुई है जो सम्पूर्ण कर राशि QP से कम है। स्पष्ट है कि कुल कर की मात्रा QP' का LQ भाग विक्रेता तथा LP क्रेता को सहन करना पड़ेगा।

(ख) क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम : इस नियम के अंतर्गत उत्पादन में जैसे-जैसे वृद्धि होती है, प्रत्येक इकाई लागत कम हो जाती है। ऐसी अवस्था में करारोपण से वस्तु का मूल्य कर की मात्रा से अधिक बढ़ जाता है और इस प्रकार क्रेता को कर की मात्रा से भी अधिक भार सहन करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में करारोपण का कुल भार उपभोक्ता या क्रेता को ही सहन करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि करारोपण द्वारा मूल्य में वृद्धि होने से माँग कम हो जाती है, उत्पादन घटता है तथा उत्पादन की प्रत्येक इकाई लागत बढ़ जाती है। ऐसी दशा में करारोपण से वस्तु का मूल्य कर के अनुपात में बहुत अधिक बढ़ जाता है।

पूर्व उदाहरण द्वारा हम इसे भी समझ सकते हैं। मान लीजिए कि एक उत्पादक 100 वस्तुओं का उत्पादन 4 रु० प्रति इकाई की लागत पर करता है, जो बाजार में भी 4 रु० की बिकती है। अब यदि प्रत्येक वस्तु का मूल्य तुरंत बढ़कर 4 रु० 50 पैसे हो जायेगा और मान लीजिए कि मूल्य के बढ़ने के कारण माँग घट जाती है तथा पूर्ति भी कम होकर 80 वस्तुओं की हो जाती है। उत्पादन घटने से प्रत्येक इकाई की लागत बढ़कर 4 रु० 50 पैसे है तथा कर जोड़कर मूल्य 5 रु० हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाने वाली वस्तु पर करारोपण के कारण मूल्य में जो भी वृद्धि होगी वह कर की मात्रा से अधिक होगी। निम्न रेखाचित्र इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करता है।
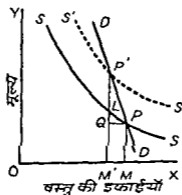
चित्र 29

इस चित्र म SS कर लगाने से पूर्व की पूर्ति रेखा है तथा S'S' करारोपण के उपरात की। कर-लगाने से मूल्य MP बढ़कर M'P' हो जाता है। यद्यपि कुल कर की मात्रा LP' है परन्तु मूल्य म वृद्धि इससे भी अधिक अर्थात P'Q के बराबर है।

(ग) क्रमागत उत्पत्ति समता नियम : जब उत्पादन इस नियम के अधीन होता है कि उत्पादन के घटने-बढने पर भी उत्पादन की प्रति इकाई लागत समान रहती है तो ऐसी स्थिति में वस्तु पर कर लगाने से मूल्य म वृद्धि ठीक कर की राशि के बराबर होती है और कर का सम्पूर्ण भार उपभोक्ताओं या क्रेताओं को ही वहन करना पडता है। मूल्य मे वृद्धि होने से उपभोक्ता माग को कम कर देता है। उत्पादक माग के घटने के कारण पूर्ति को कम करके कर के भार को उपभोक्ताओं को सहन करने के लिए बाध्य कर देता है। इसको पिछले उदाहरण के द्वारा सरलता से समझाया जा सकता है। मान लीजिए उत्पादक 100 वस्तुओ का उत्पादन 4 रु० प्रति इकाई की लागत पर करता है। प्रत्येक वस्तु पर यदि 50 पैसे का कर लगाया जाता है तो बाजार में प्रत्येक वस्तु का मूल्य बढकर 4 रु० 50 पैसे हो जाता है। बढे हुए मूल्य के कारण उपभोक्ता अपनी माग को घटा कर 80 वस्तुओं की करते हैं। दूसरी ओर उत्पादक भी लागत में बिना परिवर्तन किए वस्तु की पूर्ति को घटाकर 80 कर लेता है। ऐसी अवस्था में भी कर की राशि को जोडकर वस्तु का मूल्य 4 50 रु० ही होगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि क्रमागत उत्पत्ति समता नियम के अतर्गत उत्पन्न होने वाली वस्तु के करारोपण से उसके मूल्य में वृद्धि कर की राशि के बराबर ही होती है और कर का सपूर्ण भार क्रेताओं या उपभोक्ताओं को ही सहन करना पडता है। हम इसे निम्न रेखाचित्र द्वारा समझा सकते हैं।
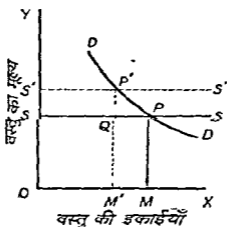
चित्र 30

चित्र म SS कर म पूर्व की तथा S S' करारोपण से उपरात की पूर्ति रेखा है, MP कर म पहले तथा M'P' कर लगने के बाद का मूल्य है जिसम P'Q के बराबर वृद्धि हुई है जो कि कर की राशि के बराबर है। स्पष्ट है कि कर का सपूर्ण भार क्रेताओं को ही सहन करना होगा।

एकाधिकार मे कर विवर्तन

एकाधिकार पर कर मुख्यत दो प्रकार मे लगाया जा सकता है। कर की प्रकृति को देखकर ही यह कहा जा सकता है कि एकाधिकारी कर भार का विवर्तन करने म सफल हो सकता है कि नही।

(क) एकमुश्त कर या एकाधिकार लाभ पर कर

यदि एकाधिकारी पर एकमुश्त कर लगा दिया जाए अर्थात बिना किसी निश्चित आधार के एक निश्चित रकम निधारित कर दी जाए तो इस प्रकार के कर भार को वह उपभोक्ताओ पर विवर्तित नही कर सकता। इसका कारण यह है कि एकाधिकारी ने करारोपण से पूर्व ही अपनी वस्तु का मूल्य या उत्पादन की मात्रा इस प्रकार निर्धारित की होगी कि उसे अधिकतम वास्तविक एकाधिकारी लाभ प्राप्त हो सके। ऐसी स्थिति म, कर लगन के उपरात यदि एकाधिकारी वस्तु क मूल्य मे वृद्धि करता है या उत्पादन म कमी करता है तो ऐसा करने से उसका कुल लाभ कम हो जायेगा। क्योंकि कर की राशि उसे अपने घटे हुए लाभ मे से ही भरनी होगी इसलिए एकाधिकारी का घाटा और भी बढ जायेगा। इसके विपरीत यदि वह करारोपण के उपरात उत्पादन पूर्ववत मात्रा मे ही करता है और पूर्व निर्धारित मूल्य पर ही वस्तु बेचता है, तो कर देने के उपरात जो कुछ भी उसके पास लाभ बच रहेगा वह निश्चित ही अधिकतम होगा, क्योंकि इस स्थिति मे उसका उत्पादन तथा विक्रय अधिकतम होगा। इस सदर्भ मे टेलर (Taylor) ने लिखा है कि, 'ऐसी दशा होने पर कर से स्थाई लागत मे वृद्धि होती है तथा सीमात लागत यथास्थिर रहती है। अत हम देखत हैं कि इस कर से सीमात लागत और सीमात लाभ मे कोई परिवर्तन न होने के कारण विक्रय की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा व मूल्य, जिस पर वह बेची जा रही है, मे कोई परिवर्तन नही होता है। इसमे कर का विवर्तन भी नही होता है।'[1]

इसी प्रकार जब एकाधिकारी से उसके कुल लाभो या कुल बिक्री के किसी अनुपात मे कर लिया जाता है तो भी उसका विवर्तन नहीं होता। कारण यह है कि कर की राशि का निर्धारण तो कुल लाभ के प्राप्त हो जाने अथवा कुल बिक्री के हो जाने के पश्चात ही होगा। ऐसी स्थिति म एकाधिकारी कर को स्वय ही वहन करता है। उपरोक्त विचार को निम्न चित्र द्वारा समझाया जा सकता है।

1 P E Taylor 'The Economics of Public Finance', pp 979 80

रेखा चित्र में AC=औसत लागत वक्र, MC=सीमान्त लागत वक्र, MR=सीमान्त आय वक्र तथा DD=माग वक्र है ।
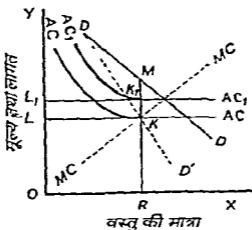
चित्र 31

चित्र में स्पष्ट है कि कर लगाने से सीमान्त लागत या सीमान्त आय में कोई परिवर्तन नहीं होता । इसलिए वस्तु मूल्य तथा बिक्री वस्तुओं की मात्रा भी यथा-स्थिर हैं । AC करारोपण से पूर्व की औसत लागत वक्र है । चूंकि एक इकाई की औसत उत्पादन लागत KR है इसलिए कुल उत्पादन लागत ORKL हुई । कर के उपरान्त औसत लागत वक्र AC_1 हो जाती है, इसलिए अब कुल लागत ORK_1L_1 हो जाती है । चूंकि एकाधिकारी कर लगने से पहले ही RM मूल्य वसूल कर रहा है इसलिए लागत मूल्य में कर जुड़ जाने के बाद भी औसत लागत अधिकतम मूल्य RM से कम है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कर का सम्पूर्ण भार एकाधिकारी ही वहन कर रहा है । करारोपण के कारण वृद्धि कुल लागत में $LK\ K_1L_1$ से वृद्धि हो जाती है, परन्तु इसके बराबर ही एकाधिकारी का लाभ कम हो जाता है ।

(ख) उत्पत्ति के अनुपात में कर

जब एकाधिकारी पर उसकी उत्पत्ति के अनुपात में कर लगाया जाता है, तब वह कर को विवर्तित करने में सफल हो जाता है । इसका मुख्य कारण यह है कि ऐसा कर उसकी उत्पादन लागत में सम्मिलित हो जाता है । इससे वस्तु की सीमान्त लागत बढ़ जाती है और एकाधिकारी को अपने उत्पादन को निर्धारित मूल्य पर बेचने में लाभ नहीं होता है । इसलिए वह उत्पत्ति की मात्रा को घटाकर अपनी वस्तु को बढ़े हुए मूल्य पर बेचता है ताकि उसका लाभ कम न हो । टेलर के मता-

नुसार 'दूसरे वर्ग के करों (उत्पत्ति के अनुपात में लगाये जाने वाले कर) को साधारणतया आगे की ओर विवर्तित किया जा सकता है क्योंकि सीमांत लागत एक ही दर से सम्पूर्ण तालिका में बढ़ जाती है, जिससे सीमान्त लागत और सीमांत लाभ में नया सतुलन स्थापित होता है और इसी प्रकार नया मूल्य और नई मात्रा में सतुलन स्थापित होता है ।[1]

इस स्थिति को निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ।
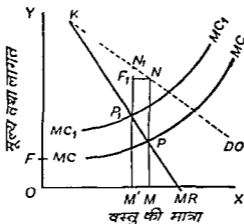
चित्र 32

इस रेखाचित्र में कर लगाने से पूर्व MC सीमांत लागत वक्र है । यह सीमांत लाभ की वक्र MR को P बिंदु पर काटती है । ऐसी स्थिति में मूल्य MN है, करारोपण के उपरांत सीमांत लागत वक्र MC_1 हो जाता है । यह सीमांत लाभ की वक्र MR को P_1 बिंदु पर काटती है । अब मूल्य बढ़कर MN_1 हो जाता है । उत्पादन की मात्रा OM से घटकर OM^1 हो जाती है । कर OF राशि के बराबर लगाया गया है, परन्तु उपभोक्ता पर कर का भार केवल N_1F_1 ही पड़ता है और शेष भाग एकाधिकारी पर ।

एकाधिकारिक प्रतियोगिता में कर विवर्तन

एकाधिकारी प्रतियोगिता वह बाजार स्थिति है जो पूर्ण प्रतियोगिता एव विशुद्ध एकाधिकार की दोनों चरम स्थितियों के मध्य में स्थित है । इसमें एक वस्तु के अनेक उत्पादक होते हैं तथा उनमें प्रतिस्पर्द्धा होती है । उदाहरणार्थ, साबुन के उत्पादक जैसे लाइफबाय, हमाम, रेक्सोना, पीयर्स आदि कई उत्पादक हैं । प्रत्येक

1 P E Taylor op cit, P 282

उत्पादक अपनी उत्पादन नीति अलग बनाता है। एकाधिकारी प्रतियोगिता मे उत्पादक कर भार का विवर्तन एकाधिकार या पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा अधिक अनिश्चित रहता है। इस स्थिति मे भी कर भार का निर्धारण तथा विवर्तन वस्तु विशेष की सापेक्षिक माग और पूर्ति की लोच पर निर्भर करता है। परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति म कर भार का निर्धारण उतना सुनिश्चित नहीं होता जितना कि यह पूर्ण प्रतियोगिता और एकाधिकार की स्थिति मे होता है। इसका मुख्य कारण है कि वास्तविक व्यापार जगत मे अलग-अलग फर्मे अपनी-अपनी नीतिया अपनाती हैं जो परस्पर एक दूसर की उत्पादन तथा कीमत सबधी नीतियों को प्रभावित भी करती हैं।

एकाधिकारी प्रतियोगिता की दशा म कर उत्पादन की मात्रा पर लगाया जाता है जिससे वस्तु की लागत बढ जाती है। इस स्थिति म उत्पादक कहा तक कर का विवर्तन करने म सफल होता है यह निम्न बातो पर निर्भर करता है :

1—वस्तु की माग तथा पूर्ति की लोच का अनुपात,
2—विभिन्न फर्मों या उत्पादको के मूल्य सबध, तथा
3—कुछ उत्पादको के उत्पादन क्षेत्र के त्यागने पर शेष उत्पादको की बढती हुई वस्तुओं की माग।

जहा तक वस्तु की माग तथा पूर्ति की लोच के अनुपात का प्रश्न है, उसका विस्तृत विवेचन हम पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे कर चुके हैं। जहा दूसरी बात का सबध है वहा यह बतला देना आवश्यक है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशा मे वस्तु के रूप तथा मूल्यो मे अतर होता है और वे भिन्न-भिन्न व्यापारिक चिन्हो द्वारा बेची जाती हैं। इसलिए स्वाभाविक रूप से वस्तुओ मे भेद उत्पन्न हो जाता है और वे भिन्न भिन्न गुण वाली समझी जाती हैं। यदि उत्पादक पृथक-पृथक अपनी वस्तुओं के मूल्य बढाते हैं, तो उपभोक्ता उन उत्पादको से वस्तुए खरीदने लगते हैं जिनका मूल्य अपेक्षाकृत कम होता है।

यहा भी दो परिस्थितिया हो सकती हैं। प्रथम, यह कि उत्पादक कर की राशि के अनुपात में ही वस्तुओं के मूल्य मे वृद्धि करें। ऐसी दशा म स्थिति पूर्ववत बनी रहेगी क्योंकि अब भी मूल्यों म उतना ही अतर बना रहेगा जितना मूल्य वृद्धि से पूर्व था। जो क्रेता जहा से पहले खरीदता था अब भी वहीं से खरीदेगा। जहा यदि ऐसी वस्तुओ के स्थानापन्न उपलब्ध हो तो सभी उत्पादको की वस्तुओं की माग घट जायेगी। इस भय से उत्पादक स्वय ही कर भार वहन कर लेंगे।

दूसरी परिस्थिति यह हो सकती है कि जिन उत्पादको ने दूसरो की अपेक्षा अपनी वस्तुओं के मूल्य कम रखे थे वे करारोपण के उपरात मूल्य बढा दें और जिन उत्पादको के मूल्य पहले ऊचे थे, वे माग के घटने के भय मे अपनी वस्तुओं के मूल्यों को न बढाए। ऐसी दशा म यह हो सकता है कि ग्राहक गुण को दृष्टि म रखे

बिना सस्ती वस्तु ही खरीदना पसद करते हो तो वे उस उत्पादक की वस्तु खरीदेंगे जिसका मूल्य कम होगा या जिसका स्थानापन्न उपलब्ध होगा। कुछ ग्राहक ऐसे भी होते हैं जो मूल्य की अपेक्षा वस्तु के गुण को अधिक महत्व देते है, वे अपने उत्पादक से पूर्ववत मात्रा मे ही वस्तुए खरीदते रहेगे। ऐसी दशा मे उत्पादक करारोपण का भार केवल उन्ही क्रेताओ पर विवर्तित करने मे सफल हो जाएगे जो मूल्य मे प्रभावित नही होते। फिर भी वस्तुओ की माग कम हो जाने के कारण उत्पादको को कर भार अशत वहन करना ही पडेगा। इसके विपरीत जिन उत्पादको ने अपनी वस्तुओ के मूल्यो मे वृद्धि नही की थी क्योकि उनके मूल्य पहले से ही ऊचे थे वे कर भार को क्रेताओ पर विवर्तित नही कर सकेंगे अपितु स्वय ही वहन करेंगे।

कर भार तथा विवर्तन के परपरागत विचारो की आलोचना

हमने कर भार तथा कर विवर्तन का अध्ययन परपरागत रीति के अनुसार किया है। आधुनिक अर्थशास्त्री इस परपरागत विचारधारा से सहमत नही हैं। उन्होने इस विचारधारा की निम्न आधारो पर आलोचना की है.

(1) कर भार का महत्वहीन वर्गीकरण परपरागत धारणा के अनुसार कर भार का आशय प्रत्यक्ष द्राव्यिक भार से है। इसे परोक्ष द्राव्यिक भार तथा प्रत्यक्ष एव परोक्ष वास्तविक भार से भिन्न माना गया है। परतु आधुनिक अर्थशास्त्रियो का यह विचार है कि इन विभिन्न प्रकार के कर भारो के बीच किया जाने वाला यह भेद काल्पनिक है क्योकि करारोपण से होने वाले सपूर्ण परिवर्तन को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभावो मे समुचित रूप मे वर्गीकृत नही किया जा सकता। किसी भी कर के वितरणात्मक प्रभावो पर विचार करते समय यह अति आवश्यक है कि इस पर प्रभाव डालने वाले सभी तत्वो का अध्ययन किया जाए। जैसा कि मसग्रेव ने कहा है कि 'सभी परिवर्तनो पर समायोजन के परस्पर निर्भर अगो के रूप मे ही विचार किया जाना चाहिए—वह समायोजन जो सामान्य सतुलन को एक ही सामान्य व्यवस्था के अतर्गत कार्यशील करे।'

(2) प्रत्येक कर का भार अतिम नही परपरागत अर्थशास्त्रियो की यह धारणा कि प्रत्येक कर का भार अतिम भार होता है, त्रुटिपूर्ण है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो का कहना है कि यह सभव हो सकता है कि कर लगाये जाए, हटा लिए जाए और उनके स्थानापन्न कर लगा दिए जाए परतु फिर भी कर का कोई भार न पडे। इस अर्थ मे कि सार्वजनिक उपयोग के लिए साधनो का कोई स्थानातरण नही हुआ, व्यवहार म कर के भार का पता तभी लगाया जा सकता है जब कर लगने से साधनो का हस्तातरण व्यक्तिगत उपभोग से सार्वजनिक उपभोग मे होना है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो का कहना है कि कर का भार किसी पर भी नहीं

पड़ता है क्योंकि कर देने में सरकार को जो आय प्राप्त होती है यदि उसके खर्च को भी ध्यान में रखा जाए तो इस प्रकार से उत्पन्न कुल लाभ कर देने से हुई कुल हानि के बराबर होगा या हो सकता है कि उससे भी अधिक हो।

(3) वास्तविक आय में होने वाले परिवर्तनों की उपेक्षा . आधुनिक अर्थशास्त्रियों का परम्परागत कर भार के बारे में मत है कि परम्परागत विचारकों ने वास्तविक आय में होने वाले परिवर्तनों की उपेक्षा की है। उनके अनुसार कर भार का अध्ययन निम्न दो दृष्टिकोणों में किया जाना चाहिए (1) आय के दृष्टिकोण में, (2) व्यय के दृष्टिकोण में। व्यक्ति की वास्तविक आय में होने वाले परिवर्तनों को ज्ञात करने के लिए निम्न बातों को भी विचाराधीन रखना आवश्यक है

(अ) व्यक्तियों द्वारा बेची जाने वाली सेवाओं के विशुद्ध मूल्यों पर कर लगाने के उपरांत होने वाले परिवर्तन अर्थात कर लगाने के बाद मजदूरियों, वेतनों, लाभों, ब्याजों तथा किराए में होने वाले परिवर्तन।

(ब) इस सबंध में जो बात वास्तव में ज्ञात करनी है वह यह कि वितरण में अंतिम परिवर्तन क्या हुए, यह नहीं ज्ञात करना है कि कैसे हुए। वास्तविक आय में परिवर्तन करारोपित अथवा कर मुक्त वस्तुओं अथवा साधनों के मूल्यों के परिवर्तनों द्वारा हो सकते हैं अथवा वे व्यक्ति के बजट के आय पक्ष अथवा व्यय पक्ष, दोनों में से किसी के द्वारा भी उत्पन्न हो सकते हैं परन्तु परम्परागत अर्थशास्त्रियों ने इन तथ्यों को विचाराधीन नहीं रखा।

(4) करों के संबंध में व्यष्टि दृष्टिकोण : परम्परागत धारणा में यह माना गया है कि कर लगाने से किसी न किसी व्यक्ति को हानि होती है और कर भार की विचारधारा के अंतर्गत उस व्यक्ति को मालूम किया जाये जो उस हानि को वहन करता है। परन्तु आधुनिक विचारकों का यह मतव्य है कि यदि कर लगाने से समाज को हानि होती है तो कर की राशि को कल्याणकारी कार्यों पर व्यय करने से समाज को लाभ भी प्राप्त होते हैं। इसलिए बजट नीति में समायोजन के फलस्वरूप होने वाले लाभों तथा हानियों दोनों पर ही विचार किया जाना चाहिए। यदि बजट नीति के समायोजन अर्थात करारोपण तथा सार्वजनिक व्यय, दोनों पर एक साथ विचार किया जाए तो उससे जहा हानिया सामने आएगी वहा लाभ भी सामने आएँगे। इसलिए कर भार का अध्ययन करते समय जहा करारोपण की हानि को सम्मिलित किया जाए वहा उन लाभों अथवा उपलब्धियों को भी दृष्टिगत रखा जाए जो लोक व्यय के कारण कुछ लोगों को प्राप्त होती हैं। इसी सबध में मसग्रेव का कथन उल्लेखनीय है, 'हम कभी यह नहीं कर सकते कि हानि की कुछ विशिष्ट मदों का ही उल्लेख करें और उनका सबध नए कर के भार में अथवा साधनों के नये स्थानातरण की लागत से जोड़ दें, तथा अन्य लाभों और हानियों का परोक्ष प्रभाव वह कर छोड़ दें। अपितु हमें वितरण में होने वाले उन

सभी परिवर्तनो पर विचार करना चाहिए जिनमे सभी व्यक्तिगत लाभ तथा हानिया सम्मिलित हो।' [1]

निष्कष रूप मे कर भार की परपरागत विचारधारा पूर्णतया सही नही कही जा सकती। यह उचित ही होगा कि क्षतिपूरक वित्त व्यवस्था के सदर्भ म, जो यद्यपि अस्पष्ट है इस विचारधारा को और विस्तृत अर्थ मे लिया जाए। यही *कर भार की आधुनिक विचाधारा है जिसका उल्लेख आगे किया गया है।*

कर भार की आधुनिक विचारधारा

कर भार की विचारधारा को नई दिशा प्रदान करने का श्रेय स्वीडन के *अर्थशास्त्री नट विक्सैल को है। उर्सुला हिक्स तथा मसग्रेव ने इस नवीन विचारधारा* को और विकसित किया है। इन अर्थशास्त्रियो के अनुसार कर भार का अभिप्राय आय के वितरण मे होने वाले उन परिवर्तनो से है जो कराधान तथा लोक व्यय (अर्थात बजट नीति) के परिवर्तना द्वारा उत्पन्न होते है। बजट नीति के परिवर्तन निम्न तीन प्रकार से अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं

(क) साधनों के निजी उपयोग से राजकीय उपयोगो के लिए स्थानातरण।

(ख) कुल उत्पादन सबधी प्रभाव।

(ग) व्यक्तियो के मध्य आय के वितरण सबधी प्रभाव।

इन विचारको के अनुसार कर भार का अभिप्राय तीसरे प्रकार के उपयोग से है। नई विचारधारा उन सभी वितरण सबधी परिवर्तनो का उल्लेख करती है जो लोक आय तथा व्यय मे होने वाले परिवर्तनो के कारण उत्पन्न हो सकते हैं। *यह परपरागत विचारधारा से बिल्कुल भिन्न है जिसमे कर भार का अर्थ द्राव्यिक* भार से लिया जाता है।

कर भार

बजट नीति को पृष्ठभूमि मे रखकर कर भार का अध्ययन निम्न दो आधारो पर किया जा सकता है

(1) विशिष्ट कर भार

कर नीति के परिवर्तनो से उत्पन्न होने वाले कर भार का अध्ययन तभी सभव हो सकता है जब बजट नीति के दूसरे पक्ष अर्थात व्यय को यथास्थिर मान *लिया जाए। करनीति मे परिवर्तन उसी समय कहा जाएगा जब हम किसी विशिष्ट* कर म परिवर्तन करें। उदाहरणार्थ, आय करो की दरो मे कमी या वृद्धि करना। ऐसा करने से वितरण मे जो परिवर्तन होते हैं उसे हम विशिष्ट कर भार कहते हैं।[2]

---

1 Richard A Musgrave, The theory of Public Finance (1959), Mc Graw Hill Book Co Inc, P 230

2 *Richard A Musgrave op Cit, p 211*

पूर्ण रोजगार की दशा में यदि आय कर की दरें घटा दी जाए तो लोगों के पास अधिक क्रय शक्ति हो जाती है, फलस्वरूप वस्तुओं की माग बढ़ती है तथा मूल्य में वृद्धि होती है और मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत आय कर की दर म वृद्धि मुद्रा सकुचन की स्थिति को प्रोत्साहित करती है। मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा सकुचन, दोनों ही स्थितिया आय के वितरण को प्रभावित करती है। मुद्रा सकुचन मे आय निर्धन वर्ग से धनीवर्ग की ओर स्थानातरित होती है। यही विशिष्ट कर भार है।

(2) विभेदक कर भार

वितरण उस समय भी प्रभावित होता है जब एक कर के स्थान पर दूसरा कर यह मानते हुए लगाया जाता है कि सरकार को दोनो से समान प्राप्ति आय प्राप्त होती है। वितरण पर ऐसा प्रभाव विभेदक कर भार के नाम स सबोधित किया जाता है।[1] क्योंकि सरकार की प्राप्ति आय समान रहती है, इसलिए वस्तुओं की सरकारी तथा व्यक्तिगत माग मे कोई परिवर्तन नहीं होता। फिर भी, भिन्न-भिन्न प्रकार के कर व्यक्तिगत माग को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं, इसलिए मूल्य स्तर अवश्य ही प्रभावित होता है। इसी कारण इसको विभेदात्मक कर भार कहा गया है। इसका यह भी अर्थ है कि व्यक्ति को अपने व्यय की स्थिति को यथापूर्व बनाए रखने के लिए अपनी वास्तविक आय मे परिवर्तन करना पड़ता है। इसके कारण करो के परिवर्तनो के साथ-साथ सरकार की प्राप्ति आय समान नहीं रह पाती जिससे विभेदक कर भार का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि दोनों ही प्रकार के वितरणात्मक परिणामो को ज्ञात किया जाए। इसके लिए करों को लगाते समय बाजार के मूल्य सदर्भ में उनसे प्राप्त होने वाली प्राप्ति आय का अध्ययन करना पड़ेगा। यह अध्ययन विशिष्ट कर भार द्वारा अधिक उपयुक्त होगा तथा इसमे मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा सकुचन के प्रभावों के अध्ययन की आवश्यकता नही रहेगी।

व्यय भार

कर का ढाचा तथा उसकी दरों को यथापूर्वक रखते हुए यदि सरकारी व्यय में परिवर्तन किए जाए तो कुछ वितरण सबधी प्रभाव दिखाई पड़ेंगे। इसे ही व्यय भार कहा जाता है। ये व्यय भार दो प्रकार के होते हैं.

(1) विशिष्ट व्यय-भार

जब सरकारी व्यय म कमी या वृद्धि होती है तो सरकारी उपयोग मे आने वाले साधनों के स्थानातरण में फेर-बदल हो जाता है। सरकारी व्यय के परिवर्तनो के फलस्वरूप व्यक्तियो की आय में होने वाले परिवर्तन ही विशिष्ट व्यय भार कहे जाते हैं। सरकारी व्यय में वृद्धि होने से जनता की आय बढ़ जाती है और

1 Richard A. Musgrave op cit. P 212.

मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार सरकारी व्यय के घटने के कारण लोगों को प्राप्त होने वाली आय कम हो जाती है और मुद्रा संकुचन संबंधी शक्तियां क्रियाशील हो जाती है।

(2) विभेदक व्यय भार

लोक व्यय के परिवर्तनों से उत्पन्न मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा संकुचन के हिचकोलों से हमें बचाव करना चाहिए परन्तु ऐसा संतुलित बजट के ढांचे के अंतर्गत ही होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि लोक व्यय की वृद्धि के परिणामस्वरूप जो एक दिशा में वृद्धि होगी उसे किसी अन्य दिशा में लोक व्यय कम करके प्रभावहीन बनाया जाए। लोक व्यय के ऐसे वितरण संबंधी प्रभावों को ही हम विभेदक व्यय भार कहते है।

उपरोक्त विभिन्न प्रकार के प्रभावों में से मसग्रेव सबसे अधिक रुचिकर विभेदक कर भार की विचारधारा को मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में, '*कर भार की समस्या स्वाभाविक रूप से ही वस्तुओं तथा सेवाओं पर सरकारी व्यय में परिवर्तनों की इतनी नहीं है जितनी कि कर में तथा स्थानांतरण की नीति में होने वाले परिवर्तनों में अधिक रुचि लेने की है। सरकारी सेवाओं द्वारा प्रदान किए जाने वाले लाभ जहां वितरणात्मक महत्व रख सकते हैं, विशेष रूप से गुणधारित आवश्यकताओं की स्थिति में, वहां ये लाभ कर भार का अंग नहीं होते। इस शब्द का जिस प्रकार हम प्रयोग करते हैं वह तो उन परिवर्तनों तक ही सीमित है जो गैर सरकारी उपभोग में काम आने वाली आय के वितरण में होते है।*' [1]

---

1 Rechard A. Musgrave, *op cit*, p, 214

11

करदेय क्षमता

आधुनिक युग की परिवर्तित परिस्थितियों में राज्य का कार्यक्षेत्र दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसके फलस्वरूप वह भार भी बढ़ता जा रहा है जिसे पूरा करने के लिए सरकार को नए-नए करों की खोज करनी पड़ती है। आये दिन हम नए करों के बढ़ते हुए भार की चर्चा सुनते रहते हैं और उसके प्रति होने वाली आलोचनाओं—प्रत्यालोचनाओं को पढ़ते रहते हैं। लेकिन प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या कर किसी भी सीमा तक प्राप्त किया जा सकता है? जब करदाता को कर अदा करने के कारण अपने उपभोग में कटौती करनी पड़ती है अथवा उसके बचत-विनियोग की क्रिया प्रतिकूल रूप में प्रभावित होती है तो ऐसी दशा में कर कहां तक दिया जा सकता है। अवश्य ही कोई ऐसी सीमा होगी जहां तक इन करों का भुगतान किया जा सकता है। यह सीमा ही करदेय क्षमता को दर्शाती है। सरल शब्दों में कोई व्यक्ति कितना कर भार चुका सकता है, तथा एक देश में सामूहिक रूप में कितना कर भार चुकाने की शक्ति है यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न है जो करदेय क्षमता की ओर संकेत करता है।

करदेय क्षमता की परिभाषाएं

करदेय क्षमता का ठीक-ठीक अर्थ क्या है, इस विषय में बहुत समय से विवाद चला आ रहा है और आज भी अर्थशास्त्रियों में इस संबंध में मतभेद है। कुछ वित्त-शास्त्रियों ने करदेय क्षमता की परिभाषाएं दी हैं, परन्तु वे भी अस्पष्ट हैं।

सर जोशिया स्टाम्प के विचारानुसार, 'करदेय क्षमता कुल उत्पादन में से उस धनराशि को घटाने के बाद शेष बची रकम को कहा जा सकता है जोकि जनता के निर्वाह-स्तर को बनाए रखने के लिए आवश्यक हो।'[1] इस परिभाषा के अनुसार कुल उत्पादन से आशय व्यक्तियों द्वारा उत्पादित तथा उपलब्ध आय की कुल राशि से है, परन्तु सरकार इस समस्त आय को कराधान के रूप में नहीं ले सकती क्योंकि इसमें से कुछ न कुछ राशि व्यक्तियों के पास उनके उपभोग के लिए अवश्य छोड़नी पड़ेगी। इसलिए जनसंख्या की करदेय क्षमता का माप उत्पादन की उस कुल मात्रा से किया जा सकता है जिसमें से व्यक्तियों के निर्वाह के लिए आवश्यक रकम घटा

1 Josiah stamp, Quoted by Dalton in his bock public Finance,, p 167.

दी गई हो। इस परिभाषा में उत्पादन का माप तो आंकड़ा द्वारा किया जा सकता है परन्तु जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक धनराशि क्या होगी इसका निश्चित माप सम्भव नहीं है क्योंकि यह व्यक्ति स्थान, समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।

जोशिया स्टाम्प ने एक अन्य स्थान पर दूसरी परिभाषा भी दी है। इस परिभाषा के अनुसार करदेय क्षमता वह न्यूनतम धनराशि है जो किसी देश के नागरिक दुखी तथा विपन्न जीवन बिताए बिना और आर्थिक सगठन को अधिक अस्त-व्यस्त किए बिना[1] सरकारी खर्चों के लिए दे सके। इस परिभाषा में भी वैसी ही कठिनाई उपस्थित होती है जैसी कि पहली में थी। इसमें भी स्पष्टता एव निश्चितता का अभाव है। उदाहरण के लिए इस परिभाषा में जो यह कहा गया है कि 'दुखी तथा विपन्न जीवन बिताए बिना और आर्थिक सगठन को अधिक अस्त व्यस्त किए बिना' इनके कोई स्पष्ट तथा उपयोगी अर्थ नहीं निकाले जा सकते। वास्तव में 'दुखी जीवन क्या है'? इस बात का निश्चय कैसे किया जाए कि आर्थिक सगठन 'अधिक अस्त व्यस्त नहीं हुआ है'? एक अन्य प्रसंग में जोशिया स्टाम्प ने, उत्पादित तथा वितरित आय को ही उन तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया है जिन पर करदेय क्षमता आधारित होती है—अर्थात जितनी आय अधिक होती है और लोगों के बीच उस आय का वितरण जितना अधिक श्रेष्ठ होता है ऐसे लोगों की करदेय क्षमता उतनी ही अधिक होती है। इसमें कुछ सत्यता अवश्य है परन्तु करदेय क्षमता की धारणा को उत्पादित तथा वितरित आय की केवल एक ही कसौटी पर आधारित नहीं किया जा सकता। व्यक्ति करों के रूप में सरकार को कितनी धनराशि देने में समर्थ होंगे, यह केवल व्यक्तियों द्वारा प्राप्त की जाने वाली कुल आय पर ही नहीं, अपितु कुछ अन्य तत्त्वों पर भी निर्भर करता है।

फिनले शिराज ने करदेय क्षमता की परिभाषा इस प्रकार दी है, 'करदेय क्षमता निचोड़ की सीमा है। यह उस न्यूनतम उपभोग के ऊपर उत्पादन का कुल अतिरेक है जो ऐसे उत्पादन स्तर को बनाए रखने के लिए आवश्यक है, जिसमें रहन-सहन का स्तर पूर्ववत बना रहे।'[2] इस विचारधारा के अनुसार करदेय क्षमता उस अधिकतम धनराशि की ओर सकेत करती है जो सरकार लोगों से करों के रूप में प्राप्त कर सकती है और उससे अधिक यदि कर लगाया गया तो सभवत क्रांति तथा गृहयुद्ध को प्रोत्साहन मिलता है। शिराज ने अपनी परिभाषा में व्यक्तियों के निर्वाह के लिए आवश्यक न्यूनतम धनराशि, उद्योग एव व्यापार के विस्तार के लिए पूजी की पुनर्स्थापना तथा उसमें वृद्धि करने की धनराशि सम्मिलित की है। आलोचकों का मत है कि न्यूनतम उपभोग, उद्योग एव व्यापार के विस्तार के लिए पूजी की पुनर्स्थापना तथा इसमें वृद्धि के वाक्यांशों का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकाला जा सकता। न्यूनतम उपभोग क्या हो तथा पूजी में वृद्धि कितनी हो, इन प्रश्नों के

1 Josiah Stamp 'Wealth and Taxable Capacity', p. 134
2 Finlay Shirras 'The Science of Public Finance', p. 132

उत्तर परिभाषा में स्पष्ट नहीं होते। इस परिभाषा में लोकव्यय को भी ध्यान में नहीं रखा गया है, क्योंकि हम जानते हैं कि लोकव्यय में व्यक्तिगत करदेय क्षमता में वृद्धि होती है।

ड्रमन्ड फ्रेजर के मतानुसार, 'करदेय क्षमता उस आधिक्य का प्रदर्शन है, जो उत्पादन और उस न्यूनतम उपभोग में जो उस उत्पादन को बनाए रखने के लिए आवश्यक है, अन्तर से प्रकट होता है।' परन्तु जीवन स्तर में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। फ्रेजर ने करारोपण की अधिकतम सीमा की पहचान भी बतलाई है। उसने लिखा है कि, जब करदाताओं को कर अदा करने के लिए बैंकों से उधार लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है, तो करदेय क्षमता की सीमा आ जाती है।' फ्रेजर की यह विचारधारा भी स्पष्ट नहीं है क्योंकि लोग बैंकों से उधार केवल कर की अदायगी के लिए ही नहीं लेते वरन व्यापारिक कार्यों के लिए भी लेते हैं।

इसके अतिरिक्त इन सभी परिभाषाओं में यह दोष है कि करदेय क्षमता को ज्ञात करते समय वे लोकव्यय की ओर ध्यान नहीं देती। करदेय क्षमता में उस समय तक निरंतर वृद्धि की जा सकती है जब तक कि सरकार इस प्रकार धन का उपयोग जनता की उत्पादकता बढ़ाने में करती रहे। सार्वजनिक क्षेत्र सरकारी व्यय के द्वारा अनेक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है और निजी क्षेत्र तो उसके बिना जीवित नहीं रह सकता।[1]

इन सब कठिनाइयों को दृष्टि में रखते हुए, कुछ लेखकों ने तो स्वयं करदेय क्षमता के विचार की आलोचना की है। उदाहरण के लिए डाल्टन ने कहा है कि, 'ऐसी किसी भी निश्चित धनराशि का निर्धारण करना पूर्णत असम्भव है जिसके विषय में यह कहा जा सके कि यह धनराशि किसी विशेष समय में समाज की करदेय क्षमता की सीमाओं का प्रतीक है।'[2] डाल्टन ने अपने विचार के समर्थन में प्रो० एडविन केनन से पूछे गए इस प्रश्न के उत्तर का उल्लेख किया है कि, 'किसी भी देश की करदेय क्षमता का पता कैसे लगाया जा सकता है?' केनन ने उत्तर में कहा था, 'किसी प्रकार भी नहीं लगाया जा सकता।'

निरपेक्ष तथा सापेक्षिक करदेय क्षमता

करदेय क्षमता का माप जहाँ कठिन है वहाँ डाल्टन तथा शिराज जैसे लोकवित्त शास्त्रियों ने सापेक्षिक करदेय क्षमता को धारणा को अधिक उपयोगी बताते हुए निरपेक्ष तथा सापेक्षिक करदेय क्षमता में भेद बतलाया है। निरपेक्ष करदेय क्षमता का अर्थ है, नागरिकों को न्यूनतम निर्वाह की छूट देने के उपरान्त राज्य द्वारा उनसे जो भी धनराशि वसूल की जा सके। जैसा कि शिराज ने कहा है, 'निरपेक्ष करदेय क्षमता निचोड़ की सीमा है।'[3] परन्तु जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, 'न्यूनतम

1 See Richard A Musgrave 'The Theory of Public Finance', p 51.
2. Dalton 'Public Finance', p , 120
3 Finlay Shirras *Op cit*, p 229.

निर्वाह स्तर' तथा 'निचोडने की सीमा' के वाक्यांश संदिग्ध तथा अव्यवहारिक हैं। संभवत निरपेक्ष करदेय क्षमता का यह अर्थ लिया जा सकता है कि कराधान को उस सीमा तक ले जाना चाहिए जहां पर करदाता के पास शेष कुछ भी न बचे। इसके विपरीत सापेक्षिक करदेय क्षमता से तात्पर्य है कि एक समुदाय की तुलना म दूसरे समुदाय की करदेय क्षमता कितनी है। इस प्रकार यदि दो या दो से अधिक समुदायों को किसी लोकव्यय के लिए धन देना पडता है तो यह धन उनकी सापेक्षिक करदेय क्षमता के अनुपात मे ही होना चाहिए। यह विचार सघीय शासन वाले देशो के लिए महत्वपूर्ण हो सकता है जहा कि विभिन्न राज्यो को केन्द्र के सार्वजनिक व्यय के लिए धन देना पडता है। प्रो० शिराज के अनुसार 'सापेक्षिक करदेय क्षमता यह स्पष्ट करती है कि एक राज्य दूसरे राज्य की तुलना म सामूहिक कार्यों के लिए कितना योगदान दे अथवा कर भार का वितरण एक सघ के अतर्गत विभिन्न राज्यो अथवा प्रान्तो के मध्य किस प्रकार किया जाए।'

डाल्टन ने निरपेक्ष करदेय क्षमता की धारणा को स्वीकार नहीं किया है। डाल्टन के अनुसार, 'निरपेक्ष करदेय क्षमता एक भ्रम है जिससे भयानक भूल की सभावना है। स्पष्ट विचारो के हित मे यह उचित होगा कि करदेय क्षमता वाक्यांश को राजस्व से गभीर वाद विवाद से बाहर निकाल दिया जाए। डाल्टन के अनुसार सापेक्षिक करदेय क्षमता की विचारधारा व्यावहारिक है और उसका अनुमान विभिन्न देशो की करदेय क्षमता की तुलना करके लगाया जा सकता है। डाल्टन ने लिखा है कि, 'यदि दो देशो को सामान्य व्यय मे अपना अशदान देना है तो वे अपने सापेक्षिक करदेय क्षमता की तुलना मे ही अशदान दें।' उन्होंने यह भी कहा है, 'यदि सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि होती है तो धनी करदाताओ द्वारा दिए जाने वाले अशदान मे आनुपातिक वृद्धि होनी चाहिए और निर्धन करदाताओ द्वारा अदा किए जाने वाले अशदान मे आनुपातिक कमी होनी चाहिए। सार्वजनिक व्यय में कमी होने पर इसमे कमी होनी चाहिए।' अत मे उन्होंने कहा है कि 'सापेक्षिक करदेय क्षमता एक सत्य बात है, जो उचित रूप म दूसरे शब्दो मे व्यक्त की जा सकती है। परतु निरपेक्ष करदेय की शक्ति एक कल्पित कथा है, जिसमे भयानक भूल होन की सभावना सदैव बनी रहती है।'

प्रो० शिराज ने डाल्टन के विचारो मे असहमति प्रकट करते हुए कहा है कि सरकार के लिए सदैव बुद्धिमत्ता की बात यही है कि वह यथासभव इस बात को ज्ञात कर ले कि साधारण तथा असाधारण दोनो परिस्थितियो मे जनता स अधिक से अधिक कितना करारोपण किया जा सकता है।'

वास्तव मे दोनो प्रकार की करदेय क्षमता का अपना अलग-अलग महत्त्व है। निरपेक्ष करदेय क्षमता का उपयोग सकटकालीन समय में उस कुल धन राशि को मालूम करने मे होता है जो राज्य प्राप्त कर सकता है। सापेक्षिक करदेय द्वारा हम

उन सापेक्षिक मात्राओं को ज्ञात कर लेते हैं जो प्रत्येक राज्य को किसी सामूहिक खर्च के लिए देना चाहिए। करदेय क्षमता का निर्धारण कोई सरल कार्य नहीं है। अर्थशास्त्रियों ने इनका अनुमान लगाने के अनेक तत्त्वों का वर्णन किया है।

करदेय क्षमता को निर्धारित करने वाले तत्व

आज कल्याणकारी राज्य की स्थापना का स्वप्न साकार करने वाली सरकार करारोपण केवल आय की दृष्टि से नहीं करती, वरन समाज के विभिन्न वर्गों की आय की स्थिति और उसमें वांछित परिवर्तन आदि पर भी सोच-विचार करती है और तब किसी आय का निर्धारण किया जाता है। यह करदेय क्षमता किसी एक ही नहीं बल्कि अनेक अन्य तत्त्वों पर भी निर्भर रहती है जिनमें से मुख्य ये हैं

(1) राष्ट्रीय आय का आकार

किसी भी देश की करदेय क्षमता उसकी राष्ट्रीय आय के आधार पर निर्भर करती है। राष्ट्रीय आय का आकार स्वयं कई अन्य तत्त्वों पर निर्भर करता है। जैसे कि प्राकृतिक तथा अन्य उपलब्ध साधनों की मात्रा। इन साधनों के उपभोग की सीमा तथा तकनीकी ज्ञान का विकास। जो देश जितना अधिक धनी होता है उसकी करदेय क्षमता भी उतनी अधिक होती है।

(2) आय का बटवारा

करदेय क्षमता राष्ट्रों के आकार के अतिरिक्त इस बात पर भी निर्भर करती है कि लोगों के मध्य उसका बटवारा किस प्रकार का है। यदि देश में धन का वितरण समान होता है तो लोगों की करदेय क्षमता अधिक होती है। अतः आय के बटवारे की एक ऐसी व्यवस्था जो कुछ थोड़े-से लोगों के हाथों में ही धन को केंद्रित करती है, उस व्यवस्था की अपेक्षा जो आय का न्यूनाधिक रूप में समान वितरण करती है, कर के रूप में अधिक आय जुटा सकती है। यह विचार इस मान्यता पर आधारित है कि बहुसंख्यक कम सम्पन्न व्यक्तियों की अपेक्षा थोड़े-से धनाढ्य लोगों के बचत करने तथा कर अदा करने की योग्यता अधिक होती है।

(3) देश की जनसंख्या का आकार तथा वृद्धि दर

एक अन्य तत्त्व जो देश की करदेय क्षमता को निर्धारित करने में सहायक हो सकता है वह यह है कि देश की जनसंख्या का आकार तथा उसकी वृद्धि दर क्या है? साथ ही साथ राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर क्या है? यदि किसी देश में राष्ट्रीय आय की मात्रा स्थिर रहे तब उस देश की करदेय क्षमता प्रत्यक्ष रूप से देश की जनसंख्या के आकार पर निर्भर करेगी। जनसंख्या जितनी बढ़ती जाएगी, करदेय क्षमता उतनी ही कम होती जाएगी। इसके अतिरिक्त करदेय क्षमता इस बात पर निर्भर होती है कि जनसंख्या तथा राष्ट्रीय आय में तुलनात्मक वृद्धि कितनी है। यदि राष्ट्रीय आय की तुलना में जनसंख्या की वृद्धि की गति तीव्र है तो देश अपेक्षाकृत निर्धन हो जाएगा और कर भार सहन करने की क्षमता घट जाएगी।

(4) कर प्रणाली

किसी देश के कर अदा करने की क्षमता उस देश की कर प्रणाली के रूप तथा प्रकृति पर भी निर्भर करती है। यदि कर प्रणाली एक सहयोजित तथा सुव्यवस्थित नीति पर आधारित है तो करदेय क्षमता निश्चय ही अधिक होगी। यदि कोई कर प्रणाली सामाजिक धार्मिक एव राजनीतिक हितो के अनुकूल नही होती है तो वह अधिक आय प्रदान करने म सहायक नही हो सकती। थोडे-से सरल निश्चित एव प्रगतिगामी कर अधिक आय जुटाने म सफल होते हैं। ऐसी कर प्रणाली प्रशसनीय होती है जिसके द्वारा कर भुगतान मे कष्ट का अनुभव न्यूनतम होता है और साथ ही साथ सरकार को यथेष्ट आय भी प्राप्त होती है। इसलिए यदि कर-व्यवस्था की रचना सावधानी के साथ की गई होगी तो लोग कर-भार से मुक्त भी न होंगे और कर-वचन की सम्भावनाए भी कम होगी।

(5) लोक व्यय की प्रकृति तथा मात्रा

जिस प्रकार कर प्रणाली का स्वरूप करदेय क्षमता को प्रभावित करता है उसी प्रकार लोकव्यय की प्रकृति तथा उसकी मात्रा भी करदेय क्षमता पर अपना प्रभाव डालती है। लोक व्यय जितना अधिक होता है जनता की मौद्रिक आय भी उतनी अधिक होती है। मौद्रिक आय मे वृद्धि होने से लोगो के कर अदा करने की क्षमता के बढने की आशा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त यदि सार्वजनिक आय का एक बडा भाग ऐसी प्रायोजनाओ मे लगा दिया जाता है जिसके द्वारा देश के उत्पादन मे वृद्धि होती है तो उससे लोगो की कर-दान क्षमता भी बढ जाती है किन्तु लोकव्यय के वे अन्य रूप जोकि अनुत्पादक प्रायोजनो के निर्माण म लगाए जाते हैं और जो राष्ट्रीय आय को घटा सकते हैं, करदेय क्षमता को भी कम कर देते हैं।

(6) समाज का जीवन स्तर

कोई व्यक्ति सरकार को कराधान के रूप मे अधिकतम राशि कितनी दे सकता है, इसका अनुमान इस प्रकार लगाया जा सकता है कि उसकी कुल आय में से उस न्यूनतम राशि को घटा दिया जाए जो उसके तथा उसके परिवार के पालन पोषण के लिए आवश्यक हो। इसी प्रकार कोई समाज अथवा देश कितनी अधिकतम राशि सरकार को दे सकता है, उसका अनुमान भी इसी प्रकार लगाया जाएगा कि राष्ट्रीय आय की कुल मात्रा मे से उस धनराशि को घटा दिया जाय जो नागरिको के जीवन-यापन के लिए तथा पूजी को यथा पूर्ण बनाए रखने के लिए आवश्यक हो। परन्तु जैसा कि हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि जीवन-यापन के लिए न्यूनतम धनराशि या न्यूनतम निर्वाह स्तर एक विषयगत तथ्य है जो व्यक्ति अथवा समुदाय तथा समय के परिवर्तन को दृष्टि मे रखते हुए पृथक-पृथक हो सकता है। हां, यदि जीवन को स्थिर मान लिया जाए तो राष्ट्रीय आय की प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ कर देय क्षमता के बढने की सभावना हो सकती है।

(7) कर दाताओं की मनोवृत्ति

एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व जो किसी देश की करदेय क्षमता को प्रभावित करता है, लोगों की मनोवृत्ति होती है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि सरकार के प्रति जनता कितनी श्रद्धा रखती है। राष्ट्रीय सरकार में जनता का विश्वास अधिक होता है। ये लोग भारी करों का भार उठाने को तैयार हो सकते हैं, किन्तु विदेशी सरकार के शासन में यह संभव नहीं है। संकटकालीन समय में, उदाहरण के लिए युद्ध काल में नागरिक कर अदा करने तथा सरकार के प्रयासों में अधिक हाथ बटाने को तैयार रहते हैं, जबकि अन्य अवसरों पर ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार समृद्धि काल में लोग आशावादी होते हैं, भारी लाभ प्राप्त होने की आशा में वे भारी कर को भी वहन कर लेते हैं। किन्तु मंदी काल में निराशावादी होने के कारण वह कर भार असहनीय प्रतीत होने लगता है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि करदेय क्षमता पर पृथक रूप से विचार करना तर्कपूर्ण नहीं कहा जा सकता, अपितु उपरोक्त तत्वों को दृष्टि में रख कर ही इस पर विचार करना चाहिए। किसी भी परिमाण अथवा प्रतिशत को दृढ़ता के साथ करदेय क्षमता की सीमा नहीं माना जा सकता। यह सीमा प्रचलित परिस्थितियों पर आधारित होती है। व्यवहार में उस बिन्दु का निर्धारण जिसके आगे करारोपण अवांछनीय होगा, केवल अनुभव से तथा अर्थव्यवस्था पर उसके पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करके ही किया जा सकता है।

भारत की करदेय क्षमता

भारत में करों से प्राप्त होने वाली आय राष्ट्रीय आय के सात से आठ प्रतिशत के मध्य है। यह अनुपात अनेक देशों से, जिनमें दक्षिणी-पूर्वी एशिया के कुछ देश भी सम्मिलित हैं, कम है। कुछ लोगों का विचार है कि भारत अभी करदेय क्षमता की अन्तिम सीमा तक नहीं पहुंचा है इसलिए यहां अतिरिक्त कराधान की क्षमता विद्यमान है। इसके विपरीत कुछ लोगों की यह धारणा है कि भारत में करदेय क्षमता समाप्त हो चुकी है और अतिरिक्त कराधान की कोई संभावना नहीं रह गई है। यह विवाद बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें कौन-सा विचार अधिक ठीक है, इस संबंध में किसी निर्णय पर पहुंचने से पूर्व इस समस्या पर विस्तारपूर्वक अध्ययन करना आवश्यक है।

कुल कराधान राष्ट्रीय आय का बहुत नीचा अनुपात है, यहां इसके कारणों की जांच करना आवश्यक है। प्रथम कारण यह है कि यहां के लोगों का असाधारण जीवन स्तर है जो प्रति व्यक्ति नीची आय में झलकता है। ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जो आय की दृष्टि से अतिरेक की स्थिति में हों। यदि ऐसे व्यक्तियों पर अतिरिक्त कर लगाया जाता है तो उससे उनकी कार्य करने तथा बचत करने की योग्यता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसलिए समुदाय के अधिकांश भाग

की करदेय क्षमता सीमित हो जाती है। दूसरे, अर्थव्यवस्था का एक बड़ा भाग ऐसा है जिसमें मुद्रा का प्रयोग ही नहीं होता है। इसलिए कराधान के प्रचलित रूपों व माध्यम से करों की आय में वृद्धि करना कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए मुद्रा विहीन क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं पर बिक्री जैसा कोई भी वस्तु कर नहीं लगाया जा सकता क्योंकि वहां अधिकांश सौदे वस्तु विनिमय विधि द्वारा पूरे किए जाते हैं। तीसरे भारत का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और उसके फलस्वरूप बड़े पैमाने का व्यापार क्षेत्र भी बहुत कम है। यह भी कराधान के क्षेत्र को सीमित कर देता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आयात तथा निर्यात करों के लगाने का अच्छा क्षेत्र प्रस्तुत करता है। भारत के विदेशी व्यापार इसकी राष्ट्रीय आय का समानुपाती न होने के कारण सीमा शुल्कों से प्राप्त होने वाली आय भी बहुत कम रह जाती है। भारत में बड़े पैमाने के ऐसे व्यापारिक क्षेत्र भी सीमित हैं जिनमें कराधान सुगमता पूर्वक वसूल हो सकता हो।

इस संदर्भ में प्रश्न यह उठता है कि कुल कराधान के राष्ट्रीय आय का यह अनुपात करदेय क्षमता की उच्च सीमा के आ जाने का सूचक है अथवा उसमें वृद्धि की संभावना का? भारत के कराधान जांच आयोग ने स्पष्ट कहा है कि स्वतंत्रता से पूर्व संभवतः करदेय क्षमता अपनी उच्च सीमा पर पहुंच चुकी थी।[1] ऐसा इस लिए था क्योंकि करों तथा खर्चों से प्राप्त होने वाले लाभों के बीच कोई प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष संबंध नहीं था। परन्तु स्वाधीनता के पश्चात करों से प्राप्त आय सामाजिक सेवाओं के विस्तार और आर्थिक विकास में प्रयुक्त की जाती रही है। अधिकांश करदाता इस तथ्य को स्वीकार करते हैं जिसके परिणामस्वरूप कराधान का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया है इसलिए हम यहाँ उन अनुकूल परिस्थितियों की भी जांच करनी चाहिए जो भारत में विद्यमान हैं और करदेय क्षमता के स्तर को ऊंचा उठा सकती है।

सर्वप्रथम, स्वाधीनता के पश्चात लोक-व्यय की प्रकृति तथा प्रारूप में परिवर्तन हो गया है। लोक-व्यय का अधिकाधिक भाग आर्थिक विकास तथा सामाजिक कल्याण पर खर्च किया जा रहा है। इस संबंध में कराधान जांच आयोग ने लिखा है कि 'यदि कर प्राप्तियों का वास्तव में समाज सेवाओं के विस्तार एवं आर्थिक विकास के लिए उपयोग किया गया और यदि इसकी स्पष्ट रूप में प्रशंसा की गई तो सामर्थ्य में अवश्य वृद्धि होगी।'

द्वितीय, योजना काल में, राष्ट्रीय आय की मात्रा में निरन्तर वृद्धि हुई है। अतः यह संभव है कि अतिरिक्त कराधान का आश्रय लिया जाए।

तृतीय, पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत जो आर्थिक विकास हुआ है तथा जो वर्ग ऐसे विकास से अधिक लाभान्वित हुए, ऐसी स्थितियों को उपलब्ध कराते हैं

1. Report of the Taxation Enquiry Commission Vol I, p 153

कि उन लाभों का कुछ भाग करारोपण द्वारा राज्य को मिल सके। समुन्नति कर इसका एक उदाहरण है। यह ऐसे स्थानों पर लगाया जा सकता है जहाँ सिचाई योजनाओं के परिणामस्वरूप भूमि के मूल्य मे वृद्धि हुई है।

चौथे, योजनाबद्ध आर्थिक विकास मे सपूर्ण भारतीय समुदाय को लाभ प्राप्त हुआ है। ऐसी स्थिति म कराधान ही एक मात्र रीति है जिसके द्वारा निम्न आय वाले वर्गों तक पहुचा जा सकता है जो आय कर तथा सपत्ति कर की परिधि मे नहीं आते हैं।

अत मे, घाटे की अर्थव्यवस्था का अधिकाधिक प्रयोग देश के मुद्रा विहीन क्षेत्र को मौद्रिक बनाने म सहायता दे रहा है तथा लोगों की मौद्रिक आय म वृद्धि हो रही है।

यह स्थिति भी करारोपण के क्षेत्र को विस्तृत कर रही है। इसके अतिरिक्त घाटे की व्यवस्था द्वारा उत्पन्न मुद्रा स्फीति के नियंत्रित करने के लिए कराधान व्यापक क्षेत्र प्रस्तुत करता है।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक व्यय की सामाजिक व विकास सेवाओ की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति ने करदेय क्षमता को आगे बढाने मे सहायता दी है। स्वाधीनता के बाद सरकार के प्रति जो एकत्व और उत्तरदायित्व की भावना का उदय हुआ है वह भी उसी दिशा म क्रियाशील हो रहा है। "अत हमे इस बात का तो भरोसा है कि करदेय क्षमता मे वृद्धि हुई है लेकिन तथ्य यह है कि करो से प्राप्त आय राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप में युद्ध पूर्व काल की तुलना म बिल्कुल भी परिवर्तित नहीं हुई है। वहाँ पर यह बतलाना उचित होगा कि इस मत का एक धारणात्मक पक्ष यह है कि भारतीय कराधान अपने वर्तमान ढाँचे और दरों के आधार पर देश के कर-देय साधनों का पूर्ण विदोहन नही कर पाया है।"[1]

---

1. लक्ष्मी नारायण नाथूरामका (अनुवादक एव सकलकर्ता) 'कराधान–एक सैद्धान्तिक विवेचन', पृ 47.

12

कराधान के प्रभाव

कुछ समय पूर्व कराधान को जहाँ राजस्व के केवल एक स्रोत मात्र के रूप म समझा जाता था वहाँ अब इसका उपयोग एक ऐसे अस्त्र के रूप म किया जाता है जोकि आय के उत्पादन तथा वितरण को प्रभावित करने के साथ-साथ स्फीति तथा अवस्फीति को भी नियत्रित कर सकता है। सत्य यह है कि आर्थिक क्रियाओ का ऐसा कोई पहलू नही है जो कराधान के प्रभाव से मुक्त हो। आधुनिक लेखको के मतानुसार सरकारी व्यय और करारोपण दोनो ऐसे महत्त्वपूर्ण साधन हैं जिनके द्वारा आर्थिक क्रियाओ मे स्थायित्व लाया जा सकता है तथा तेजी और मदी की बारबारता को रोका जा सकता है। प्रो० डाल्टन ने कराधान के प्रभावो का अध्ययन तीन शीर्षको के अतर्गत किया है (१) उत्पादन पर प्रभाव, (२) वितरण पर प्रभाव, तथा (३) अन्य प्रभाव।

कराधान के उत्पादन पर प्रभाव

प्रो० डाल्टन ने कराधान के उत्पादन पर पडने वाले प्रभावो को तीन विभागो मे बाटा है (क) कार्य करने तथा बचत करने की योग्यता पर प्रभाव, (ख) कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव, (ग) आर्थिक साधनो के विभिन्न उपयोगो और स्थानो मे वितरण पर प्रभाव।

(क) कार्य करने व बचत करने की योग्यता पर प्रभाव

कार्य कुशलता को कम करने वाले कराधान व्यक्ति की कार्य करने की योग्यता को कम करते हैं। इसलिए इस प्रकार के करो का समाज के निर्धन वर्गो पर लगाने का विरोध किया जाता है। ऐसा उस समय होता है जब व्यक्ति इतने निर्धन हो कि करारोपण मे उनकी आय घटने के फलस्वरूप प्रौढो की वर्तमान कार्यकुशलता और बच्चो की भावी कार्यकुशलता घटने की आशका हो। अत यह एक व्यावहारिक निष्कर्ष है कि सरकार को उन वस्तुओ पर कर नही लगाना चाहिए जिनका उपभोग मूलत समाज के निर्धन वर्ग द्वारा किया जाता हो।

मादक वस्तुओ पर करारोपण व्यक्तियो की कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव नही डालता। ऐसी वस्तुओ के करारोपण से उपभोक्ता उन वस्तुओ का उपभोग या

निर्भर करती है । इसका करदाता की मनोवृत्ति से अधिक सबध होता है । व्यक्ति की आय की माँग की लोच का अभिप्राय यह है कि वह व्यक्ति अधिक आय प्राप्त करने के लिए कितना प्रयास करने को तत्पर है या वह आय प्राप्त करने के लिए कितना इच्छुक है । आय की माग की लोच को हम दो हिस्सो मे विभाजित कर सकते हैं

(1) **आय की बेलोच माग** किसी व्यक्ति के लिए आय की माँग उस समय बेलोचदार होती है जब उसकी मनोवृत्ति इस प्रकार की बन गई हो कि कराधान के उपरात भी वह अपनी आय को पूर्व स्तर पर बनाए रखना चाहता है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति अपने जीवन स्तर को पूर्ववत बनाए रखने के लिए 1000 रु० प्रति माह आवश्यक मानता है । यदि ऐस व्यक्ति स 50 रु० प्रति माह कराधान के रूप म वसूल कर लिए जायें तो उसे अपने जीवन-स्तर को पूर्ववत बनाए रखने के लिए इतना अधिक परिश्रम करना पडेगा जिसके द्वारा वह कराधान के बराबर अतिरिक्त आय प्राप्त कर सके । इस प्रकार कराधान बेलोचदार माग के साथ प्रेरणादायी होता है और कार्य करने व बचत करने की इच्छा मे वृद्धि होती है ।

(ii) **आय की लोचदार माग** किसी व्यक्ति के लिए आय की माग उस समय लोचदार कही जा सकती है जब उसकी मनोदशा एक न्यूनतम आय स्तर के प्राप्त करन के लिए जिज्ञासु न हो । ऐसी स्थिति म कराधान से उसके कार्य तथा बचत करन की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा । ऐसी स्थिति प्राय उन लोगो के साथ होती है जिनका परिवार बहुत छोटा होता है अथवा जो शान-शौकत का जीवन बसर करना नही चाहते । ऐसे व्यक्ति यह जानते हुए कि कराधान मे उनकी वास्तविक आय घट गई है न तो वे अधिक परिश्रम ही करते हैं और न कुछ बचत करन का प्रयास करते है । इसी प्रसग मे डाल्टन ने लिखा है कि 'यदि आय की माँग बेलोचदार हो तो कर की दर बढा दी जाए और यदि आय की माँग लोचदार हो तो कर की दर घटा दी जाए ।'

(2) **आय की माग की लोच का इकाई के बराबर होना :** समाज मे कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिनकी कार्य करन व बचत करने की इच्छा लगभग समान रहती है, चाहे कराधान हो या ना हो । ऐसे व्यक्ति उतना ही कार्य तथा बचत करते रहते हैं जो कराधान स पूर्व करते रहे हैं, क्योकि इनके लिए कार्य करना और बचाना एक आदत बन गई है । कुछ व्यक्तियो म प्रतियोगिता की भावना होती है जैसा कि मिल ने लिखा है, 'मनुष्य स्वय धनी नही बनना चाहता परन्तु वह दूसरो की अपेक्षा अधिक धनी बनना चाहता है ।' इसीलिए पीगू ने एक स्थान पर लिखा है कि, 'धनी व्यक्तियो को अपनी आमदनियो म से जो सतुष्टि मिलती है उसका एक बडा भाग उस आमदनी की वास्तविक मात्रा स नही, बल्कि उसकी सापेक्षिक मात्रा से प्राप्त होता है और यदि सभी धनी व्यक्तियो की आय एक साथ

कम कर दी जाए तो भी उनकी सन्तुष्टि का यह भाग समाप्त नहीं होगा।'[1] यदि एक व्यक्ति दूसरे से अधिक धनी है और कर की अदायगी के पश्चात भी दोनों की सापेक्षिक स्थिति वैसी ही बनी रहती है तो करारोपण से उनके कार्य तथा बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

यद्यपि इस सम्बन्ध में बहुत कुछ विवाद है कि समाज में अधिकांश व्यक्तियों की माँग लोचदार होती है या बेलोचदार फिर भी व्यावहारिक जीवन में यही सिद्ध होता है कि अधिकांश व्यक्तियों की आय की माँग बेलोचदार होती है। यह धारणा निम्न तथ्यों पर आधारित है

(१) अधिकांश व्यक्ति एक निश्चित जीवन स्तर बनाए रखने के आदी हो जाते हैं और वे किसी भी दशा में इसे गिराना नहीं चाहते,

(२) कुछ व्यक्ति अपनी बचतों से न्यूनतम भावी आय प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं। ऐसा वे या तो स्वयं अपने लिए करते हैं या अपने उत्तराधिकारियों के लिए।

(३) कुछ व्यक्ति धन की इच्छा केवल इसलिए भी करते हैं क्योंकि वे समाज में शक्ति, प्रतिष्ठा, शान-शौकत तथा तड़क-भड़क बनाए रखना चाहते हैं। इस सन्दर्भ में प्रो० कारवर ने लिखा है कि जब किसी व्यक्ति के पास एकत्रित धन उस सीमा से अधिक हो जाता है जो उसके बच्चों के संरक्षण के लिए आवश्यक है तो फिर अधिकाधिक एकत्रीकरण का उद्देश्य ही परिवर्तित हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह कार्य करने एवं अधिक प्राप्ति के ध्येय से व्यावसायिक उपक्रमों में कार्य करने लगता है और तब एकत्रित पूंजी इस खेल का एक यन्त्र बन जाती है। जब तक खिलाड़ी का इस यन्त्र पर अधिकार रहता है और वह खिलाड़ियों में से एक खिलाड़ी होता है तब तक एकत्रीकरण के लिए वह केवल इसी विचार से निरुत्साहित नहीं होता कि उसकी मृत्यु के बाद उत्तराधिकारियों की अपेक्षा सरकार को एकत्रित धन प्राप्त होगा। लोवर ह्यूम के कथनानुसार, 'आय कर की दर की प्रत्येक वृद्धि ने उन प्रयत्नों में वृद्धि हुई है जो आय को बढ़ाने में सफल हुए हैं, जिनमें से बढ़े हुए करों का भुगतान किया जाता है।'

जिन परिस्थितियों में कर वसूल किए जाते हैं, करदाताओं की मनोवृत्ति पर उसका भी प्रभाव पड़ता है, समृद्धिकाल में व्यवसायी सामान्यतः आशावादी होते हैं। ऐसी दशा में भारी करारोपण भी उनके कार्य करने तथा बचत करने के प्रयत्नों में बाधा नहीं डालते, क्योंकि ऐसे समय में उन्हें भारी लाभ की आशा होती है। इसके विपरीत मंदी अथवा अवसादकाल में करों की थोड़ी-सी वृद्धि भी कार्य तथा बचत करने की इच्छा को घटा देती है, क्योंकि उन्हें हानि का भय रहता है।

(3) कर की प्रकृति : अभी तक हम कार्य करने और बचाने की इच्छा के सन्दर्भ में करारोपण की चर्चा कर रहे थे। अब करों की प्रकृति के अनुसार करा-

1 Pigou, Economics of Welfare, p 90.

धान के प्रभावो का अध्ययन करेंगे। कुछ कर तो ऐसे होते है कि काम करने और बचाने की इच्छा पर उनका कोई प्रभाव नही पडता और कुछ कर स्वभावत कार्य करने तथा बचत करन की इच्छा पर बुरा प्रभाव डालते है और इसी कारण वे उत्पादन को प्रभावित करते है।

(1) कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा को कुप्रभावित करने वाले कर कुछ कर ऐसी प्रकृति के होते है कि वे कार्य करने तथा बचत करन की इच्छा पर कोई प्रभाव नही डालते, जैसे अधि लाभ कर, भूमि के मूल्य मे वृद्धि पर कर, एकाधिकारी के लाभ पर कर तथा लाटरी पर कर। यह सब आकस्मिक आय पर करो के प्रकार है। उत्तराधिकार म मिली सम्पत्ति भी कभी-कभी उत्तराधिकारी के लिए आकस्मिक होती है। यद्यपि बहुत-से उत्तराधिकारी ऐसी मिलने वाली सम्पत्ति की सुखद प्रतीक्षा भी करते रहते हैं। चूकि करदाता को ऐसी आमदनियो की कोई आशा नही होती और न ही इन्हे प्राप्त करने के लिए उन्हे कोई कष्ट उठना पडता है, अत ऐसे करो के भुगतान वह सरलता म कर देता है। परिणामस्वरूप ऐसे कराधान का व्यक्तियो के कार्य करने और बचत करन की इच्छा पर विरोधी प्रभाव नही पडता। इसी प्रकार क्रय कर तथा विक्री कर यद्यपि लोगो के उपभोग को निरुत्साहित करते हैं, परतु काम करने तथा बचाने की इच्छा को कम नही करते।

(2) कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव डालने वाले कर कुछ कर इस प्रकृति के होते हैं जो कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा को घटाते हैं। यदि आयकर बहुत अधिक प्रगतिशील होता है तो इसमे करदाता निरुत्साहित हो जाते है क्योकि उनकी अपने प्रयासो के उपलक्ष्य मे निबल आय बहुत कम रह जाती है। आयकर से लोगो की परिश्रम करने तथा बचत करने की इच्छा किस सीमा तक प्रभावित होती है, यह आय की माग और लोच, कर की दर तथा राज्य द्वारा प्रदान की गई कर सबधी सुविधाओ पर निर्भर करता है।

करारोपण का सामान्य प्रभाव पुराने उद्योगो की अपेक्षा नवीन उद्योगो पर अधिक पडता है। ऐसे नव स्थापित उद्योग अपनी दुर्बलता के कारण अधिक कर भार सहन नही कर पाते। यहाँ यह बात भी अवश्य याद रखनी चाहिए कि कराधान अनेक तथ्यो मे से केवल एक है जोकि बचत, विनियोग तथा उद्यम का निर्धारण करते हैं। हारवर्ड व्यवसायिक स्कूल द्वारा किए गए कराधान के कुछ अध्ययनो के निष्कर्षों का उल्लेख करते हुए जे० कीथ बटर्स ने कहा है कि 'यदि इस सदर्भ म एक सामान्य वक्तव्य दिया जाए तो उसका महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे मूलभूत प्रेरणाए जोकि गैर सरकारी अर्थव्यवस्था को गतिशील करती हैं और अर्थव्यवस्था का सपूर्ण ढाँचा, इन दोनो पर ही करो का केवल अपेक्षित सीमित तथा विशिष्टीकृत प्रभाव पडता प्रतीत होता है।'[1]

1 J Keith Butters 'Taxation Incentives and Financial Capacity' American Economic Review, may 1954.

आर्थिक साधनों के विभिन्न उपयोगों और स्थानों में वितरण पर प्रभाव

कर उत्पादन पर कहीं थोड़ा तथा कहीं अधिक प्रेरणादायी प्रभाव डालते हैं, इसलिए यह हो सकता है कि करों के भार से मुक्ति पाने के लिए आर्थिक स्रोत वर्तमान उपयोगों से हटकर अन्य उद्योगों की ओर स्थानान्तरित हो जाएं। वे एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर भी स्थानान्तरित हो सकते हैं। इस प्रकार स्रोतों के उद्योगों तथा स्थानों के बीच नवीन वितरण से उत्पादन के प्रकार तथा उसकी बनावट को प्रभावित कर सकते हैं। साधनों का इस प्रकार का वितरण उत्पादन की दृष्टि से लाभकारी एवं अलाभकारी, दोनों प्रकार हो सकता है।

(अ) लाभप्रद दिग्परिवर्तन

कुछ करों द्वारा आर्थिक साधनों का दिग्परिवर्तन इस प्रकार होता है जो देश के उत्पादन को बढ़ाने में सहायक होता है। हानिप्रद पदार्थों पर लगने वाला कर तथा मादक पदार्थों पर लगने वाले कर मादक पदार्थों का उपभोग कम करके स्वास्थ्य तथा कार्य कुशलता बढ़ाकर हितकारी दिग्परिवर्तन सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए वातावरण को धुएं से मुक्त करने के लिए नगरीय क्षेत्रों में खुले स्थान पर जलाए जाने वाली आगों पर कराधान का भी ऐसा ही प्रभाव होता है। विलासिता की वस्तुओं पर लगाया गया कर, कर-मुक्त अनिवार्यताओं की ओर दिग्परिवर्तन करके लाभ पहुंचाएगा।

इस प्रकार का दिग्परिवर्तन उत्पादन पर एक दूसरे प्रकार से ही प्रभाव डालता है। वे उपभोक्ता जो पहले अपने धन को विलासिताओं पर या मादक पदार्थों पर व्यय करते थे वे उसे या तो अब बचाते हैं या अन्य उपयोगी वस्तुओं पर व्यय कर देते हैं। ऐसा करने से बचतों तथा विनियोगों में वृद्धि होती है और नए उद्योग स्थापित होते हैं तथा उत्पादन वृद्धि होती है। संरक्षण कर का प्रभाव भी उस पर ही होता है। इस कर द्वारा साधन उन उद्योगों की ओर दिग्परिवर्तित होने लगते हैं जिनका विकास विदेशी प्रतियोगिता के कारण नहीं हो पाता था।

(ब) हानिप्रद दिग्परिवर्तन

कभी-कभी करों द्वारा आर्थिक स्रोतों का दिग्परिवर्तन इस प्रकार होता है कि वे उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। इसलिए ऐसा दिग्परिवर्तन हानिप्रद समझा जाता है। उदाहरणार्थ, मकानों पर लगाया गया कर मकानों की पूर्ति को कम कर सकता है जिससे लोगों का जीवन कष्टदायक हो सकता है और उनकी कार्यक्षमता कम हो सकती है। कभी-कभी संरक्षण-कर भी साधनों का हानिकारी दिग्परिवर्तन करता है। ऐसा उस समय हो सकता है जबकि देश ने किसी अन्य उपयुक्त उद्योग को संरक्षण दे दिया जाए जिसके लिए देश में पर्याप्त प्राकृतिक स्रोत उपलब्ध न हों। संरक्षण करों के कारण आर्थिक स्रोत कभी-कभी उपयोगी उद्योगों से हटकर अनुपयोगी उद्योगों को दिग्परिवर्तित हो जाते हैं।

(स) वर्तमान से भावी और भावी से वर्तमान उपयोगों की ओर दिग्परिवर्तन

जिन करों से उपभोग निरुत्साहित होता है उनसे बचतें प्रोत्साहित होती हैं। इस प्रकार के करों द्वारा आर्थिक स्रोत वर्तमान उपयोगों से हटाकर भावी उपयोगों पर दिग्परिवर्तित कर दिए जाते हैं। ऐसा परिवर्तन समाज की शक्ति को बढ़ाता है। बिक्री कर, क्रय कर और व्यय कर ऐसे उदाहरण हैं जो खर्चों को निरुत्साहित करते हैं और बचतों को प्रोत्साहन देते हैं।

इसके विपरीत जो कर बचतों को निरुत्साहित करते हैं वे साधनों को भावी उपयोगों से हटाकर वर्तमान उपयोगों की ओर दिग्परिवर्तित करते हैं और इस प्रकार उत्पादन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। यही नहीं जब सरकार करारोपण द्वारा ऐसी निधियां प्राप्त करती है जो अन्य प्रकार से बचाई तथा विनियोग की जा सकती थी परंतु अब सरकार द्वारा प्रशासकीय या अनुत्पादक व्ययों में खर्च कर दी जाती हैं तब भी स्रोत भावी उपयोगों से वर्तमान उपयोगों की ओर दिग्परिवर्तित हो जाते हैं।

(द) दिग्परिवर्तन के लिए प्रेरणादायी कर

अकस्मात प्राप्त होने वाली संपत्तियों पर लगने वाला कर दिग्परिवर्तन के लिए किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं देता। भूमि का उपयोग चाहे जिस काम के लिए *किया जा रहा हो भूमि के स्थिति मूल्य पर लगने वाला कर कोई दिग्परिवर्तन नहीं* करेगा क्योंकि भूमि प्रकृति द्वारा सीमित होती है। इसलिए उसके क्षेत्रफल को घटाना संभव नहीं होता। इसलिए उसका सम्पूर्ण भार भूस्वामी को ही सहन करना पड़ता है। एकाधिकारी पर लगने वाला कर साधनों के दिग्परिवर्तन के लिए कोई प्रेरणा नहीं देता। एकाधिकारी अपनी वस्तु का मूल्य और उत्पादन की मात्रा का निर्धारण इस प्रकार करता है जिससे उसे अधिकतम लाभ की प्राप्ति हो सके। यदि किसी कारणवश उसे अपना उत्पादन घटाना पड़े तो उससे उसका लाभ कम हो जाएगा।

आकस्मिक परिसंपत्तियों पर लगने वाले कर भूमि के स्थिति मूल्य पर कर तथा वे कर जो संपत्ति के *समस्त उपयोगों पर समान भार डालते हैं* आर्थिक साधनों का बहुत कम दिग्परिवर्तन करते हैं।

(य) साधनों का एक स्थान से दूसरे स्थान को दिग्परिवर्तन

करों द्वारा साधनों का पुनर्वितरण इस रीति से भी होता है कि वे एक स्थान से दूसरे स्थान को दिग्परिवर्तित हो जाते हैं। जब किसी एक पर कर बहुत अधिक मात्रा में लगाए जाते हैं तो यह संभव हो सकता है कि लोग अपनी पूंजी को वहां से निकाल कर किसी ऐसे क्षेत्र में विनियोजित करें जहां कर भार अपेक्षाकृत कम हो। ऐसे दिग्परिवर्तन को कम करने का प्रभावशाली उपाय यह है कि

देश भर में एक समान दरों से करारोपण किया जाए। संघीय शासन वाले देशों में यह कठिनाई पैदा हो सकती है कि विभिन्न प्रांत या राज्य विभिन्न दरों से कर लगाएं परंतु यह समस्या विभिन्न प्रांत या राज्यों में पारस्परिक समझौते द्वारा समान दरें निश्चित करके हल की जा सकती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक देश में करों की दरें बहुत ऊंची हों और पूंजी वहां से किसी दूसरे देश को स्थानांतरित हो जाए। किंतु इस स्थानांतरण को रोकने का एक उपाय यह है कि लोगों की संपूर्ण आय पर कर लगाए जाएं चाहे वह देश के अंदर अर्जित की गई हो अथवा देश के बाहर। यदि ऐसा किया जाता है तो करों से बचने के लिए पूंजी देश से बाहर स्थानांतरित नहीं होगी।

कराधान के वितरण पर प्रभाव

धन के वितरण की असमानता अनेक आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक बुराइयों को जन्म देती है। विषमताओं को दूर करने के प्रयास हमें आदर्श वितरण के निकट ले जाते हैं। आर्थिक दृष्टि से आदर्श वितरण एक दिए हुए उत्पादन से अधिकतम आर्थिक कल्याण प्राप्त कराने में सहायक हो सकता है। प्रो० पीगू के शब्दों में 'यदि राष्ट्रीय लाभांश की मात्रा में से निर्धनों के पास जाने वाली मात्रा में वृद्धि हो जाती है तो यह सामूहिक जनकल्याण में वृद्धि करेगा।' वेगनर पहला व्यक्ति है जिसने करारोपण के माध्यम से धन की असमानताओं को दूर करने का मत प्रकट किया था।

प्राचीन लेखक धन के वितरण के लिए कराधान के उपयोग की विचारधारा को विरोध की दृष्टि से देखते रहे हैं। उदाहरण के लिए एक लेखक बैस्टेबिल ने लिखा है कि यदि, 'समाजवादी ढंग की समाज की रचना करना ही लक्ष्य है तो उसकी प्राप्ति के लिए अधिक प्रत्यक्ष एवं अधिक प्रभावशाली अन्य अनेक उपाय मौजूद हैं, बजाय इसके कि उक्त लक्ष्य के लिए कराधान का उपयोग किया जाए।' फिर भी यह बात अधिकाधिक रूप से स्वीकार की जा रही है कि कराधान धन के वितरण की असमानताओं को दूर करने का एक महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हो सकता है। कराधान केवल धनी वर्ग के धन को कम करने के लिए ही आवश्यक नहीं है अपितु राजकीय व्यय के कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए भी आवश्यक है। धन के वितरण में समानता लाने के लिए करारोपण के स्थानापन्न के रूप में केवल यही हो सकता है कि संपत्ति का बड़े पैमाने पर उन्मूलन कर दिया जाए। परंतु यह विकल्प अधिक श्रेष्ठतर नहीं होगा। यह तो करारोपण के विरोधियों को और भी अधिक शोषण प्रतीत होगा। निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि पूर्ण समाजीकरण अथवा राष्ट्रीयकरण की अनुपस्थिति में, करारोपण ही धन के वितरण को समान बनाने का एक महत्वपूर्ण साधन हो सकता है।

कराधान का रूप तथा वितरण

ऊंचा करारोपण धन की असमानताओं को दूर करने का एक प्रभावशाली साधन है। अतः सरकार करों की दर में फेर-बदल करके इस उद्देश्य को प्राप्त करती है। प्रतिगामी कर की प्रवृत्ति आय के वितरण की विषमता को बढ़ाती है। आनुपातिक तथा अधोगामी कर प्रणालियों का भार धनकों की तुलना में निर्धनों पर अधिक पड़ता है। इसलिए इनके द्वारा आय के वितरण की विषमता को कम करने की सम्भावनाएं बहुत कम होती हैं। मंद गति की प्रगामी कर प्रणाली की भी यही प्रवृत्ति होती है। किंतु अधिक तीव्र रूप से प्रगामी कर प्रणाली विषमता को कम करने की ओर उन्मुख होती है। प्रतिगामिता जितनी तेज होगी, यह प्रवृत्ति भी उतनी ही अधिक प्रबल होगी। इस धारणा के अनुसार एक सीमा के ऊपर वाली सब आयों को घटाकर उस सीमा पर ले आया जायेगा और उस सीमा से नीचे वाली आयों पर कोई कर नहीं लगेगा। इसका अर्थ होगा कर देने की योग्यता के अनुसार कराधान। तर्क के आधार पर तो सम्भवतः उचित ही है कि कर-प्रणाली को इतना प्रतिगामी बनाया जाए कि जिससे सभी व्यक्तियों की आय एक समान स्तर पर लाई जा सके। परंतु यह कोई व्यावहारिक सुझाव नहीं है क्योंकि उत्पादन पर सम्भवतः इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़े।

विभिन्न प्रकार के कर और वितरण

हम यहां इस बात का अध्ययन करना चाहेंगे कि विभिन्न प्रकार के करों का आय के वितरण पर क्या प्रभाव पड़ता है।

(1) **आय कर** . वितरण की दृष्टि से आय कर को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है, क्योंकि ऐसे करों को सहर्ष प्रगामी बनाया जा सकता है। कम आय की अपेक्षा अधिक आय पर ऊंची दर से कर लगाया जाता है। पुनर्वितरण की क्रिया को और तीव्र करने के लिए कर प्रणाली में दो अन्य रीतियां भी अपनाई जा सकती हैं। प्रथम अत्यधिक आय पर अतिरिक्त कर लगाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, अधिकर जो भारी आमदनियों पर लगाया जाता है। ऐसे ही अतिरिक्त लाभ कर जो किसी विशेष समय, जैसे युद्ध काल में अर्जित किये गए अतिरिक्त लाभों पर होता है। द्वितीय कम आय वालों को विभिन्न प्रकार की छूटें तथा सुविधाएं दी जा सकती हैं। यह हो सकता है कि एक निश्चित सीमा से नीचे की आमदनियों को कर से मुक्त कर दिया जाए, ऐसे व्यक्तियों को पारिवारिक भत्ते दिए जा सकते हैं जिनके परिवार में आश्रितों की संख्या अधिक हो, औषधियों पर किए गए व्यय कर योग्य आय में से घटाए जा सकते हैं तथा गैर-अर्जित आय की अपेक्षा अर्जित आय पर कर नीची दरों से लगाए जा सकते हैं।

(2) **संपत्ति कर** : संपत्ति कर वितरण को काफी मात्रा में प्रभावित करते हैं। किसी भी व्यक्ति की संपत्ति उसकी आर्थिक शक्ति का परिचायक होती है।

जिन व्यक्तियों के पास व्यक्तिगत संपत्ति अधिक मूल्य की होती है, उनकी आर्थिक स्थिति भी उतनी दृढ़ होती है। अतः संपत्ति पर प्रगामी कर लगाकर धन के वितरण में समानता लाई जा सकती है। धन कर, मृत्यु कर तथा अनावर्ती पूंजी कर संपत्ति कर के विभिन्न प्रकार हैं। ये कर वितरण को दो रूप में प्रभावित कर सकते हैं। प्रथम, ऐसे कर संपत्ति के ऐसे मालिकों पर लगते हैं जो समाज में अधिक धनी होते हैं और वे व्यक्ति कर से मुक्त होते हैं जिनके पास कोई संपत्ति नहीं होती। द्वितीय, ऐसे व्यक्तियों पर अधिक ऊंची दरों से कर लगाया जाता है जो अधिक संपत्ति के मालिक होते हैं। इसके विपरीत उन व्यक्तियों पर अपेक्षाकृत नीची दरों से कर लगाया जाता है जिनके पास संपत्ति कम मूल्य की होती है।

(3) व्यय कर प्रो० काल्डर के विचारानुसार व्यय कर को करदाता के कर अदा करने की सामर्थ्य का प्रतीक माना जा सकता है। जिस व्यक्ति का व्यय जितना अधिक होगा वह उतना ही अधिक कर अदा करेगा। धनी वर्ग के उपभोग की प्रवृत्ति में कमी लाने के लिए, विशेषकर प्रदर्शन-उपभोग (Consp cuous consumption) को रोकने के लिए व्यय कर एक प्रभावपूर्ण साधन सिद्ध होता है।

(4) परोक्ष कर अनेक परोक्ष कर ऐसे होते हैं जिनके प्रगामी तथा प्रतिगामी प्रभाव हो सकते हैं। उत्पादन कर, बिक्री कर तथा सीमा कर ऐसे ही परोक्ष करों के उदाहरण हैं। अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं तथा सामान्य उपभोग में आने वाली वस्तुओं पर लगने वाले कर प्रतिगामी प्रकृति के होते हैं। ऐसी वस्तुएं चूंकि धनी तथा निर्धन लोगों द्वारा समान रूप से एक-सी दरों पर खरीदी जाती हैं, इसलिए निर्धनों को इन वस्तुओं के खरीदते समय अपनी आय का बड़ा भाग व्यय करना पड़ता है। इसके विपरीत विलासिता की वस्तुओं के कराधान का स्वभाव संभवतः प्रतिगामी सिद्ध होता है क्योंकि उनका भार मुख्यत. अमीरों पर ही पड़ता है। सामान्य बिक्री कर चूंकि सभी पदार्थों पर लगाया जाता है, जिसमें अनिवार्य तथा सामान्य उपभोग की वस्तु सम्मिलित होती हैं, इसलिए उनका प्रभाव भी प्रतिगामी होता है। हां, यदि अनिवार्य आवश्यकताओं तथा सामान्य उपभोग की वस्तुओं को करारोपण से मुक्त कर दिया जाय तो इन करों की प्रतिगामिता को थोड़ी-बहुत मात्रा में घटाया जा सकता है।

वितरण बनाम उत्पादन

उपर्युक्त अध्ययन से यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि समान वितरण की अवस्था को लाने के लिए तीव्र प्रगामी कर प्रणाली को व्यवहार में लाना आवश्यक है। परंतु साथ में हम ऐसी कर प्रणाली के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों का ज्ञान भी आवश्यक है। इसी अध्याय में यह बतलाया जा चुका है कि अत्यधिक प्रगामी एवं भारी कर उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। इससे उत्पादन घटता है। ऐसी

स्थिति मे वितरण की समानता का अर्थ धन के समान वितरण का नही अपितु निर्धनता का समान वितरण होगा। इसलिए वितरण सबधी अध्ययन के समय हम उत्पादन सबधी पहलुओ का उल्लघन नही कर सकते। साथ ही हमे यह नही भूलना चाहिए कि प्रगामी कर प्रत्येक दशा मे उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव ही डालते हैं। वास्तव मे ऐसी बात नही है। केवल कुछ विशेष परिस्थितियो मे ही ऐसी कर प्रणाली हानिकारक होती है। दूसरे शब्दो मे, कुछ दशाओ मे ऐसा भी होता है कि प्रगामी कर प्रणाली उत्पादन के ऊपर प्रतिकूल प्रभाव डालने की अपेक्षा अनुकूल प्रभाव डालती है। उदाहरण के लिए, यदि एक व्यय-कर लगाया जाए तो यह उपभोग पर किए जाने वाले व्यय को कम करके बचतो को बढाएगा। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्पादन और वितरण, दोनो ही उद्देश्यो के बीच पारस्परिक सामजस्य की स्थापना आवश्यक है तथा कराधान की योजना का निर्धारण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जहा वह एक ओर उत्पादन के मार्ग मे कोई बाधा न डाले और दूसरी ओर धन के वितरण की असमानताओं को दूर करने मे भी सहायक हो।

अविकसित देशो मे करों का वितरण पर प्रभाव

अविकसित देशो की समस्याए विकसित देशो से भिन्न होती है। विकसित देशो मे साधनो के पूर्ण दोहन तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति के कारण राष्ट्रीय आय का स्तर बहुत ऊचा होता है, इसलिए ऐसी अर्थव्यवस्था मे उत्पादन के पहलू पर अधिक बल न देकर आय के पुनर्वितरण की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। ऐसा करने से ही वहा के कुल सामाजिक कल्याण मे वृद्धि हो सकती है। किंतु अल्पविकसित देशो मे दो मूल समस्याए होती हैं। *प्रथम, उत्पादन को बढाने की। द्वितीय, राष्ट्रीय आय के वितरण को समान बनाने की।*

एक विचारधारा के अनुसार अल्प विकसित देशो मे मुख्य लक्ष्य उत्पादन और रोजगार के स्तर को ऊचा करना है। समान तथा न्यायपूर्ण वितरण भविष्य मे वाछनीय हो सकता है, परतु इसे तात्कालिक लक्ष्य नही बनाया जा सकता। यदि करारोपण के वितरण सबधी प्रभावो का सावधानी से अध्ययन किया जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि दोनो उद्देश्य अर्थात उत्पादन की वृद्धि तथा व्यक्तियो के मध्य आय तथा धन का समान एव न्यायपूर्ण वितरण एक-दूसरे के विरोधाभासी हैं। जहा उत्पादन तथा रोजगार को बढाने के लिए *कार्य करने तथा बचत करने की योग्यता प्रेरणादायक बनाने के लिए अत्यधिक प्रगामी कर प्रणाली हानिकारक हो सकती है, वहां-वहा समाज मे समान तथा न्यायपूर्ण वितरण के लिए प्रगामी कर प्रणाली आवश्यक समझी जाती है। यदि धन के न्यायपूर्ण वितरण को प्राथमिकता दी गई और कर ढाचे मे आवश्यक परिवर्तन करके प्रगामी कर पद्धति को अपनाया गया तो उसका उत्पादन पर स्वमेव प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और राष्ट्रीय आय की मात्रा घट जाएगी और प्रत्येक व्यक्ति की आय भी उतनी कम हो जाएगी।* इसलिए

अर्थशास्त्री यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि उत्पादन पक्ष की अनुकूलता के लिए वितरण संबंधी विचार को कुछ समय के लिए स्थगित कर देना चाहिए। यद्यपि इस तर्क में काफी वजन है फिर भी यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि अल्पविकसित देशों में उत्पादन संबंधी तथा वितरण संबंधी दोनों लक्ष्यों को एक साथ प्राप्त किया जा सकता है।

हम यह जानते हैं कि काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर सभी करों का एक-सा प्रभाव नहीं पड़ता। कुछ का प्रतिकूल तथा कुछ का अनुकूल प्रभाव पड़ता है। प्रत्यक्ष कर, मुख्यरूप से आय कर तथा उत्तराधिकारी कर काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव डाल सकते हैं जबकि परोक्ष कर ऐसा प्रभाव नहीं डालते। फिर प्रत्यक्ष करों का बुरा प्रभाव उसी समय तक पड़ता है जब लोगों की आय संबंधी माँग लोचपूर्ण होती है। जब आय संबंधी माँग बेलोचदार होती है तब कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा निरुत्साहित नहीं होती। जैसा कि पीगू ने स्पष्ट लिखा है कि संचय करने की प्रेरणाएं इतनी अधिक होती हैं कि मृत्यु कर अथवा पूंजी कर उन्हें कम नहीं कर सकते। चूंकि समाज में अधिकांश व्यक्तियों की आय की माँग बेलोचदार होती है अतः करारोपण से उनके कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में नए उद्यमों के आरंभ करने तथा पुरानों के विस्तार करने तथा व्यावसायिक प्रगति की संभावनाएं इतनी बलवती होती हैं कि आय कर तथा संपत्ति कर का भार विनियोग तथा पूंजी निर्माण पर कोई बुरा प्रभाव नहीं डालता।

एक अल्पविकसित देश में विकास का कार्य योजनाबद्ध होता है, विनियोग की दर निरंतर बढ़ती रहती है और सार्वजनिक आय में वृद्धि होती रहती है। यह वृद्धि वस्तुओं और सेवाओं की माँग को बढ़ाती है जिससे लाभ की संभावनाएं बढ़ती जाती हैं और वे कर देने से भयभीत नहीं होते। अतः उनके विनियोग करने की प्रेरणाओं पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।

हमें यह याद रखना चाहिए कि विकास के योजनाबद्ध कार्यक्रम में उपभोग को सीमित तथा बचतों और विनियोग को बढ़ाने की आवश्यकता होती है। राजकोषीय अधिकारी इन बचतों को गतिशील करके उनका उपयोग देश की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने में करते हैं। इन सभी समदर्शी लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए करारोपण का उपयोग किया जाए जिससे कि जनता के उपभोग को कम किया जा सके तथा उच्च आय वाले वर्गों के अनावश्यक उपभोग में कटौती की जा सके। साथ ही निजी कोष को उत्पादक विनियोगों में लगाने के लिए राजकीय क्षेत्र का भी विस्तार करना होगा। यह सब लक्ष्य करारोपण द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं।

प्रायः यह देखा जाता है कि अल्पविकसित देशों में धन कुछ लोगों के हाथों में ही केंद्रित हो जाता है, इसलिए अल्पविकसित देशों को यह लक्ष्य भी दृष्टिगत रखना चाहिए कि वे प्रगामी कर प्रणाली का उपयोग करके कुछ थोड़े-से लोगों में

धन को एकत्र होने से रोकें। यह इसलिए भी आवश्यक है कि निम्न आय वाले वर्गों के मन में कहीं यह शंका उत्पन्न न हो कि धनी वर्गों को कर भार सहन ही नहीं करने पड़ रहे हैं। साथ ही साथ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि कर भार के वितरण को सतुलित बनाने की दृष्टि से कर व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे कि उच्च आय वाले वर्गों पर कर का भार उतना ही पड़े जितना कि प्रत्यक्ष करों की संख्या में वृद्धि होने से निम्न वर्गों पर पड़ रहा है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो असमानताएं बढ़ेंगी और विभिन्न आय वाले वर्गों के बीच की खाई और चौड़ी हो जाएगी तथा राजनैतिक एवं सामाजिक सतुलन अस्त-व्यस्त हो जाएगा।

यहाँ दो कठिनाइयाँ सामने आती हैं। प्रथम यह कि और धन की असमानताओं से बचतों को प्रोत्साहन मिलता है। करारोपण इन लोगों की बचतों को हतोत्साहित करता है। द्वितीय यह कहा जाता है कि पुनर्वितरण करने वाले करारोपण से निधन व्यक्तियों की वास्तविक आय बढ़ जाती है तथा उपभोग में वृद्धि होती है, परन्तु बचत तथा विनियोग कम हो जाते हैं। यद्यपि प्रथम धारणा सत्य है परंतु वह ऊंची आय वाले वर्गों के व्यर्थ के उपभोग की उपेक्षा करती है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि केवल धनी वर्गों की बचतें ही एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था को निर्धनता के विषैले चक्र से बाहर नहीं निकाल सकती। यदि उनकी बचतें ऐसा कर सकती होतीं तो यह कार्य बहुत पहले ही सम्पन्न हो गया होता। और फिर अल्पविकसित देशों के पिछड़े जन की यह समस्या उत्पन्न ही नहीं हुई होती। दूसरी धारणा को स्वीकार करने वाले यह भूल गए हैं कि विकास संबंधी व्यय में निर्धन वर्गों का भी यथेष्ट योगदान होता है क्योंकि उन्हें भी अप्रत्यक्ष करों का एक बड़ा भाग वहन करना पड़ता है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उपभोग का स्तर नीचा होने पर निर्धन वर्ग की कार्यक्षमता में वृद्धि करना अत्यावश्यक है। हम निम्न आय वाले वर्गों की आय में वृद्धि करके संपूर्ण राष्ट्र की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने में सहायता करते हैं।

इस प्रकार एक अल्पविकसित देश के आर्थिक विकास के संदर्भ में, करारोपण के द्वारा उत्पादन वृद्धि तथा आय के पुनर्वितरण, दोनों लक्ष्यों को साथ-साथ प्राप्त किया जा सकता है और इससे मेल खाता हुआ एक उपयुक्त कर-ढांचे का निर्माण किया जा सकता है। पुनर्वितरण संबंधी करारोपण की सामान्य योजना को शिथिल करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वस्तुस्थिति तो यह है कि ऐसी योजना की और भी अधिक आवश्यकता है।'

13
आय कर

भारत में आय कर का वर्तमान रूप पिछले सौ वर्ष के क्रमिक विकास का परिणाम रहा है। इसका प्रारभ 1830 ई० में वित्त सदस्य जेम्स विल्सन द्वारा हुआ था। परन्तु 1883 तक इसका क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत न हो सका था। 1886 का आय कर अधिनियम इसका सबसे पहला सुसगठित रूप था। प्रारभ में यह केंद्र सरकार की आय के मद के रूप में रहा किंतु बाद में केंद्र एव राज्य-सरकारों के मध्य विभाजित मद रहा। 1918 में आय कर का नया अधिनियम बनाया गया जिसमें 1886 के अधिनियम के प्रावधानों को मूलत बदल दिया गया। इसकी सबसे बडी विशेषता यह थी कि वर्ष की आय पर उसी वर्ष कर लगाने की व्यवस्था थी। इससे कराधान का क्रम वर्ष के अत तक पूर्ण न हो पाता था। इस दोष के तथा अन्य सीमाओं के कारण आय कर विधान में पुन परिवर्तन की आवश्यकता समझी गई। फलतः 1922 में फिर नया कर अधिनियम बनाया गया जो अब तक चल रहा है।

1922 से लेकर अब तक अधिनियम में अनेक सशोधन हुए जिससे उसे सामयिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया जा सके। ऐसे सशोधनों की सख्या 50 से भी अधिक है। इसके अतिरिक्त कराधान जाच आयोग 1924-25, आय कर समिति 1935-36, आय कर अनुसधान आयोग 1947, तथा कराधान जाच आयोग 1953-54 के आवेदनों ने कराधान के ढाचे पर विशेष प्रभाव डाला है। इनका उद्देश्य आय कर द्वारा अधिकाधिक आय प्राप्त करना, आय कर प्रशासन सबधी असुविधाओं को दूर करना, अदालती निर्णयों को आय कर विधान में सम्मिलित करना तथा अधिक से अधिक आय का कराधान की लपट में लाना है।

समय-समय पर निर्धारित एक निश्चित आय सीमा की छूट के उपरात किसी भी व्यक्ति, सस्था एव अविभाजित सयुक्त हिंदू परिवार की आय पर, जो भारत में रहने वाले नागरिकों द्वारा देश या विदेश में उपार्जित की हो, करारोपण की व्यवस्था आय कर के अतर्गत है। पिछले वर्ष की आय के आधार पर चालू वर्ष में, साधारण स्वीकृत व्यय काट कर करदाता को कर चुकाना पडता है। सहकारी समितियों की आय, सार्वजनिक एव धार्मिक न्यासों की आय, स्थानीय स्वायत्त सस्थाओं की आय, भूतपूर्व राजाओं को प्राप्त प्रिवीपर्स, विदेशी दूतावास के कर्मचारियों की आय आदि पर आयकर की छूट प्रदान की गई है।

आय की परिभाषा

विस्तृत रूप में आय का अर्थ उस आर्थिक लाभ से होता है जो एक व्यक्ति किसी नियत अवधि के अंतर्गत प्राप्त करता है। इसके अंतर्गत उस व्यक्ति के एक निश्चित अवधि का उपभोग तथा उसी अवधि में उसके वैयक्तिक धन में होने वाली विशुद्ध वृद्धि सम्मिलित की जाती है। डा० बी०आर० मिश्र ने आय की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'किसी निश्चित स्रोत से नियत अवधि पर मुद्रा में अथवा मुद्रा द्वारा आके जा सकने वाले अन्य किसी रूप में जो प्राप्त होती है वही सामान्यत आय मानी जाती है। इसमें पूंजी सबंधी प्राप्तियां नहीं आतीं और न देन ही आती है।'[1]

आय का अनुमान लगाते समय निम्न तीन बातों को दृष्टि में रखा जाता है।

(क) अन्य व्यक्तियों से प्राप्त कुल आय में से उन खर्चों को निकाल कर, जो उस आय को उत्पन्न करने के लिए प्रत्यक्ष रूप में किए गए हों, शेष आय। किंतु इन खर्चों में रहन-सहन के खर्च सम्मिलित नहीं हो सकते।

(ख) व्यक्ति द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं का मूल्य, जिनका वह स्वयं मालिक है (उदाहरण के लिए उसके मकान उपयोग-मूल्य तथा स्वयं उत्पन्न की गई फल और सब्जियां)।

(ग) व्यक्ति के उन परिसपत्तियों के मूल्य में होने वाली वृद्धि, जोकि उस विशिष्ट अवधि में उसके स्वामित्व में रही हो।

आयकर गणना की सुविधा की दृष्टि से कुल आय को स्रोत के अनुसार 6 मदों में विभाजित किया जाता है (1) वेतन (2) प्रतिभूतियों पर ब्याज (3) गृह सपत्ति से आय (4) व्यवसाय, पेशा अथवा उद्यम से प्राप्त लाभ (5) अन्य स्रोतों से प्राप्त आय।

आयकर व्यक्ति की विशुद्ध आय पर लगाया जाता है। किसी भी व्यक्ति की विशुद्ध आय से तात्पर्य उस आय से है जिसमें से व्यावसायिक खर्चे, मूल्य ह्रास तथा हानियां आदि घटाने के बाद उसको वास्तव में प्राप्त होती है। कुल आय की अपेक्षा विशुद्ध आय किसी व्यक्ति की कर अदा करने की योग्यता का एक अधिक अच्छा प्रतिनिधित्व करती है।

मुक्तियां

विशुद्ध आय को ज्ञात करने से पूर्व कुछ मुक्तियां तथा कटौतियां की जाती हैं। ये कटौतियां कभी-कभी प्रशासनिक दृष्टि से भी आवश्यक समझी जाती हैं या

---

1 डा बाबूराम मिश्र 'भारतीय कर व्यवस्था' (1962), हिंदी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, पृ 76 एव 77.

कर अदा करने की योग्यता को दृष्टि में रख कर की जाती है। उदाहरणार्थ, एक न्यूनतम स्तर की आय को प्राय करारोपण से मुक्त रखा जाता है। ऐसा करने के दो मुख्य कारण होते हैं। प्रथम, उक्त स्तर से नीचे की आय का निर्धारण तथा उसका करारोपण प्रशासनिक दृष्टि से असुविधाजनक होता है तथा महंगा भी पड़ता है। द्वितीय, उक्त स्तर से नीचे आय वाले व्यक्तियों पर करों के भार डालने का कोई औचित्य नहीं समझा जाता। इसके अतिरिक्त अर्जित आय में से कुछ अन्य कटौतियां भी की जा सकती हैं जैसे कि करदाता पर निर्भर रहने वाले आश्रितों की संख्या तथा शिक्षा व चिकित्सा आदि पर किया गया व्यय। साधारणतः इस बात का निश्चय कर दिया जाता है कि कर योग्य आय में से कौन-कौन सी प्राप्तियां सम्मिलित की जाएगी और कौन-कौन-सी विशिष्ट कटौतियां की जाएगी।

आय कर तथा कर देय क्षमता

अन्य करों की तुलना में आय कर को कर देय क्षमता के अधिक अनुरूप बनाया जा सकता है। ऐसा करने के लिए कई प्रकार की विधियां अपनाई जा सकती हैं। ये विधियां करों के आरोहण अथवा क्रमवर्धन अति कर (Super tax), मुक्तियों, छूटों तथा भत्तों का रूप लेती हैं।

प्राय एक निश्चित न्यूनतम स्तर से नीचे की आय, आय कर के भुगतान से मुक्त कर दी जाती है। इस प्रकार समाज के निम्न आय वर्ग को कर के भार से मुक्त कर दिया जाता है। आय कर को कर देय क्षमता के अनुरूप बनाने का सबसे महत्वपूर्ण साधन है—करों का आरोहण अथवा क्रमवर्धन अर्थात ऊंची आय वालों पर ऊंची दरों से करारोपण। अधिकांश देशों में क्रमवर्धन के सिद्धान्त को अपनाया जाता है यद्यपि उस क्रमवर्धन की तीव्रता भिन्न भिन्न देशों में तथा भिन्न-भिन्न समय पर अलग-अलग पाई जाती है।

प्रत्यक्ष कर जांच समिति

भारत सरकार ने न्यायाधीश श्री के० एन० वान्चू की अध्यक्षता में मार्च 1970 में प्रत्यक्ष कर जांच समिति नियुक्त की। समिति से यह अनुरोध किया गया कि वह (1) काले धन को बाहर निकालने और कर वंचन तथा कानूनी उपायों द्वारा कर से छुटकारा पाने के बढ़ते हुए तरीकों को रोकने के लिए ठोस और प्रभावी सिफारिशें करे, (2) कर-विधान द्वारा दी गई विभिन्न कर छूटों का निरीक्षण करे ताकि इनका या तो संशोधन किया जाए, या इन्हें घटाया जाए और (3) कर-निर्धारण और प्रशासन को उन्नत करने के बारे में भी सुझाव दे।

कर वंचन और काले धन की प्राप्ति

वान्चू समिति ने अनुमान लगाया है कि वह आय जिस पर कर नहीं दिया गया 1961-62 में 700 करोड़ रुपये थी परन्तु 1965-66 और 1968-69 में यह बढ़

कर क्रमश 1000 करोड रुपये और 1400 करोड रुपये और हो गई। अत 1968-69 के दौरान काले धन से संबंधित मौद्रिक सौदों का मूल्य 7000 करोड रुपये से कम नहीं था। इस प्रकार समिति का अनुमान है कि 1968 69 के दौरान कर-वचन की राशि 470 करोड रुपये थी अर्थात कुल कर से बचाई गई, 1400 करोड रुपये की आय का एक तिहाई।

शब्द 'काले धन या छिपे धन का प्रयोग लेखारहित मुद्रा या छिपी आय या अव्यक्त धन के रूप मे किया जाता है। कर-वचन और काले धन म बडा घनिष्ठ और गहरा सबध है जबकि कर वचन से काले धन की उत्पत्ति होती है, वहां काले धन को छिपे रूप म व्यापार मे लगाने स अधिक आय प्राप्त की जाती है जिससे और अधिक कर-वचन होता है। काला धन देश की अर्थव्यवस्था म एक प्रकार का कैंसर है जिसे समय पर बढने से न रोका गया तो यह अर्थव्यवस्था की बर्बादी का कारण बन सकता है। कर-वचन और काले धन की उत्पत्ति के निम्नलिखित मुख्य कारण है

(1) प्रत्यक्ष कर अधिनियम के अधीन कराधान की ऊची दरें।

(2) अभाव की अर्थव्यवस्था के विद्यमान होने के फलस्वरूप कायम की गई नियत्रण एव लाइसेंस प्रणाली।

(3) राजनैतिक दलों को दिए जाने वाले दान।

(4) भ्रष्ट व्यापार-व्यवहार।

(5) व्यापारिक खर्चों पर लगाई गई अधिकतम सीमा और इन खर्चों की आय कर मे छूट न देना।

(6) बिक्री कर एव अन्य शुल्कों की ऊची दरें।

(7) कर-अधिनियमों की पालना में बहुत अधिक ढील।

(8) नैतिक स्तर का पतन।

समिति की मुख्य सिफारिशें

कर-वचन के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए वाचू समिति की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार हैं

(1) चूकि ऊची दरों का विद्यमान होना कर-वचन का सबसे महत्वपूर्ण कारण है, इसलिए वाचू समिति ने यह सिफारिश की है कि आयकर की अधिकतम सीमात दर (जिसमें अधिकर भी शामिल हो) 97 5 प्रतिशत के वर्तमान स्तर से कम करके 75 प्रतिशत तक लानी चाहिए। समिति ने यह सिफारिश की है कि मध्यम और निम्न स्तरों पर भी कर की दरों को कम किया जाए।

(2) कृषि-आय, जो अभी केंद्र सरकार के कर जाल से बाहर है, के कारण छिपे धन पर परदा डालने की पर्याप्त सभावना रहती है। अत यह आवश्यक है कि कृषि-आय पर अन्य प्रकार की आय की भांति एक समान कर लगाया जाए ताकि सघीय सरकार द्वारा लगाए गए प्रत्यक्ष करों म कर वचन को समाप्त किया जा सके।

(3) वर्तमान बिक्री कर का जहां तक संभव हो, उत्पादन शुल्क द्वारा प्रतिस्थापन कर देना चाहिए। चूंकि फिर भी बिक्री कर कुछ वस्तुओं पर बना रहेगा, इसलिए आय कर प्राधिकारियों और बिक्री कर प्राधिकारियों में अधिक तालमेल होना चाहिए ताकि वे कर-वंचन संबंधी आसूचना एक-दूसरे से प्राप्त कर सकें।

(4) विभिन्न पेशों में काम करने वाले व्यक्तियों को अपने लेखे तैयार करने के लिए कानूनी रूप से बाध्य करना चाहिए। इसी प्रकार ऐसे व्यापारियों को जिनकी आय 25000 रुपये से अधिक हो या जिनकी कुल बिक्री 2.5 लाख रुपये से अधिक हो, पिछले तीन वर्षों में से किसी एक वर्ष के लेखा को तैयार करने का आदेश देना चाहिए।

(5) देश में सभी करदाताओं के सूचीकरण की समान पद्धति आरंभ करनी चाहिए। इससे करदाता संबंधी सूचना को संबद्ध करने में आसानी होगी और परिणामत कर-विभाग को कर-वंचन की समस्या के समाधान में सहायता मिलेगी।

(6) आयकर अधिकारी को करदाता के निवास स्थान पर जाकर नकदी गिनने, स्टाक चैक करने या किसी ऐसे खाते या प्रलेख के निरीक्षण की अनुमति होनी चाहिए जिसे कर अधिकारी आवश्यक समझता हो। इसे अतिरिक्त सूचना प्राप्त करने या किसी ऐसे व्यक्ति का बयान लेने की भी अनुमति होनी चाहिए जो निवास स्थान पर उपलब्ध हो।

(7) यदि स्टाम्प अधिनियम के अधीन जायदाद के मूल्यांकन के लिए उचित मशीनरी की व्यवस्था की जाए, तो अचल संपत्ति, जो हस्तांतरण का विषय है, में काले धन के विनियोग को हतोत्साहित करने में सहायता मिल सकती है।

वांचू समिति द्वारा की गई सिफारिशों में से कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें सरकार स्वीकार करना नहीं चाहती जैसे वैयक्तिक आयकर की सीमांत दरों में कमी।

(8) वांचू समिति का मत है कि वैयक्तिक कराधान की ऊंची दरें ही कर-वंचन के लिए अधिकतर जिम्मेदार हैं। इनके कारण यदि करदाता कर की चोरी न करें, तो उसकी बचत करने की क्षमता बहुत ही कम हो जाती है। इसी कारण समिति ने आयकर की अधिकतम सीमांत दर को 97.5 प्रतिशत से कम कर के 75 प्रतिशत करने की सिफारिश की है और इसके तदनुरूप नीचे स्तरों पर भी कर-दरों को कम करने का सुझाव दिया है। केंद्र सरकार का यह मत है कि ऊंची सीमांत दरों को कम करने से संभवत कर-वंचन और काले धन को कम नहीं किया जा सकता। 50,000 रुपये से अधिक आय वाले लगभग 40,000 करदाता हैं और समिति की सिफारिश से केवल इनको लाभ होगा। इसके विरुद्ध 20 लाख करदाता ऐसे हैं जिनके संबंध में कर की दरों को संपत्तिहरणीय नहीं समझा जा सकता। यदि समिति की सिफारिशों को स्वीकार करने का निर्णय किया जाए, तो इससे सरकार को लगभग 45 करोड़ रुपये के राजस्व की हानि होगी और तदनुरूप लाभ नाममात्र होगा। परंतु समिति का दृढ़ विश्वास है कि कर दरों को कम

करने से कर-अधिनियमों का अधिक पालन होगा और इसमें बचत और विनियोग में वृद्धि के कारण अर्थव्यवस्था को जो प्रोत्साहन मिलेगा वह दीर्घकाल में राजस्व म होनेवाली तत्काल कमी की दीर्घकाल में कहीं अधिक पूर्ति कर देगा।'

(9) परतु समिति ने करदाताओं के हाथ में कर-कटौतियों के पश्चात बाकी रह जाने वाली निर्वर्त्य आय के अतिरिक्त भाग को एकत्र करने के लिए *राष्ट्रीय विकास कोष की स्थापना का सुझाव दिया है।* कपनियों को छोड सभी करदाता इस कोष में स्वैच्छिक योगदान के रूप में अपनी कुल आय के 10 प्रतिशत की सीमा तक या 20,000 रुपये जो भी कम हो, योगदान दें। यह योगदान भी कुल आय में से भविष्य निधि या बीमा किस्त की भांति वसूल किया जायेगा। सरकार इस कोष का प्रयोग विकास परियोजनाओं के लिए वित्त उपलब्ध कराने के लिए करेगी। राष्ट्रीय विकास कोष के योगदान पर धन कर नहीं लगेगा, केवल 4 5 प्रतिशत ब्याज पर कर लगाया जाएगा।

(10) वाचू समिति ने निगम क्षेत्र के कर ढाचे म सशोधन करने के उद्देश्य म बहुत-सी महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की हैं। इसने विभिन्न कपनियों पर लगाई गई विभिन्न कर दरों की अपेक्षा सभी कपनियों पर कर की एक-सी दर (अर्थात 55 प्रतिशत) लगाने की सिफारिश की है। समिति ने कपनियों को अपनी पूर्ण क्षमता का प्रयोग करने और उत्पादन बढाने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु कर देय राशि पर 5 से 10 प्रतिशत की कर छूट देने का सुझाव दिया है। यह कर छूट उत्पादन में प्रत्येक 10 प्रतिशत वृद्धि पर दी जाएगी।

समिति द्वारा अपने स्वामित्वाधीन या उधार पर ली गई पूजी पर 1 प्रतिशत अनावर्ती पूजी-कर लगाने का प्रस्ताव विवादास्पद बन सकता है। अनावर्ती पूंजी कर का उद्देश्य कपनियों द्वारा अति पूजीकरण प्रवृत्ति को रोकना है। इससे यह भी आशा की जा सकती है कि स्वामित्व की दृष्टि से निकट रूप से सबधित कपनियों द्वारा धन कर की चोरी को रोका जा सकता है।

सभवत पूजीकर के तीखेपन को कम करने के लिए वाचू समिति ने कपनियों पर अधिकर समाप्त करने की सिफारिश की है। परतु यह लाभ केवल उन कपनियों को प्राप्त होगा जो दडित दर अदा करती हैं। छोटी कपनियों के लिए जिनका लाभ 50 000 से कम है, समिति ने प्रस्तावित पूजीकर में छूट की सिफारिश की है और वितरित लाभ के सबध म उदारता दिखाने पर बल दिया है।

(11) वाचू समिति ने नगर क्षेत्र के लिए पुनर्निर्माण एव स्थाईकरण रक्षित कोष की स्थापना का सुझाव दिया है। सभी कपनियां इस कोष म अपनी कुल आय का 10 प्रतिशत तक योगदान कर सकती हैं और इस राशि पर पूजी कर नहीं देना पड़ेगा, बल्कि इस पर 6 प्रतिशत ब्याज मिलेगा। कपनियों को यह स्वतत्रता होगी कि वे अपनी जमा का 50 प्रतिशत इमारतों, प्लान्ट और मशीनरी की मरम्मत और अनुसधान पर व्यय के लिए वापस ले लें। केंद्र सरकार की अनुमति से शेष

जमा भी पाँच वर्षों के पश्चात् विस्तार एवं विकास प्रोग्राम के लिए वापिस की जा सकती है। जिस वर्ष में राशि वापिस ली जाए, वह उस वर्ष की आय मानी जाएगी और उस पर कर लगेगा। इस योजना के लागू करने से 33 करोड़ रुपए के राजस्व की हानि होगी परन्तु समिति का अनुमान है कि जब इस कोष से राशियाँ वापस ली जाएँगी, तो कर से प्राप्ति के कारण राजस्व की हानि की पूर्ति हो सकेगी।

राष्ट्रीय विकास कोष और पुनर्निर्माण एवं स्थानीकरण रक्षित कोष देश में प्रत्यक्ष कर प्रणाली को नया रूप देने और बचतों को गतिमान करने की दृष्टि से लाभदायक उपाय हैं परन्तु इस संबंध में स्वाभाविकतः दो प्रश्न उठाए जाते हैं

(क) क्या भारत सरकार इन प्रस्तावों को इसी रूप में स्वीकार कर लेगी, तथा

(ख) क्या भारत सरकार इन योजनाओं को कर प्रस्तावों में संशोधन किए बिना लागू करेगी।

वांचू समिति ने हमारे समग्र प्रत्यक्ष कर ढाँचे और कर प्रशासन, इसकी खामियों और कर-वंचन संबंधी इसकी दुर्बलताओं की छानबीन की है। करदाता यह आशा करते हैं कि समिति एक साधारण कर ढाँचे का निर्माण करेगी जिसे करदाता आसानी से समझ सकें। परन्तु वांचू समिति की रिपोर्ट का पुनरावलोकन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि नया ढाँचा भी वर्तमान ढाँचे से कम जटिल नहीं होगा।

वांचू समिति की कुछ सिफारिशें इतनी बुनियादी हैं कि केंद्र सरकार इन्हें स्वीकार नहीं करेगी। पहले ही केंद्रीय वित्त मंत्री ने वांचू समिति की मुद्रा के विमुद्रीकरण की सिफारिश को नामंजूर कर दिया है। अतः यह जान पड़ता है कि केंद्र सरकार समिति की कालेधन, कर-वंचन और बकाया कर राशियों के बारे में सिफारिशों को स्वीकार न करे।

परन्तु भय तो यह है कि सरकार वांचू समिति की केवल उन सिफारिशों को स्वीकार करेगी जो बिना कर संबंधी राहत, रियायत और छूट दिए बिना अधिक राजस्व उपलब्ध करा सकें। किन्तु उचित बात तो यह है कि सरकार समिति का वैयक्तिक एवं निगम करारोपण संबंधी सिफारिशों को अलग रख देकर एक ऐसी अच्छी कर नीति का निर्माण करे जिससे अर्थव्यवस्था के विकास के लिए बचत और विनियोग को प्रोत्साहन मिले।

अतिकर तथा अधिकर

इन करों द्वारा ऊँची आय वालों पर अधिक भार डालने का प्रयास किया जाता है। अधिकर एक निश्चित स्तर से ऊँची आय वालों पर सामान्य आय कर के अतिरिक्त लगाया जाता है। आय कर की तरह अधिकर में भी स्लैबंदी का

सिद्धात अपनाया जाता है। उदाहरण के लिए भारत में 20,000 रु० से अधिक आय पर अतिकर लगाया जाता है।

अधिकर भी इसी प्रकार का एक ऐसा कर है जोकि सामान्य आय-कर के अतिरिक्त लगाया जाता है। इसका निर्धारण या तो व्यक्ति की आय के आधार पर या फिर उस धन राशि के आधार पर किया जाता है जोकि वह साधारण कर के रूप म भुगतान करता है। अधिकर का उद्देश्य साधारणत सरकारी आय म वृद्धि करना होता है। इसका यह भी उद्देश्य हो सकता कि इस कर से प्राप्त राशि को किसी विशिष्ट कार्य के लिए सुरक्षित रख दिया जाए। अधिकर के क्रियान्वयन से करारोपण की प्रणाली को अधिक आरोही बनाया जा सकता है। अतिरिक्त लाभ कर भी इसी प्रकृति का होता है अतिरिक्त लाभ कर एक ऐसा विशेष कर है जो असाधारण रूप से ऊची आमदनियो पर लगाया जाता है। प्राय ऐसा कर उन असाधारण लाभो पर लगाया जाता है जो व्यवसायी वर्ग युद्ध काल म कमाते है।

आय कर को एक दूसरी रीति से भी कर अदा करने की योग्यता के सिद्धात के अनुरूप बनाया जा सकता है। यह रीति कुछ कटौतिया तथा छूट देकर व्यवहार म लाई जाती है। उदाहरणार्थ अर्जित आय अर्थात कार्य करने से प्राप्त आय पर अनर्जित आय अर्थात सपत्ति से प्राप्त आय की अपेक्षा नीची दरो स कर लगाए जाते हैं। इसका कारण यह है कि दूसरे की तुलना म पहले की 'कर' अदा करने की क्षमता कम होती है। पहले व्यक्ति को आय अर्जित करने के लिए कार्य करना पडता है यदि बीमारी या दुर्घटना के कारण उसके काम म बाधा उत्पन्न हो जाती है तो उसकी आय भी घट जाती है किंतु दूसरे व्यक्ति को आय निरतर प्राप्त होती है। सपत्ति के स्वामी की मृत्यु होने पर भी उसकी आय उसके आश्रितो को प्राप्त होती है। इसलिए प्रथम व्यक्ति को भविष्य के लिए वित्तीय प्रबध की अधिक आवश्यकता होती है जबकि दूसरे व्यक्ति को इतनी चिंता नही रहती।

करदाता की व्यक्तिगत परिस्थितिया भी उसके कर अदा करने की योग्यता को प्रभावित करती हैं। जिस व्यक्ति को अधिक आश्रिता का पालन-पोषण करना पडता है उसकी कर अदा करने की क्षमता कम होती है। इसके लिए कुछ देशो में तो पारिवारिक भत्ते भी दिए जाते हैं, अर्थात कर निर्धारण से पूर्व व्यक्ति की आय म से, उसके आश्रितो की सख्या के आधार पर कटौतिया कर दी जाती हैं। व्यक्तिगत परिस्थितिया अन्य रूप से करदेय-क्षमता को प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए जिस कुटुब मे करदाता को अपने बीमार आश्रितो पर बार-बार धन व्यय करना पडता है, ऐसे व्यक्ति की कर अदा करने की क्षमता उस व्यक्ति की तुलना मे कम होती है जिसके समान आकार के परिवार म सभी व्यक्ति स्वस्थ होते है। यद्यपि ऐसी परिस्थितियो को विचारार्थ लेना कठिन होता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे इस दिशा म प्रथम प्रयास हुआ है। वहा कर निर्धारण से पूर्व, व्यक्ति

की विशुद्ध आय के 5 प्रतिशत से अधिक मात्रा में होने वाला चिकित्सा व्यय इसकी आय में से घटा दिया जाता है।

आय कर के गुण

आय कर के जिन विभिन्न पहलुओं की व्याख्या की गई है उनमें इस कर के विभिन्न गुण प्रकट होते हैं

(1) **करदान क्षमता के अनुरूप होना** यह कर समवर्धन मुक्तियों तथा अधिकरों आदि के द्वारा करदान क्षमता के सिद्धान्त के अधिक अनुरूप बनाया जा सकता है जबकि अन्य करों में ऐसा करना सभव नहीं होता।

(2) **असमानता को दूर करना** यह कर आय की एक निश्चित सीमा के ऊपर, प्रगतिशील आधार पर लगाया जाता है। इस कारण धन के वितरण की असमानताएं इसके द्वारा दूर की जा सकती हैं।

(3) **कराघात का विवर्तन असम्भव** जो व्यक्ति इस कर की अदायगी करता है वह ही उसको सहन करता है इसलिए इसका कराघात किसी एक व्यक्ति पर केंद्रित किया जा सकता है। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग पर पड़ने वाले करों के भार का ठीक-ठीक मूल्यांकन किया जा सकता है जो एक न्यायपूर्ण कर प्रणाली के निर्माण में सहायक होता है।

(4) **सीमांत व्यय में कटौती को प्रेरित करता है :** अन्य करों के समान यह करदाताओं को इस बात के लिए बाध्य नहीं करता कि वह किसी विशेष दिशा में किए जाने वाले व्यय में कटौती करें। चीनी पर लगाए जाने वाले कर से चीनी का उपभोग कम करने की प्रेरणा तो मिल सकती है, परन्तु आय कर चूंकि आय के किसी विशेष उपभोग पर नहीं लगाया जाता इसलिए यह करदाता को इस योग्य बना देता है कि वह अपने व्यय की सबसे कम उपयोगी मद में कटौती कर सके।

(5) **उत्पादक तथा लोचदार :** यह कर इस दृष्टि से उत्पादक कहा जाता है क्योंकि इसके जुटाने में अधिक प्रशासनिक व्यय नहीं करने पड़ते। यह करदाता के हाथ में निकल कर सीधा कोषागार में जमा होता है। यह कर लोचपूर्ण इसलिए है कि दर में थोड़ी-सी वृद्धि करने पर ही आय की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

(6) **आर्थिक स्थिरता बनाए रखने में सहायक :** आय कर की दरों को तेजीकाल में बढ़ाकर तथा मंदीकाल में घटाकर, आर्थिक स्थिरता बनाए रखने के लिए एक शक्तिशाली अस्त्र के रूप में प्रयोग हो सकता है।

(7) जागरूकता उत्पन्न करना : जब करदाता सरकार को कर अदा करता है तो वह इस बात के प्रति जागरूक रहता है कि उसके द्वारा किए गए त्याग को सरकार उचित ढग से सामाजिक कल्याण की वृद्धि पर व्यय कर रही है या नहीं।

आय कर के दोष

भारतीय आय कर के प्रमुख दोष निम्न हैं

(1) बचत तथा विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव : इस कर का सबसे बड़ा दोष यह है कि बचत तथा विनियोग करने की प्रेरणा पर अन्य करों की तुलना मे अधिक प्रेरणाहारी प्रभाव डालता है। पीगू के मतानुसार, 'आय कर बचत कोस माप्त कर देता है तथा पूजी निर्माण म बाधक है जिसका देश के भावी विकास पर बुरा प्रभाव पडता है" इसलिए प्रो० काल्डोर ने व्यय कर का सुझाव दिया है क्योंकि बचत तथा विनियोग पर इसका बुरा प्रभाव नही पडता।

(2) दोहरे कर की सभावना आय कर के अतर्गत एक ही आय के दो बार करारोपित होने की सभावना अधिक रहती है। उदाहरण के लिए एक अभिनेत्री की आय उस समय करारोपित हाती है जब वह उसे अर्जित करती है, तथा उसी आय का एक भाग जब उसके निजी सचिव को दिया जाता है तो उस पर पुन कर लगता है यदि वह करारोपण की परिधि म आती हो।

(3) न्यायसगत नहीं : आय कर लोगों की आय को करदेय क्षमता का आधार मानता है जबकि करदेय क्षमता आय के अतिरिक्त अन्य कई बातो पर भी निर्भर करती है।

(4) कर की चोरी : आय कर म बचने म लाग सफल हो जाते हैं जिससे प्रति वर्ष भारी हानि उठानी पडती है जो अनुमानत 500 करोड रु० प्रति वर्ष है।

कर वचन की समस्या

आय कर की सबसे बडी समस्या कर-वचन अथवा कर चोरी तथा कर बचाने की है। कर-वचन तथा कर बचाव शब्दावली वकीलो की है। इन्होंने कर वचन को अवैधानिक कर अथवा चकमा कहकर परिभाषित किया है। उदाहरणार्थ, जब करदाता अपने कर-प्रविवरण पत्र म अपनी सपूर्ण कर योग्य आय क एक भाग को घोषणा करने से बचा लेता है। 'कर बचाव का तात्पर्य किसी व्यक्ति की उस वैधानिक व्यवस्था स है जिसके फलस्वरूप उसका कर दायित्व कम हो जाता है।'[1]

यह सर्वविदित है कि आय की परिभाषा, करदेय आय की गणना, विभिन्न प्रकार की छूटें, अर्जित तथा अनर्जित आय म अतर, प्रशासनिक व्यवस्था व कर

---

1 C T. Sandford . Economics of Public Finance' (1969), Pergamon Press, oxford p, 87

14

कृषि आय कर

सन 1860 में जब सर्वप्रथम आय कर को व्यवहार में लाया गया था तो उस समय उसकी परिधि में कृषि तथा गैर-कृषि दोनों प्रकार की आमदनियों को सम्मिलित किया गया था। परंतु कुछ समय पश्चात कृषि आय को आय कर के शिकंजे से मुक्त कर दिया गया। कराधान जांच समिति (1925) ने एक स्थान पर उल्लेख किया था कि कृषि में होने वाली आय को आय कर से निरंतर मुक्त करते चले जाने में कोई ऐतिहासिक तथा सैद्धांतिक औचित्य नहीं दिखाई पड़ता है। साथ ही *समिति ने यह भी सुझाव दिया है कि 'व्यक्ति की अन्य आय पर लगने वाले कर की* दर का निर्धारण करने के लिए उसकी कृषि आय को भी विचारार्थ लेना चाहिए, बशर्ते कि ऐसा करना प्रशासनिक दृष्टि से सुविधाजनक और व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त हो।'[1]

सन 1935 में सर्व प्रथम बिहार ने इस कर को लागू किया। इस समय जिन राज्यों में कृषि आय कर वसूल किया जाता है वे हैं असम, पश्चिमी बंगाल, *बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, मैसूर, मद्रास और केरल।* इस

कृषि आय कर*

वर्ष	धनराशि	राज्यों के राजस्व में प्रतिशत
1951-52	4 3	1 1
1960-61	9 5	1 0
1966-67	11 0	0 5
1967-68	10 6	0 4
1970-71	10 50	×
1971-72	11 80	×
1972-73	13 40	×

1. Report of the Taxation Enquiry Committee (1929), p 432.

* Source · Reserve Bank of India Buleetins

कर की दरें सामान्य रूप से उन दरों से नीची रही हैं जो कि शहरी आय पर लागू होती हैं। भारत में इस कर द्वारा सदैव ही बहुत कम आय प्राप्त हुई है जैसा कि पीछे दी गई तालिका द्वारा स्पष्ट होता है।

काफी समय से यह माग की जा रही है कि विकास योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए ग्रामीण क्षेत्रों को आयकर के शिकंजे में लाया जाए। बलपूर्वक शब्दों में यह दलील दी जा रही है कि बड़े-बड़े व्यापारिक सस्थान कृषि में अपना कालाधन लगाकर उसे श्वेत बना रहे हैं और लाभ कमा रहे हैं। हरित क्रांति की सफलता ने कृषि आय पर कर लगान के मार्ग को और भी आगे बढ़ाया है। 1973-74 के बजट में प्रथम बार भारत के वित्त मंत्री ने कृषि आय को भी किसी अश तक आय कर की लपेट में ले लिया है। इससे पहले कृषि सपत्ति और आय कर निर्धारण के लिए नियुक्त राज समिति ने सिफारिश की थी कि 5000 रुपये या इससे ऊपर कर योग्य मूल्य की उस समस्त भूमि पर, जिसमें खेती हो रही हो, भूराजस्व के स्थान पर कृषि जोत कर लगाया जाना चाहिए। इसी प्रकार का विचार प्रत्यक्ष कर जाच समिति (वाचू समिति) ने भी प्रकट किया था कि काले धन की वृद्धि का प्रमुख कारण कृषि आय का कर मुक्त होना है।

दूसरी ओर यह तर्क दिया जा रहा है कि कृषि आय को कर के शिकंजे में लाना ग्राम्य जीवन में असंतोष उत्पन्न करना होगा, इससे उत्पादन में ह्रास होगा। भारत सरकार ने अभी तक राज समिति व वाचू समिति की सिफारिशों को पूर्णत: स्वीकार नहीं किया है। इस सदर्भ में यह एक विचारणीय प्रश्न है कि भारत जैसे कृषि प्रधान विकासशील देश में कृषि आय पर किसी अश तक कर लगाना कहा तक औचित्यपूर्ण एवं न्यायसगत है।

इस समस्या से सबधित कुछ प्रासगिक प्रश्न हैं जिन पर विचार किया जाना आवश्यक है। कृषि आय कर लगाए बिना सरकार देश के विकास के लिए अतिरिक्त साधन जुटाने में समर्थ है अथवा नहीं तथा इस कर का भारतीय अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ सकता है। साथ ही इस बात पर भी मनन किया जाना चाहिए कि वर्तमान कर प्रणाली कहा तक न्यायोचित है तथा कृषि आय और गैर कृषि आय का आशिक एकीकरण करना कहा तक न्यायसगत है। कृषि आय पर कर लगाने के मार्ग में आने वाली सभावित कठिनाइयों का क्या हल हो सकता है, इन सभी बातों को दृष्टि में रखते हुए भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि आय कर का औचित्य निर्धारित किया जा सकता है।

कृषि आयकर के पक्ष के तर्क

(1) समानता का व्यवहार : कर सर्वव्यापी होने चाहिएं जिन्हें समान स्तर के नागरिकों पर बिना भेद-भाव के लगाना चाहिए। इस सिद्धांत के आधार पर कृषि आय को आय कर से मुक्त रखना न्यायपूर्ण न होकर अनियमित, अविवेक-

पूर्ण एवं पक्षपातपूर्ण होगा। हाल में ही राज समिति की रिपोर्ट में कृषि पर आय-कर लगाने की जोरदार सिफारिश की गई है। यह देखा गया है कि लोग आयकर से बचने के लिए अपनी आय को कृषिजन्य आय बताते हैं और आय कर से बच जाते हैं। काले धन का सर्वाधिक उपयोग यदि किसी में होता है तो वह है भूमि खरीदने में। जिनका कृषि से कोई संबंध नहीं है वे भी कृषि पर आयकर की छूट के कारण गांवों में फार्म के फार्म खरीदने लगे हैं जिससे काला धन सफेद बन गये। अतः कृषि पर आयकर लगाना आवश्यक है। यह हो सकता है कि सभी किसान कृषि आयकर देने की स्थिति में न हों परन्तु जिनकी आय इतनी अधिक है कि वे कर दे सकते हैं तो फिर उन्हें कर से क्यों छूट दी जाए? न्याय का तकाजा है कि आय चाहे किसी भी क्षेत्र से प्राप्त हो, उस पर ही समान रूप से भार पड़ना चाहिए। अतः संविधान की धारा 269 में संशोधन आवश्यक है जिससे कृषि क्षेत्र से उत्पन्न आर्थिक विषमता दूर हो सके और अधिकाधिक राजस्व की प्राप्ति हो सके।

(2) **राजस्व में वृद्धि :** *हमारे विशेषज्ञों का अनुमान है कि 65 प्रतिशत* भूमि पर बड़े किसानों का अधिकार है तथा उनकी आमदनी 6 हजार करोड़ रु० की है। यदि इस आय पर 5 प्रतिशत की दर से भी कर लगाया जाए तो सरलता से ही 300 करोड़ रुपये प्राप्त हो सकते हैं।

कृषि व्यवसाय एवं गैर कृषि व्यवसाय एक दूसरे के पूरक हैं, ऐसी स्थिति में कर नीति में सौतेले व्यवहार से दोनों में बीच की खाई बढ़ेगी। ग्रामीण क्षेत्र की आय राष्ट्रीय आय का 60 प्रतिशत है। शेष 40 प्रतिशत राष्ट्रीय आय नगरों से उपार्जित होती है। ग्रामीण आय पर कर की दर 1 प्रतिशत है जबकि नगर में अर्जित आय पर कर की दर 30 प्रतिशत है। नगरों की आय का लगभग 90 प्रतिशत उद्योग एवं व्यापार से अर्जित किया जाता है जिस पर कर की दरें अत्यधिक ऊंची हैं। कृषि क्षेत्र में लगान ही राजस्व का एकमात्र साधन है जो अपनी समस्त उपयोगिताओं को खो चुका है। अतः ऐसे करों की व्यवस्था करना आवश्यक है जो न्यायसंगत भी हो और पर्याप्त आय भी प्रदान कर सके। इससे आय कर की जो चोरी होती है वह भी कम हो जायगी।

(3) **राज्यों की केंद्र पर आर्थिक निर्भरता में कमी :** केंद्र और राज्यों के बजटों के अध्ययन एवं विश्लेषण से प्रकट होता है कि प्रत्येक बजट में निश्चित रूप से घाटा प्रदर्शित किया जाता है तथा घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा लिया जाता है। इस प्रकार राज्यों की केंद्र पर आर्थिक निर्भरता बढ़ती जा रही है। इसके अतिरिक्त राज्यों में गैर योजना व्यय एवं प्रशासकीय व्यय प्रतिवर्ष बढ़ता जा रहा है। बढ़ते हुए इस आर्थिक बोझ को उठाने के लिए कृषि-आयकर लगाना आवश्यक है तथा जैसे कि राज समिति का सुझाव है कि कृषि आय पर, कृषि और गैर कृषि आय को आंशिक रूप से मिला कर 'कर' लगाना चाहिए। इस प्रकार अतिरिक्त कर लगाने से जो अतिरिक्त आय प्राप्त हो, वह उसी राज्य को मिलनी चाहिए,

जिनकी कृषि से आय वटी है। इस प्रकार राज्यों की केंद्र पर आर्थिक निर्भरता में कमी होगी और देश के आर्थिक विकास के लिए अतिरिक्त राजस्व भी प्राप्त हो जाएगा।

(4) कर-वचन पर रोक : वान्चू समिति के अनुसार भारत म काले धन की वृद्धि का प्रमुख कारण कृषि आय का कर मुक्त होना है। कृषि आय को कर योग्य घोषित करने पर एक ओर लोगों की कर-वचन की प्रवृत्ति रुकेगी, दूसरी ओर धनाढ्यों का काला धन प्रकाश म आ सकेगा। अत काले धन व करों की चोरी रोकने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि आय कर की उच्चतम दर म 20 प्रतिशत की कमी कर दी जाए और धीरे धीरे कृषि आय को पूर्णत कर योग्य घोषित कर दिया जाए।

(5) करारोपण के ढांचे को करदेय क्षमता के अनुरूप बनाना करारोपण का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि करारोपण करदाता की करदेय क्षमता के अनुरूप होना चाहिए। कृषकों की करदेय क्षमता मुख्यतया दो बातों पर निर्भर करती है। प्रथम कृषि की उत्पादकता तथा द्वितीय, कृषि आय का न्यायोचित वितरण। जहां तक कृषि भूमि की उत्पादकता का प्रश्न है, इसमें सभी सहमत हैं कि योजना काल में इसमें निश्चित रूप में वृद्धि हुई है। योजना काल में कृषि क्षेत्र में भारी विनियोजन किया गया है। चौथी पंचवर्षीय योजना तक यह विनियोजन 3,815 करोड़ रुपये तक पहुंच गया था, फलत 1950-51 में खाद्यान्नों का उत्पादन जो केवल 5 56 करोड़ टन था 1971-72 म 11 करोड़ टन के लगभग पहुंच चुका है। यह सब व्यापक हरित क्रांति के फलस्वरूप हुआ है। परन्तु हरित क्रांति का लाभ केवल 10 प्रतिशत बड़े किसानों को ही मिला है अत कृषि आय पर आयकर उन करदाताओं से वसूल करना न्यायोचित ही है जिनकी गैर कृषि आय न्यूनतम कर योग्य आय से अधिक है।

किसी वर्ग विशेष की कर देय क्षमता केवल उसकी आय की मात्रा पर निर्भर नहीं करती अपितु आय के वितरण के स्वरूप पर भी आश्रित होती है। भारत की 25 प्रतिशत कृषि भूमि 75 प्रतिशत किसानों के पास है और 75 प्रतिशत भूमि केवल 25 प्रतिशत किसानों में वितरित है। इनमें से 15 प्रतिशत किसानों के पास 5 से 10 एकड़ भूमि है और शेष 10 प्रतिशत किसानों के पास सैकड़ों एकड़ भूमि है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि भूमि के वितरण में अत्यधिक विषमता है, परन्तु भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित होने के बाद बड़े-बड़े भूस्वामी समाप्त हो जाएंगे। अत इस नए परिवेश में कृषि आय और गैर कृषि आय का आंशिक एकीकरण करना ही सामान्य किसान के हित म होगा। कृषि आय पर कर उसी किसान को देना होगा जिसकी गैर कृषि आय न्यूनतम कर-योग्य आय सीमा से अधिक है।

कृषि आयकर के विपक्ष में तर्क

निःसंदेह आर्थिक दृष्टि से कृषि आय पर कर लगाना उचित तथा न्यायसंगत

प्रतीत होता है परन्तु यह एक नाजुक मामला है। इसमें बहुत सोच-समझ कर पूरी सतर्कता के साथ ही हाथ डालना होगा अन्यथा हरित क्रांति मृग मरीचिका में बदल सकती है। साथ ही खेती के विकास म जो अनुकूल वातावरण बन रहा है वह कृषि आयकर द्वारा नष्ट हो सकता है। इस विचारधारा को दृष्टि में रखते हुए अनेक विद्वानों ने निम्न आधारों पर कृषि आय कर को उचित नही ठहराया है

(1) **कृषि व्यवसाय नहीं** इन लोगो का यह तर्क है कि भारत म कृषि इसी लिए नही की जाती कि इसमे कोई विशेष लाभ है वरन इसलिए की जाती है कि कृषको के पास अन्य धधों का अभाव है। किसान अधिकाशत अपने ही उपभोग के लिए उत्पादन करता है। कृषि प्रधान देश होते हुए भी कृषि की दशा भारत मे बहुत गिरी हुइ है। भारत मे जहा कुछ पिछडी जातिया हैं, वहाँ पिछड़े हुए व्यवसाय भी है, जिनमे से दुर्भाग्यवश कृषि भी एक है, इसलिए कृषि आय का करारोपण अविवेकपूर्ण एव अन्यायपूर्ण होगा।

(2) **खेती का व्यवसाय अधिक जोखिमपूर्ण** कुछ लोगो को भ्रम है कि किसान को खेती से पर्याप्त आमदनी होती है। परन्तु खेती का व्यवसाय अन्य व्यवसायो की अपेक्षा अधिक जोखिम से भरा है और श्रम भी अधिक मांगता है। जहा कारखाने मे मजदूर को 7 8 घटे ही काम करना पडता है वहा कृषक को गर्मी-सर्दी की परवाह किए बिना दिन-रात परिश्रम करना पडता है। लगान, माल गुजारी भुगतान करने के अतिरिक्त यदि वह पानी भी देता है तो उसके लिए भी जल कर अदा करता है। खाद, बीज और यत्रो के मूल्य निरतर बढ रहे हैं। इसके बावजूद भी यह कहना कि किसान की दशा पहले से सुधरी है, सही नही है। आज भी 82 प्रतिशत ग्रामीणो की आय इतनी कम है कि वे एक रुपया प्रति दिन भी खर्च करने मे असमर्थ हैं। यह सभी को ज्ञात है कि रुपये का मूल्य पिछले 25 वर्षों म 27 प्रतिशत गिर गया है।

(3) ***हरित क्रांति का लाभ केवल कुछ ही बड़े किसानो को :*** *विरोधी वर्ग का* यह कहना है कि हरित क्रांति का लाभ केवल 10 प्रतिशत कृषको को ही मिला है। आधुनिक तकनीकी ज्ञान, साधनों और बैंकिंग सुविधाओ का लाभ कस्बो तथा नगरो मे रहने वाले बडे किसानो ने उठाया है, जिनका भूमि से कोई विशेष सबध नही है। भूमि सुधार का लाभ भी इन्हो लोगो ने उठाया है। काला धन भी सफेद इन्ही का हुआ है। अत सरकार इस धन को निकालने की ओट में कृषि आय पर कर न लगाए। यदि ऐसा हुआ तो तस्करी और समाज विरोधी तत्वो के बढ जाने की सभावनाए पैदा हो जाएगी।

(4) ***कृषि कर न लगाकर बकाया करों को वसूल किया जाय*** ' कृषि आय पर कर लगाकर कुछ वित्तीय सहयोग देश के विकास हेतु अवश्य प्राप्त हो सकता है परन्तु केन्द्र सरकार अपने 9 अरब 40 करोड रुपये एव राज्य सरकारें 3 अरब 80 करोड रुपये के बकाया करो को वसूल कर विकास योजनाओं के लिए धन

जुटा सकती हैं, तब कृषि आय के करारोपण का प्रस्ताव उचित नहीं ठहराया जा सकता। और फिर सरकार देश के अमीरों के पास पड़ा 40 अरब रुपये का काला धन विमुद्रीकरण की विधि से निकलवाकर अपनी योजनाएं चला सकती है।

(5) कृषि पर कर निर्धारण कठिन : कृषि आय का निर्धारण बड़ा कठिन एवं जटिल है। कृषि उत्पादन एवं उनके मूल्य में भारी उतार-चढ़ाव आने के कारण आय का घटना-बढ़ना स्वाभाविक है। इसलिए किसानों की वास्तविक आमदनी को ज्ञात करना एक कठिन कार्य होगा। जब सरकार छोटे-से क्षेत्रों में स्थापित उद्योग धन्धों की आर्थिक स्थिति का पता लगाने में असफल रही है तो फिर सारे देश में फैले हुए ग्रामों के एक-एक किसान की आर्थिक स्थिति का पता कैसे लगा सकती है।

(6) कृषि आय कर की वसूली में कठिनाई : यदि किसी प्रकार से कृषि आय का सही अनुमान लगा भी लिया जाए तो फिर उस पर लगाए गए कर की वसूली अत्यधिक कठिन कार्य है। मुट्ठी भर धनी किसानों से कृषि आयकर की वसूली करने के लिए आयकर विभाग का विस्तार करना होगा जिससे वसूली का खर्चा बहुत अधिक बढ़ जाएगा। गरीब किसान को हल जोतने के साथ ही साथ हिसाब-किताब के बस्ते रखने होंगे। जो किसान अपने ऋण का ही सही हिसाब नहीं रख पाता वह आयकर के लिए कहां तक हिसाब-किताब रख सकेगा और फिर भारतीय आयकर प्रणाली इतनी जटिल है कि इसे समझने में अत्यधिक कठिनाई का सामना करना होगा।

निष्कर्ष

कृषि व्यवसाय तथा गैर कृषि व्यवसाय वास्तव में एक दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए दोनों के साथ समान व्यवहार उपयुक्त ही होगा। साथ ही साथ कृषि क्षेत्र में काले धन के प्रवेश को रोकने के लिए कृषि पर आयकर लगाना न्यायोचित तथा तर्कसंगत कहा जा सकता है। कृषि-कर के आलोचकों की ये आलोचनाएं कि कृषि कर से किसानों की परेशानियां और बढ़ेंगी और कर की वसूली में प्रशासनिक कठिनाइयां आएंगी स्वतः बेमानी हो जाती हैं। कर पद्धति को अधिक सरलतापूर्ण एवं प्रगतिशील बनाने की दिशा में सरकार को यह कदम उठाना चाहिए। इसके अतिरिक्त कृषि क्षेत्र में कर लगाने से समाजवादी विचारधारा को एक व्यावहारिक रूप तथा बल मिलेगा, पांचवीं योजना के लिए पर्याप्त राजस्व प्राप्त हो सकेगा, काले धन पर अंकुश लगेगा व करारोपण की असमानता दूर होगी।

अब यह निश्चय कर लिया गया है कि जिन करदाताओं की गैर-कृषि आय न्यूनतम कर योग्य आय सीमा से अधिक है, उन्हें 1973-74 कर निर्धारण वर्ष से कृषि-आय और गैर कृषि आय के योग पर आय कर देना होगा। ऐसा करते समय 5000 रु० की छूट कृषि आय पर नहीं दी जाएगी। कृषि आय और कृषि आय का आंशिक एकीकरण व्यक्तियों, अविभाजित हिंदू परिवारों, असंजीकृत फर्मों आदि पर लागू होगा।

राज समिति प्रतिवेदन

केन्द्रीय सरकार ने कृषि के करारोपण की जांच करने के लिए डा के० एन० राज की अध्यक्षता में 'कृषि सपत्ति तथा आय समिति', की नियुक्ति की थी। समिति को जो कार्य सौंपे गए उनमे से कृषि सपत्ति, *आय तथा पूजी अर्जन पर वर्तमान पद्धति* की जाच कर के आर्थिक विकास के लिए अतिरिक्त साधनों को जुटाने के उद्देश्य से प्रभावशाली रीतियां का सुझाव देना था। इस समिति ने अपना प्रतिवेदन अक्टूबर *1972 म भारत सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया*। इस समिति की प्रमुख सिफारिशें तथा निष्कर्ष इस प्रकार हैं

समिति का विश्वास है कि कृषि के प्रत्यक्ष करारोपण का मुख्य रूप भू-राजस्व को आरोही नही बना सकता। पहले कभी भू राजस्व को आरोही बनाने के लिए अधिभार का प्रयोग किया गया था परन्तु कोई सफलता नही मिली। उसका यह परिणाम हुआ कि कृषि समुदाय के ऊची आय अर्जित करने वालों को गैर कृषि आय प्राप्त करने वालों की तुलना म कर की अदायगी कम करनी पडी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए समिति ने कृषि के प्रत्यक्ष करारोपण का विकल्प ढूढा है।

राज समिति का विचार है कि कृषि क्षेत्र अभी करारोपण से अछूता है। इस समिति को उस सवैधानिक तथा प्रशासनिक कठिनाइयो का हल ढूढने के लिए नियुक्त किया गया जो कृषि सपत्ति तथा अन्य के करारोपण के सबध म उत्पन्न होती है। हमारे सविधान म यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि कृषि आय का करारोपण राज्य सरकार ही कर सकती है। परन्तु राजनैतिक तथा अन्य कारणो से राज्य इस स्रोत का पूर्ण दोहन नही कर पाए। इस समिति ने इस सवैधानिक कठिनाई को कृषि जोतकर के माध्यम से दूर करने का प्रयास किया है। वर्तमान विधान के अनुसार केन्द्र सरकार कृषि सपत्ति पर करारोपण लागू कर सकती है। इस समिति के द्वारा सुझाए गए भूमि का शुल्काई मूल्य का रूप आय के समान न रह कर सपत्ति के समान है। इसलिए इस समिति की प्रस्तावित योजना का सवैधानिक चुनौती नही दी जा सकती।

समिति ने कृषि आय की अपेक्षा कृषि जोत के ऊपर कर लगान की सिफा- रिश की है। कृषि जोत का करारोपण उनके आकार तथा उत्पादकता को दृष्टि में रखकर लगाया जाए। समिति का अनुमान है कि कराधान से प्रतिवर्ष 200 करोड रुपये *की आय जुटाई जा सकती। समिति ने यह स्वीकार किया है कि यद्यपि कृषि* कराधान का सवैधानिक अधिकार राज्यों को प्राप्त है, किंतु यदि केन्द्र भी कृषि का करारोपण करता है तो भी प्राप्त आय राज्यो को स्थानातरित कर देनी चाहिए।

कृषि जोतकर को निर्धारित करने के लिए समिति ने इन बातो को दृष्टि म रखने का सुझाव दिया

1- भूमि की उत्पादकता तथा जल-पूर्ति की दशाएं ।
2- भूमि की जलवायु ।
3- बोई गई फसल की किस्म तथा प्रकृति ।
4- विकास व्यय के संदर्भ में विकास छूट जो भूमि के शुल्काई मूल्य का 20 प्रतिशत हो परंतु 1 हजार रुपये से अधिक न हो, दी जानी चाहिए ।
5- कृषि जोत कर, परिचालन-जोतों पर परिवार के आधार पर लगाया जाए ।
6- कृषि जोत कर, दो दशाओं में लगाया जाए । प्रथम, उन समस्त परिचालन-जोतों पर जिनका शुल्काई मूल्य 5000 रुपए या उससे अधिक है भू-राजस्व समाप्त करके कृषि-जोत कर को लगाया जाए । द्वितीय राज्य सरकारें अपनी सुविधानुसार उक्त कर को 5000 रुपये से कम के शुल्काई मूल्य वाली भूमि पर भी लागू कर सकती हैं ।

देश की मिट्टी तथा जलवायु की एकरूपता के आधार पर बड़े-बड़े क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाएगा । एक बार ऐसा नक्शा तैयार हो जाने पर प्रत्येक हेक्टर भूमि से प्रत्येक वर्ष विभिन्न फसलों की सामान्य उत्पत्ति पिछले दस वर्षों की उपज पर आधारित करके ज्ञात की जा सकती है. पिछले तीन वर्ष के उपज के औसत मूल्य के आधार पर इस उपज को मूल्य में परिणत किया जा सकता है, इसी आधार पर प्रत्येक हेक्टर भूमि का शुल्काई मूल्य निर्धारित किया जाएगा ।

समिति ने कृषि तथा गैर कृषि आय के करारोपण की एक समन्वित योजना प्रस्तुत की । ऐसा करने से गैर कृषि आय को कृषि आय दिखलाने की प्रवृत्ति पर रोक लग सकेगी, गैर कृषि आय पर करारोपण की दर का आकलन करते समय उक्त दोनों प्रकार की आयों का समन्वय इस प्रकार किए जाने की सिफारिश की : (1) गैर कृषि आय पर वर्तमान 5000 रु० की प्रारंभिक छूट दी जाए, (2) कृषि आय तथा (3) गैर कृषि आय ।

कृषि आय कर के संदर्भ में परिवार को एक इकाई माना जाए और आय कर तथा धन कर के संदर्भ में भी परिवार की इसी धारणा को प्रयुक्त किया जाए । दुग्ध योजना, पशु प्रजनन तथा मुर्गीपालन से प्राप्त आय जो अब तक कर से मुक्त है आय कर के शिकंजे में सम्मिलित कर लेनी चाहिए ।

मूल्यांकन

राज समिति ने सुझाव देते समय संवैधानिक कठिनाइयों को दूर करते हुए कृषि आय को कर के चंगुल में लाने की एक सुंदर युक्ति प्रस्तुत की है । परंतु कृषि जोतों से प्राप्त आय का अनुमान लगाते समय जो छूटें दी जाएंगी वे इन प्रस्तावित कर की योजना को जटिल बना देंगी ।

समिति ने कृषि सपत्ति पर धन कर तथा पूजी लाभ कर के माध्यम से समन्वित करारोपण की सिफारिश करते हुए आधार छूट को 1 5 लाख रु० तक बढाने की सिफारिश की है। और जहा तक सभव हो धन कर के अतर्गत दी जाने वाली समस्त छूटा को समाप्त कर देने के लिए जो छूटें धन कर के अतर्गत दी जाती रही हैं उनके एकदम समाप्त कर देने से लोगा के ऊपर प्रतिकूल मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड सकता है। अत म समिति ने परिवार को एक इकाई की विचारधारा को केवल कृषि जोत-कर के सदर्भ म ही लागू करने के लिए सुझाव नही दिया अपितु उसन इसे आय कर और धन कर के सबध म भी लागू करने की सिफारिश की जो वास्तव मे उसकी जाच की परिधि के बाहर की बात है।

15

पूंजी कर

पूंजी अथवा संपत्ति के करारोपण का अर्थ ऐसे कर से है जो संपत्ति के पूंजीगत मूल्य या उसकी वृद्धि पर आंका जाता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उसका भुगतान पूंजी अथवा संपत्ति में से हो।[1]

पूंजी के कराधान के संबंध में काफी भ्रम तथा अनिश्चितता पाई जाती है। कुछ व्यक्तियों ने पूंजी कर की अदायगी के आधार पर पूंजी के कराधान को दो भागों में विभक्त किया है

(1) ऐसे कर जो पूंजी पर लगाए गए हैं परन्तु जिनका भुगतान आय में से किया जाता है।

(2) वे कर जो पूंजी पर लगाए गए हैं और पूंजी में से ही अदा होते हैं। ऐसे कर भी दो प्रकार के हो सकते हैं। प्रथम, अनावर्ती पूंजी कर, जो संपूर्ण पूंजी पर केवल एक बार अथवा किसी विशेष अवसर पर लगाया जाता है। युद्ध अथवा किसी आर्थिक संकट के उपरांत भारी ऋण-शोधन के लिए जो कर एक बार लगाए जाते हैं वे अनावर्ती पूंजी कर ही होते हैं। द्वितीय, ऐसे पूंजी कर हैं जो प्रत्येक बार उस समय लगाए जाते हैं जब एक व्यक्ति उत्तराधिकारी के रूप में दूसरे से संपत्ति प्राप्त करता है। ऐसे कर को मृत्यु कर के नाम से संबोधित किया जाता है।

पूंजी कर से हमारा अभिप्राय ऐसे कर से नहीं है जो पूंजी के वार्षिक मूल्य पर लगाया जाता है। जो कर पूंजी के मूल्य पर प्रत्यक्ष रूप में नहीं लगाए जाते अपितु पूंजी के प्रयोग पर या स्थानीय कर के रूप में लगाए जाते हैं, जैसे मोटर गाड़ी का लाइसेंस शुल्क, पूंजी कर की परिधि में सम्मिलित नहीं किए जाए।

श्रीमती उर्सुला हिक्स के विचारानुसार पूंजी कर को दो शर्तें पूरी करनी चाहिए। प्रथम, कर की धन राशि इतनी बड़ी हो कि उसका भुगतान आय में से संभव न हो। द्वितीय, यह कर आकस्मिक हो। श्रीमती हिक्स ने पूंजी कर ऐसे कर को माना है जिसका भुगतान पूंजी में से ही किया जाता है। हमारे लिए यह जानना निरर्थक है कि इस कर का भुगतान कहां से हो सकता है। यह हो सकता है कि एक

1 C T Standford Economics of Public Finance (1969), Pergamon Press, oxford, p. 1?9.

कर आय पर लगाया जाए और उसका भुगतान पूजी में से हो या एक कर पूजी पर लगाया जाए और उसकी अदायगी चालू आय म से हो। वस्तुत जो कर पूजी पर लगाया गया है वही पूजी कर है। इस सदर्भ में आइ०एम० गुलाटी का यह कथन बड़ा सार्थक है, "जिस प्रकार मदिरा कर मदिरा पर लगाए जाने वाला कर है, घोड़ा कर घोड़ो पर निर्धारित किया जाता है और आय-कर आय पर लगाया जाने वाला कर है, उसी प्रकार पूजी कर पूजी पर लगाया जाता है।"[1] यहा इस बात पर बल दिया गया कि कर का आधार क्या है। सच भी यही है कि कर निर्धारण में कर का आधार महत्वपूर्ण होता है, उसकी अदायगी का स्रोत नहीं। पीगू ने इसी धारणा का समर्थन करते हुए कहा है कि यह कोई नहीं कह सकता कि मदिरा पर लगाया गया कर अनिवार्यत मदिरा से ही भुगतान किया जाए या ऐसे साधनों से अदा किया जाय जो मुद्रा को मदिरा में ही परिणत किए जा सकें। जिस प्रकार आय कर का भुगतान किसी भी स्रोत से किया जा सकता है, उसी प्रकार पूजी पर निर्धारित किया जाने वाला कर भी किसी भी स्रोत से अदा किया जा सकता है।

पूंजी कर का औचित्य

अन्य करों की तुलना में पूजी कर के अनेक सैद्धान्तिक लाभों की चर्चा की जाती है। ए० आर० प्रेस्ट के मतानुसार, "जोखिमपूर्ण कार्यों के लिए ये कर आय कर की तुलना म कम प्रेरणाहारी होते हैं, न्यायशीलता के आधार पर इसके पक्ष में दृढ़ तर्क दिए जा सकते हैं और यह तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि पूजी मूल्य की वृद्धि पर कर, चाहे भूमि पर हो अथवा सम्पत्ति पर, विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष करों की अपेक्षा कार्य तथा बचत करने के लिए कम प्रेरणाहारी प्रभाव डालते हैं।"[2]

मुख्य रूप से पूजी कर की सार्थकता के पक्ष में निम्न आधार प्रस्तुत किए जाते हैं

(1) **न्यायशीलता** : पूजी कर के लगाने में न्यायशीलता के तर्क को इसलिए स्वीकार किया जाता है क्योंकि आय किसी भी व्यक्ति की करदान क्षमता का पर्याप्त सूचक नही हो सकती। कई व्यक्ति आय के अतिरिक्त पूंजी म भी लाभ उठा सकते हैं। पूंजी उसके स्वामी को सुरक्षा तथा व्यवसाय की स्थापना, विशेष रूप से लम्बी तथा मूल्यवान शिक्षा, उचित कार्य न मिलने पर बेरोजगारी से बचाव इत्यादि के अतिरिक्त अवसर प्रदान करती है। एक विभेदात्मक कर प्रणाली भी इन तत्वों को दृष्टि में नही रख सकती। आय कर के आधारों से आभूषणों, मूल्यवान चित्रों तथा नकद-निधि जैसे पूंजी के विभिन्न रूपों को, जो यद्यपि आय अर्जित नहीं कराते परन्तु सुरक्षा तथा अनेक लाभप्रद अवसरों को अवश्य प्रदान कराते हैं,

1 I S Gulati, 'Capital Taxation in a Developing Economy', p 10
2 A R. Prest : 'Public Finance in under developed Countries, 'Allied Publisher Pvt Ltd.

सम्मिलित नहीं किया जाता। आयकर लगाते समय इन आधारों को स्वीकार न करने से आय कर का भार अनर्जित आय की अपेक्षा अर्जित आय पर अधिक पड़ता है जो उचित नहीं कहा जा सकता। पूँजी कर की अनुपस्थिति में आय कर आनुपातिक भार पूंजी से उत्पन्न लघु आय पर तो पड़ता है परन्तु पूंजी इस भार से मुक्त रहती है, साथ ही पूंजीगत लाभों से उत्पन्न व्यय क्षमता आय कर से मुक्त हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि लोग अपनी कर योग्य आय को पूंजीगत लाभों में परिणत करा कर आय के करारोपण से भी छुटकारा पा लेते हैं। यह सम्भव हो सकता है कि करदाता ऐसे हों जिनकी आय तो समान हो परन्तु उनकी विशुद्ध सम्पत्तियों में अन्तर हो। क्या ऐसी दशा में दोनों से समान आय कर की प्राप्ति न्यायहीन नहीं होगी? जबकि अधिक सम्पत्ति धारक की करदान क्षमता दूसरे की अपेक्षा अधिक है। इसलिए न्याय की दृष्टि से यह आवश्यक है कि पूंजी कर को आय कर के अनुपूरक के रूप लगाना चाहिए।

(2) समानता : *समानता केवल आय के वितरण में ही नहीं परन्तु संपत्ति के* वितरण में लाना आवश्यक है। आय कर केवल आय के वितरण में ही समानता ला सकता है। यदि पूंजी कर नहीं लगाया गया तो समाज में धन के वितरण में असमानता बढ़ जाती है जो सामाजिक कल्याण की दृष्टि से प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती। इसलिए धन के वितरण को समान करने के लिए पूंजी कर का उपयोग आवश्यक समझा जाता है।

(3) कुशलता : पूंजी कर विधान के पक्ष में तीसरा तर्क कुशलता पर आधारित है। आय कर की तुलना में पूंजी कर का विकृत प्रभाव कम हो सकता है। इसका कारण यह है कि पूंजी कर का प्रभाव वर्तमान प्रयासों की अपेक्षा भूतकालीन प्रयासों पर पड़ता है, इसलिए यह लोगों के प्रयासों तथा साहसों को उतना निरुत्साहित नहीं करेगा जितना कि आय कर। यद्यपि पूंजी कर के कुछ रूप ऐसे हो सकते हैं जो बचतों के घटाने की प्रेरणा को कम कर सकते हैं परन्तु फिर भी कुशलता की दृष्टि से इसका महत्त्व कम नहीं हो पाता।

न्यायशीलता, समानता तथा कुशलता की दृष्टि से पूंजी कर उपयुक्त माना जाता है परन्तु प्रशासनीय कठिनाई के कारण इसको व्यावहारिक रूप देना सरल प्रतीत नहीं होता।

पूंजी कर के रूप

पूंजी कर के तीन मुख्य रूप होते हैं (1) अनावर्ती पूंजी कर (2) मृत्यु कर तथा (3) वार्षिक पूंजी कर अथवा विशुद्ध संपत्ति पर वार्षिक कर। अनावर्ती पूंजी कर का निर्धारण करदाता की पूंजी या उसके धन के आधार पर किया जाता है, परन्तु यह कर केवल एक बार ही लगाया जाता है। वार्षिक पूंजी कर नियमित रूप से लिया जाने वाला वार्षिक कर है। मृत्यु कर एक आवर्ती कर है जो करदाता की सम्पत्ति पर लगाया जाता है। यह आवर्ती इस अर्थ में है कि सम्पत्ति का जितनी बार

भी उत्तराधिकारिता में अवतरण होता है उस पर उतनी ही बार कर अदा करना पड़ता है। साथ ही यह कर अनावर्ती भी है क्योंकि यह जीवन काल में केवल एक बार उस समय अदा किया जाता है जब सपत्ति उत्तराधिकारी को प्राप्त होती है। इन तीनों प्रकार के करों में कुछ समान लक्षण दिखाई देते हैं। प्रथम, ये कर पूंजी पर ही लगाए जाते हैं। द्वितीय, इनका निर्धारण करदाता के पूंजी मूल्य के आधार पर किया जाता है, करदाता की कुल पूंजी की किसी विशिष्ट मद के आधार पर नहीं।

उपहार कर तथा विनियोग करों की समाविष्टी भी पूंजी कर के अंतर्गत की जा सकती है। ये भी पूंजी अथवा संपत्ति के करारोपण हैं और आवर्ती कर के स्वभाव के हैं।

अनावर्ती पूंजी कर

अनावर्ती पूंजी कर तथा विशेष ऋण निर्मोचन कर सपत्ति या एकत्र धन पर लगाया गया विशेष कर होता है। प्रथम महायुद्ध काल में ऋणों के भार को कम करने के लिए इस कर का प्रयोग किया गया था। लोगों को अधिक न्याय प्रदान करने के उद्देश्य से और अधिक लाभ कमाने वाले व्यक्तियों के हाथों में अनुचित लाभों के सचय को रोकने के उद्देश्य से युद्ध की समाप्ति पर शीघ्र ही युद्धजन्य पूंजी पर पूंजी कर लगाने का भी सुझाव दिया जाता है। अनावर्ती पूंजी कर के माध्यम से सार्वजनिक ऋणों के भुगतान के संबंध में इस शताब्दी के तीसरे दशक में काफी विवाद रहा है। इस विषय पर सुयोग्य अर्थशास्त्री दो दलों में बट गए हैं। जिन्होंने इस कर का समर्थन किया वे रिकार्डो के पद चिन्हों पर चलने वाले थे। रिकार्डो ने नैपोलियन युद्ध के उपरान्त अनावर्ती पूंजी कर के लगाने का समर्थन करते हुए कहा था कि 'भारी ऋण का बोझ जमा करने वाला देश बड़ी विषम स्थिति में पड़ जाता है.........जिस देश ने अपने आपको इस कृत्रिम प्रणाली में उत्पन्न कठिनाइयों में फसा लिया हो, उसके लिए बुद्धिमानी का काम यही होगा कि ऋण को चुकाने के लिए अपनी सपत्ति के जिस अंश के त्याग की आवश्यकता हो, उसे चुका कर बंधन मुक्त हो जाए।'

अनावर्ती पूंजी कर के पक्ष में तर्क

जिन अर्थशास्त्रियों ने अनावर्ती पूंजी कर का समर्थन किया है उन्होंने इस संबंध में निम्न तर्क प्रस्तुत किए हैं

(1) **ऋण भार से शीघ्र मुक्ति** पूंजी कर के संबंध में सबसे बड़ा तर्क यह है कि इससे आय प्राप्त करके सार्वजनिक ऋणों के भार से शीघ्र मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। इस संदर्भ में यह कहा जाता है कि निरंतर पीड़ा सहने की अपेक्षा एक बार आपरेशन करा कर रोग दूर कराना बहुत अच्छा है। डाल्टन के अनुसार करदाता के लिए ऐसी तुल्यता उस समय उत्पन्न होती है जब उसके सामने चुनाव का यह

प्रश्न उठता है कि उसे दर्द से पीड़ित रोगों को तत्काल निश्चय देना चाहिए या उस दर्द से निरंतर पीड़ित बना रहना चाहिए।[1]

(2) धनी एवं निर्धन में त्याग की समानता युद्ध काल में निर्धन तथा मध्यम श्रेणी के वर्गों का अधिक त्याग होता है। वे ही व्यक्ति युद्धस्थल में अपनी जान की बाजी लगाते हैं और ऊंचे मूल्यों का शिकार होते हैं। इसके विपरीत ऐसे समय में पूंजीपति अधिक लाभ कमाते हैं। इसलिए यह अनुचित होगा कि जो लोग युद्ध में लड़ें उन पर ही युद्ध ऋण का भार लादा जाए। इस सबंध में यह कहा जाता है कि 'यदि यह सही था कि नवयुवकों को अपने जीवन का बलिदान करना चाहिए तो यह भी सही था कि धनी व्यक्ति अपने धन को लाभपूर्वक विनियोगों में विनियोजित करने के बजाय कर के रूप में दे दें।' इसलिए जिन लोगों ने युद्धकाल में खूब लाभ कमाया है उन पर पूंजी कर लगाकर ऋण की वापसी करनी चाहिए।

(3) निजी संपत्ति की विषमता को कम करना आज भारी पूंजी कर के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि इससे निजी संपत्ति की और इस प्रकार आयों की विषमता कम होती है। आवश्यकता होने पर इसका प्रयोग उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के मुआवजों से उत्पन्न ऋणों को आंशिक या पूर्ण रूप से चुकाने के लिए भी किया जा सकता है।

(4) प्रेरणाहारी आशंका की घटना : पूंजी कर वास्तव में तेज गति से ऋण शोधन का एक रूप है। विशेष ऋण निर्मोचन कर किसी भारी कराधान का आघात नहीं अपितु उसके जारी रहने की आशंका ही अक्सर प्रेरणाहारी होती है। जब भारी कराधान की अवधि पूंजीकर के रूप में संकुचित कर दी जाती है तो भले वह अल्पकाल में भारी हो जाए परन्तु बाद में लोग राहत अनुभव करते हैं। इससे प्रेरणाहारी आशंका घट जाती है तथा उद्योग को विकास तथा उन्नति करने के लिए समुचित अवसर मिल जाता है।

(5) वास्तविक ऋण के भार में कमी : युद्ध समाप्ति के कुछ समय पश्चात मूल्यों में कमी आने की आशंका बनी रहती है। यदि ऐसा होता है तो सार्वजनिक ऋण का वास्तविक भार बढ़ जाता है, इसलिए पूंजी कर द्वारा ऐसे ऋणों का निर्मोचन तुरन्त करना ही लाभकारी सिद्ध होगा।

अनावर्ती पूंजी कर के विपक्ष में तर्क

विपक्ष में निम्नलिखित तर्कों ने मिलकर अनावर्ती पूंजी कर के समर्थकों के विरुद्ध बहुमत उत्पन्न कर दिया :

(1) कार्यशील पूंजी में कमी : चूंकि पूंजी कर की मात्रा अधिक होती है इसलिए अनेक व्यक्तियों द्वारा इसका भुगतान पूंजी में से किया जाता है। ऐसा

1 Dalton . 'Principles of public Finance,' p 269

कर देश की कार्यशील पूंजी को घटाता है तथा व्यापार, उद्योग व रोजगार पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

(2) उत्पादन का निरुत्साहित होना : इस कर की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह कार्य करने तथा बचत करने को निरुत्साहित करता है, जिससे राष्ट्रीय उत्पादन कम हो जाता है।

(3) सम्पत्ति धारकों के लिए कठिनाई पूंजीकर उन सम्पत्तियों के स्वामियों के लिए विशेष कठिनाई उत्पन्न करता है जिनके पास भुगतान करने के लिए पर्याप्त मात्रा में नकद राशि नहीं है। ऐसे व्यक्तियों को अपनी सम्पत्ति का कुछ न कुछ भाग बेचने को विवश होना पड़ता है। यह कर अपने उद्देश्य में उसी समय सफल होता है जब इसे तुरंत युद्ध की समाप्ति के पश्चात लगा दिया जाता है, क्योंकि उस समय लोगों में युद्ध से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक स्थिति बनी रहती है।

(4) पूंजी व साख पर प्रतिकूल प्रभाव सार्वजनिक ऋण लेते समय सरकार युद्ध पत्रों का प्रयोग करती है। प्रो० शिराज का विचार है कि व्यापारी इन युद्ध पत्रों का प्रयोग अपने व्यापार की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए करते है, बैंक इन युद्ध पत्रों की आड़ में भी व्यापारियों को साख प्रदान करते हैं। परन्तु जब यह युद्ध पत्र वापिस कर दिए जाएंगे तो वे इनके उपभोग से वंचित हो जाएंगे, फलतः साख का बहुत बड़ा भाग संकुचित हो जाता है। इससे मजदूरी तथा मूल्य भी गिर जाते हैं।

(5) प्रशासनिक दृष्टि से अव्यावहारिक कुछ लोगों का यह विश्वास है कि अनावर्ती पूंजीकर प्रशासकीय दृष्टि से व्यावहारिक नहीं है क्योंकि इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि बैंकों और काम अंशदाताओं का पर्याप्त सहयोग उपलब्ध हो जो दुर्भाग्यवश कभी भी प्राप्त नहीं हो पाता।

निष्कर्ष

अनावर्ती पूंजी कर के पक्ष तथा विपक्ष में दिए गए तर्कों का अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ऋण निर्मोचन के लिए कोई ऐसी आर्थिक नीति नहीं अपनानी चाहिए जो बचत तथा विनियोग पर बुरा प्रभाव डाले। यदि पूंजीकर से पूंजी निर्माण में अवरोध उत्पन्न होता है, उत्पादन निरुत्साहित होता है तथा उद्योग और व्यापार के विकास में बाधाएं उत्पन्न होती हैं तो इसको अपनाने की आवश्यकता नहीं है। मनमुशिना शुकारो न कहा है कि 'संक्षेप में छल, असमानताएं, व्यापारिक उपद्रव बृहत पूंजीकर के आवश्यक परिणाम हैं ...... पूंजीकर का प्रयोग उस समय तक नहीं करना चाहिए जब तक वह अति आवश्यक न हो।' ऐसा ही विचार श्रीमती हिक्स ने इस प्रकार व्यक्त किया है, 'एक अनावर्ती कर अर्थव्यवस्था के ऊपर एक बड़े शल्य चिकित्सक के समान होता है यह उसे या तो ठीक ही कर देता है या समाप्त कर देता है, और सामान्य कर संरचना

के द्वारा दी गई नियमित खुराक एवं की गई मालिश के प्रभावों से बिल्कुल भिन्न होता है।'

मृत्यु कर

आजकल लगभग सभी प्रजातन्त्र देशों में मृतक से उत्तराधिकारी को हस्तान्तरित होने वाली सम्पदाओं पर लगाया जाने वाला कर सम्पूर्ण कर व्यवस्था का एक अंग बन गया है। यह बात सच है कि जिस प्रकार सरकार किसी व्यक्ति की सम्पत्ति की सुरक्षा का भार उसकी मृत्यु के बाद उठाती है उसी प्रकार उत्तराधिकारियों को उसके हस्तान्तरित होते समय उसका कुछ भाग लेना भी उसके लिए वाञ्छनीय है। उत्तराधिकार के संबंध में ग्लेडस्टोन द्वारा प्रकट किया गया यह विचार बहुत उपयुक्त है कि सरकार के लिए नागरिकों की सम्पत्तियों की पूर्ण सुरक्षा के साथ उस बड़ी बाधा के, जिसे मृत्यु एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के बीच खड़ा कर देती है, पार ले जाना एक अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य है। ऐसा करते समय यदि सरकार मृत्यु के उपरांत मृतक की सम्पत्ति के कुछ अंश को जनहित के लिए उत्तराधिकारियों से ले लेती है, तो इसे तनिक भी अनुचित नहीं माना जा सकता है।

मृत्यु-कर के प्रकार

(1) **मृतक सम्पदा कर** इस प्रकार का कर हस्तान्तरित होने वाली सम्पत्ति के कुल मूल्य के संदर्भ में निश्चित किया जाता है। इसमें विभिन्न उत्तराधिकारियों को कितनी सम्पदा मिलती है, इस पर कोई विचार नहीं किया जाता। मृतक सम्पदा कर में प्राय: एक-सी ही समान छूट की व्यवस्था की जाती है। यह हो सकता है कि इसके अंतर्गत आश्रितों की संख्या के अनुसार और आश्रितों एवं मृत व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों के अनुसार विशेष छूटें भी प्रदान की जाएं।

(2) **उत्तराधिकार कर** उत्तराधिकार कर की दरें, मृतक से उत्तराधिकारी का क्या संबंध है, इसी पर आधारित की जाती हैं। मृतक की कुल सम्पत्ति की दृष्टि से उत्तराधिकार कर नहीं लगता, अपितु उत्तराधिकारी को उस सम्पत्ति से प्राप्त होने वाले अंश पर ही उत्तराधिकार कर लगता है। मृतक और उत्तराधिकारी के संबंध की घनिष्ठता अधिक होने पर उत्तराधिकार कर की दर कम और घनिष्ठता कम होने पर अथवा संबंध दूर का होने पर कर की दर अधिक हो जाती है।

मृत्यु-कर के इन दोनों रूपों में प्रशासनिक सुविधा तथा परिणाम की निश्चितता रहती है। मृतक सम्पदा कर अधिक सरल तथा उत्पादक होता है। इसका कारण यह है कि इसके अंतर्गत विभिन्न उत्तराधिकारियों को मिलने वाले अंश के मूल्य के निर्धारण जैसे अत्यधिक जटिल कार्य को दृष्टि में नहीं रखा जाता है। यह कर उत्तराधिकारी की कर अदा करने की योग्यता पर भी कोई विशेष ध्यान नहीं देता। इसके विपरीत उत्तराधिकार कर के अंतर्गत इस बात का निरंतर ध्यान रखा जाता है कि मृतक तथा उत्तराधिकारियों के बीच क्या संबंध है और प्रत्येक

उत्तराधिकारी का कितना भाग है। इस प्रकार उत्तराधिकार कर उत्तराधिकारी के मृतक से सबंध को विशेष महत्व प्रदान करता है। इसका परिणाम यह होता है कि दूर के सबधियो की तुलना मे विधवा एव पुत्रो जैसे निकट के उत्तराधिकारियो पर कर का अपेक्षाकृत कम भार पडता है। इसलिए उत्तराधिकार कर को मृत सपदा कर का ही एक सुधरा हुआ रूप माना जाता है।

मृत्यु कर के पक्ष मे तर्क

यद्यपि मृत्यु कर के लागू करने मे विवाद बहुत कुछ समाप्त हो चुका है, परन्तु अल्प-विकसित देशो के सदर्भ मे यह विषय अब भी विवादग्रस्त बना हुआ है। मृत्यु करो के पक्ष मे प्रस्तुत किये जाने वाले मुख्य तर्क इस प्रकार हैं

(1) **मृत्यु कर का भार धनिक वर्ग पर** मृत्यु करो का भार सपत्ति के उत्तराधिकारियो पर ही पडता है और यदि वह मृत व्यक्तियो पर भी पडे (अर्थात उन व्यक्तियो पर जो अपने पीछे सपत्ति छोड जाते हैं) तब भी स्पष्ट रूप से इन करो का भार एक विशेष वर्ग अर्थात धनिक वर्ग पर ही पडता है। यदि सरकार इस विशेष वर्ग पर कर लगाना चाहे तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मृत्यु कर बडे उपयुक्त सिद्ध हो सकते है। इनमे इस बात का कोई डर नही रहता कि कही इन करो का अन्य वर्गों पर विवर्तन न हो जाए।

(2) **समता एव न्याय के सिद्धात पर आधारित** ; सपत्ति को कराधान का एक उपयुक्त साधन माना जाता है। यह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु होने के उपरात उसके धन के हस्तातरण का समय ही *राज्य के लिए कर लगाए जाने का उपयुक्त अवसर होता है।* इस कर के विरोध म यह सरलता से कहा जा सकता है कि यहा कर अदा करने की योग्यता का विचार स्पष्ट नही है क्योंकि सिद्धात का लक्ष्य मृतक भी हो सकता है और उसके उत्तराधिकारी भी। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि मृत्यु कर लगाने का समय उत्तराधिकारी के लिए उपयुक्त न हो और विशेष रूप से जबकि उत्तराधिकारी *विधवा हो।* इसके उत्तर मे यह *कहा जा सकता है कि उत्तराधिकारी का सबध* मृतक से जितना दूर होता जाता है, कर लगाने मे न्यायशीलता उतनी ही अधिक होती जाती है क्योकि उसे वह धन प्राप्त होता है जिसकी सभवत उसे आशा नही थी। इसलिए सरकार के लिए मृत्यु कर की वसूली का वही समय उचित होगा जब उत्तराधिकारी को सपत्ति का हस्तातरण हो।

*(3) **वितरण की असमानता को दूर करने मे सहायक** : मृत्यु कर से आय की असमानता को कम करने मे सहायता मिलती है।* आय की असमानता का सबसे महत्वपूर्ण कारण सपत्ति वितरण की असमानता है। सपत्ति वितरण की असमानता लाने मे उत्तराधिकारिता से प्राप्त होने वाली सपत्तियो का विशेष हाथ होता है। एक सपन्न मृतक के उत्तराधिकारी को अन्य उत्तराधिकारियो की तुलना मे

आय अर्जित करने की क्षमता और क्षेत्र बढ़ाने के अधिक अवसर मिलते हैं। इसके परिणामस्वरूप आय की असमानता पीढ़ी दर पीढ़ी बनी रहती है। इन सब को समाप्त करके नयी पीढ़ी को आय कमाने का समान अवसर सुलभ करने के लिए उत्तराधिकारिता से प्राप्त सम्पत्तियों पर कर लगाना पूर्णतया न्यायोचित है।

(4) अनर्जित आय की समाप्ति में सहायक : मृत्यु कर के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि उत्तराधिकारी ऐसी आय प्राप्त करते हैं जो किसी अन्य व्यक्ति के परिश्रम और त्याग का फल होता है इसलिए यह अनर्जित आय है। यह ठीक है कि उत्तराधिकारी इस बात का अधिकारी है कि वयस्क होने तक उसे पर्याप्त शिक्षा तथा सहायता मिले। परन्तु इससे अधिक वह जो कुछ प्राप्त करता है उसे विशेषाधिकार ही कहा जाएगा। इसलिए न्याय के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनर्जित आय अर्जित आय की तुलना में अधिक भार सहन कर सकती है।

(5) अवसर की समानता : मृत्यु कर के पक्ष में एक अन्य तर्क यह दिया जाता है कि आय की असमानता की वर्तमान पद्धति असमान अवसरों को जन्म देती है जिससे आय कमाने की क्षमता की असमानता भी बढ़ जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मृत्यु कर लागू करने से सभी प्रकार की असमानताएं दूर होंगी और सभी को समान अवसर उपलब्ध होंगे।

(6) मृत्यु कर आय कर का पूरक : मृत्यु कर के पक्ष में एक अन्य तर्क यह दिया जाता है कि यह आय कर के पूरक के रूप में उपयोगी सिद्ध होता है। आय कर या अन्य अप्रत्यक्ष करों के अंतर्गत व्यक्तिगत संपत्तियां जैसे प्रतिभूतियां जवाहरात, बहुमूल्य चित्र और इस प्रकार की आय व उपार्जित करने वाली सम्पत्तियां करारोपित नहीं होती। लेकिन मृत्यु कर के अधीन मृतक से उत्तराधिकारी को हस्तान्तरित होने वाली सभी सम्पत्तियों पर प्रायः कर लगाया जाता है।

(7) मृत्यु कर में निश्चितता और सुविधा का गुण : मृत्यु कर में एडम स्मिथ के कर सबंधी निश्चितता और सुविधा के सिद्धांतों की भी पूर्ण पूर्ति होती है। किसी व्यक्ति से इस कर के रूप में प्राप्त होने वाली राशि सर्वथा निश्चित होती है। भुगतान का समय, ढंग और राशि भी मृतक, करदाता तथा अन्य किसी भी व्यक्ति की दृष्टि से सरल और स्पष्ट होती है। अतः से यह भी कहा जा सकता है कि मृत्यु कर का भुगतान सम्पत्ति के स्वामी अथवा उसके उत्तराधिकारी की दृष्टि से बहुत सुविधापूर्ण होता है। इसे विलंबित आय कर कहा जा सकता है, क्योंकि इसका भुगतान उस समय तक के लिए स्थगित कर दिया जाता है जब तक कि मृतक से उत्तराधिकारी को सम्पत्तियों का हस्तांतरण नहीं हो जाता।

मृत्यु कर के विपक्ष में तर्क

मृत्यु कर के प्रयोग के संबंध में कुछ आपत्तियां प्रायः उठाई जाती हैं।

डाक्टर बेनहम ने मृत्यु कर की व्याख्या करते हुए प्रथम दो आपत्तियो को प्रमुखता दी है

(1) **मृत्युकर द्वारा प्राप्त राशि निश्चित नहीं :** इस कर से कितनी राशि प्राप्त हो सकेगी इसका निश्चित रूप से अनुमान नही लगाया जा सकता। वर्ष के प्रारंभ म यह अनुमान लगाना बडा कठिन है कि किस वर्ग के कितने व्यक्ति वर्ष भर म मरेंगे जिससे उनकी सपत्ति का हस्तातरण उनके उत्तराधिकारियो को होते समय यह कर लग सके। पिछले अनुभव केवल अनुमान मात्र का आधार ही प्रस्तुत कर सकते है।

(2) **मृत्यु कर, कर भार मे असमानता उत्पन्न करते हैं :** मृत्यु कर के विपक्ष मे दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि इससे सपदाओ पर पडने वाले कर भार में असमानता उत्पन्न होती है। यह आवश्यक नही है कि एक ही मूल्य वाली सपदाए विभिन्न नागरिकों पर समान कर भार डालें क्योंकि दीर्घकालीन अवधि मे जिस सपदा का मृत्यु के कारण हस्तातरण जितनी अधिक बार होगा उस पर मृत्यु कर का भार भी उतना ही अधिक होगा। इसके विपरीत, जिस सपदा का हस्तातरण उस अवधि मे कम बार अथवा एक ही बार होगा उस पर मृत्यु कर का भार भी कम होगा। परतु इस दोष को दूर करने का उपाय यह है कि एक निश्चित न्यूनतम अवधि के अतर्गत यदि किसी परिवार मे पुन मृत्यु हो जाए और सपदा का पुन हस्तातरण हो जाए तो उस दशा में कुछ छूट दे दी जाए या उस सपदा पर नीची दर मे कर लगाया जाए।

(3) **सपत्ति के मूल्य मे समय-समय पर उतार-चढाव होते हैं** मृत्यु कर को इसलिए अनुपयुक्त ठहराया गया है क्योकि सपत्ति के मूल्य मे समय-समय पर उतार चढाव होते रहते हैं। अत किसी उत्तराधिकारी पर मृत्यु कर का कितना भार पडेगा, यह इस बात पर निर्भर होगा कि सपत्ति के स्वामी की मृत्यु तेजीकाल मे हुई है या मदीकाल मे। मदीकाल म सपत्ति के मूल्य गिर जाने से मृत्यु कर का भार हल्का और तेजीकाल मे अधिक होगा। जैसा कि प्रो जे० के० मेहता न लिखा है, हर उत्तराधिकारी इस कर का भार कम से कम सहन करने के लिए यही अभियाचना करेगा कि पिताजी आप जब स्वर्ग सिधारें कृपया मदीकाल मे ही सिधारें।

(4) **सपत्ति की प्राप्ति उत्तराधिकारी के आर्थिक कल्याण मे कोई वास्तविक वृद्धि नहीं करती :** मृत्यु कर के विरुद्ध यह तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि वसीयत के रूप में जो सपदा छोडी जाती है वह अधिकतर मृतक से उसकी विधवा पत्नी तथा नाबालिग बच्चे को ही हस्तातरित होती है। केवल सपत्ति पर अधिकार पा जाने से उनके आर्थिक कल्याण म कोई वास्तविक वृद्धि नहीं होती, क्योंकि सपत्ति के हस्तातरण से पूर्व भी तो वे उसका प्रयोग करते थे। वास्तविकता तो यह है कि व्यक्ति की मृत्यु से परिवार की आय का मुख्य स्रोत ही छिन जाता है। यह तर्क वास्तव मे मृत्यु कर के विरोध में उतना नही जितना कि वसीयतता के पक्ष मे है। कुछ भी हो, वसीयत द्वारा प्राप्त सपदा एक आकस्मिक लाभ की प्रकृति का है। इसलिए इसे

साधारण आय की तुलना में अधिक करदेय क्षमता का सूचक समझा जा सकता है। इनके अतिरिक्त मृत्यु कर के निकट के आश्रितों पर अपेक्षाकृत नीची दरों से कर लगाकर भी इन करों की कठोरता को कम किया जा सकता है।

(5) पूंजी के संचय को निरुत्साहित करते हैं मृत्यु कर के विरुद्ध सब से बड़ा आरोप है कि *इसके द्वारा पूंजी का संचय निरुत्साहित हो जाता है।* मृत्यु कर पूंजी के संचय को दो प्रकार से रोकते हैं प्रथम, काफी बड़ी मात्रा में बचतें सरकार को मृत्यु कर के रूप में हस्तान्तरित हो जाती हैं और द्वितीय, यह कर बचतों को निरुत्साहित करता है।

मृत्यु कर संचय करने वाले व्यक्ति के सिर पर लटकी हुई तलवार के समान है। जब व्यक्ति को यह ज्ञान होता है कि उसके संचित धन का एक भाग जो काफी बड़ी मात्रा में भी हो सकता है, सरकार द्वारा कर के रूप में ले लिया जाएगा, तो धन के संचय में उसकी रुचि अवश्य ही समाप्त हो जाएगी। मृत्यु कर पिछली बचतों में कटौती करता है, अन्यथा ये बचतें उत्तराधिकारियों को प्राप्त होतीं और उनके न मिलने से अब उनकी भविष्य में बचत करने की क्षमता कम हो जाएगी।

(6) उत्पादन इकाइयों पर प्रतिकूल प्रभाव यदि व्यवसाय किसी एक उद्यमकर्ता द्वारा चलाया जा रहा है तो उसकी मृत्यु होने पर मृत्यु कर लगने से उसके भंग होने की संभावना हो जाती है। मृत्यु कर लगने के कारण छोटे-छोटे व्यवसाय इस बात के लिए मजबूर हो जाते हैं कि वे स्वयं को बड़ी-बड़ी एकाधिकारी संस्थाओं को बेच दें। यही नहीं, मृत्यु कर भुगतान करने की तैयारी में संपत्ति को तरल रूप में रखने का परिणाम यह हो सकता है कि उसका उपयोग उत्पादन कार्य में न हो सके। परन्तु इस तर्क की वास्तविकता इसलिए कम हो जाती है कि व्यवसायियों के पास मृत्यु कर से निपटने के लिए दूसरे विकल्प भी हो सकते हैं जैसे, बीमा आदि।

(7) मृत्युकर मितव्ययता, परिश्रम और बुद्धिमत्ता को दंडित करता है: मृत्युकर के विपक्ष में एक तर्क यह भी दिया जाता है कि यह मितव्ययता, परिश्रम और बुद्धिमत्ता को दंडित करता है। परन्तु ऐसा तर्क तो प्रायः प्रत्येक कर के विरुद्ध दिया जाता है। स्मरण रहे कि संपत्ति के निर्माण के लिए केवल मितव्ययता, बुद्धिमत्ता तथा परिश्रम ही आवश्यक नहीं होते, संचय करने के लिए तो अन्य व्यक्तियों के सहयोग तथा देश में प्रचलित सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा वैधानिक ढांचे का भी भारी योगदान रहता है। इस संबंध में प्रो० डी०एच० कोल ने लिखा है कि, 'वसीयत प्राप्त करने वाला व्यक्ति उत्तराधिकार में जो कुछ पाता है वह वास्तव में द्रव्य मात्र ही नहीं होता अपितु समाज की उत्पादन क्षमता पर एक अधिकार होता है। यह उत्पादन क्षमता चूंकि शताब्दियों के विकास का परिणाम होती है इसलिए वास्तविक रूप में तो यह एक सामाजिक उत्पत्ति तथा सामूहिक रूप में सभी की बपौती होती है और उसमें सभी को हिस्सा पाने का अधिकार होता है।'

निष्कर्ष

मृत्यु कर के विपक्ष मे दिये गए तर्कों के बावजूद भी अधिकाश देशा की कर व्यवस्था म इसका प्रयोग किसी न किसी नाम के अतर्गत होता है। इस प्रयोग का सबसे बडा कारण वे गुण ही है जिनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। प्रजातन्त्रात्मक पद्धतियो से समाजवादी समाज की रचना का प्रयास जिन देशो मे हो रहा है वहा इस कर का प्रयोग अपरिहार्य बन चुका है।

रिगनानो की योजना

इटली के अथशास्त्री प्रो रिगनानो ने मृत्यु कर का अध्ययन दो दृष्टिकोणा से किया है

(1) व्यक्ति की बचत करने की इच्छा पर मृत्यु कर का क्या प्रभाव पडता है ?

(2) मृत्यु कर धन के वितरण की विषमता को कहा तक दूर करता है ?

रिगनानो ने मृत्यु कर के सबध म एक ऐसी योजना प्रस्तुत की है जिसके द्वारा तीन पीढियो म करदाता की सपूण सपत्ति सरकार के स्वामित्व म आ सकती है। उनका यह विचार है कि जब मृतक की सपत्ति का हस्तातरण हो तो प्रथम उत्तराधिकारी पर करारोपण की दर नीची होनी चाहिए और उसके पश्चात जैसे ही वही सपत्ति दूसरे और तीसरे उत्तराधिकारी को अतरित होती है, वैसे ही करारोपण की दर बढती जानी चाहिए। इसे हम एक उदाहरण द्वारा और अधिक स्पष्ट रूप से समझा सकते हैं। 'अ' एक व्यक्ति है तथा 'ब' एक व्यक्ति है तथा 'ब' उसका उत्तराधिकारी है। 'अ' की मृत्यु होने पर उसकी सपत्ति 'ब' को हस्तातरित होती है। ब' को उत्तराधिकार म मिलने वाली सपत्ति पर मृत्यु कर कुल सपत्ति का एक तिहाई होना चाहिए। अब 'ब भी अपने जीवन काल म कुछ और सपत्ति अर्जित करता है तथा उसकी मृत्यु पर उसकी सपत्ति उसके उत्तराधिकारी स' को अतरित हो जाती है। 'स' को मिलने वाली सपत्ति दो प्रकार की होगी। प्रथम वह सपत्ति जो 'अ' से ब' को मिली थी और अब वह 'स को मिलेगी तथा दूसरी वह सपत्ति जो ब ने अर्जित की। प्रो रिगनानो का यह तर्क है कि क्योंकि अ' का 'स' स दूर का सबध है इसलिए अ' की जो सपत्ति 'स' को अतरित हो रही है उस पर करारोपण की दर ऊची होनी चाहिए। 'ब' और 'स' का सबध निकट का है इसलिए 'ब' से 'स' को मिलने वाली सपत्ति पर करारोपण की दर नीची होनी चाहिए। इस प्रकार 'अ' की जो सपत्ति 'स' को हस्तातरित होती है उसका दो तिहाई भाग सरकार को कर के रूप म वसूल करना चाहिए तथा शेष एक तिहाई भाग 'स' के पास छोड देना चाहिए। 'ब' की जो सपत्ति 'स' को हस्तातरित होती है सरकार को उसका केवल एक तिहाई भाग ही कर स्वरूप लेकर शेष दो तिहाई भाग 'स' के स्वामित्व मे छोड देना चाहिए। 'स' की मृत्यु के उपरात उसकी सपत्ति 'द' को हस्तातरित होती है। अब चूकि 'अ' की सपत्ति की तीन पीढिया पूर्ण हो चुकी हैं

इसलिए सरकार को 'अ' की शेष सपत्ति को 'द' के पास नहीं जाने देना चाहिए, अर्थात कर के रूप में वसूल कर लेना चाहिए। चूंकि 'ब' की दूसरी पीढ़ी आ चुकी है इसलिए इसकी सपत्ति का 2/3 कर के रूप म और 'स' की पहली पीढ़ी है इसलिए उसकी सपत्ति का केवल एक तिहाई भाग ही कर के रूप म वसूल करना चाहिए। इस प्रकार रिगनानो की योजना के अनुसार एक व्यक्ति की पूर्ण सपत्ति तीसरे उत्तराधिकारी तक पहुचते-पहुचते करारोपित कर ली जाती है।

योजना के गुण रिगनानो की योजना में निम्न गुण दृष्टिगोचर होते हैं

(1) इस योजना के अतर्गत सपत्ति का अत धीरे-धीरे किया जाता है। इसलिए अधिक भार का अनुभव नहीं होता है।

(2) इसम आरोही करारोपण को अपनाया गया है जिससे सार्वजनिक आय तथा धन के वितरण म समानता सरलता से लाई जा सकती है।

(3) इस योजना मे उत्तराधिकारी के मृतक से सबध के आधार पर ही कर की दर निर्धारित की गई है।

(4) यह योजना उत्तराधिकारी की मनोवैज्ञानिक दशा पर आधारित है। प्राय मनुष्य की यह मनोवृत्ति होती है कि वह दूसरे से प्राप्त की गई वस्तु को अधिक महत्व प्रदान नहीं करता इसलिए उसे उत्तराधिकार मे प्राप्त सपत्ति का बडा भाग मृत्यु कर के रूप मे देने मे कोई आपत्ति नहीं होती।

(5) इस योजना मे सपत्ति को उत्पन्न करने तथा एकत्रित करने की क्रिया को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि प्रथम उत्तराधिकारी को प्राप्त हुई सपत्ति का अधिक भाग करारोपण के रूप मे अदा नही करना पडता। इसलिए हर व्यक्ति का यही प्रयास होगा कि वह अपने जीवन काल मे इतनी सपत्ति जुटा ले जिससे कि *उसके उत्तराधिकारी का जीवन स्तर ठीक बना रहे।*

योजना के दोष इस योजना मे जो मुख्य अवगुण हैं, उनका वर्णन इस प्रकार है -

(1) यह योजना अव्यवहारिक है। इसके अतर्गत सपत्ति के अनेक खड बना कर विभिन्न दरो की जो व्यवस्था की गई है वह बहुत अधिक जटिल है।

(2) यह योजना पूजी के सचय को निरुत्साहित करती है। यदि इस योजना को कार्यान्वित किया जाए तो व्यक्ति का यह विश्वास, कि दो पीढ़ियों के उपरात उनकी सपूर्ण सपत्ति सरकार के स्वामित्व मे चली जाएगी, भविष्य म सपत्ति व एव पूंजी के निर्माण को हतोत्साहित कर देगी। यदि कोई व्यक्ति धन का सचय करेगा भी तो वह उसे अपने जीवन काल म ही खर्च करने का प्रयास करेगा।

(3) *कुछ लेखकों ने इस योजना को अनैतिकता पर आधारित ठहराया है।* एक व्यक्ति सपत्ति का सचय इस उद्देश्य से करता है कि उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी लाभान्वित होंगे। यदि सरकार मृत्यु करारोपण के द्वारा

उसकी सपत्ति छीन लेती है तो यह मूलक तथ्य उसके उत्तराधिकारियो की भावनाओ के प्रति कुठाराघात होगा।

प्रो जे०के० मेहता के विचारानुसार रिगनानो की योजना बहुत अधिक क्रातिकारी है। समाजवादी समाज की व्यवस्था स्थापित करने के लिए यह योजना एक उत्तम साधन के रूप मे स्वीकार की जा सकती है। परतु व्यावहारिक दृष्टि से यह बचत को निरुत्साहित करेगी तथा व्यवसायो पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगी। इसलिए इस योजना को कही भी कार्यान्वित नही किया गया है।

उपहार कर

उपहार कर एक ऐसा प्रत्यक्ष कर है जो व्यक्तियो कपनियो फर्मों तथा व्यक्तिगत सघो द्वारा दिए गए उपहारो पर लगाया जाता है। इस कर का उद्देश्य आय प्राप्ति के साथ साथ मृत्यु कर बचना को दूर करना है। यह कर भारत मे 1958 मे लागू किया गया था। इसके अतिरिक्त यह कर सयुक्त राज्य अमेरिका कनाडा आस्ट्रेलिया स्वीडन नीदरलैण्ड जापान तथा इजराइल मे काफी समय पहले से लागू है।

उपहार के प्रकार

व्यक्ति के जीवन काल मे सपत्ति के हस्तांतरण को उपहार कहा जाता है। मृत्यु के समय सपत्ति के हस्तान्तरण को वसीयत या उत्तरादान की सज्ञा दी जाती है। हमें यह नही भूलना चाहिए कि उपहार तथा वसीयतो के रूप मे छोडी गई सपत्तियां एक ही प्रकृति की होती हैं इसलिए एक के कराधान का प्रभाव दूसरे के हस्तान्तरण को अवश्य प्रभावित करता है। इन उपहारो को दो भागो मे वर्गीकृत किया गया है

(क) मृत्यु शय्या के उपहार मृत्यु शय्या के उपहार की सज्ञा उन उपहारो को दी जाती है जो मरते समय व्यक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार के उपहार उस समय क्रियाशील नही होते जब दान देने वाला अपनी मृत्यु से पहले ही उन्हे रद्द कर देता है या वह अपनी बीमारी से ठीक हो जाता है या फिर प्राप्तकर्ता की मृत्यु दान देने वाले अथवा दातार से पहले ही हो जाती है। वास्तव मे यह सशर्त उपहार होते हैं और दातार की मृत्यु होने पर ही क्रियाशील होते हैं।

(ख) जीवित दशा मे दिए गए उपहार ये वे उपहार हैं जो एक व्यक्ति द्वारा अपने जीवन काल मे किसी भी समय प्रदान किए जाते हैं। जीवित दशा मे दिए जाने वाले उपहारो के सबध मे यह कानूनी व्यवस्था होती है कि ये मृत्यु होने से कितने दिन पूर्व दिए जाने चाहिए। इस अवधि का निर्धारण एक निश्चित उद्देश्य से किया जाता है। प्राय यह देखा गया है कि मृत्यु कर से बचने के लिए व्यक्ति अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व उपहार देने की क्रिया प्रारम्भ कर देता है।

उपहार कर के पक्ष मे तर्क

उपहार कर के लगाने की पुष्टि करारोपण के कुछ मुख्य सिद्धातो अर्थात्—

कर वंचन की रोक-थाम, समन्वय, प्रशासनिक कुशलता तथा समता एवं न्याय के आधारों पर की जाती है। उपहार कर के पक्ष में मुख्यतः निम्न तर्क दिए जाते हैं :

(1) संपत्ति शुल्क के छिद्रों की समाप्ति : उपहार कर के पक्ष में यह विचार प्रकट किया जाता है कि संपत्ति शुल्क से बचने के लिए लोग अपनी मृत्यु की संभावना के बहुत पहले ही अपनी संपत्ति अपने उत्तराधिकारियों को अर्पित कर देते हैं। कभी विशेष अवसरों पर लोग अपनी संपत्ति का बहुत बड़ा भाग अपने पुत्रों, प्रपुत्रों को उपहार के रूप में दे देते हैं। विवाह, वयस्कता-प्राप्ति अथवा पृथक व्यवसाय की स्थापना आदि ऐसे अवसर हैं जब परिवार के मुख्य कर्ता अपने उत्तराधिकारियों को पर्याप्त संपत्ति हस्तांतरित कर देते हैं। संपत्तियों का यह हस्तांतरण वसीयतनामे के क्रम में होने वाले हस्तांतरण से भिन्न नहीं समझा जा सकता।

(2) समन्वय की दृष्टि से आवश्यक : अनेक देशों के मृत्यु कर विधानों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मृत्यु के पूर्व कुछ निश्चित अवधि के पहले किए गए संपत्ति संबंधी हस्तांतरणों पर कर की छूट मिलती है। कर छूट की अवधि को अधिक सीमित बनाने का प्रयास प्रायः इस तथ्य को दृष्टिगत रख कर किया जाता है कि मृत्यु के पूर्व वाली अवधि में जितने भी धन अर्पण किए जाते हैं वे सभी कर से बचने के लिए होते हैं। इन तथ्यों को यदि समन्वय के सिद्धांत से देखा जाए तो स्पष्ट होगा कि मृत्यु से कुछ समय पूर्व हस्तांतरण की गई संपत्ति को कर मुक्त रखना तथा मरने के पश्चात अथवा उसके कुछ ही समय पूर्व हस्तांतरित हुई संपत्ति पर कर लगाना उचित नहीं समझा जा सकता। जब संपत्ति शुल्क में क्रमिक वृद्धि अधिक होती है तो करदाता यह प्रयास करते हैं कि उनके मरणोपरांत कम से कम संपत्ति बचे ताकि संपत्ति शुल्क नीची दर से अदा करना पड़े और कुल संपत्ति शुल्क की राशि कम की जा सके। इन दोषों को दूर करने के लिए तथा संपत्ति संबंधी कर दायित्व में समन्वय के लिए संपत्ति शुल्क के साथ उपहार कर लगाना आवश्यक है। अवधि संबंधी सीमा के प्रावधान के कारण मरने के बाद लगने वाले संपत्ति-शुल्क की अनिश्चितता की ओर भी कैल्डार का भी संकेत रहा है। उनके अनुसार यदि सरकार मृत्यु के पूर्व हस्तांतरित होने वाली संपत्ति पर कर भार हल्का करने का प्रयास करती है तो मृत्यु के बाद कर दायित्व की मात्रा उतनी ही अनिश्चित हो जाती है।

(3) आर्थिक औचित्य : केवल समन्वय की दृष्टि से ही नहीं अपितु आर्थिक औचित्य की दृष्टि से भी उपहार कर का लगाना आवश्यक समझा गया है। इसीलिए हमारे यहाँ कर व्यवस्था को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए प्रत्यक्ष करों के अंतर्गत आय कर, संपत्ति शुल्क और धन कर के साथ उपहार कर लगाने की व्यवस्था की गई है।

(4) समता एवं न्याय का दृष्टिकोण : समता एवं न्याय की दृष्टि से ऐसा कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि वसीयत अथवा उपहार द्वारा संपत्ति हस्तांतरित

किए जाने मे व्यक्ति के अधिकार के मध्य भेद किया जाए। यदि वसीयतो पर कर लगाया जा सकता है तो ऐसा कोई कारण नही कि अन्य हस्तातरणा पर कर न लगाया जाए। यदि मृत्यु कर को न्यायोचित कहा जा सकता है तो जीवित दशा म दिए जाने वाले उपहारो पर लगाए गए करो को भी न्यायोचित ठहराया जा सकता है। इसलिए न्याय तथा समता की दृष्टि से यह उचित ही होगा कि सपत्ति के सभी नि शुल्क एव ऐच्छिक हस्तातरणो पर कर लगाया जाए—भले ही हस्तानरण का ढग या रूप कुछ भी क्यो न हो।

प्रो० कोल्डार ने सभी प्रकारो के उपहारो पर केवल एक ही एकीकृत कर लगाने की सिफारिश की थी। इनके सुझाव के अनुसार एक सामान्य उपहार कर के अतर्गत वसीयता एव उत्तराधिकारा की सपत्ति पर लगने वाले वर्तमान कर भी सम्मिलित होगे। यह कर सपत्ति तथा उपहारो के सभी नि शुल्क तथा ऐच्छिक हस्तातरणा पर भी लगाया जाएगा जो उस समय उपहार कर से मुक्त होगे। कोल्डार द्वारा एकीकृत कर का सुझाव समता एव न्याय उपयुक्तता तथा प्रशासनिक कुशलता के आधार पर दिया गया था जिनका विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है।

प्रो० कोल्डार ने इस तथ्य पर अधिक बल दिया कि उपहार कर पूर्णत जायदाद पर नही पडना चाहिए अपितु लाभ प्राप्तकर्ताओ पर पडना चाहिए। समता एव न्याय के आधार पर आरोहण की दर किसी भी व्यक्ति द्वारा प्राप्त की गई कुल धनराशि के अनुसार परिवर्तित होनी चाहिए। किसी व्यक्ति द्वारा छोडी गई कुल सपत्ति को उपहार कर का आधार नही मानना चाहिए क्योकि उपहार कर मृत्यु कर से कर वचना को दूर करने मे सहायक होगा। इसलिए ऐसे व्यक्ति पर उपहार कर का भार हल्का रखना चाहिए जो अपनी सपूर्ण जायदाद किसी एक व्यक्ति के लिए नही वरन अनेक व्यक्तियो लिए छोड रहा है। ऐसा व्यक्ति धन के विकेंद्रीकरण मे स्वय सहायक सिद्ध होता है। यदि मृत्यु कर अधिक कठोर कर दिया गया तो धनी व्यक्तियो को यह प्रलोभन मिलेगा कि वे अपनी सपत्ति को अपने जीवनकाल मे ही व्यय कर देय करो की एकीकृत व्यवस्था द्वारा इस प्रेरणा को निरुत्साहित किया जा सकता है क्योकि वर्तमान प्रणाली मे जीवित दशा मे दिए जाने वाले उपहारो को कर से मुक्त कर दिया जाता है। इस प्रलोभन को रोका जा सकता है यदि धनी व्यक्ति को इस बात की अनुमति दे दी जाए कि वह अपनी सपत्ति को लाभ प्राप्तकर्ताओ की एक बडी सख्या म फैला सके।

भारतीय उपहार कर की मुख्य विशेषताए

भारतीय उपहार कर सन् 1958 मे बनाए गए। तत्सबधी अधिनियम के अनुसार इसे 1 अप्रैल 1958 से लागू किया गया है। इस अधिनियम के अनुसार प्रत्येक वित्तीय वर्ष मे पिछले वर्ष मे दिए गए उपहारो पर कर लगाया जाता है। यह कर ऐसे अर्पणो पर लगाया जाता है जहा व्यक्तियो, हिंदु-अविभक्त परिवारो,

कम्पनियों फर्मों और व्यक्तियों के अन्य मदों द्वारा दिए गए हों। उपहार कर अधिनियम के अन्तर्गत निम्नांकित उपहार कर से मुक्त किए गए हैं

(1) यदि उपहार किसी ऐसी अचल सम्पत्ति का हुआ हो जो भारतीय सीमा के बाहर हो :

(2) यदि भारत के बाहर स्थित चल सम्पत्ति का अर्पण किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया गया हो जो न तो भारत का नागरिक हो और न पिछले वर्ष में भारत का निवासी हो।

(3) यदि उपहार सरकार या किसी स्थानीय अधिकारी को दिया गया हो।

(4) यदि उपहार किसी ऐसे आश्रित को उसके विवाह के अवसर पर दिया गया हो जो पूर्णत अपने जीवन निर्वाह के लिए करदाता पर निर्भर हो। तब यह छूट अधिक से अधिक दस हजार रुपये के मूल्य की सम्पत्ति तक हो सकती है।

(5) यदि उपहार पति द्वारा पत्नी को या पत्नी द्वारा पति को पिछले वर्ष या वर्षों में दिया गया हो परन्तु जिसका मूल्य एक लाख रुपये से अधिक न हो।

(6) पत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी पूर्णत आश्रित को जीवन बीमा पत्र अथवा वार्षिकी पत्र अर्पित किया गया परन्तु उसका मूल्य दस हजार रुपये से अधिक न हो।

(7) किसी वसीयतनामे से अर्पित की गई सम्पत्ति।

(8) उस सीमा तक अपने बच्चों के शिक्षा हेतु अर्पित सम्पत्ति जिसे कर-अधिकारी उचित समझता हो।

(9) किसी उद्योग, पेशे या व्यवसाय संचालन के हेतु दिए गए सभी उपहार जिन्हें कर-अधिकारी उनके सचालन के लिए उचित समझता हो।

उपहार कर की वसूली प्राय अर्पणकर्ता से की जाती है। परन्तु जहा कर-अधिकारी अर्पणकर्ता से कर उगाने में कठिनाई अनुभव करता है तो यह कर सम्पत्ति के प्राप्तकर्ता से भी वसूल किया जा सकता है। किन्तु संपत्ति प्राप्त करने वाले व्यक्ति से कर की वही राशि वसूल की जा सकती है जो उपहार में प्राप्त संपत्ति से सुलभ हो।

एक आलोचनात्मक मूल्यांकन

प्रो० कॉलडार ने भारत में उपहार कर को लागू करने की जो रूपरेखा प्रस्तुत की थी, भारत सरकार ने उसे पूर्णत स्वीकार नहीं किया। प्रो० कॉलडार उपहार पाने वाले व्यक्ति पर कर लगाना चाहते थे, साथ ही उनका यह भी सुझाव था कि यह कर उपहार के मूल्य पर नहीं अपितु उपहार के मूल्य को उपहार पाने वाले की सम्पत्ति में सम्मिलित करके, उसकी विशुद्ध सम्पत्ति पर लगाया जाए। परन्तु हमारे यहा यह कर उपहार देने वाले पर और उपहार के मूल्य पर, लगाया जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रो० कोल्डार इसको मृत्यु कर के स्थान पर लगाना चाहते थे जबकि इस मृत्यु कर के साथ लगाया गया है।

दूसरे, भारत म इस कर की उपयुक्तता तथा सफलता के सबध मे अनेक व्यक्तियो न सदेह प्रकट किया है। इनके व्यक्तियो द्वारा विरोध निम्नांकित आधारो पर किया गया है

(1) हमारे देश मे इस कर के विरोध का कारण मूलत मनोवैज्ञानिक है क्योंकि यहा धर्म के नाम पर दान देना प्रशसनीय माना जाता है। इस तर्क मे कोई सत्यता नही है क्योंकि धार्मिक तथा कुछ विशेष दानो को कर से मुक्त कर दिया गया है।

(2) भारत मे सरकार की ओर से एक विस्तृत सामाजिक बीमे की योजना नही है। इस अभाव की पूर्ति उपहार द्वारा की जाती है।

(3) इस कर के लागू करने मे कुछ प्रशासनिक कठिनाइया उपस्थित होती हैं। यह ज्ञात करना कठिन हो जाता है कि उपहार कब और किस रूप मे प्रदान किया गया।

(4) उपहार के मूल्याकन मे भी अनेक कठिनाइया सामने आ सकती हैं।

धन कर

भारत म समाजवादी ढाचे को लाने तथा आय वितरण को समान बनाने के लिए स्वतत्रता के बाद से ही प्रयास प्रारभ किए गए थे। प्रथम, उत्तराधिकार मृत्यु कर को प्रयोग मे लाया गया जिसके कारण प्राप्त होने वाली सपत्तियो और उनसे सुलभ अवसरो की समानता को धीरे-धीरे कम किया जा सके परतु मृत्यु कर का प्रभाव लबी अवधि के बाद प्रगट होता है। यही कारण है कि मृत्यु कर के लागू करने के कुछ वर्षों पश्चात ही धन पर वार्षिक कर अपनाया जाना था, प्रो० कोल्डार ने इस कर का समर्थन समानता, आर्थिक प्रभाव एव प्रशासनिक कुशलता के आधार पर किया है।

समानता का आधार

समानता को अपनाते हुए प्रो० कोल्डार ने कहा है कि जब तक व्यक्ति की सपत्ति को भी विचारार्थ नही लिया जाता, तब तक अकेली आय ही, कर अदायगी का पूर्ण निर्देशन नही कर सकती। इसलिए धन कर, कर पद्धति को कर अदायगी की योग्यता मे समानता लाने के लिए महत्त्वपूर्ण साधन हो सकता है।

समानता के आधार पर धन कर की मुख्य आलोचना इस आधार पर की जाती है कि धन कर उन लोगो पर भार डालता है जिनके पास सपत्ति तो है किंतु उससे आय प्राप्त नही होती। इसी दशा मे उन्ह कर अदा करने के लिए सपत्ति को बेचने के लिए विवश होना पडता है। परतु इस कठिनाई को छूट की सीमा आदि के द्वारा दूर किया जा सकता है।

आर्थिक प्रभाव

आर्थिक प्रभाव की दृष्टि से धन कर के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि यह आयकर के समान सम्पत्ति के जोखिम वाले व्यवसायों में लगाने की प्रेरणा पर बुरा प्रभाव नहीं डालता। डा० गुलाटी ने यह सिद्ध किया है कि आय की ऊँची सीमा पर आयकर की बहुत ऊँची सीमान्त दर उद्यम पर प्रेरणाहारी प्रभाव डालती है, इसलिए आयकर की दर को घटा कर धन कर को लागू किया जा सकता है।

प्रशासनिक दृष्टिकोण

प्रशासनिक दृष्टिकोण से यह स्मरण रखना होगा कि सम्पत्ति का मूल्य वार्षिक लाभ या आय से कुछ भिन्न होता है, किन्तु इन दोनों का इस अर्थ में निकट का सम्बन्ध होता है कि लाभ या सभी प्रकार की सम्पत्ति की आय (पारिश्रमिक एवं व्यावसायिक क्रियाओं से सम्बन्धित लाभों के अतिरिक्त) के पीछे सदैव कुछ स्थूल परिसम्पत्ति पाई जाती है और इस प्रकार से सम्पत्ति के अधिकांश रूप किसी न किसी प्रकार की मौद्रिक आय या लाभ प्रदान करते हैं। इसलिए यदि एक ही अधिकारी के द्वारा आय और सम्पत्ति दोनों पर कर निर्धारित किए जाते हैं तो ऐसी स्थिति में व्यवस्था की प्रशासनिक कुशलता अवश्य सुधरती है। इसका कारण यह है कि जब हम इस बात की जाँच-पड़ताल करते हैं कि एक व्यक्ति के पास कितनी सम्पत्ति है तो उसकी छिपाई हुई आय का अवश्य पता लग जाता है। इसी प्रकार से किसी की आय की जाँच से उसके द्वारा छिपाई गई सम्पत्ति को ज्ञात किया जा सकता है। अतः इनमें से किसी एक पर कर लगाने की अपेक्षा दोनों को कर के चंगुल में लाना चाहिए ताकि कर को छिपाने पर अधिकाधिक अंकुश लगाया जा सकता है।

आलोचनाएँ

अनेक विद्वानों ने कॉल्डार द्वारा सुझाए गए धन कर की आलोचना निम्न आधारों पर की है :

(1) यह आय उत्पन्न न करने वाली सभी सम्पत्तियों पर अनावश्यक भार डालते हैं।

(2) धन कर के भार को भी सम्पत्ति बेचकर हस्तान्तरित किया जा सकता है।

(3) सम्पत्ति-मूल्य के निर्धारण में कठिनाई उपस्थित होती है। यदि सम्पत्ति का बाजार-मूल्य लिया जाता है तो वह भी समय-समय पर बदलता रहता है। यदि उसे प्रारम्भिक मूल्य के आधार पर लिया जाए तो ह्रास की अवहेलना होती है। सम्पत्ति का मूल्य चाहे जिस विधि के द्वारा भी मालूम किया जाए उसमें अनिश्चितता अवश्य रहती है।

(4) एक अन्य समस्या अमूर्त सम्पत्ति की सूचना प्राप्त करने में होती है।

जैसे घरेलू वस्तुए, कूपन वाट, नकद जमा, जवाहरात तथा सोने-चादी के रूप मे रखी हुई सपत्ति का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

(5) सपत्ति की वृद्धि के साथ-साथ इस कर की वृद्धि होती है। जिसके फलस्वरूप बचत मे बाधा पड सकती है।

निष्कर्ष मे यह कहा जा सकता है कि धन कर, कर पद्धती का एक उपयोगी अग बन सकता है। आयकर की दर को कम करके उसके स्थान पर कुछ छूट की सीमा के साथ धन कर को लगाया जा सकता है। इसके प्रभाव इतने प्रेरणाहारी नही होते जितने कि आयकर के होते है।

विनियोग कर

अर्थव्यवस्था मे स्थायित्व लाने के लिए विनियोगो पर एक विशिष्ट कर लगाने का सुझाव दिया जाता है जिसे विनयोग कर कहते है। इस कर को व्यवहार मे लाने के दो आधार होते है

(1) सकल विनियोग पर कर, तथा
(2) विशुद्ध विनियोग पर कर।

प्रथम प्रकार का कर निसदेह प्रशासनिक दृष्टिकोण से अधिक सरल होता है। वास्तविक विनियोगो की अपेक्षा सकल विनियोग किसी भी देश की विनियोग गतिविधियो का सही चित्र प्रस्तुत करते है। देश की अर्थव्यवस्था सकल विनियोगो के द्वारा अधिक प्रभावित होती है। इसलिए यह कर यदि सकल विनियोग पर लगाया जाए तो स्थायित्व शीघ्र प्राप्त हो सकता है। सकल विनियोग पर लगाए गए कर के विरुद्ध केवल एक ही तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है, कि वह उन उत्पादन क्षेत्रो के लिए हानिकारक सिद्ध होगा जो अल्प आयु पूजी यत्रों का प्रयोग कर रहे हैं। ऐसे उत्पादन क्षेत्रो मे विशुद्ध विनियोगो की तुलना मे सकल विनियोगो का अश अधिक होता है क्योकि अल्प आयु पूजी यत्रो को शीघ्र बदलना पडता है। इसलिए यदि इस प्रकार का कर लगाया जाएगा तब अल्प आयु पूजी के उपयोग करने वाले उद्योगो पर बुरा प्रभाव पडेगा।

इन करो की व्यवस्था दो रूपो मे हो सकती है। प्रथम, यह विनियोग की वस्तुओ को क्रय करते समय उत्पादन शुल्क के रूप मे लगा दिया जाए। यदि कर इस रीति से लगाया जाता है तब वह बहुत कुछ विशेष उत्पादन करो के समान होता है। दूसरे रूप मे, यह कर विनियोगी वर्ग के पूजीगत परिसपत्तियो के मूल्य मे वृद्धि पर लगाया जाता है। करारोपण की इन दोनो रीतियो मे प्रथम रीति सरल है क्योकि इस रीति के अनुसार विनयोगो के अनुमान लगाने मे अधिक समस्याएं उत्पन्न नही होती। इसलिए ऐसे कर प्राय सकल विनियोग पर लगाए जाते है। इस प्रकार का कर स्वीडन मे अनेक वर्षों तक व्यवहार मे लाया गया।

हम विनियोग कर द्वारा जो उद्देश्य प्राप्त करना चाहते हैं वह सामान्य बिक्री कर के आधार में परिवर्तन करके भी प्राप्त किया जा सकता है। सामान्य बिक्री कर से तात्पर्य ऐसे कर से है जो समस्त प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं की बिक्री पर समान दर से लगाया जाता है। जब विनियोगों को प्रोत्साहित करना होता है तब वस्तुओं को सामान्य बिक्री कर से मुक्त कर दिया जाता है। यदि विनियोगों को नियंत्रित करना हो तब वस्तुओं को सामान्य बिक्री कर की चपेट में ले लिया जाता है। ऐसे कर की व्यवस्था नार्वे में व्यवहार में लाई जा चुकी है।

16

परिव्यय कर

परिव्यय कर वह कर है जो किसी वस्तु अथवा सेवा के क्रय अथवा उसके प्रयोग पर लगाया जाता है,[1] यह कर वस्तु के पूंजीगत मूल्य अथवा वास्तविक सम्पत्ति के वार्षिक मूल्य पर आंका जाता है। यह पूंजीगत मूल्य पर आधारित क्रय कर तथा वास्तविक सम्पत्ति के वार्षिक मूल्य पर आधारित स्थानीय दर के रूप में भी हो सकता है। परिव्यय कर मूल्यानुसार भी हो सकता है या किसी वस्तु की मात्रा या भार के अनुसार भी निश्चित किया जा सकता है। निजी करों पर लाइसेंस शुल्क पेट्रोल पर कर अधिकांशत ऐसी वस्तुओं पर लगाए जाते हैं, जिनका प्रयोग केवल एक बार ही होता है। सरकारों की आय का अधिकांश भाग इस प्रकार के कर से वसूल होता है। उदाहरण के लिए तबाकू तथा मदिरा पर कर। परिव्यय कर ऐसी वस्तुओं पर भी लगाए जाते हैं जो टिकाऊ प्रकृति की होती हैं और जिनका उपयोग कई वर्षों तक चलता रहता है। कारों, रेफ्रीजरेटरों तथा कैमरा पर लगाए गए क्रय कर परिव्यय कर के ही रूप हैं।

अध्ययन की दृष्टि से, परिव्यय कर का दो आधारों पर वर्गीकरण हो सकता है

(1) उपभोग वस्तुओं पर परिव्यय कर, तथा

(2) उत्पादक वस्तुओं पर परिव्यय कर *(यहां उत्पादक वस्तुओं का अर्थ* साधनों से है, जिसमें वह श्रम भी सम्मिलित है जो उपभोग-वस्तुओं के निर्माण में अपनी सेवाएं प्रदान करता है)।

उपभोग की वस्तुओं पर परिव्यय कर

किसी भी वस्तु अथवा बिक्री पर कर लगाने का प्रभाव सामान्य मूल्य स्तर, उपभोग तथा बचत पर पड़ता है। परंतु करारोपण का सबसे अधिक प्रभाव वस्तु *तथा उससे सबंधित वस्तु के उपभोग तथा उत्पादन पर पड़ता है।* इस प्रभाव को हम परिव्यय के करापात के अध्ययन के द्वारा ज्ञात कर सकते हैं।

---

1 C T Sandford 'Economics of Public Finance', (1969), Pergamon Press, p 117

परिव्यय का करापात करारोपित वस्तु के उपभोक्ता को ही सहन करना होता है। इस करापात का अनुमान उपभोक्ता द्वारा भुगतान किया गया बाजार-मूल्य तथा साधन लागत के अंतर के द्वारा ज्ञात हो सकता है। साधन लागत वह भुगतान है जो *उत्पत्ति के साधनों को मजदूरी, वेतन, ब्याज, लगान तथा लाभ के रूप में दिया* जाता है। किसी भी वस्तु का करारोपण सामान्यत बाजार-मूल्य तथा साधन लागत दोनों को परिवर्तित कर देता है। उपभोक्ता वर्ग किसी अन्य वस्तु से करारोपित वस्तु का प्रतिस्थापन करने की चेष्टा करते हैं और साधनों को किसी दूसरी वस्तु के उत्पादन में स्थानांतरित कर देते हैं। समायोजन की सीमा वस्तुओं की माग तथा पूर्ति के लोच पर निर्भर करती है। माग की लोच स्थानापन्न वस्तु की उपलब्ध पर और पूर्ति की लोच साधनों के स्थानातरण की सरलता पर निर्भर करती है। विभिन्न लोचपूर्ण माग तथा पूर्ति वाली वस्तुओं पर करारोपण के प्रभाव को चित्र द्वारा 'कर भार का सिद्धात' अध्याय म दर्शाया गया है।

केवल पूर्णतया बेलोचदार माग वाली वस्तुओं को छोड़कर परिव्यय कर उपभोक्ता के चुनाव को विघ्न कर उसकी सतुष्टि को घटा देते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि सरकार को आय द्वारा प्राप्त लाभ की तुलना में उससे उपभोक्ता की तुष्टि की हानि अधिक होती है। हा, यदि परिव्यय कर ऐसी वस्तु पर लगाया जाना है जिसकी माग पूर्णतया लोचदार हो तब उपभोक्ता की तुष्टि में अधिक हानि की सभावनाए नही होती। इस विचार को इस प्रकार समझाया जा सकता है, मान लीजिए कि प्रथम स्थिति में पूर्णतया बेलोचदार माग वाली वस्तु A पर परिव्यय कर लगाया जाता है। द्वितीय स्थिति में सरकार द्वारा उतनी ही आय प्रदान करते हुए यही कर लोचपूर्ण माग वाली B वस्तु पर लगाया जाता है। द्वितीय परिस्थित में परिणाम यह होगा कि A वस्तु का क्रय तो अपरिवर्तित रहेगा परतु B वस्तु का क्रय कम हो जाएगा। उपभोक्ता B वस्तु के बदले अन्य X, Y या Z वस्तुओं का क्रय करने लगेंगे। *यद्यपि प्रथम स्थित में भी उपभोक्ताओं को पूर्ण स्वतंत्रता थी कि वे B वस्तुओं का* क्रय घटाकर X, Y, और Z वस्तुओं का क्रय कर सकते थे, परंतु उन्होंने ऐसा नही किया। इससे हम कह सकते हैं कि उपभोक्ता वर्ग प्रथम स्थिति की तुलना में दूसरी स्थिति को अच्छा नही समझते।

इसी प्रकार उत्पादन की ओर, यदि माग पूर्णतया बेलोचदार है तब उस उद्योग से साधनों के निष्कासित होने की सभावनाए नही होती। साधारणतया करारोपण का यह उद्देश्य होता है कि वह साधनों को निजी उपयोग उद्योग से सार्वजनिक उपयोग म लाए। यदि कोई भी अतिरिक्त कर किसी एक ऐसी वस्तु पर लगाया जाए जिसकी माग लोचदार हो तब साधनों का अनुपात से अधिक निष्कासन केवल एक ही उद्योग में होता है। इस रीति म साधनों का स्थानातरण किसी एक उद्योग को बिना प्रभावित किए सीमात परिवर्तनों द्वारा नही होता। जहा परिव्यय कर एक ऐसी वस्तु पर लगाया जाता है जिसकी पूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है

यहां उद्योग से साधना का स्थानातरण उत्पादन को हानि पहुंचाए बिना सरलता से हो जाता है।

तदोपरांत, हमारे समक्ष ऐसी परिस्थितियां आती हैं जहां कर को एक ही वस्तु अथवा एक ही समूह से सबधित वस्तुओ पर केंद्रित करने की अधिक इच्छा होती है। ऐसी परिस्थितियां तीन रूप मे आ सकती है

(1) **अधिक सामाजिक लागत का होना** जहां किसी माल का उत्पादन निजी लागत की अपेक्षा सामाजिक लागत म वृद्धि कर दे और सरकार के हस्तक्षेप की अनुपस्थिति म उत्पादन को लाभ के न्यायोचित स्तर से अधिक बढ़ा दे तो ऐसी स्थिति म परिव्यय कर निजी लागत को सामाजिक लागत के समीप लाकर उत्पादन को उचित स्तर तक घटा सकता है।

(2) **आर्थिक नियमन** . जब कुछ विशेष साधनो को किसी अन्य दिशा मे स्थानांतरित करने का विचार हो तो परिव्यय कर आर्थिक नियमन का एक उपयोगी यंत्र सिद्ध हो सकता है। यदि कभी राष्ट्रीय सुरक्षा को बाह्य आक्रमणो का भय हो तो राष्ट्र को पुन सशक्त करने के हेतु उपभोग की टिकाऊ वस्तुओ पर परिव्यय कर उसम प्रयुक्त होने वाले स्रोतो को मुक्त कर सकता है। सामान्य रूप से स्वदेशी बाजार म भी उन वस्तुओं पर परिव्यय कर लगाया जा सकता है जिनकी विदेशो को निर्यात की सभावनाएं हो सकती है।

(3) **किसी विशेष उद्योग मे मूल्य तथा उत्पादन मे वृद्धि** ; हम यह नही भूलना चाहिए कि हमारा परिव्यय कर के करापात का विश्लेषण पूर्णस्पर्द्धा की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है। जिन बाजारो की स्पर्द्धा मे [केवल अश का अंतर है या जहां उत्पादक उस मूल्य स्तर तथा उत्पाद स्तर पर उत्पादन कर रहे होते हैं जहां लाभ अधिकतम नही होता वहां किसी विशेष उद्योग मे परिव्यय कर मूल्य तथा उत्पाद के स्तर को बढ़ा सकते है जो इससे पूर्व अनुकूलतम स्थिति के समीप थे। परतु इस सबध मे यह बाधा उपस्थित होती है कि ऐसे उद्योग को पह-चानना सरल नही होता।

उत्पत्ति के साधनो पर परिव्यय कर

अधिकाशत. परिव्यय कर उपभोग की वस्तुओ पर लगाया जाता है परतु कभी कभी ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती है जब यह कर उत्पादक वस्तुओ पर भी लगाना पड जाता है। ऐसे उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन म मिलते है जहां परिव्यय कर उत्पादक वस्तुओ, जैसे हाइड्रोकार्बन तेल जिसको विभिन्न रीतियो से उत्पादन मे प्रयोग किया जाता है, पर लगाया गया है। कार्यालय के फर्नीचर पर क्रय कर, होटलो के लिए क्रय की गई अनेक वस्तुओ पर क्रय कर आदि ग्रेट ब्रिटेन म परिव्यय कर के अनेक उदाहरण हैं। परतु पूर्णतया उत्पादक मालो (वस्तुओ) उदाहरणार्थ, यंत्र, कच्चा माल, अर्द्ध निर्मित मालो को परिव्यय कर से मुक्त रखा गया है।

आर्थिक दृष्टि से उत्पत्ति के साधनों पर लगाए गए करों का समर्थन नहीं किया जाता क्योंकि ऐसे करों के औपचारिक तथा वास्तविक करापात को ज्ञात करना कठिन हो जाता है। जहां ऐसे कर लगाए जाते हैं वह अन्य करों के आय के वितरण पर पड़ने वाले प्रभावों को भी नहीं जान सकते। इसलिए जहां उत्पत्ति के साधनों को करारोपित कर दिया जाता है वहां आय के वितरण के संबंध में कोई स्पष्ट नीति नहीं अपनाई जा सकती।

श्रम के करारोपण के संबंध में परिव्यय कर का विरोध अब नहीं किया जाता। प्रत्येक श्रमिक अथवा स्वयं सेवक द्वारा राष्ट्रीय स्वास्थ्य या राष्ट्रीय बीमा का अनुदान आयकर का रूप है, मालिकों द्वारा अनुदान उत्पत्ति के साधनों पर थोपा गया परिव्यय कर है। ग्रेट ब्रिटेन में चयनात्मक रोजगार कर श्रम के उपयोग पर परिव्यय कर ही है।

उत्पादक वस्तु का करारोपण उत्पादन में मितव्ययता को प्रोत्साहित करता है, परिणामस्वरूप उत्पत्ति के साधन उस उद्योग विशेष से निष्कासित हो सकते हैं परंतु किसी विशेष साधन के प्रयोग में मितव्ययता को प्रोत्साहित नहीं करते। उत्पत्ति के साधन पर कर लगने से करारोपित साधन का किसी अन्य साधन से प्रतिस्थापना की संभावनाएं बढ़ जाती हैं।

आयकर तथा परिव्यय कर की तुलना

परिव्यय कर समानता के सिद्धांत का अवलोकन नहीं करते। यद्यपि परिव्यय कर की संरचना इस प्रकार की जा सकती है जिससे निर्धनों की तुलना में धनी वर्ग के व्यय को अनुपात से अधिक करारोपित किया जा सकता है। फिर भी परिव्यय कर को पूर्णतया भुगतान क्षमता के अनुसार नहीं बनाया जा सकता। इसका भार उपभोक्ता के आनंद की प्रकृति तथा उसके व्यय की संरचना के अनुसार सदैव असमान रहता है। पूर्णतया बेलोचदार माग वाली वस्तुओं को छोड़कर यदि परिव्यय कर लगाया जाता है तो वह उपभोक्ता की प्राथमिकता को विकृत कर कार्यक्षमता के सिद्धांत को भंग कर देता है। ऐसे कर से राजकोषीय आय में वृद्धि के लाभ की तुलना में करदाता को हानि अधिक होती है। ऐसा होते हुए भी परिव्यय कर क्यों लगाए जाते हैं? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिए जा सकते हैं। आयकर की तुलना में परिव्यय कर को अधिक मान्यता प्राप्त होने का प्रथम कारण यह है कि यह करदाता को विकल्प की सुविधा प्रदान करता है। करदाता कर थोपा गया आयकर अनिवार्य रूप से उसे अदा करना होगा परंतु परिव्यय कर के बचाव का सरल तरीका उस वस्तु के उपभोग के त्याग में निहित है। व्यक्तिगत आधार पर परिव्यय कर से बचाव हो सकता है परंतु संपूर्ण समाज को परिव्यय कर से मुक्ति मिलना कठिन

होता है क्योंकि वित्त मंत्रालय को परिव्यय कर से एक निश्चित मात्रा में धन राशि प्राप्त करनी होती है इसलिए यदि कुछ व्यक्ति वस्तु के उपभोग को बंद करके इस कर से बचाव करते हैं तब सरकार इसकी क्षतिपूर्ति करने के लिए या तो परिव्यय कर की सीमा को विस्तृत कर देती है और अथवा उसके भार में वृद्धि कर देती है।

परिव्यय कर के औचित्य के संदर्भ में दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि करदाता इसकी अदायगी के भार को बहुत अधिक महसूस नहीं करता। आयकर की अदायगी में करदाता अधिक चिंतित रहता है इसलिए परिव्यय कर की तुलना में वह उसके भार को अधिक महसूस करता है। इस कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से करदाता परिव्यय कर का आयकर की तुलना में कम विरोध करता है। परंतु प्रजातंत्र का यह एक ठोस सिद्धांत है कि करदाता को उस राशि की जानकारी हो जो वह कर के रूप में भुगतान करता है तथा वह यह ज्ञात कर सकता है कि राजकीय व्यय युक्तिपूर्वक किया गया है कि नहीं।

किसी भी वस्तु पर परिव्यय कर लगाने का यह तर्क अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है क्योंकि इन वस्तुओं का उत्पादन और सामाजिक लागत की समस्या उत्पन्न करता है। इसलिए सामाजिक लागत की क्षतिपूर्ति परिव्यय कर द्वारा उचित समझी जाती है।

परिव्यय कर आयकर की तुलना में इसलिए भी श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि इसमें कर बचाव तथा कर वंचन इतना सरल नहीं होता जितना कि आयकर में संभव होता है। इसलिए आयकर तथा पूंजी कर की तुलना में परिव्यय कर का प्रशासन सरल होता है।

परिव्यय कर आयकर की तुलना में इसलिए अधिक उपयोगी समझा जाता है क्योंकि यह पूंजी में से किए गए व्यय की पकड़ शीघ्र करता है। आयकर इस दृष्टि से अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं होता है यद्यपि संपत्ति कर इस दोष में सुधार ले आता है।

परिव्यय कर की अनुकूलता इसलिए भी स्वीकार की जाती है कि इसमें क्रियात्मक गति तीव्र रहती है। अर्थव्यवस्था का नियमन आयकर की तुलना में परिव्यय कर द्वारा शीघ्र हो जाता है। परिव्यय कर में वृद्धि राजकोष की आय को बहुत शीघ्रता से बढ़ाती है तथा परिव्यय कर में कमी माग की वृद्धि के लिए उपभोक्ताओं के हित में पर्याप्त धन शीघ्रता से छोड़ती है।

प्राय सभी लोग इसे स्वत सिद्ध मानते हैं कि परिव्यय कर आयकर की तुलना में व्यक्तिगत प्रेरणा को कम नष्ट करते हैं। दूसरे शब्दों में परिव्यय कर करदाता के

कार्य तथा अवकाश के मध्य चुनाव के विकल्प को अधिक विकृत नहीं करते। इस विचारधारा के स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

हम अध्ययन कर चुके हैं कि आयकर के दो प्रभाव हो सकते हैं आय प्रभाव तथा स्थानापन्न प्रभाव। सैंडफोर्ड के विचारानुसार 'कुल कर की तुलना में कर की सीमान्त दर जितनी अधिक होगी उतना ही आय प्रभाव की तुलना में स्थानापन्न प्रभाव अधिक होगा। इसलिए कर जितना प्रगतिशील होगा अप्रेरणादायक प्रभाव उतना ही अधिक होगा। व्यवहार में परिव्यय कर प्रतिगामी हुआ करते हैं, यही कारण है कि आय कर की अपेक्षा परिव्यय कर उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति पर विरोधी प्रभाव कम डालते हैं।'[1]

यह आवश्यक नहीं है कि परिव्यय कर प्रतिगामी और आयकर प्रगतिशील हों। यदि हम इस प्रकार की तुलना करना चाहते हैं तो वह तुलना प्रगतिशीलता के समान अंश पर आधारित होनी चाहिए। कुछ समय के लिए यदि बचत के प्रश्न को छोड़ दिया जाए और व्यक्ति पूर्णतया विचारयुक्त हो तथा उन्हें सरकार को समान आय आयकर अथवा परिव्यय कर द्वारा अदा करने का विकल्प दिया जाए तो कोई कारण नहीं कि परिव्यय कर का कम अप्रेरणादायक (या अधिक प्रेरणादायक) प्रभाव होगा। लोग मुद्रा की माग इसीलिए करते हैं कि वे उससे वस्तुएं तथा सेवाएं खरीद सकें। जैसे आयकर के अंतर्गत 'आय प्रभाव' तथा स्थानापन्न प्रभाव होते हैं वैसे ही परिव्यय कर के अंतर्गत होता है। यदि उस वस्तु पर कर लगता है जिसे हम क्रय करना चाहते हैं, तब हम उसे क्रय करने के लिए अधिक श्रम करके अपनी आय को बढा सकते हैं और कर की परवाह नहीं करते हैं। या हम यह सोच लेते हैं कि अधिक प्रयास लाभदायक नहीं है इसलिए कम कार्य करते हैं और अवकाश अधिक ग्रहण करते हैं। परन्तु व्यक्ति सदैव विचारयुक्त नहीं होते। जैसे हम पहले देख चुके हैं कि करदाता आयकर के प्रहार को परिव्यय कर की अपेक्षा अधिक महसूस करता है। ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रभाव वहां अधिक होता है जहां आय प्राप्त कर्ता तथा व्यय कर्ता पृथक-पृथक होते हैं। एक व्यक्ति की उपार्जित आय पर जब कर लगता है तो वह निरोत्साहित होने के कारण अधिक परिश्रम नहीं करना चाहता, परन्तु जब पत्नी उसकी आय को खर्च करती है तब वह परिव्यय कर की कठोरता का अनुभव ही नहीं कर पाता।

परिव्यय कर बचतों को किस प्रकार प्रभावित करते हैं यह एक जटिल प्रश्न है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि परिव्यय कर बचतों को कम निरोत्साहित करते हैं परन्तु पूर्णरूपेण यह नहीं कहा जा सकता कि आयकर की तुलना में परिव्यय

1. C. T Sandford 'Economics of Public Finance', (1969), Pergamon Press, Oxford, p 137.

कर बचतो पर कम प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं, प्रगतिशीलता की दर यदि समान हो तो मनोवैज्ञानिक कारणो से आयकर की तुलना मे परिव्यय कर कार्य करने की प्रेरणा को कम घटाते हैं या यों कहिए कि परिव्यय कर आयकर की तुलना मे कार्य करने की प्रेरणा को अधिक बढ़ाते हैं। कार्य करने की प्रेरणा कम न हो इसके लिए परिव्यय कर का उपयोग बहुधा राजनैतिक कारणो से होता है। राजनैतिक दृष्टि से आयकर की प्रगतिशीलता की अपेक्षा परिव्यय कर की प्रगतिशीलता को घटाना सरल होता है। यही कारण है कि लोकवित्त मे परिव्यय कर का महत्त्व बराबर बना हुआ है।

17

व्यय कर

बहुत समय से किसी भी व्यक्ति के आर्थिक कल्याण का माप उसकी आय से किया जाता रहा है। इसलिए आय को ही उसकी करदान क्षमता का आधार माना गया है। परन्तु शताब्दियों पूर्व से ही इसके विरोध में अनेक तर्क दिए जाते रहे हैं। कराघात की दृष्टि से व्यक्ति की आय की अपेक्षा उसका व्यय श्रेष्ठ आधार है। 17वीं शताब्दी में श्री हब्ज ने इस संबंध में लिखा है, 'कर लगाने में समता और न्याय से आशय समान उपभोग करने वाले व्यक्तियों के धन की समानता से उतना नहीं है जितना कि धन के उस भाग की समानता से है जिसका कि वे उपभोग करते हैं।' वह कौन-सा कारण है जिसकी वजह से उस व्यक्ति पर अधिक कर लगाया जाए जो अधिक परिश्रम करता है और अपने परिश्रम के फल को अपने पास बचाकर उस व्यक्ति की तुलना में थोड़ा उपभोग करता है जो काहिल होने के नाते कम कमाता है, और सारा का सारा इसलिए व्यय कर देता है, क्योंकि वह समझता है कि उसे अन्य व्यक्तियों की तुलना में समाज के धन से और अधिक संरक्षण प्राप्त नहीं हो सकेगा। परन्तु जब कर ऐसी वस्तुओं पर लगाया जाता है जिनका सभी लोग उपभोग करते हैं तब उस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति वस्तु के उस भाग पर समान रूप से कर अदा करता है जिसका कि वह उपयोग करता है। ऐसी स्थिति में कुछ लोगों के विलासितापूर्ण खर्चों द्वारा समाज के धन का दुरुपयोग भी नहीं होता। श्री हब्ज ने इस प्रकार समानता एवं न्याय के आधार पर व्यय के अनुसार करारोपण का समर्थन किया है।

19वीं शताब्दी में ही जान स्टुअर्ट मिल ने भी व्यय कर के पक्ष में तर्क दिए थे और उन्होंने 'आय तथा संपत्ति कर पर नियुक्त (सन् 1831 की) चुनाव समिति के समक्ष व्यय कर का समर्थन किया था। इसके पश्चात, इंग्लैंड में मार्शल, पीगू तथा कॉल्डार ने, संयुक्त राज्य अमरीका में इरविंग फिशर ने, इटली में इनोडी ने प्रत्यक्ष कर के रूप में व्यय कर का समर्थन किया। सैद्धांतिक दृष्टि से व्यय कर के रूप में करारोपण तो उचित ठहराया गया परन्तु प्रशासनिक दृष्टि से उसे क्रियान्वित करने में अनेक कठिनाइयों के उपस्थित होने के कारण उसे छोड़ दिया गया।

प्रो० कोल्डार का विचार

कैंब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो० कोल्डार ने आयकर में विभिन्न कमियों को बताते हुए व्यय कर को एक आदर्श आधार बतलाया।

प्रो० कोल्डार ने इस तर्क को चुनौती दी है कि आयकर करदाता की कर देय क्षमता का सही मानदंड है। उन्होंने बतलाया कि समान आय होने पर भी दो व्यक्तियों की पारिवारिक सदस्य संख्या, सम्पत्ति तथा आय की नियमितता आदि में अंतर होने के कारण करदेय क्षमता पृथक्-पृथक् हो सकती है। साधारणतया आय प्रवाह के रूप में होती है अर्थात् अमुक राशि प्रति वर्ष के अनुसार प्राप्त होती है। परंतु मनुष्य की व्यय शक्ति केवल वार्षिक आय की प्राप्ति पर ही निर्भर नहीं करती अपितु उसके स्टाक, सम्पत्ति आदि के रूप में वेतन, मजदूरी तथा आकस्मिक प्राप्तियों के योग पर निर्भर करती है। इसलिए इन तीनों के योग से निर्मित व्यय राशि को केवल आय के आधार पर मापना सर्वथा असंगत होगा। इसके अतिरिक्त प्रगतिशील आयकर के अंतर्गत अस्थाई या परिवर्तनशील आय वाले व्यक्ति पर उतनी ही स्थाई आय प्राप्त करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक भार पड़ता है। आयकर के द्वारा पूंजीगत लाभों पर भी ठीक प्रकार से कर नहीं लगाया जा सकता। वास्तव में कर का आधार वसूल की गई आय न होकर उपार्जित आय ही होनी चाहिए। परंतु इसमें कठिनाई यह है कि उपार्जित आय का सही अनुमान लगाना एक कठिन कार्य होता है।

उपरोक्त कारणों से प्रो० कोल्डार ने करारोपण के आय आधार में कमियां बताते हुए उसका प्रतिस्थापन व्यय-आधार से करने का समर्थन किया है।

व्यय कर के पक्ष में तर्क

(1) व्यय करदेय क्षमता का श्रेष्ठ आधार है - किसी भी मनुष्य की आय विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होती है। सभी स्रोतों से प्राप्त आय को एक सामान्य इकाई में परिवर्तित नहीं किया जा सकता किंतु यदि हम वास्तविक व्यय को कर-आधार स्वीकार कर लें तो विभिन्न स्रोतों से प्राप्त आय स्वयं ही प्राप्तकर्ता द्वारा अपने व्यय के द्वारा प्रगट कर दी जाती है। प्रो० कोल्डार का मतव्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति व विभिन्न प्रकार की आय आदि को दृष्टि में रखकर ही व्यय करता है। अतः ऐसी स्थिति में उसके द्वारा किया गया कुल व्यय उसकी कर देय क्षमता के आधार के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

(2) न्याय एवं समता का आधार - न्याय एवं समता के दृष्टिकोण से व्यय कर के औचित्य का समर्थन किया जाता है। प्रो० कोल्डार का यह मत है, 'व्यय कर द्वारा लोगों पर इस आधार पर कर नहीं लगाया जाता कि वे सामूहिक कोष में अपना कितना अंशदान देते हैं अपितु कर इस आधार पर लगाया जाता है कि वे उस कोष से कितना धन बाहर निकालते हैं।' कोई भी व्यक्ति अपने उद्देश्यों की

पूर्ति के लिए शेष समाज पर केवल व्यय द्वारा ही बोझ डालता है अपनी कमाई अथवा बचत द्वारा नहीं। इसलिए व्यय कर के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि व्यक्ति पर कर लगने का आधार सामूहिक कोष में उसका योगदान न होकर उसमें से प्राप्त मात्रा ही होनी चाहिए। इस प्रकार का व्यय व्यक्तियों द्वारा विलासिता एवं आरामदेह वस्तुओं पर किया जाने वाला अपव्यय ही है जिसके द्वारा समाज को ठगा जाता है। कार्य करने वाले, बचत करने वाले या जोखिम उठाने वाले व्यक्तियों की प्रशंसनीय क्रियाओं के ऊपर इस कर का बोझ कदापि नहीं थोपा जा सकता। इसलिए व्यय कर जो अपव्ययपूर्ण उपभोग को कम करने का प्रयास करता है, सामाजिक दृष्टिकोण से अधिक न्यायोचित समझा जाता है।

(3) बचत तथा पूंजी निर्माण में सहायक है : व्यय कर के पक्ष में एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि यह कर केवल उपभोग पर ही पड़ता है बचत पर नहीं। इसलिए यह कर बचतों तथा पूंजी-निर्माण को प्रोत्साहित करता है। इसके विपरीत आयकर बचत पर दोहरा कर होता है। परन्तु व्यय कर के अंतर्गत आय के उस भाग को, जो कि बचत के रूप में रख लिया गया है, इस कर से मुक्त कर दिया जाता है। इससे उन लोगों के स्वामित्व में आय की वृद्धि हो जाती है जो बचत करते हैं, साथ ही उन्हें बचत करने की प्रेरणा भी मिलती है। अतः आर्थिक विकास के लिए जहां बचत की वृद्धि आवश्यक है वहां व्यय कर उपयोगी सिद्ध हो सकता है। प्रो० कोल्डार ने इसीलिए इसे भारत के लिए बहुत उपयोगी बतलाया है।

(4) मुद्रास्फीति को रोकने में सहायक : व्यय के कराधान के पक्ष में यह भी तर्क दिया जाता है कि यह कर मुद्रास्फीति को रोकने में आयकर की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण होता है। मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के लिए उपभोग को कम तथा बचत को बढ़ाने की आवश्यकता होती है और हम यह भली-भांति जानते हैं कि यह कर लोगों के खर्चों में कटौती कराता है और बचतों को प्रोत्साहित करता है जबकि आयकर उपभोग व बचत दोनों पर लगाया जाता है। फिर भी इस तर्क का महत्त्व केवल स्फीति काल में ही होता है।

(5) व्यय कर की यथार्थ परिभाषा देना सम्भव : व्यय कर का समर्थन इस आधार पर भी किया जाता है कि यह आयकर की तुलना में दो कारणों से अधिक श्रेष्ठ है। प्रथम, इसलिए कि करारोपण के आधार के रूप में आय की तुलना में व्यय की परिभाषा अधिक निश्चित रूप से दी जा सकती है। द्वितीय इसलिए कि आय की अपेक्षा व्यय करदेय क्षमता का अधिक अच्छा सूचक है। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होने वाली आमदनियों की जहां सही तुलना नहीं की जा सकती; वहां सभी व्ययों में एक ऐसे मापदंड के रूप में समता स्थापित की जाती है जिसके अंतर्गत वे सभी व्यय रहन-सहन के वास्तविक स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

व्यय कर के अतर्गत यह ज्ञात करना भी आवश्यक नहीं है कि आय का कितना भाग अर्जित तथा अनर्जित, स्थाई अथवा अस्थाई है।

(6) उपभोग की असमानता को कम करने मे प्रभावशाली : व्यय कर के पक्ष मे यह तर्क भी दिया जाता है कि यह आयकर की तुलना मे उपभोग सबधी असमानता को कम करने का एक अधिक महत्वपूर्ण साधन है। पूजीगत लाभ तथा अनियमित स्रोतो से प्राप्त आय एक बार आयकरो से बच सकती है परतु व्यय कर के अतर्गत उस सीमा तक पकड म आ जाते हैं जहा तक वे व्यय करते हैं। यदि किसी समय सचित पूजी म स अधिव्यय किया जाए तो वह भी व्यय कर की चपेट मे आने के कारण व्यय कर से मुक्त नही हो सकता किंतु आयकर से मुक्त हो सकता है। प्रो० ए० आर० प्रेस्ट का विचार है, 'यदि हम दोनो ही करो (आयकर तथा व्यय कर) को उपभोग सबधी समानता लाने वाले एक उपाय के रूप म तोलें तो हम यह पाएगे कि व्यय कर मे, चाह हम उसे पसद करते हो या नही, ऐसी ही सभावनाए विद्यमान हैं जो एक ही समय मे व्यक्तियो अथवा व्यक्तियो के समूहों के मध्य और साथ ही विभिन्न समया म भी, उपभोग सबधी समानताए अधिक मात्रा म उत्पन्न करते हैं।'[1]

(7) विनियोग तथा कार्य की प्रेरणा पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पडता : व्यय कर को विनियोग तथा कार्य की प्रेरणा की दृष्टि मे भी आयकर की अपेक्षा *अधिक श्रेष्ठ माना जाता है। आयकर विनियोगो तथा प्रेरणाओ पर दो रूपो मे* प्रतिकूल प्रभाव डालता है। प्रथम, यह विनियोग कार्यों के लिए उपलब्ध होने वाली धनराशियो का एक बडा भाग छीन लेता है। द्वितीय, यह विनियोगो से होने वाली विशुद्ध आय को कम कर देता है और इस प्रकार लोगा म विनियोग करने की प्रेरणा को निर्बल कर देता है।

व्यय कर के अतर्गत बचतो पर कोई कर नही लगाया जाता इसलिए उद्यमी विनियोग के लिए बडी मात्रा मे धनराशिया एकत्रित करने मे समर्थ हो जाते हैं और विनियोग करने के लिए भी अधिक उत्सुक रहते हैं क्योकि वे जानते हैं कि विनियोग से उत्पन्न आय को भी यदि उपभोग करने से बचा लिया जाए तो वह *भी कर से मुक्त रहेगी। जहा आयकर कार्य की प्रेरणाओ को कम करते हैं वहा* आयकर का व्यय कर से प्रतिस्थापन द्वारा बचत को कर से मुक्त कर के प्रतिकूल प्रेरणादायक प्रभावो से बचाया जा सकता है।

व्यय कर के विपक्ष मे तर्क

अनेक अर्थशास्त्रियो ने *व्यय कर को कराधान के आधार के रूप मे प्रयुक्त* करने के विपक्ष मे तर्क प्रस्तुत किए।

1. A. R. Prest · 'Public Finance', p 130

(1) व्यय ही केवल आर्थिक समानता अथवा असमानता के नापने का एकमात्र कसौटी नहीं : आलोचकों का मत है कि व्यक्तियों के बीच आर्थिक विषमता को नापने का एकमात्र आधार व्यय ही नहीं है। इसके अतिरिक्त और भी अन्य आधार हो सकते हैं, जैसे आय, उपभोग, सम्पत्ति तथा आय के परिवर्तन की दर। इसलिए आर्थिक समानता अथवा असमानता को नापने के लिए उपभोग अथवा व्यय-शक्ति एकमात्र कसौटी नहीं है। इनके अनुसार व्यक्तिगत उपभोग एक ऐसी विचारधारा है जिसका स्पष्टीकरण सरलता से नहीं किया जा सकता। इसका प्रथम कारण यह है कि व्यक्तिगत उपभोग के खर्चों और उत्पादन सर्वंधी खर्चों के मध्य कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती। प्रथम प्रकार के व्ययों की गणना बहुत ही सरलता से दूसरे प्रकार के व्ययों में भी जा सकती है। उदाहरण के लिए कोई भी मनोरंजन के लिए की गई यात्रा व्यावसायिक यात्रा के रूप में दिखाई जा सकती है। द्वितीय, उपभोग तथा बचत के बीच भी कोई स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता। एक मकान अथवा कार की खरीदारी उपभोग की क्रिया के रूप में दिखाई जा सकती है तथा बचत के रूप में भी इसलिए कोई कारण नहीं कि व्यय-आधार को आय-आधार की तुलना में श्रेष्ठ माना जाएगा। इतना ही लोग अवश्य मानते हैं कि सैद्धांतिक दृष्टि से व्यय कर एक अधिक प्रभावशाली साधन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

(2) व्यय कर निर्धनों पर अधिक भार डालता है : व्यय कर के विपक्ष में दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि व्यय कर का भार धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक पड़ेगा क्योंकि व्यक्तियों की आय ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है उपभोग पर होने वाला आय का प्रतिशत घटता जाता है। परन्तु यह दोष उतना नहीं जितना कि ऊपरी रूप में दिखाई देता है। प्रो० कॉल्डार का विचार है कि इस दोष को प्रगामी-कर लगाकर दूर किया जा सकता है।

(3) व्यय कर लोगों की स्वभाव संबंधी विभिन्नताओं को दृष्टि में नहीं रखता : व्यय कर के विपक्ष में यह तर्क भी दिया जाता है कि यह व्यक्तियों की रुचियों तथा उनके स्वभावों को दृष्टि में रखे बिना प्रत्येक के साथ समान व्यवहार करता है। उदाहरण के लिए दो ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं जिनकी आय तथा आर्थिक परिस्थितियां समान हों। इनमें से वह व्यक्ति जो कम खर्चीला है व्यय कर का हल्का भार तथा अधिक व्यय करने वाला व्यय कर का अधिक भार सहन करेगा किन्तु आयकर के अंतर्गत इन दोनों से समान व्यवहार होगा। यह कर कंजूस व्यक्ति के पक्ष में होता है। वास्तव में किसी भी कर पद्धति में व्यक्तिगत रुचियों एवं विभिन्नताओं को दृष्टिगत रखना एक कठिन कार्य है। सच तो यह है कि अधिकांश व्यक्तियों के व्यय करने की रीति तथा उसका आकार एक जैसा ही होता है तथा जिनका निर्धारण उनकी सामाजिक एवं अन्य परिस्थितियों द्वारा होता है।

(4) **व्यय कर करदाताओं के मध्य उनकी आवश्यकताओं की विभिन्नता के अनुसार अंतर नहीं करता** व्यय कर को कराधान के आधार के रूप म अस्वीकार करते हुए विपक्षी वर्ग का यह तर्क है कि आयकर मे ऐसी व्यवस्था है जिसके अतगत परिवारो की आय के अनुसार छूटें प्रदान की जाती हैं । कुछ देशो म तो शिक्षा तथा चिकित्सा सबधी खर्चों को कर से मुक्त करने की उचित व्यवस्था है। इन आलोचको का विचार है कि यदि कर लगाने का आधार आय से बदल कर व्यय स्वीकार कर लिया जाए तो स्थिति बिगड़ जाएगी। बड़े परिवार वाले व्यक्ति को अधिक कर देना पड़ेगा। ऐसे व्यक्ति को दो प्रकार से हानि उठानी होगी। पहले प्रत्यक्ष रूप मे जब यह परिवार के आकार बड़ा होने के कारण अतिरिक्त व्यय करेगा दूसरे परोक्ष रूप मे जब उसके अतिरिक्त खर्चे पर व्यय कर लगाया जाएगा इसलिए आय-आधार की तुलना मे व्यय-आधार मे परिवारो की आवश्यकता नुसार छूट देने की और भी अधिक आवश्यकता है।

प्रो० कोल्डार ने इस तर्क का उत्तर देते हुए कहा है कि किसी अयोग्यता अथवा दुर्घटना आदि के कारण उत्पन्न आवश्यकताओं के अनुसार छूट की व्यवस्था तथा परिवार के आकारानुसार व्यय कर मे विशेष व्यवस्था की सुविधा प्रदान करना सैद्धांतिक रूप से असभव नही है।

(5) **व्यय मे समय समय पर होने वाले परिवर्तनों की समस्या को व्यय कर हल करने मे असमर्थ** व्यय कर की एक अन्य आलोचना इसलिए भी की जाती है कि यह व्ययो के उतार चढ़ावो के साथ जो विशेष रूप से कार अथवा फर्नीचर इत्यादि टिकाऊ वस्तुओ की सामयिक खरीदारी म करने पड़ते हैं न्यायोचित व्यव हार नही करता। यदि व्यय कर की आरोही दरें विभिन्न वर्षों के लिए समान रूप से लागू की गई तो करदाता को उस वर्ष व्यय कर का अधिक भार सहन करना पड़ेगा जिस वर्ष उसने टिकाऊ वस्तुएं खरीदी हैं जबकि वह उनके लाभ अनेकभावी वर्षों तक प्राप्त करता रहेगा। परंतु इस कठिनाई का हल असभव नहीं है। प्रयास करने पर एक ऐसी औसत निकालने की पद्धति खोजी जा सकती है जिसके द्वारा कर भार को उन वर्षों म फैलाया जा सकता है जिनमे क्रय की गई वस्तुओ के लाभ प्राप्त होने की आशा है वस्तुत समय समय पर आय म होने वाले परिवर्तनो की समस्या को आयकर के अंतर्गत हल करना कठिन है परंतु व्यय कर के अंतर्गत इनसे आसानी से निपटा जा सकता है।

(6) **व्यय कर की प्रशासनिक कठिनाइयां** व्यय कर प्रशासनिक दृष्टिकोण से व्यावहारिक एव संभाव्य नही है। आयकर की अपेक्षा व्यय कर अधिक जटिल है। विपक्षी वर्ग का यह विचार है कि करदाता को अपने व्यय का विवरण पत्र तैयार करने मे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा साथ ही सरकार को भी उसकी जांच पड़ताल करने म वैसी ही कठिनाइयो से जूझना पड़ेगा। परंतु यह

समस्या ऐसी नहीं है जिसको हल न किया जा सके । इस संदर्भ में एक राजकोषीय विशेषज्ञ केनेथ ई० पूल ने लिखा है, 'प्रशासनिक दृष्टिकोण से यह निष्कर्ष नहीं प्रतीत होता है कि व्यय कर ऐसी कठिनाइयां उत्पन्न नहीं करता जिनको दूर न किया जा सके । यदि कोई सबसे बड़ी समस्या उत्पन्न हो सकती है तो वह यह है कि व्यय के विवरण पत्रों की पर्याप्त एवं पूर्ण जांच कैसे की जाए, क्योंकि एक ओर जहां करदाताओं की संख्या अधिक है वहां जांच अधिकारियों व कर्मचारियों की भारी कमी है । अतः म यह भी कहा जा सकता है कि प्रशासन संबंधी अधिकांश बातें तथा कठिनाइयां, जिनके कारण व्यय कर व्यावहारिक एवं कष्टदायक प्रतीत होता है, आयकर म भी वैसी ही परेशानियां उत्पन्न करता है ।'[1]

(7) व्यय कर अवसाद काल में हानिकारक सिद्ध होता है : अवसाद काल में व्यय कर अवसाद की क्रिया को और भी बनाता है अतः इस दृष्टि से व्यय कर भार कैसे तो उन व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है जो अपनी आय के बड़े-बड़े भाग खर्च करते हैं परंतु यह भी त्रुटिपूर्ण नहीं कि यह कर निश्चित रूप से लोगों के उपभोग को घटाने के लिए प्रेरित करता है । उपभोग की कमी के कारण विनियोग के अवसर भी घटने लगते हैं । कुछ अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार व्यय कर के विपक्ष में यह सबसे महत्वपूर्ण तर्क है ।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि न्याय, प्रेरणा तथा कुशलता की दृष्टि से आयकर की अपेक्षा व्यय कर उत्तम है । परंतु हमें यह स्मरण करना चाहिए कि विभिन्न देशों को आयकर को कराधान के रूप में प्रयुक्त करने में एक लंबे अरसे का अनुभव प्राप्त है जबकि व्यय कर के प्रशासन का ऐसा कोई अनुभव प्राप्त नहीं है । अतः उचित यही होगा कि व्यय कर को आयकर के अनुपूरक के रूप में पूर्ण सावधानी से लगाया जाए जिससे ऊंचे कोष्ठकों व केवल थोड़े से करदाता ही प्रभावित हों तदोपरांत जैसे-जैसे अनुभव प्राप्त होता जाए आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन करके परिस्थितियों के अनुकूल बना लिया जाए ।

व्यय कर का अल्प विकसित देशों में महत्व

अल्प विकसित देशों में मुख्य समस्या आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने की होती है । आर्थिक विकास की योजनाओं को पूरा करने के लिए अर्थव्यवस्था में बचत तथा विनियोग की दर को बढ़ाना आवश्यक होता है । इस दृष्टि से व्यय कर अल्प विकसित देशों के लिए अधिक महत्व रखता है ।

इसमें कोई विवाद नहीं है कि आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए कुल व्यय में विनियोग व्यय का अनुपात अपेक्षाकृत ऊंचा हो (केवल राशि ही ऊंची न हो) अर्थात् राष्ट्रीय आय में बचत का अनुपात अपेक्षाकृत ऊंचा हो । ऐसी अति-

1. American Economic Review, March, 1943

रिक्त बचत के लिए साधन चालू आय के संदर्भ में उपभोग को कम करके ही प्राप्त किए जा सकते हैं। अल्प विकसित देशों में विशाल जन समुदाय का उपभोग स्तर न्यूनतम स्तर के इतने समीप रहता है कि आर्थिक विकास की अपेक्षाकृत ऊंची दर को बनाए रखने के लिए धनिक वर्ग के उपभोग की प्रवृत्ति में कमी लाना आवश्यक हो जाता है। सच पूछा जाए तो विलासिताओं का उपभोग ही राष्ट्रीय व्यय का वह भाग है जिसमें पूजी सचय की अपेक्षाकृत ऊंची दर के लिए साधन जुटाने हेतु कमी की जा सकती है। व्यक्तिगत खर्चों पर लगाया जाने वाला क्रमिक आरोही व्यय कर इस लक्ष्य को प्राप्त करने में निसदेह एक आदर्श साधन सिद्ध हो सकता है।

अल्प विकसित देशों में साधनों को जुटाने के लिए यदि आयकर की सहायता ली जाती है तो वह विनियोग करने की प्रेरणाओं पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, ऐसा व्यय कर के अंतर्गत नहीं होता। जैसा कि हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि आयकर विनियोग कार्यों के लिए उपलब्ध होने वाली राशि को खीच लेता है तथा विनियोगों से प्राप्त होने वाले विशुद्ध प्रतिफलों को कम कर देता है। इस प्रकार आयकर विनियोग की प्रेरणा को निर्बल कर देता है। परंतु व्यय कर को कराधान के आधार के रूप में प्रयुक्त करने से बचतें करारोपित नहीं होतीं। अत उद्यमियों में बचत तथा विनियोग करने की प्रेरणा अधिक बढ जाती है। ऐसे देशों म विकास हेतु पर्याप्त धनराशि आयकर द्वारा इसलिए भी एकत्र नहीं की जा सकती क्योंकि इस कराधानमें कर बचन की सभावनाए अधिक रहती हैं। आयकर को जितना आरोही बनाया जाता है करो से बचने का क्षेत्र उतना ही व्यापक हो जाता है क्योंकि व्यक्ति आय का सही विवरण प्रस्तुत नहीं करते। व्यय कर इन कमियों को दूर करने मे अपना योगदान दे सकता है। आरोही कराधान को यदि प्रभावशाली तथा निष्पक्ष बनाना है तो आय-आधार के द्वारा उसे एक सीमा के उपरात आगे नहीं बढाया जा सकता किंतु व्यय-आधार मे ऐसी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

एक अर्धविकसित अर्थव्यवस्था मे सरकारी व्यय के बढ जाने के कारण भयकर मुद्रास्फीति उत्पन्न हो जाती है और वस्तुओं के मूल्य ऊचे हो जाते हैं। ऐसा क्रयशक्ति के बढ जाने के कारण होता है। ऐसी स्थिति मे व्यय कर की सहायता से उपभोग मे कटौती कराई जा सकती है। ऐसा करने से विनियोग पर भी कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।

वित्तीय साधनों को एकत्र करने में यदि सपत्ति कर का सहयोग लिया जाए तो वह बचत कम करता है परंतु व्यय को प्रोत्साहित करता है। दूसरी ओर भारी सपत्ति कर सचित किए गए धन को भी खर्च करने की प्रेरणा को बढ़ाता है। यदि इन खर्चों को सीमित नहीं किया गया तो वित्तीय साधनों को जुटाने का उद्देश्य

प्रभावहीन हो जाएगा। व्यय कर ही एकमात्र ऐसा साधन है जो इन खर्चों को नियमित कर सकता है। इसलिए अर्धविकसित देशों में व्यय कर लागू करने का जोरदार समर्थन किया जाता है।

अल्प विकसित देशों में व्यय कर की सीमित उपयुक्तता

अल्प विकसित देशों के संदर्भ में कुछ अर्थशास्त्रियों ने व्यय कर की उपयुक्तता की सीमा का वर्णन करते कुछ तर्क दिए हैं। ये तर्क यद्यपि भारत के संदर्भ में प्रस्तुत किए गए हैं परंतु अर्धविकसित देशों में भी लागू होते हैं।

(1) आय के वर्तमान करों के होते हुए भी व्यय कर लागू करना व्यावहारिक नहीं होगा क्योंकि यह कराधान को बहुत कठोर बना देता है।

(2) आय पर कराधान के बदले में व्यय पर कराधान लागू करने का आशय यह होगा कि बचतों को कर से छूट मिल जाएगी। फलत धनिकों को संचय करने की काफी प्रेरणा मिलेगी और संपत्ति का केंद्रीयकरण कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में आ जाएगा। यदि संपत्ति के ऐसे केंद्रीयकरण को रोकने के लिए संपत्ति कर का सहारा लिया जाता है तो, बदले में, बचत को प्रोत्साहित करने के संबंध में व्यय कर के लाभ समाप्त हो जाएंगे।

(3) आयकर की तुलना में व्यय कर प्रशासकीय दृष्टि से अधिक जटिल होता है।

(4) अर्धविकसित देशों में कृषि की प्रधानता होने के कारण तथा कृषकों की कम आय होने के कारण कृषिगत आय में से किया गया व्यय, व्यय कर से मुक्त रखा जाएगा। इसलिए लोगों को इस बात के लिए प्रोत्साहन मिलेगा कि वे अपनी आय का अधिकतम भाग अपनी कृषिगत आय में से किया हुआ दर्शाएं।

निष्कर्ष :

अल्प विकसित देशों के लिए व्यय कर की व्यवहारिकता अथवा अव्यवहारिकता के संबंध में जो भी तर्क प्रस्तुत किए गए हैं यदि उन सबको कुछ समय के ध्यान-मुक्त कर दिया जाए तिस पर भी एक ऐसी बात और है जो व्यय कर के लागू करने का दृढ़ता से समर्थन करती है। वह यह है कि आरोही व्यक्तिगत व्यय कर धनिकों के व्यक्तिगत व्यय में मितव्ययता उत्पन्न करने वाला एक शक्तिशाली अस्त्र है। चूंकि पूंजी वृद्धि का कार्य उस निर्धन वर्ग के ऊपर नहीं सौंपा जा सकता जो पहले से ही न्यूनतम स्तर पर अपना जीवन निर्वाह कर रहा है अतः यह अनिवार्य हो जाता है कि आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए धनी लोगों के उपभोग में कटौती कराई जाए। कॉल्डार के शब्दों में, 'विलासितापूर्ण उपभोग ही वास्तव में राष्ट्रीय आय का एकमात्र ऐसा भाग है जिसे पूंजी-संचय की दर को बढ़ाने वाले साधनों की प्राप्ति के लिए निचोड़ा जा सकता है और व्यक्तिगत उपभोग पर क्रमवर्धी आरोही कर ही एक ऐसा आदर्श यंत्र है जिससे इस लक्ष्य की

प्राप्ति की जा सकती है।'[1] यदि व्यक्तिगत व्यय कर तथा सपत्ति कर को साथ-साथ लागू किया जाए तो यह आवश्यक नही है कि वे एक दूसरे के विरोधी दिशा मे कार्य करेंगे। ऐसी भी सभावना कम होगी कि एक कर का श्रेष्ठ प्रभाव दूसरे के द्वारा नष्ट कर दिया जाए। व्यय कर के समर्थक कोल्डार ने अल्प विकसित देशों के सदर्भ मे कहा, 'इन दोनो करो के मिश्रण से बजाए इसके कि ये दोनो एक दूसरे के अच्छे प्रभावो को नष्ट करें, सभावना इस बात की है कि ये सपत्ति के अधिक समान वितरण के दीर्घकालीन लक्ष्य का बलिदान किए बिना ही धनाढ्यो के जीवन स्तरो को कारगर ढग से सीमित करेंगे।'[2]

भारत के सदर्भ मे व्यय कर का अध्ययन

व्यय कर के इस अध्ययन का उद्देश्य उन प्रस्तावो को समझना है और साथ ही कुछ ऐसी आपत्तियो पर विचार करना है जो भारत मे वैयक्तिक व्यय कर के लागू करने के विषय मे उठाई गई हैं। हमने व्यक्तिगत व्यय कर के पक्ष मे न्याय और आर्थिक आवश्यकता के आधार पर प्रो० कोल्डार के द्वारा दिए गए तर्कों की विस्तार से चर्चा की है। अब उनका यहा दोहराना आवश्यक नहीं है।

हम भारत मे बचतो को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता के कोल्डार के तर्क से सहमत हैं, किंतु, इस बात को स्वीकार नही करते कि भारत की परिस्थितियो मे व्यय कर बचत को प्रोत्साहित करने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। इस सबध मे डा० राजा जे० चेल्लैया ने कहा है कि प्रशासनिक जटिलता इस कर के लागू करने के मार्ग मे एक बहुत बड़ी कठिनाई है। इसके अतिरिक्त व्यय कर सब प्रकार की बचतो का पक्ष लेता है किंतु भारत जैसे अर्धविकसित देशों में केवल बचत प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नही हैं, अपितु इस बचत को उत्पादक विनियोगों मे लगाना अधिक महत्त्वपूर्ण है और व्यय कर यह कार्य नही करता।

डा० चेल्लैया का सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि कोल्डार का आयकर को व्यय शक्ति का सही मापक न बताने का तर्क कोल्डार द्वारा प्रतिपादित व्यय कर पर भी लागू होता है। क्योकि व्यय कर प्राप्त व्यय शक्ति पर आधारित न होकर प्रयुक्त व्यय शक्ति पर निर्भर होता है। इन कारणो से हम व्यय कर को ही कराधान के आधार के रूप म स्वीकार नही कर सकते। वास्तव मे प्रो० कोल्डार ने भी भारत के लिए व्यय कर का ही सुझाव न देकर आयकर के आशिक प्रतिस्थापन के रूप मे कुछ छूट की सीमा व आरोही दर के साथ इसके उपयोग पर बल दिया था।

भारत म व्यय कर लागू करने का प्रस्ताव प्रो० कोल्डार ने 1956 मे प्रस्तुत किया। फलत श्री कृष्णमाचारी ने 1957 के बजट मे इसे ल ~ ०र दिया था।

1 N Kaldor 'Indian Tax Reform', p 42
2. N Kaldor Ibid p 40

परन्तु 6 वर्ष बाद श्री मोरारजी देसाई ने इसे समाप्त कर दिया। व्यय कर को समाप्त करते हुए उन्होंने कहा, '1957 में जब इसे जारी किया गया था, तो इस बात को समझ लिया गया था कि इसे ऐतिहासिक अनुभव का समर्थन प्राप्त नहीं है। फिर भी यह आशा की गई थी कि आडंबरपूर्ण व्यय को नियंत्रित करने और बचत को प्रोत्साहन देने में यह कर शक्तिशाली साधन का काम देगा। यद्यपि यह सब उद्देश्य अच्छे हैं किंतु अनुभव से पता चला है कि व्यय कर से इस दिशा में कोई लाभ नहीं हुआ। इस स्रोत से बहुत ही कम आय प्राप्त हुई है। इस कर के आधारभूत उद्देश्यों को किसी और प्रकार से प्राप्त किया जाना चाहिए।'

परन्तु सन् 1964 में श्री कृष्णमाचारी ने इस कर को पुनः लागू कर दिया। इस संबंध में उन्होंने तर्क देते हुए कहा है, 'मृत संपत्ति शुल्क और उपहार कर की दरें बढ़ाने से जो परिस्थितियां पैदा हो रही हैं उसमें और धनों को निरुत्साहित करने के उद्देश्य से, मेरे विचार से व्यय कर को फिर से जारी करना आवश्यक है। मैंने उन परिस्थितियों और कठिनाइयों के संबंध में अच्छी तरह से विचार किया है जिनके कारण मेरे पूर्ववर्ती को इस कर की उगाही स्थगित करनी पड़ी। मुझे लगता है कि यह कठिनाइयां बहुत सी छूटों और कर की ऊंची दर के कारण पैदा हुई थीं। इसके अतिरिक्त अधिनियम की आदेशात्मक धारा की शब्दावली बहुत ही त्रुटिपूर्ण थी जिससे कर की कार्यवाही का क्षेत्र सीमित हो गया था। इस खंड का प्रारूप अब नये सिरे से तैयार किया गया है ताकि यह कर, इस बात की परवाह किए बिना कि व्यय के लिए रुपया कहां से आया, 36000 रुपये से अधिक के सभी वास्तविक व्ययों पर लागू किया जा सके।' वित्तमंत्री ने यह आवश्यक समझा कि आयकर की दरों को गिराकर व्यय कर की दरों में परिवर्तन करके दोनों में संगति उत्पन्न की जाए। अतः उन्होंने छूटों और अपवादों को कम करके 12000 रुपये के अधिक खंडों के लिए दरों को 5 प्रतिशत से बढ़ा कर 20 प्रतिशत कर दिया। परन्तु इस कर से बहुत कम आय प्राप्त होने के कारण तथा करदाताओं को अधिक कठिनाइयों के अनुभव होने के कारण श्री चौधरी ने अपने इस कर को फिर समाप्त कर दिया।

18

भारत में कराधान का ढांचा

जब कर-नीति का मुख्य उद्देश्य निजी और सार्वजनिक विनियोग को प्रोत्साहन देना होता है तो कर के ढाचे के पाश्चात्य अर्थव्यवस्थाओ के लिए विकसित किए गए परपरागत नियम अविकसित देशो मे पूर्णतया लागू नही हो सकते। श्रीमती हिक्स ने इस सबध मे कहा है, 'यह तो स्वाभाविक है कि विकास की आवश्यकताओ को पूरा करने वाले कर के ढाचे की रूपरेखा एक परपरागत अल्प विकसित देश मे हमारे जैसी काफी आधुनिक अर्थव्यवस्था की अपेक्षा बहुत भिन्न होगी।'[1] भारतीय कर जाच आयोग ने उन उद्देश्यो का उल्लेख किया है जिन पर भारत जैसे देश के लिए कर ढाचे को आधारित करना चाहिए। ये उद्देश्य इस प्रकार है (अ) वितरण मे सुधार, (आ) सार्वजनिक क्षेत्र के विकास को बढावा, (इ) निजी क्षेत्र के उत्पादन मे वृद्धि, और (ई) अर्थव्यवस्था मे स्थिरता का बढावा। ये उद्देश्य अपने आप मे न केवल अपवाद रहित हैं अपितु ये कई प्रकार से क्रमबद्ध आर्थिक विकास व प्रगति की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण स्थान भी रखते हैं।

परतु हमारे दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि कराधान का सर्वोत्तम ढाचा इन उद्देश्यो को प्राप्त करने मे कहा तक सहायक सिद्ध हो सकता है। कुछ उद्देश्य पारस्परिक विरोधी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, एक ओर अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक समानता की ओर बढने और दूसरी तरफ उद्यम को दी जाने वाली प्रेरणाओ को बनाए रखने एव उनके विकास के बीच अतर्विरोध हो सकता है। ऐसी स्थिति म प्रश्न उठता है कि कराधान की सरचना मे विभिन्न उद्देश्यो का सापेक्षिक महत्त्व क्या हो ? उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि विभिन्न उद्देश्यो के बीच प्राथमिकताओ के निर्धारण मे अर्थव्यवस्था की मूलभूत आवश्यकताए, उसके विकास की अवस्था और कुछ सीमा तक प्रचलित आर्थिक स्थिति सभी तत्त्व प्रविष्ट होते हैं।

अप्रत्यक्ष करो पर अधिक निर्भरता

हमारी अर्थव्यवस्था की कुछ विचित्रताओ के कारण बचतो को प्रोत्साहित

1 Ursula K Hicks 'Direct Taxation and Economic Growth', Oxford Economic Papers, Vol VIII, No 3, October 1956, p 303

करने के लिए अप्रत्यक्ष कर की सहायता ली जाती है क्योंकि योजनाओं को कार्यान्वित करने के कारण साधारण व्यक्ति की आय में वृद्धि हुई है। अप्रत्यक्ष करारोपण इन लोगों की बचतों को बढ़ाने में सहायक होता है। इन्हीं बचतों का उपयोग आगामी विकास में होता है। यह ही नहीं, निर्धन वर्ग पर सार्वजनिक व्यय भी पहले की अपेक्षा अधिक होता है जो उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार लाता है। इसलिए आय तथा व्यय को दृष्टि में रखते हुए न्याय को व्यवहार में लाने का प्रयत्न किया गया है।

समाजवादी सिद्धांत पर आधारित कराधान

यह सच है कि आय व धन की असमानताएं अल्प विकसित अर्थव्यवस्था की उल्लेखनीय विशेषताएं मानी जाती हैं। असमानता के कुछ मूलभूत स्रोतों को एक निश्चित उद्देश्य से धीरे-धीरे मिलाकर ही समानता की ओर चलना होता है। कर प्रणाली इस तथ्य को स्वीकार करके इस प्रक्रिया में निश्चित रूप से सहायता दे सकती है। भारत ने समाजवादी समाज की स्थापना, धन और आय के वितरण की असमानता को दूर करने पर बल देती है। भारतीय सरकार प्रारम्भ से ही कराधान के ढाँचे को इस रूप से ढालती रही है कि वह समाजवादी समाज की स्थापना के लक्ष्य की पूर्ति में सहायक बने। 1971-72 के बजट में जो कर प्रस्ताव पेश किए गए हैं वे उन लोगों को उपयुक्त प्रतीत नहीं हो सकते हैं जो साधारण लोगों की तुलना में विलासिता का जीवन व्यतीत करते आए हैं तथा जिनकी आय औसत व्यक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक है। 1956 के नये कर प्रस्तावों के द्वारा भी इस बात का प्रयत्न किया गया है कि धन का केंद्रीकरण कम हो और लोगों के मध्य विद्यमान आर्थिक विषमता घटे। ऊंचे कराधान से ऊंची आय वालों की काम करने की इच्छा पर जो प्रेरणा के प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है उसको प्रायः बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाता है।

कर देय सामर्थ्य के अनुसार कराधान का सिद्धांत

अर्थशास्त्र के अन्य क्षेत्रों की भांति इस क्षेत्र में भी विकसित अर्थव्यवस्थाओं के लिए उपयुक्त होने वाली धारणाएं कभी-कभी अल्प विकसित अर्थव्यवस्थाओं पर भी लागू कर दी जाती हैं। ऐसी ही एक धारणा कर देय सामर्थ्य के अनुसार कर लगाने की है। प्रो० आर० एन० भार्गव ने निष्कर्ष के रूप में कहा है, 'कर ढांचा मूलतः कर देय सामर्थ्य सिद्धांत पर आधारित होना चाहिए।'[1] 'आय और धन पर भारी आरोही कराधान के किसी भी प्रस्ताव के समर्थन में भी इस धारणा का सुगमतापूर्वक प्रयोग किया गया है।'[2] उदाहरण के लिए, मई 1959 में भारत के

---

1 R. N Bhargava 'Indian Public Finance', (1970), Orient Longman's Ltd. p 49

2. लक्ष्मीनारायण नाथूराम का (अनुवादक और संग्रहकर्त्ता) कराधान : एक सैद्धांतिक विवेचन, (1966)-सामाजिक विज्ञान हिंदी रचना केंद्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, पृ० 147

वित्तमत्री ने अपने बजट भाषण मे धन पर लगाए जाने वाले नये कर को कर देय सामर्थ्य के आधार पर न्यायोचित ठहराया। उन्होने कहा था, 'यह स्वीकार किया जाता है कि प्रचलित आयकर कानून और व्यवहार के अनुसार आय की जो परिभाषा दी गई है वह कर देय सामर्थ्य का पर्याप्त माप नही है और आय पर कर लगाने की प्रणाली के साथ-साथ धन पर आधारित कराधान भी होना चाहिए।'[1]

इस सदर्भ म एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या भारत मे कर का ढाचा लोगो की आय और धन के द्वारा मापी जा सकने वाली 'कर देय सामर्थ्य' पर आधारित है। परपरागत रूप म अर्थशास्त्री आय को कर देय सामर्थ्य का आधार मानते आए हैं क्योकि आय ही किसी व्यक्ति को व्यय शक्ति प्रदान करती है। 'एक व्यक्ति जो स्वय तथा अपने कुटुब के लाभ हेतु व्यय शक्ति रखता है उसका एक भाग उस समुदाय को अथवा एक बडे कुटुब को, जिसका कि वह स्वय भी एक सदस्य है, आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए देना चाहिए।'[2] इस दृष्टि मे पूजी मे भी व्यय शक्ति निहित होती है। आय एक प्रवाह है तथा पूजी एक ऐसी निधि है जो आय के प्रवाह का स्रोत बनती है। आय प्रवाह की तुलना मे ऐसी विशेष निधि का स्वामित्व उसके अधिकारी को यह विशेष लाभ प्रदान करता है कि सकटकालीन समय मे आय की समाप्ति पर वह इसको व्यय के रूप मे प्रयुक्त कर सकता है। इस प्रकार पूजी एक स्थाई निधि है जबकि पूजी से प्राप्त आय अस्थाई आय है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई व्यक्ति जितनी व्यय शक्ति का प्रयोग करता है, वह व्यय शक्ति उसकी कर देय सामर्थ्य का उपयुक्त सकेत होता है। जो व्यक्ति व्यय शक्ति का अधिक प्रयोग करता है उसे अधिक कर भी अदा करना चाहिए। यदि वह व्यय शक्ति को स्थगित करता है, अर्थात् बचत करता है तब उस पर पडने वाले कराधान को भी स्थगित कर देना चाहिए। जब इस स्थगित व्यय शक्ति अर्थात् बचतो को व्यय मे प्रयुक्त किया जाए तभी उसका करारोपण होना चाहिए। जब उसका स्वामी व्यय शक्ति का उपयोग नही करता तब वह उसका केवल एक प्रतिहारी है, उसकी बचतें समुदाय के उत्पादक स्रोतो मे वृद्धि करते हैं। 'यदि व्यय शक्ति के स्वामित्व की भ्राति उसके झूठे अभिमान की पुष्टि करती है तो उसको उसी भ्राति मे ही जीवित रहने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।'[3]

ऐसा प्रोत्साहन उस पर कर न लगाकर ही दिया जा सकता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति व्यय शक्ति का प्रयोग स्वय के लिए करता है उसे अवश्य करारोपित किया जाए। आय तथा पूजी के कराधान के सहायक के रूप मे व्यय कर का

1 Government of India, Ministry of Finance Finance Minister's Speech, May 15, 1957, pp 11 and 12.

2. R N Bhargava op. cit, p 50

3 R. N. Bhargava op cit, p 53

यही औचित्य है जिसे भारत ने अपनाया था परन्तु प्रशासनिक कठिनाइयों के कारण उसको छोड़ना पड़ा।

विकास कार्यक्रम के अनुकूल कर प्रणाली

देश के विकास कार्यक्रम के लिए किस प्रकार की कर प्रणाली उपयुक्त होगी, इस विषय पर भी विचार करना आवश्यक है। 1950-51 में भारत की राष्ट्रीय आय का 6 6 प्रतिशत भाग कर के रूप में वसूल किया गया था। *1965-66* में यह प्रतिशत बढ़कर 14 तक पहुंच गया है। यह प्रतिशत कुछ अल्प विकसित देशों की तुलना में बहुत कम है। उदाहरणार्थ 1954-55 में वर्मा में कर-वसूली राष्ट्रीय आय का 15 प्रतिशत तथा श्रीलंका में 17 7 प्रतिशत रही है। यदि हम अपनी विकास योजनाओं के लिए अपेक्षित मात्रा में वित्त प्रबन्ध करना चाहते हैं तो हमें राष्ट्रीय आय आधारित पर कर अनुपात को बढ़ाना होगा। वह कर प्रणाली जो कुल मिलाकर विनियोग और बचत की दृष्टि से पूंजी-संचय को बढ़ावा देती है, एक आवश्यक तत्त्व की पूर्ति करती है।

हमारी सामाजिक नीति के उद्देश्यानुसार अतिरिक्त आय साधारण व्यक्तियों तक पहुंचनी चाहिए। यह वे व्यक्ति हैं जो संचय करने के आदी नहीं हैं। फलस्वरूप जो अतिरिक्त आय इन्हें प्राप्त होगी वह आंशिक रूप से 'प्रदर्शन प्रभाव' के द्वारा व्यय कर दी जाएगी तथा आंशिक रूप में इसलिए भी, क्योंकि उनका रहन-सहन का स्तर पहले से ही बहुत नीचा है। यह हम भली-भांति जानते हैं कि उपभोग की प्रवृत्ति निर्धन वर्ग में तीव्र होती है और परिणामस्वरूप विनियोग कम होता है। इसलिए कर प्रणाली का सामान्य उद्देश्य उपभोग को नियन्त्रित करके बचत व विनियोग को प्रोत्साहित करना है। इस सन्दर्भ में अप्रत्यक्ष करों का महत्त्व प्रकट होता है। केंद्रीय सरकार द्वारा आयातों तथा निर्यातों पर करारोपण, व्यापार-नियन्त्रण तथा विदेशी विनिमय की रक्षा का प्रभावशाली यन्त्र है। अवमूल्यन की घटना तथा कोरिया-युद्ध के उपरान्त मूल्यों में भारी वृद्धि हुई है। आन्तरिक मूल्य-वृद्धि को रोकने के लिए विभिन्न परोक्ष करों की सहायता ली गई। अतिरिक्त निर्यात करों द्वारा सरकार ने बहुत ही योग्यतापूर्ण आन्तरिक मूल्यों को बाह्य मूल्यों से पृथक रखा है। स्वतन्त्रता के पश्चात उपभोग को सीमित करने के लिए उत्पादन शुल्क में भी आशातीत वृद्धि हुई है। योजनाकाल में वस्तुओं तथा सेवाओं पर लगाए गए अप्रत्यक्ष करों में 451 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। कुल कर-राजस्व में अप्रत्यक्ष कर का अनुपात 1950-51 में 70 प्रतिशत से बढ़कर सन् 1965-66 में 77 प्रतिशत हो गया। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि साधारणतः प्रत्यक्ष करों का महत्त्व सम्पत्ति एवं आय के असमान वितरण को दूर करने में होता है, वहीं विकास के प्रारम्भिक चरण में अप्रत्यक्ष करों का महत्त्व उपभोग की प्रवृत्ति पर आवश्यक अंकुश लगाना होता है।

प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कर

कर प्रणाली के ढाचे पर विचार करते समय प्राय एक प्रश्न यह उठाया जाता है कि कर प्रणाली मे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करो का सापेक्षिक स्थान क्या हो। यहा पर यह कहना अप्रासगिक नही होगा कि समग्र रूप से प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करो के किसी विशेष अनुपात का कोई विशेष महत्त्व नही होता। यदि हमे कर प्रणाली से अधिक आय प्राप्त करनी है तो स्पष्ट है कि कर की ऊची दरें और करो का अधिक विस्तृत क्षेत्र दोनो समान रूप से आवश्यक हैं और आय की वृद्धि प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष करो पर फैली हुई होनी चाहिए।

प्रथम तीन योजना काल मे आयकर, व्यय कर, सपत्ति कर एव पूजीगत लेन-देन पर कर आदि प्रत्यक्ष करो में 265 प्रतिशत की वृद्धि अवश्य हुई किंतु कुल कर-राजस्व म उनका अनुपात 30 प्रतिशत से घट कर 23 प्रतिशत रह गया। दूसरे शब्दो मे कुल राजस्व का प्रत्यक्ष करो द्वारा प्रदत्त राजस्व कम हो गया।

एक अनुमान के अनुसार भारत मे 450 व्यक्तियो मे से केवल एक व्यक्ति पर ही आयकर लगाया जाता है।[1] इसलिए यह स्वाभाविक है कि राजस्व की प्राप्तिया को बढाने के लिए अप्रत्यक्ष करो का सहारा लिया जाए। यह ही नही आयकर तथा अन्य प्रत्यक्ष करो की सबसे अधिक जटिल समस्या कर वचन की है। कर वचन की वर्तमान राशि का अनुमान लगाते हुए वाचू आयोग ने स्पष्ट किया कि लगभग 1400 करोड रुपये की आय पर लोग कर नही देते है। इसलिए आयकर क अतर्गत प्रत्यक्ष कराधान मे वृद्धि करने के उपरात भी परोक्ष कराधान पर निर्भर रहना पडा है तथा उत्पादन शुल्कों व राजकीय बिक्री करो मे विस्तार किया गया है।

अब तो नवीन बहुमुखी कर-ढाचे की रचना द्वारा करदाता सभी दिशाओ से घिर जाता है। यदि वह आय अर्जित करता है तो उसे आयकर अदा करना पडता है। यदि वह व्यय करता है तो वह व्यय कर तथा अन्य अप्रत्यक्ष करो के चूगल मे आ जाता है। यदि वह सचय करता है तो धन के वार्षिक कर का शिकार होता है। यदि उसकी मृत्यु हो जाती तब उसकी जायदाद सपत्ति कर के अधीन करारोपित हो जाती है। इस प्रकार कर निर्धारिती अपनी आय तथा पूजी को किसी प्रकार भी व्यवहार मे लाए वह कर के चगुल से नही बच सकता। ऊपरी रूप से करा-धान की ऐसी प्रणाली प्रतिहिंसात्मक अपहरण रखती हुई प्रतीत होती है परतु वास्तव मे ऐसी बहु कर प्रणाली न्याय की दृष्टि से आवश्यक है। यद्यपि ये प्रत्यक्ष कर व्ययशक्ति के ही भिन्न करारोपण हैं। आयकर, व्ययशक्ति के उपार्जन पर कर है। व्यय कर, व्ययशक्ति के व्यवहार पर कर है। सपत्ति कर, व्ययशक्ति के सचय पर कर है। उपहार कर तथा मृत्यु कर, व्यय-शक्ति के हस्तातरण को करा-

1. R N Bhargava op. cit, p 53

रोपित करते हैं । ऐसी कर योजना, कार्य, साहस तथा बचत करे बिना हानि पहुंचाए समान राजस्व जुटा सकती है और साथ ही प्रेरणादायक भी सिद्ध होती है ।

भारतीय कर-ढांचे में दोष

करारोपण के ढांचे के सबंध में कोई स्थाई विचार प्रकट नहीं किया जा सकता । समय तथा स्थिति को देखते हुए इसमें आवश्यक परिवर्तन होने चाहिए । यही कारण है किसी देश की भी कर प्रणाली अपने में पूर्ण नहीं कही जा सकती । भारत की कर प्रणाली में भी कुछ दोष हैं । मुख्य दोषों का वर्णन नीचे किया गया है .

(1) करारोपण का अवैज्ञानिक ढांचा भारतीय करारोपण का ढांचा किसी वैज्ञानिक आधार पर स्थित नहीं है । वर्तमान कर प्रणाली का जन्म तथा विस्तार केवल समय-समय पर उत्पन्न होने वाली आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से किया गया है । बजट में सन्तुलन ही एकमात्र विचारणीय विषय रहा है । उत्पादन पर करों का क्या प्रभाव पड़ता है, इनका करापात कौन सहन करता है, इन तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया गया । यही कारण है कि विभिन्न करों में न तो समन्वय है और न ही वे एक-दूसरे के पूरक हैं ।

(2) लोच का अभाव : भारतीय करारोपण की सरचना में आज भी समुचित लोच का अभाव है । देश की कर व्यवस्था आर्थिक गतिविधियों से इस प्रकार सबंधित होनी चाहिए कि आर्थिक क्रियाओं में तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ-साथ राजस्व में भी वृद्धि हो । इस दृष्टिकोण से हमारी कर प्रणाली सतोषजनक नहीं कही जा सकती । पर्याप्त लोच के अभाव के कारण सामाजिक सेवाओं और विकास कार्यों पर बढ़ते हुए व्यय के अनुरूप सरकार अपनी आय को बढ़ाने में असमर्थ रही है । अब देश स्वय स्फूर्ति-विकास के लक्ष्य की ओर उन्मुख है और जहा प्रगतिशील कर प्रणाली को स्वीकार किया गया है वहा कर की लोच इकाई से अधिक होनी चाहिए, परन्तु वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है ।

(3) प्रतिगामी कर प्रणाली : हमारे करारोपण के ढांचे में एक अन्य दोष यह है कि धनिकों पर कर का भार कम तथा निर्धनों पर अधिक है । कुछ प्रत्यक्ष करों को छोड़कर अधिकाश कर प्रतिगामी हैं । सरकार प्रत्यक्ष करों की तुलना में वस्तु करों अथवा अप्रत्यक्ष करों पर अधिक निर्भर रहती है । कर जाच आयोग के अनुसार 1953-54 में कुल आय का 24 प्रतिशत प्रत्यक्ष करों से प्राप्त हुआ । परिणामस्वरूप देश में निर्धनों तथा मध्यम आय वर्ग के व्यक्तियों पर कर का भार अधिक बढ़ा है । प्रो० के० टी० शाह के शब्दों में, 'धनिक वर्ग अपेक्षाकृत हल्के भार के साथ बच जाते हैं यद्यपि इस भार को सहन करने की उनकी क्षमता अपेक्षाकृत

अधिक है, जबकि निर्धन वर्ग जो इस भार से बच नही सकते उनकी स्थिति एक मेंमने जैसी है।'

(4) राष्ट्रीय आय मे कर-राजस्व का न्यून भाग : *भारत मे राष्ट्रीय आय मे कुल कर-राजस्व का अनुपात लगभग 12 प्रतिशत है। यह अनुपात अन्य देशो की तुलना मे, जिनमे दक्षिण-पूर्वी एशिया के देश भी सम्मिलित हैं, बहुत कम है।* इसका मुख्य कारण यह है कि जिस कृषि क्षेत्र से राष्ट्रीय आय का लगभग 50 प्रतिशत भाग प्राप्त होता है उसका बहुत कम भाग करारोपित होता है। दूसरा मूल कारण यह है कि देश की अर्थव्यवस्था का एक बडा भाग मुद्राविहीन है जिससे यह भाग करारोपण के प्रभाव से बच जाता है।

(5) कराधान के ढाचे में बारंबार परिवर्तन : *भारतीय कराधान के ढाचे की एक निर्बलता यह भी है कि इसमे बार-बार परिवर्तन किए जाते रहे हैं।* ये परिवर्तन इतने अधिक होते हैं कि लोग यह समझने लगे हैं कि कर अधिनियम को पूर्णतया परिवर्तित करने के लिए ही वित्त अधिनियम का प्रयोग किया जाता है। ये परिवर्तन केवल दरो तक ही सीमित नही रहते अपितु कर योजना को भी अपनी लपेट मे ले लेते हैं। कुछ उदाहरणो द्वारा इस कथन की पुष्टि की जा सकती है। 1964-65 के वर्ष में अधिक लाभ-कर लगाया गया था परतु अगले वर्ष ही उसका प्रतिस्थापन कपनी कर से कर दिया गया। *1963 मे अनिवार्य बचत योजना* का जारी करना भी जल्दबाजी का परिणाम था क्योकि विधानमडल को मौलिक योजना मे अनेक परिवर्तन लाने पडे थे। प्रशासनिक कठिनाइयो के कारण इस योजना को पुन परिवर्तित करके केवल आय करदाताओ तक सीमित कर दिया गया और अत मे एक वर्ष के पश्चात समाप्त ही कर दिया गया। 1964 मे फिर इस योजना को नये सिरे से वार्षिकी बचत योजना का रूप दिया गया। फिर 1966 में यह योजना 15000-25000 रु० की *आय-सीमा के कर-निर्धारिती के* लिए ऐच्छिक कर दी गई और *14 सितम्बर 1967 की विज्ञप्ति के अनुसार इस वर्ग के लिए पुन अनिवार्य कर दी गई। ऐसे बारबार परिवर्तन साहसी एव विनियोग वर्ग में मनोवैज्ञानिक विप्लव उत्पन्न करते हैं तथा साथ ही पूजी बाजार को* धक्का पहुचाते हैं।

सुझाव

यद्यपि भारतीय कराधान के ढाचे मे न्यूनाधिक रूप में उपरोक्त दोष पाए जाते हैं, तथापि देश जिस सक्रमण काल से गुजर रहा है तथा जिन कठिनाइयो के बावजूद आर्थिक विकास की ओर उन्मुख है, उसे दृष्टि मे रखते हुए कर ढाचे मे तुरत हेर-फेर करने की आवश्यकता है। करो की दरो तथा योजनाओं के बारबार परिवर्तन ने करारोपण के ढाचे को हास्यप्रद बना दिया है। *यह आवश्यक हो गया* है किसी भी कर-योजना को व्यवहार मे लाने से पूर्व उसके प्रभावो एव जटिलताओ

का विश्लेषण सोच-समझकर किया जाए। यह उचित ही होगा कि आय के करारोपण की दरें आयकर अधिनियम में ही सम्मिलित की जाएं और आपत्तिकाल को छोड़कर पांच साल से पूर्व इनमें परिवर्तन लाने की चेष्टा न की जाए और जहां तक सम्भव हो ये परिवर्तन योजनाकाल से मेल खाते हुए हों। स्थाई कर की दरें विनियोग की योजनाओं तथा साहसी वर्ग में विश्वास उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हो सकती हैं, विशेष रूप से ऐसी प्रयोजनाओं के वित्तीय मामलों में जिनकी गर्भावधि लंबी होती है।

हम भली-भांति जानते हैं कि प्रत्यक्ष करों से प्राप्त आय की लोच बहुत कम होती है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने पर, प्रत्यक्ष करों की प्राप्तियों में आनुपातिक वृद्धि नहीं होती। जे० एस० महोता की गणना के अनुसार भारत में प्रत्यक्ष करों की लोच केवल 0.674 है। इसलिए विकास के कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए अप्रत्यक्ष करों द्वारा अधिक धन जुटाने पर बल देने की आवश्यकता है। हम यह जानते हैं कि *अप्रत्यक्ष कराधान कर ढांचे को असाम्यपूर्ण बनाता है और आर्थिक विकास का भार जनसाधारण को सहन करना पड़ता है*, परन्तु इससे कोई बचाव सम्भव नहीं है।

वॉल्टर हैलर ने इस सन्दर्भ में कहा है, "...आर्थिक विकास के लिए पूंजी-निर्माण के साधन के रूप में अपना कार्य करने में कर-नीति आधारभूत दुविधा में उलझी है। एक ओर कराधान के ऊंचे स्तर आवश्यक हैं ताकि विकास के उस भाग का वित्त प्रबंध हो सके जो सरकार के क्षेत्र में है और उन विनियोजन के साधनों को जुटाएं जो अन्यथा छिन्न-भिन्न हो सकते हैं। दूसरी ओर कर जितने नीचे होंगे, *निजी विनियोजकों को इस बात का उतना ही अधिक प्रोत्साहन मिलेगा कि वे कृषि तथा औद्योगिक विकास में विनियोजन से सबद्ध आय के प्रति* जोखिम उठाएं। इस तथ्य से दुविधा और बढ़ जाती है कि वे कर जो अधिक पूंजी-निर्माण के लिए आर्थिक विकास से होने वाले लाभों के बड़े भाग को प्राप्त करने में सफल रहते हैं, वे वही हैं जो निजी विनियोजन के प्रतिफलों को भी प्रभावित कर सकते हैं। क्योंकि ये कर आय के परिमाण के साथ-साथ सीधे परिवर्तित होते हैं और प्रगामी रूप से बढ़ते हैं जो विकास के लाभों को खपा लेने में अधिक प्रभावशाली हैं। (और सामान्य रूप से न्याय-साम्य के आधार पर प्राथमिकता देने योग्य हैं) फिर भी ये वे कर हैं जो सीमांत प्रयत्न तथा जोखिम लेने की क्रिया को प्रभावित कर सकते हैं।"[1]

कराधान के ढांचे में ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता है जो अतिरेक जुटाए और साथ ही उसका परिमाण बढ़ाए। प्रो० चेलैया का मत है कि अल्प विकसित देशों में, राष्ट्रीय प्रदा के आधे से अधिक का योगदान कृषि प्रदान करती है, और

1. *'U. N. Taxation and Fiscal Policy in Under-developed Countries'*, p 10

उसका अधिकाश भाग भूस्वामियो, व्यापारियो तथा मध्यस्थो को प्राप्त होता है। यही आर्थिक अतिरेक है जो कि वास्तविक चालू प्रदा तथा वास्तवित चालू उपभोग का अतर है। *यह आवश्यक है कि विकास की प्रारभिक अवस्था मे अतिरेक का* बडा भाग उत्पादक क्रियाओ मे लगाया जाए। भारत म भूस्वामियो, व्यापारियो और मध्यस्थो की आदत इस अतिरेक को अनुत्पादक दशाओ जैसे स्वर्ण, भू-सपदा, सट्टे की क्रियाओ और विशिष्ट उपभोग म लगाने की होती है, इसलिए सरकार को चाहिए कि सिचाई निर्माण कार्य, बाढ-नियत्रण व्यवस्था इत्यादि जैसी विकास परियोजनाओ के वित्त प्रबधन के लिए सवधित भूमि कर, कृषि आयकर तथा विशिष्ट कर निर्धारण तथा सुधार कर (betterment levy) के माध्यम से इस अतिरेक को जुटाए। प्रो० कोल्डार ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है, 'किसी न किसी रूप म कृषि पर कराधान आर्थिक विकास के त्वरण मे विशिष्ट कार्य करता है।' भारत सरकार ने 1973 74 के बजट म पहली बार इस तथ्य को स्वीकार किया है तथा कृषि आय को किसी अश तक आयकर के लपेट मे ले लिया है।

सच पूछा जाए तो कराधान, हमारे जैसी अर्थव्यवस्था मे जहा उपभोग की प्रवृत्ति सामान्यता ऊची है बचत व विनियोग की कुल मात्रा में वृद्धि करने का एक प्रभावपूर्ण साधन सिद्ध हो सकता है। ऐसी अर्थव्यवस्था मे पूजी सचय म वृद्धि करने का सभवतया एकमात्र प्रभावशाली उपाय यह हो सकता है कि राज्य निजी उपभोग मे *सार्वजनिक विनियोग मे साधनो के हस्तातरण का उत्तरदायित्व अपने* ऊपर ले। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कराधान का जो ढाचा इस उद्देश्य के लिए सबसे अधिक न्याय सगत और उपयोगी होगा वो प्रत्यक्ष व परोक्ष कराधान का एक ऐसा कार्यक्रम होगा जिसमे उचित विविधता पाई जाएगी और जो उपभोग से सार्वजनिक विनियोग की ओर वित्तीय साधनो का हस्तातरण ऐसे ढग से करने का प्रयत्न करेगा जो विकास कार्यक्रम के अनुकूल हो। अत कराधान के ढाचे म गहनता व व्यापकता दोनो पर्याप्त मात्रा म होनी चाहिए। विलासिता अथवा अर्ध विलासिता की वस्तुओ पर अतिरिक्त कर लगाने के साथ-साथ अपेक्षाकृत नीची दरो पर जनसाधारण के उपभोग की वस्तुओ पर व्यापक ढग से कर लगाने की भी आवश्यकता है। प्रत्यक्ष कराधान के क्षेत्र मे वैयक्तिक आयकर की ऊची दरो के साथ उस आय पर भी छूट देनी चाहिए जो बचाई अथवा विनियोजित की जाती है। *अत मे यह कहा जा सकता है कि वह कर प्रणाली जो भारतीय अर्थ*-व्यवस्था की आवश्यकताओ को पूरा करने मे सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो और जिसमे विकास *कार्यक्रम के लिए आवश्यक साधनो का ध्यान* रखा जाए, उसे निजी क्षेत्र मे होने वाले विनियोग मे यथासभव अधिकतम कमी करके सार्वजनिक क्षेत्र को उपलब्ध होने वाले विनियोग के साधनो मे वृद्धि करने मे समर्थ होना चाहिए।

मुक्त सरकारी तथा गैर सरकारी उधार में धन का एक उपयोग से दूसरे उपयोग की ओर स्थानांतरण होता है।

फिर एक निजी उधार लेने वाला ऋण की अदायगी उस समय तक नहीं कर सकता जब तक कि वह अपने उधार की धनराशि का लाभप्रद रीति से उपयोग न कर ले। इसी प्रकार सरकार भी अपने उधार को ऐसे कार्यों में प्रयुक्त करती है जिससे सरकारी ऋण की वापसी का प्रबंध हो सके।

जब कोई व्यक्ति उधार लेता है तो वह रकम को अपने लिए ही खर्च करता है किंतु जब सरकार उधार लेती है तो वह धन संपूर्ण समाज के लिए खर्च करती है। फिर जब कोई व्यक्ति अपना ऋण वापिस करता है तो उसकी वापसी का भार वह स्वयं ही उठाता है किंतु जब सरकार अपने ऋण की अदायगी करती है तो वह कराधान के द्वारा करती है अर्थात् उसका भार संपूर्ण समाज अथवा राष्ट्र द्वारा वहन किया जाता है परंतु यहां रुचिकर बात यह है कि उधार लेने वाला जो कि सरकार से ऋण की अदायगी प्राप्त करता है उस अदायगी के लिए करों के रूप में स्वयं अंशदान भी देता है।

गैर सरकारी ऋण में उधार देने वाला देते समय धन का त्याग करता है और उधार लेने वाले व्यक्ति द्वारा खर्च किए गए धन से उसे कोई लाभ नहीं पहुंचता। दूसरी ओर सरकारी ऋण में चूंकि सरकार द्वारा लिया उधार धन संपूर्ण रूप में समाज के लिए खर्च किया जाता है अतः उससे उधार देने वाले को भी लाभ पहुंचता है इसलिए यह कहा जाता है कि जब कोई व्यक्ति सरकार को उधार देता है तो वह स्वयं को ही उधार देता है।

इसी प्रकार यहां उल्लेखनीय बात यह है कि जो व्यक्ति सरकार को उधार देता है वह अच्छी स्थिति में भी रहता है और साथ-ही साथ बुरी स्थिति में भी। अच्छी स्थिति में इसलिए रहता है क्योंकि उसे मूलधन की वापसी तथा ब्याज की अदायगी में स्वयं भी हिस्सा देना पड़ता है। ऐसी विशेषता निजी ऋण में उत्पन्न नहीं होती है।

सरकार समस्त विश्व में कहीं से भी उधार ले सकती है जबकि एक निजी व्यक्ति अथवा निगम केवल देश के अंदर से ही उधार ले सकता है। निजी व्यक्ति उपभोग कार्यों के लिए भी ऋण ले सकता है किंतु इसके विपरीत सरकार सामान्यतः केवल उत्पादकीय कार्यक्रमों की वित्तीय व्यवस्था के लिए ही उधार लेती है। इसके अतिरिक्त सरकारी ऋण की तुलना में गैर सरकारी ऋण के ब्याज की दर साधारणतया ऊंची होती है क्योंकि व्यक्तियों की अपेक्षा सरकार की साख तथा ऋण वापसी की क्षमता अधिक मानी जाती है।

सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण

एक सामान्य तथा प्रचलित वर्गीकरण के अनुसार सार्वजनिक ऋण को निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है

(1) आंतरिक एवं बाह्य ऋण

आंतरिक ऋण उस सरकारी ऋण को कहते हैं जो देश के अंदर से ही लिया जाता है जबकि बाह्य ऋण विदेशी सरकारों, विदेशी व्यक्तियों अथवा अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से लिया जाता है। यद्यपि आजकल बाह्य ऋण बहुत प्रचलित होता जा रहा है, किंतु फिर भी इसके विरुद्ध सामान्य पूर्वाग्रह पाया जाता है जो कि अज्ञानता एवं दोषपूर्ण आर्थिक विचारों पर आधारित है।

(2) कोषित एवं अकोषित ऋण

ऋण जब एक निश्चित समय के लिए होते हैं तो उनकी पूर्ण देय अवधि होती है, अन्यथा नहीं। जिन ऋणों के भुगतान करने की निधि नहीं होती, उन्हें कोषित ऋण कहते हैं। इनका मूलधन वापिस करने का कोई वायदा नहीं होता। केवल ब्याज का नियमित (प्राय छमाही) भुगतान करने का दायित्व रहता है। जो ऋण अत्यंत दीर्घकालीन होते हैं उन्हें भी कोषित ऋण की श्रेणी में रखा जाता है। दूसरी ओर अकोषित अथवा चालू ऋण वे होते हैं जिनका न केवल ब्याज वरन मूलधन भी निश्चित अवधि के बाद वापस किया जाता है। फिर भी, यह वर्गीकरण एकदम सुनिश्चित नहीं माना जाता है। डाल्टन के अनुसार कोषित और अकोषित ऋणों का वर्गीकरण बहुधा भ्रामक होता है।

(3) अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण

ऋणों को उनके वापस किए जाने के समय की अवधि के आधार पर अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋणों में बांटा जा सकता है परंतु दोनों ऋणों के मध्य कोई निश्चित विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। फिर भी दीर्घकालीन ऋण वे होते हैं जिनकी शोधन तिथि प्राय 10 या इससे अधिक वर्षों के बाद आती है और अल्पकालीन ऋण वे होते हैं जिनकी शोधन तिथि प्राय–10 वर्ष से कम होती है। भारत में केंद्रीय सरकार द्वारा जारी किए गए कोषागार विपत्र जिनकी अवधि 3 या 6 माह की होती है, अल्पकालीन ऋणों के उदाहरण हैं।

(4) शोध्य एवं अशोध्य ऋण

शोध्य ऋण वे होते हैं जो भविष्य में एक निश्चित अवधि के उपरांत देय होते हैं। इस प्रकार के ऋण समय के आधार पर दीर्घकालीन, मध्यकालीन तथा अल्पकालीन भी हो सकते हैं। कर का भार इन ऋणों से बट जाता है क्योंकि ब्याज और मूलधन दोनों ही लौटाने होते हैं।

अशोध्य ऋण वे ऋण होते हैं जिन्हें चुकाने के लिए वचन नहीं दिया जाता है परंतु जिन पर एक निश्चित दर से सरकार द्वारा ब्याज दिया जाता है।

अशोध्य ऋण का भार भावी पीढ़ियों पर पड़ता है और शोध्य ऋणों का वर्तमान पर। अशोध्य ऋणों को उन कार्यों के लिए लेना चाहिए जिनसे निरंतर

आय प्राप्ती होती है ताकि उसके ब्याज या शोधन सुविधापूर्वक किया जा सके। शोध्य ऋण को स्थाई या अस्थाई तथा अल्पकालीन ऋण भी कहा जाता है। वास्तव म शोध्य व अशोध्य ऋण मोटे तौर पर दो वर्गों में बाटे जा सकते हैं—स्थाई तथा अस्थाई। इन ऋणों के अपने-अपने गुण-दोष होते हैं। जिनका वर्णन नीचे किया गया है।

स्थाई ऋणों के गुण : (अ) स्थाई ऋणो का तत्काल भुगतान नही करना पडता है। इस कारण विनयोग के लिए ये ऋण उचित होते हैं। चूकि इनकी अवधि दीर्घकालीन होती है इसलिए नागरिको पर इनका तत्काल भार नही पडता है।

(ब) ये न्याय सगत होते हैं क्यो इनका भार भावी पीढी पर भी डाला जा सकता है।

(स) ऐसे ऋणो को लेने से सरकार को बार-बार ऋण लेन की आवश्यकता नही होती है।

(द) स्थाई ऋण बैंको, विनियोग सस्थाओ तथा बीमा निगमो आदि को विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

(य) ब्याज दर नीची होने पर ऐसे ऋण उचित होते हैं।

(र) *दीर्घकालीन चलने वाली आपदाओं के लिए उपयुक्त होते हैं।*

(ल) अर्द्धविकसित राष्ट्रो के विकास के लिए ये ऋण अधिक उपयुक्त समझे जाते है।

दोष (1) जब सरकार अस्थाई ऋणो को लेने को नियमित व्यवहार बना लेती है तब इनका अस्थाई रूप बदल जाता है और सरकार के ऋण कभी भी समाप्त नही होते।

(2) ये ऋण सरकार की साख पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं इसलिए *भविष्य में ऋण प्राप्त करने में कठिनाई होती है।*

(3) ये ऋण उद्योग धधो तथा उपक्रमो के लिए विनियोग को प्रोत्साहित नही करते।

(4) अस्थाई ऋणो पर प्राय कानूनी प्रतिबध न होन से उनके भुगतान क लिए अधिक नोट निर्गमित किए जाते हैं जिससे देश मे मुद्रा प्रसार की स्थिति आ जान से जनता को ऐसे ऋणा का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार वहन करना पडता है।

(5) उत्पादक एव अनुत्पादक ऋण

सरकारी ऋण को उत्पादक तब कहा जा सकता है जबकि उस ऋण के विनियोग से इतनी आय हो जाती है जिससे कि ऋण के केवल वार्षिक ब्याज को ही नही चुकाया जाता अपितु दीर्घकाल म मूलधन की वापसी मे भी सहायता

मिलती है। सरकारी ऋण एक दूसरे अर्थ में भी उत्पादक कहे जा सकते हैं, सरकार ऋण लेकर कुछ ऐसी प्रयोजनाओं को चालू कर सकती है जो उपर्युक्त अर्थ में उत्पादक न हों परन्तु वे राष्ट्र के लिए वास्तव में बड़ी उपयोगी हो सकती हैं। उदाहरण के लिए पिछड़े क्षेत्र को जोड़ने वाला रेलमार्ग, किसी क्षेत्र में अकाल की स्थिति को रोकने के लिए सिंचाई योजना आदि। इस अर्थ में अधिकांश सरकारी ऋण उत्पादक होते हैं।

सार्वजनिक ऋण युद्ध की वित्तीय व्यवस्था के लिए भी लिए जाते हैं। ऐसे ऋण अनुत्पादक होते हैं क्योंकि इसमें किसी परिसम्पत्ति का निर्माण नहीं होता। ये ऋण फलहीन ऋण होते हैं तथा समाज पर इनका अनावश्यक भार रहता है।

(6) अनिवार्य एवं ऐच्छिक ऋण

अनिवार्य ऋण वे ऋण होते हैं जो सरकार अपनी राजनैतिक सत्ता के प्रयोग के द्वारा नागरिकों से बलपूर्वक वसूल करती है और जिनका देना अनिवार्य होता है। इंग्लैंड में चार्ल्स प्रथम व फ्रांस में मेजरीन के राज्य में अनिवार्य ऋण के उदाहरण मिलते हैं।

ऐच्छिक ऋण वे होते हैं जिन्हें नागरिक स्वयं अपनी इच्छा से देते हैं। सरकार की ओर से कोई दबाव नहीं पड़ता। इस प्रकार के ऋण आंतरिक व बाह्य दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

(7) क्रय योग्य और अक्रय योग्य ऋण

क्रय योग्य ऋण सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में होते हैं जिनको स्वतन्त्रतापूर्वक खरीदा व बेचा जा सकता है। आजकल अधिकांश ऋण इसी प्रकार के होते हैं। इसके विपरीत अक्रय योग्य ऋण में वे प्रतिभूतियां होती हैं जिनको बाजार में नहीं बेचा जा सकता, जैसे डाकखाने के बचत ऋण पत्र।

(8) ब्याज सहित व ब्याज रहित ऋण

पहली प्रकार में वे ऋण सम्मिलित हैं जिन पर सरकार ऋणदाताओं को निश्चित ब्याज की दर पर एक निश्चित अवधि के बाद लौटाती है और दूसरी प्रकार के ऋण वे हैं जिन पर सरकार किसी प्रकार का ब्याज देने का वचन नहीं देती है।

(9) कुल ऋण व शुद्ध ऋण

किसी भी समयावधि विशेष में सरकार के जितने भी ऋण होते हैं उन सबके जोड़ को कुल ऋण कहते हैं। कुल ऋण में से यदि उस राशि को घटा दिया जाए जिसके शोधन के लिए सरकार ने स्वीकृति दे दी है, तो जो शेष बचेगा वह शुद्ध ऋण कहलाएगा।

सरकार द्वारा ऋण लेने के कारण

आधुनिक समय मे ऋण इसलिए लिए जाते हैं जिससे कि कुछ महत्वपूर्ण परिस्थितियो का सामना किया जा सके।

(1) बजट घाटो को पूरा करने के लिए

आधुनिक सरकार के पास ऐसा कोई संचित धन अथवा खजाना नही होता जिससे कि वह बजट सबधी घाटो की पूर्ति कर सके। सरकार को वार्षिक खर्च तो सामान्य वार्षिक आय से ही पूरा कर लेना चाहिए। परतु अनेक परिस्थितियो के कारण यह सभव हो सकता है कि कराधान तथा अन्य स्रोतो से प्राप्त आय वास्तविक व्यय के बराबर न हो। इसी प्रकार कुछ ऐसी अनियोजित सकटकालीन स्थितियां भी उत्पन्न हो सकती है, जैसे कि युद्ध का छिड जाना या अकाल पड जाना, जिसमें सरकार को ऋण लेना पडे।

(2) मदीकाल को दूर करने के लिए

सार्वजनिक ऋण के पक्ष मे सबसे बडा तर्क यह दिया जाता है कि यह मदी का एक समाधान प्रस्तुत करता है। मदी की अवधि मे आर्थिक क्रियाओ का स्तर नीचा हो जाता है जिससे उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा भी घट जाती है। मदी तथा बेरोजगारी सामान्यत वस्तुओ तथा सेवाओ की माग मे कमी के कारण उत्पन्न होती है। कीस जैसे अनेक अर्थशास्त्रियो ने ऐसे अधिकाधिक सरकारी व्यय की वकालत की है *जिसकी वित्तीय व्यवस्था ऋण के द्वारा की गई हो, कराधान के द्वारा नही। क्योकि कराधान तो लोगो की आय और वस्तुओ के प्रति उनकी माग को और कम* कर देता है किंतु ऋण की क्रिया कोई ऐसा प्रभाव नही डालती। इसके अतिरिक्त ऋण सरकार को इस योग्य बनाता है कि वह जनता के पास पडे अप्रयुक्त धन का उपयोग कर सके। इस प्रकार बेरोजगारी दूर करने के लिए सरकारी उधार के पक्ष मे काफी औचित्य विद्यमान है।

(3) युद्ध की वित्त व्यवस्था के लिए

तीसरा तत्त्व जो सरकारी ऋण को आवश्यक बना देता है, युद्ध है। आधुनिक युद्ध इतने महगे हो गए हैं कि कराधान के द्वारा प्राप्त की गई सामान्य आय युद्ध के वास्तविक व्यय से कम पड जाती है। किंतु कराधान के सबध मे यह भय रहता है कि यदि वह अपनी सीमाओ से ऊपर निकल जाए तो उत्पादन पर बडे हानिकारक प्रभाव डाल सकते हैं और इस प्रकार युद्ध काल के सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य युद्ध को जीतने म बाधाए उत्पन्न कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त कराधान की तुलना मे लोक ऋण राजस्व प्राप्ति के लिए एक सरल रीति है।

(4) आर्थिक विकास के लिए

विकास कार्यक्रमो के लिए भी सार्वजनिक ऋणो की सहायता ली जाती है।

यहां तक कि उन्नत देश भी अपनी आर्थिक समृद्धि को बढ़ाने के लिए तथा सार्वजनिक निर्माण के अनेक कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए सार्वजनिक ऋण का उपयोग करते हैं। अल्प विकसित देश, जो अपने प्राकृतिक साधनों को अनुकूलतम उपयोग करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, विकास कार्यक्रमों की वित्तीय व्यवस्था के लिए सरकारी उधार को ही एक बड़ा उपयोगी साधन मानते हैं।

ऋण बनाम कर

यह एक विवादग्रस्त विषय रहा है कि कर या ऋण में से आय प्राप्त करने का कौन-सा साधन श्रेष्ठ है? कुछ अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि ऋण की अपेक्षा कर अच्छे होते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि ऋण और कर एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी न होकर पूरक होते हैं। इस संदर्भ में हम उन परिस्थितियों का अध्ययन करेंगे जिनमें ऋण के द्वारा आय प्राप्त करना या करारोपण द्वारा आय प्राप्त करना अधिक उपयुक्त होता है।

(1) आवर्तक व अनावर्तक व्यय

सरकार को अपने आवर्तक व्यय की पूर्ति करारोपण से उत्पन्न होने वाली आय के द्वारा करनी चाहिए तथा इसके विपरीत अनावर्तक व्यय के लिए सरकार को जनता से ऋण लेना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रकाशित अपनी पुस्तक 'डोमेस्टिक फाइनेंसिंग आफ इकोनोमिक डेवलपमेंट' में लिखा है 'कम से कम सामान्य सरकारी सेवाओं पर चालू व्यय को करारोपण द्वारा पूरा करना चाहिए। ऐसे सरकारी व्यय जिनके द्वारा पूंजी पावनाएं निर्मित होती हैं अथवा जो प्रत्यक्ष रूप में उत्पादक होते हैं। इनके लिए ऋण निश्चित. उपयुक्त होता है। ऐसा करने के कई कारण हैं (क) यदि चालू व्यय अथवा आवर्तक व्यय की पूर्ति करारोपण से प्राप्त आय द्वारा की जाती है तो यह व्यर्थ के उपभोग और अपव्यय को रोकते है। (ख) करारोपण से भावी पीढ़ी पर ब्याज का भार नहीं पड़ता परन्तु ऋण द्वारा भावी पीढ़ी प्रभावित होती है। (ग) यदि आवर्तक व्ययों के लिए ऋण प्राप्त किए जाते हैं तो ऐसे ऋणों का बार-बार लेना असुविधाजनक होगा अतएव सरकार को आवर्तक व्ययों को पूरा करने के लिए कर का ही उपयोग करना चाहिए।

(2) संकटकालीन स्थिति

संकटकालीन स्थिति में जैसे दुर्भिक्ष, बाढ़, महामारी इत्यादि के समय देश की अर्थव्यवस्था प्रायः अस्त-व्यस्त हो जाती है। इसी दशा में यदि बढ़ते हुए खर्चों को अतिरिक्त कर लगा कर पूरा किया जाएगा तो आर्थिक विद्रोह की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। ऐसी संकटकालीन स्थितियों में सरकार को अपने वित्तीय घाटे की पूर्ति को ऋणों द्वारा पूरा करना अधिक उचित होगा।

(3) आर्थिक विकास तथा उत्पादक उद्योग

आर्थिक विकास तथा उत्पादक उद्योगो की स्थापना के लिए योजनाबद्ध होकर काय करने की आवश्यता होती है ऐसे कार्यों के लिए सरकार को भारी व्यय करने पड़ते हैं। इनकी पूर्ति करो द्वारा नहीं की जा सकती। ऐसे ही एक अल्प विकसित देश मे सरकार को अनेको लोकोपयोगी सेवाए प्रदान करनी पडती हैं। जैसे रेल व सडक यातायात, सचार वाहन के साधन तथा जल उपयोगी सेवाए इत्यादि। इन उद्योगो की स्थापना पर सरकार को इतना भारी व्यय करना पडता है जो अकेले कर द्वारा पूरा नही किया जा सकता। ऐसे उद्योगो की पूर्ति के लिए करारोपण की नीति निम्न कारणो से उचित नही ठहराई जा सकती (क) जनता पर करो का भार अधिक बढ जाएगा। (ख) अत्यधिक करारोपण जनता की कार्य करने व बचत करने की शक्ति व इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा। (ग) करदाताओ के रहन-सहन के स्तर की कर की अदायगी से गिर जाने की सभावना अधिक रहेगी।

ऐसी स्थिति मे ऋण नीति अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक होगी क्योकि (क) ऋण प्रदान करने से ऋणदाताओ को कोई विशेष कष्ट या त्याग सहन नही करना पडता। (ख) चूकि विकासशील योजनाओ से वर्तमान तथा भावी दोनो ही पीढिया लाभान्वित होती है इसलिए ऋणों द्वारा इनका भार भावी पीढियो पर विवर्तित किया जा सकता है। (ग) ऋणा के द्वारा विकासशील योजनाओ को क्रियान्वित करने म व्यक्तियो की कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव नही पडता है। अत विकास की योजनाओ को पूरा करने के लिए वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कर की अपेक्षा ऋण लेना अधिक उचित माना जाता है।

(4) युद्ध काल की वित्त व्यवस्था

आधुनिक काल मे युद्ध पर व्यय निरतर बढने पर है। प्रथम महायुद्ध मे युद्ध पर राष्ट्रीय आय का 50 प्रतिशत व्यय हुआ। द्वितीय महायुद्ध का सचालन व्यय 60 से 70 प्रतिशत तक रहा। यहा एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि युद्ध सचालन व्यय को पूरा करने के लिए करारोपण की नीति उपयुक्त रहेगी या ऋण नीति। क्योकि युद्ध के लिए सरकार को बहुत अधिक मात्रा मे व्यय करना पडता है इसलिए करारोपण द्वारा तथा ऋण लेकर, दोनो ही प्रकार से इस व्यय को पूरा किया जाना चाहिए। जैसा कि सैलिगमैन ने कहा है 'यदि देश की समस्त बडी-बडी आमदनियो तथा लाभो को सरकार जब्त कर ले, तब भी आधुनिक युद्ध का आधा खर्चा भी पूरा नही हो सकता है।' कर लगाने की भी एक सीमा होती है जो करदेय क्षमता से निर्धारित होती है। यदि करदाता को करदेय क्षमता से अधिक कर देने के लिए विवश किया जाएगा तो उसकी कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव पडेगा। इसलिए कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि सरकार को युद्धजनित व्यय की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए ऋण सहायता भी लेनी चाहिए। इससे सरकार को आय का एक

दूसरा साधन उपलब्ध हो जाता है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि युद्ध-जनित वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए करारोपण तथा ऋण की नीति दोनों ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

उधार के स्रोत

प्रत्येक सरकार को उधार के दो प्रकार के स्रोत उपलब्ध होते हैं—आतरिक और बाह्य। आतरिक रूप में सरकार व्यक्तियों, वित्तीय सस्थाओं, वाणिज्य बैंकों तथा केन्द्रीय बैंक से उधार ले सकती है। बाह्य रूप में सरकार व्यक्तियों तथा बैंकों से, अतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से तथा विदेशी सरकारों से उधार लेती है।

(1) व्यक्तियों से उधार

जब व्यक्ति सरकारी बाड खरीदते हैं तो ऐसा करके वे धन को गैर सरकारी उपयोग से सरकारी उपयोग की ओर स्थानातरित करते हैं। व्यक्ति सरकारी बाडो में अपना धन लगाने में या तो चालू उपभोग को कम करके समर्थ होते हैं (ऐसा बहुत कम स्थितियों म होता है।) अथवा वे अपने निजी व्यवसाय के लिए रखे गए धन को या ऋण पत्रो या प्रतिभूतियो मे लगे धन को वहा से हटाकर सरकारी बाड खरीदते हैं। प्राय व्यक्तियो को जब सरकारी बाड बेचे जाते हैं तो उसे उनके उपभोग या व्यवसाय के विस्तार में कोई कटौती नही होती। बडी मात्रा में बाड उन धन से खरीदे जाते हैं जो निष्क्रिय पडा रहता है।

(2) गैर बैंकिंग वित्तीय सस्थाओं से उधार

सरकारी बाडों मे धन विनियोग करने वालो मे ऐसी वित्तीय सस्थाए अधिक महत्वपूर्ण होती हैं, जैसे बीमा कपनिया, विनियोग प्रन्यास, परस्पर बचत बैंक, आदि। ये गैर बैंकिंग वित्तीय सस्थाए सरकारी बाडों को और अधिक सुरक्षित होने के कारण प्राथमिकता देती हैं। दूसरे, ये सरलता से बेचे जा सकते हैं तथा उनको चाहे जब तरल रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है। इन पर ब्याज की दर नीची होती हैं। अत यह हो सकता है कि वित्तीय सस्थाए जोखिम वाले एव उच्च प्रतिफल देने वाले ऋणपत्रो में विनियोग करना पसद करें। बैंकिंग कार्य करने वाली वित्तीय सस्थाए जब सरकारी बाड खरीदती हैं तो वे अपनी नकदी को कम करने के इरादे म खरीदती हैं।

(3) व्यापारिक बैंको से उधार

वित्तीय तथा गैरवित्तीय सस्थाए जहा सरकारी बाडो को अपने निजी धन से खरीदती हैं, वहा बैंक अतिरिक्त क्रय शक्ति का निर्माण करके (साख का निर्माण करके) ऐसा करती हैं। बैंक उतना ही ऋण दे सकेगा जितना कि उसकी अतिरिक्त नकद अरक्षित निधि होगी। ऐसा इसलिए सभव होता है क्योंकि बैंक जो ऋण

देते हैं वे नकद नहीं दिए जाते बल्कि उधार लेने वालो के नाम से खातो मे उल्लेखित कर दिए जाते है। ये उधार लेने वाले व्यक्तियो को चैक के द्वारा भुगतान करते हैं और भुगतान पाने वाले व्यक्ति भी चैक को बैंक मे भेज देते है क्योकि उनके भी खाते बैंक मे खुले होते हैं। परिणाम यह होता है कि जब तक बैको से नक्दी निकाली जाती है तब तक इस नक्दी का उपयोग ऋणो के विस्तार के रूप मे किया जाता है।

वाणिज्य बैंक भी साख का निर्माण करके सरकार को ऋण दे सकते है। ऐसा करने के लिए उन्हे अपने अन्य ऋण मे तथा अग्रिमो को कम करने की आवश्यकता नही होती। बैंक के पास अब भी अतिरिक्त नकद आरक्षित निधि होती है तभी वह उस निधि से सरकारी वस्तु खरीद सकता है।

(4) केंद्रीय बैंक से उधार

देश का केंद्रीय बैंक भी सरकार को ऋण देता है। यह भी इस कार्य के लिए ठीक वैसी ही कार्यवाही करता है जैसी कि वाणिज्य बैंको द्वारा अतिरिक्त नयशक्ति का निर्माण करके की जा सकती है। सरकारी बाडो को खरीदकर केंद्रीय बैंक अपने यहा के खातो म उल्लेखित कर देते हैं। सरकार अपने लेनदारो का भुगतान केंद्रीय बैंक के चैको द्वारा करती है। लेनदार भी अपनी धनराशियो को अपने बैंक मे जमा करते हैं। इस प्रकार, इन बैंको के पास बडी मात्रा मे नक्द आरक्षित निधिया उत्पन्न हो जाती हैं जो कर्ज तथा उधार का आधार बनती हैं। केंद्रीय बैंक मे लिया गया उधार अन्य सभी स्रोतो की तुलना म अधिक विस्तारवादी होता है क्योकि इसके द्वारा न केवल सरकार को ही अपने खर्चों के लिए धन प्राप्त होता है वरन वाणिज्य बैंको को भी अतिरिक्त नक्दी मिल जाती है। इस नक्दी का उपयोग साख के विस्तार के लिए किया जाता है।

व्यक्तियो और वित्तीय सस्थाओ के द्वारा लिए जाने वाले उधार जहा केवल गैर सरकारी उपयोग से सरकारी उपयोग की ओर स्थानातरण मात्र होते है वहा उनका अर्थव्यवस्था पर कोई विचारवादी प्रभाव नही पडता जबकि वाणिज्य बैंको तथा केंद्रीय बैंक मे लिए जाने वाले उधार विस्तारवादी प्रभाव डालते हैं।

उपरोक्त आतरिक ऋण साधना के अतिरिक्त सरकार देश के बाहर स भी ऋण प्राप्त करती है। इन उधारो का उपयोग युद्ध व्यय की वित्तीय व्यवस्था के लिए किया जाना है अथवा विकास परियोजनाओ के खर्चों के लिए या प्रतिकूल भुगतान शेष के भुगतान के लिए। पहले तो रेलो के निर्माण जैसी किसी विशिष्ट विकास प्रयोजना के लिए ऋण व्यक्तिया तथा बैंकिंग व अन्य वित्तीय सस्थाओ मे लिए जाते थे। परतु आजकल इन साधनो के अतिरिक्त कुछ और भी साधन हैं, जैसे अतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, अतर्राष्ट्रीय पुनरुद्धार व विकास बैंक, अतर्राष्ट्रीय विकास

जब सार्वजनिक ऋण का उपभोग भविष्य की उत्पादक योजनाओं व कार्यक्रमों पर किया जाता है तो इसका व्यक्ति की कार्य करने, बचत करने व विनियोग करने की क्षमता पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है परन्तु इन ऋणों के भुगतान करने के लिए जो कर लगाए जाते हैं वे व्यक्ति की कार्य करने, बचत करने व विनियोग करने की योग्यता पर विपरीत प्रभाव डालते हैं।

(ब) कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव : सरकार व्यक्तियों को प्रतिभूतियों का विक्रय करके विनियोग करने का सुरक्षित अवसर देती है जिससे बचतों को प्रोत्साहन मिलता है परन्तु सामान्यतः यह माना जाता है कि सार्वजनिक ऋण कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा को कम कर देते हैं, क्योंकि मूलधन व ब्याज को चुकाने के लिए जो कर लगाए जाते हैं व बचतों को कम कर देते हैं। सरकारी प्रतिभूतियों के धारकों को निरंतर ब्याज की प्राप्ति उनकी कार्य करने व बचत करने की इच्छा को कम कर देती है।

(स) साधनों के स्थानांतरण पर प्रभाव : जब सार्वजनिक ऋण का उपयोग ऐसे खर्चों में किया जाता है जो कि आवश्यक व उपयोगी होते हैं तथा जिनमें व्यक्तियों द्वारा धन नहीं लगाया जाता तो इस प्रकार धन का अंतरण उपयोगी होता है। जैसे सड़क, रेल, बिजली तथा सिंचाई आदि प्रयोजनाओं पर किया गया व्यय उपयोगी होता है। परन्तु जब सार्वजनिक ऋण द्वारा प्राप्त धन का उपयोग युद्ध आदि के लिए किया जाता है तो इस प्रकार के अंतरण से उत्पादन हतोत्साहित होता है।

अतः स्पष्टतः यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक ऋण द्वारा भविष्य में उत्पादन प्रोत्साहित व वर्तमान में निरुत्साहित होता है।

(3) सार्वजनिक ऋण और वितरण

सार्वजनिक ऋण का धन के वितरण पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। धनी वर्ग की बचतें अधिक होने के कारण ऋण अधिकतर इसी वर्ग से प्राप्त होता है। दूसरी ओर निर्धन वर्ग सरकार को ऋण देने में असमर्थ होता है। जब सरकार अपनी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण लेती है तो इनको केवल धनी वर्ग ही क्रय कर पाता है। परन्तु जब इनके ब्याज व मूलधन के भुगतान के लिए कर लगाया जाता है तो इसका भार मूलतः निर्धन वर्ग पर ही पड़ता है अर्थात् 'निर्धन वर्ग अपनी आय में से कुछ त्याग करता है जो ब्याज व मूलधन के रूप में धनी वर्ग के पास चला जाता है। इस प्रकार धन निर्धन से धनी की ओर जाने लगता है। निर्धन की आय कम हो जाती है और धनी की आय बढ़ जाती है, इस प्रकार धन की असमानता और अधिक बढ़ जाती है।'[1]

अतः यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक ऋण ब्याज लेने वाले और

1 Prof J K Mehta op cit, p 128.

ब्याज देने वाले वर्गों के बीच के अंतर को अधिक स्थाई बनाते हैं और इस संबंध में उन्हें सामाजिक दृष्टि से अच्छा नहीं समझा जाता।[1]

जब सरकार इस ऋण का उपयोग सार्वजनिक निर्माण के कार्यों में देश की उन्नति के लिए करती है तो इससे नये-नये कारखानों की स्थापना होती है और निर्धन वर्ग को रोजगार मिलता है। इसी प्रकार शिक्षा पर अधिक व्यय करके सरकार निर्धन व्यक्तियों को अधिक धन कमाने योग्य बनाती है। उनकी आय अधिक बढ़ जाने के कारण रहन-सहन का स्तर ऊंचा हो जाता है जो उनकी कार्यकुशलता बढ़ाता है और वे और अधिक कमाने योग्य हो जाते हैं। इस प्रकार निर्धन तथा धनी वर्ग के बीच की खाई कम हो जाती है।

(4) सार्वजनिक ऋण और रोजगार

रोजगार उत्पादन पर निर्भर करता है। देश में रोजगार अधिक होने पर *रोजगार भी अधिक होता है और उत्पादन कम होने पर रोजगार भी कम होता है* प्रो० लर्नर का मत है कि सार्वजनिक ऋण के संबंध में क्रियात्मक वित्त का सिद्धांत लागू होना चाहिए अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं पर किए जाने वाले व्यय में संतुलन होना चाहिए। यदि व्यय अधिक किया जाता है तो बेरोजगारी को बढ़ावा मिलता है किंतु जब व्यय उत्पादक कार्यों में किया जाता है तो रोजगार में वृद्धि होती है। *अतः यह कहा जा सकता है कि ऋण देश में उत्पादन-रोजगार को बढ़ावा देते हैं।*

(5) सार्वजनिक ऋण और विनियोग

विनियोग पर सार्वजनिक ऋणों के प्रभाव की विवेचना दो रूपों में की जा सकती है (अ) जब सार्वजनिक ऋण अधिक मात्रा में ले लिए जाते हैं तो उनके भुगतान के लिए सरकार बड़ी मात्रा में कर लगाती है जिससे विनियोगकर्ताओं के मन में बड़ी अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है *क्योंकि बड़े ऋणों के भुगतान के लिए* सरकार पूंजी कर या ऋण-नकार जैसी विधियों को अपना सकती है और इससे दीर्घकालीन विनियोग हतोत्साहित होते हैं।

(ब) दूसरे, जब बड़ी मात्रा में ऋण लिए जाते हैं तो सरकार अपने ब्याज के दायित्वों को न्यूनतम रखने के लिए बाध्य हो जाती है। जिससे विनियोग प्रोत्साहित होते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा जा सकता *है कि सार्वजनिक* ऋणों से विनियोग प्रोत्साहित होते हैं अथवा हतोत्साहित।

(6) सार्वजनिक ऋण और आंतरिक व बाह्य ऋण

सार्वजनिक ऋण सरकार आंतरिक व बाह्य दोनों ही रूपों में ले सकती है। आंतरिक ऋणों का कोई बुरा प्रभाव नहीं होता क्योंकि इसमें केवल धन का

1 Prof Findlay Shirras, 'The Science of Public Finance, p 472.

हस्तातरण देश मे ही होता है जबकि बाह्य ऋणो का देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडता है। यद्यपि बाह्य ऋण लेने से देश मे विदेशी तकनीक व सेवाओ का आगमन होता है जिससे राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय बढती है परन्तु इस ऋण का भुगतान सोना, बहुमूल्य वस्तुओ व सेवाओ आदि के रूप मे करना होता है। फलस्वरूप ये वस्तुए देश से बाहर चली जाती हैं और इनके अभाव मे देशवासियो का जीवन शीघ्र ही ऊचा नही हो जाता। दूसरी ओर आतरिक ऋणो म इस प्रकार का कोई अभाव देखने को नही मिलता क्योकि इसमे ब्याज व मूलधन के भुगतान म द्रव्य का हस्तातरण देश के अदर ही होता है। इस प्रकार जो भी उत्पादन होता है उसका उपभोग देशवासी ही करते है। अत यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि प्रत्येक देश की सरकार को बाह्य ऋणो की अपेक्षा आतरिक ऋणों को प्रमुखता देनी चाहिए क्योकि आतरिक ऋणो के प्रभाव बाह्य ऋणो की तुलना मे अच्छे होते हैं।

ऋण शोधन की विधिया

आधुनिक सरकारे अपनी ऋण शोधन क्रिया को एक सम्मानपूर्ण कार्य समझती है। ऋण का भुगतान उनकी साख और शक्ति को बनाए रखता है। राष्ट्र का यह उत्तरदायित्व है कि सकटकाल म वह शीघ्रता से ऋण जुटाने मे समर्थ हो तथा लिए हुए ऋण वापिस करे ताकि ऋणो के चुकता करने से व्यापार और उद्योग के लिए धन उपलब्ध हो सके। ऋण चुकाने के निम्नांकित उपाय हो सकते हैं

(1) आधिक्य राजस्व का उपयोग

जब किसी ऋण की परिपक्व तिथि आती है तो सरकार को उस ऋण की वापसी के लिए धन जुटाने की आवश्यकता होती है। ऐसा सरकार राजस्व की आय से पूरा कर सकती है या नये उधार लेकर या फिर घाटे की वित्त व्यवस्था को अपना कर। सामान्य रूप से ऋण का भुगतान सरकारी राजस्व मे से कर दिया जाता है। भुगतान के समय बजट मे आवश्यक धन की व्यवस्था कर ली जाती है।

(2) सरकारी बाडो का क्रय

इस विधि के अनुसार ऋण की परिपक्व स्थिति के पूर्व ही सरकार बाजार मे अपने ही बाड अथवा ऋण पत्रो को स्वय खरीद लेती है और फिर उन्हे रद्द कर देती है। इस विधि मे ऋण का थोडा-थोडा भाग अदा किया जा सकता है और समय-समय पर ऋण का थोडा-थोडा भार हल्का किया जा सकता है। ऐसा तभी सभव होता है जब राजस्व का आधिक्य हो अथवा कम ब्याज पर अनुकूल परिस्थितियो मे बाड बेचे जा सकते हो।

(3) सावधि वार्षिकी

जब यह पूर्ण रूप से निश्चित कर लिया जाता है कि सरकार को अपने स्थाई

ऋण को चुकाना है तब वह प्रतिवर्ष कुछ निश्चित धन वार्षिकी के रूप में ऋण-दाताओं के उधार चुकाने के लिए बाँध देती है। इसी भुगतान को वार्षिकी कहते हैं। भुगतान की राशि में मूलधन और ब्याज दोनों सम्मिलित होते हैं। स्पष्ट है कि जिस काल में यह वार्षिकी दी जा रही होगी, उसमें ब्याज के भुगतान के काल की अपेक्षा राजकीय वित्त पर कहीं अधिक दबाव पड़ता है।

(4) ऋण रूपांतरण

ब्यूहलर ने ऋण रूपान्तरण की परिभाषा इस प्रकार दी है 'साधारण सूद की दरों में आई हुई कमी से लाभ उठाकर, अपने ब्याज के भार को कम करने के उद्देश्य से वर्तमान ऋणों को नये ऋणों में बदलने की क्रिया को ही ऋण रूपांतरण कहते हैं। ऋण का भार घटाने का यह एक अच्छा उपाय है। यह रीति प्रायः उस समय अपनाई जाती है, जब ऋण शोधन की तिथि समीप आ जाती है और सरकार उनका भुगतान नहीं कर पाती।'

इस विधि के द्वारा ऋण का भार समाप्त नहीं होता अपितु भविष्य में ऋण भार अधिक हो जाता है क्योंकि बाजार में इन प्रतिभूतियों का मूल्य घट जाता है। डाल्टन के अनुसार, 'इस प्रकार के ऋण ब्याज की दर को दृष्टिगत रखते हुए विनियोगी वर्ग को अधिक पसंद होते हैं क्योंकि उनमें पूंजी का मूल्य बढ़ने का व्यावहारिक विश्वास होता है…केवल इस कारण से सरकारों का अंतिम ऋण भार बढ़ जाया करता है।' इसीलिए अधिकांश व्यक्तियों ने इसे अनुचित अर्थव्यवस्था कहकर इसकी आलोचना की है।

(5) क्रमानुसार भुगतान

इस उपाय के अनुसार ऋण का भुगतान क्रमानुसार किया जाता है। इस प्रकार की विधि में प्रत्येक ऋण का कुछ भाग प्रत्येक वर्ष परिपक्व हो जाता है। परिपक्व होने वाले ऋण पत्रों का क्रम सरकार पहले से ही निर्धारित कर देती है। इस रीति का प्रयोग अमरीका में स्थानीय सरकारों द्वारा बहुत अधिक किया गया है।

(6) लाटरी द्वारा भुगतान

यह उपरोक्त विधि का ही एक संशोधित रूप है। इस विधि के अनुसार जिन ऋण पत्रों का भुगतान किया जाता है उनकी क्रम संख्या आरंभ में ही निश्चित न करके, लाटरी के अनुसार तय की जाती है। इस विधि में सबसे बड़ी कमी यह है कि ऋणदाताओं को निश्चित रूप से यह ज्ञात नहीं हो पाता कि उन्हें ऋण की रकम कब वापिस होगी। इसलिए वे इस रकम के उपयोग करने की कोई उचित योजना नहीं बना पाते।

(7) शोधन विधि

इस उपाय के अंतर्गत ऋण को चुकाने के लिए एक विशेष कोष का निर्माण

किया जाता है। ऐसे कोष दो प्रकार से निर्मित किए जाते हैं। प्रथम वार्षिकी आय द्वारा तथा द्वितीय नये ऋणों द्वारा। प्रथम रीति के अनुसार राजस्व मे से एक निश्चित राशि ऋण चुकाने के लिए निकाल ली जाती है। यह इस हिसाब से निकाला जाता है कि एक निश्चित समय के अंदर ऋण को व्याज सहित चुकाने म सरलता हो। द्वितीय विधि के अनुसार नये ऋण लेकर शोधन निधि की स्थापना करना एक प्रकार से ऋण रूपांतरण ही है क्योंकि यहा पर पुराने ऋण का प्रतिस्थापन नये ऋण द्वारा ही हो जाता है।

डाल्टन ने शोधन विधि को दो भागो म विभाजित किया है

निश्चित निश्चित ऋण शोधन निधि म प्रतिवर्ष एक निश्चित धन राशि अनिवार्य रूप मे जमा कर दी जाती है। इस कोष की स्थापना म तीन मुख्य तत्त्व होते हैं (अ) ऋण शोधन की अवधि निश्चित करना, (ब) भुगतान कोषो को इस अवधि मे किस प्रकार से फैलाया जाए, तथा (स) शोधन निधि का बटवारा विभिन्न प्रकार के ऋणो मे किस प्रकार किया जाए।

अनिश्चित ऋण शोधन निधि के लिए कोष मे धन उसी समय जमा किया जाता है जबकि सरकार को अपने बजट म कुछ अतिरेक प्राप्त होता है।

ऋणो का भुगतान करने की अवधि जितनी कम होती है, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर उसका भार भी उतना ही अल्पकालिक होता है। कुछ व्यक्तियों का तो यहा तक कहना है कि ऋण का भुगतान एक विशेष कर लगाकर करना चाहिए, परन्तु इतने अल्पकाल की बात करना व्यावहारिक नजर नही आती। ऋण शोधन की अवधि निर्धारित कर लेने के बाद यह निश्चित करना आवश्यक हो जाता है कि भुगतान कोषों को इस अवधि पर किस प्रकार फैलाया जाए। इसके लिए निम्न विधियाँ हैं

(1) प्रथम विधि के अनुसार एक संचयी ऋण शोधन निधि की स्थापना की जाती है। जिसमे व्याज चक्रवृद्धि की दर से बढता है। प्रत्येक वर्ष इस निधि मे एक निश्चित राशि जमा की जाती है, जिस पर उपार्जित व्याज भी प्रति वर्ष इसी मे जमा किया जाता है।

दूसरी विधि के अनुसार, प्रत्येक वर्ष प्राप्त होने वाली व्याज की सपूर्ण राशि निधि मे जमा नही की जाती। उसका केवल एक भाग ही जमा किया जाता है और शेष भाग को ऋणदाताओ मे वितरित कर दिया जाता है, जिससे ऋण का भार प्रत्येक वर्ष समान बना रहता है।

तृतीय विधि के अनुसार वार्षिक व्याज की राशि से अधिक धन ऋणदाताओ मे वितरित कर दिया जाता है। इसके फलस्वरूप ऋण भार प्रतिवर्ष हल्का होता जाता है।

इन दोनों समस्याओं के हल करने के उपरांत तीसरी समस्या यह रह जाती है कि इन भुगतानों का बटवारा विभिन्न प्रकार के ऋणों में किस प्रकार किया जाए। हम यह जानते हैं कि सार्वजनिक ऋणों में एकरूपता नहीं होती। उनकी ब्याज की दर, भुगतान की विधि और समय आदि में भिन्नताएं होती हैं, इसलिए ऋण शोधन निधि का बटवारा करना एक कठिन कार्य होता है। व्यावहारिक दृष्टि से उत्तम मार्ग यह समझा जाता है कि कुछ भागों को विशेष ऋणों के भुगतान के लिए निश्चित कर देना चाहिए और शेष भाग को प्रयोग में लाने के लिए सरकार को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए।

(8) अनावर्ति पूंजी कर

अनावर्ति पूंजी कर के समर्थकों का कथन है कि ऋणों को चुकाने के लिए पूंजी पर एक प्रकार का कर लगाना चाहिए जिसे अनावर्ती पूंजी कर कहते हैं। यह एक विशिष्ट कर होता है जो केवल एक बार ही लगाया जाता है। इस विधि के अनुसार ऋण की पूरी अथवा आंशिक अदायगी की जा सकती है। इसके अंतर्गत एक ऐसा कानून बनाया जाता है जिसके अनुसार व्यक्ति की कुल पूंजी का एक निश्चित प्रतिशत कर के रूप में वसूल किया जाता है। अनावर्ति पूंजी कर को भी आरोही दर पर लगाया जाता है। यह स्मरण रहे कि यह कर केवल एक बार ही लगाया जाता है, आय और धन करों की तरह प्रत्येक वर्ष वसूल नहीं किया जाता। इस कर का समर्थन प्राय युद्ध के लिए किए गए सार्वजनिक ऋणों का भुगतान करने के लिए किया गया था। परंतु अब इसका उपयोग आर्थिक विकास के लिए साधन जुटाने में भी किया जाता है।

भारत में सार्वजनिक ऋण की स्थिति

नियोजन काल के पूर्व की स्थिति

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारत में सार्वजनिक ऋणों का प्रारंभ ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रारंभ काल से होता है। कंपनी को अपने प्रतियोगी देशी राजाओं, फ्रांसीसी तथा डच कंपनियों से युद्ध करने के लिए ऋण लेने पड़े थे। सन् 1860 तक जब ईस्ट इंडिया कंपनी का शासनकाल समाप्त हुआ तब भारत सरकार पर ऋण 10 करोड़ पौंड था। सन् 1860 के बाद ब्रिटिश भारत सरकार ने ऋण प्राप्त करने की अपनी नीति को परिवर्तित किया और सरकार ने निर्माण कार्यों, जैसे रेल निर्माण, नहर व सड़क निर्माण हेतु ऋण लेना प्रारंभ किया। 1914 तक ऋण की मात्रा बढ़कर 510 करोड़ रुपये हो गई। इसमें से 405 करोड़ रुपया उत्पादक व 105 करोड़ रुपया अनुत्पादक ऋण था। 1929-32 की महामंदी के समय बजट के घाटों को पूरा करने के लिए बहुत अधिक ऋण लेने पड़े। 1939 में सार्वजनिक ऋण की मात्रा 1205 करोड़ रुपये तथा द्वितीय महायुद्ध के अंत में 1860 करोड़ रुपये थी। दूसरे महायुद्ध में सरकार काफी सस्ती दर पर ऋण प्राप्त करने में सफल हुई।

15 अगस्त 1947 को यह ऋण भारतीय संघ तथा पाकिस्तान में विभाजित हो गया। कुल ऋण में से 300 करोड रुपये के ऋण पाकिस्तान के हिस्से में आए, जिनका उसने भारतीय सरकार को 3 प्रतिशत ब्याज की दर से 50 किश्तो में भुगतान करने का वचन दिया था किंतु आज तक पाकिस्तान ने एक भी किश्त का भुगतान नही किया है।

नियोजन काल मे स्थिति

भारतीय ऋणो को दो भागों में विभाजित किया गया है—आन्तरिक ऋण व वाह्य ऋण। नियोजन संबंधी कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए सरकार को अधिकाधिक मात्रा मे आंतरिक एवं वाह्य दोनों ही प्रकार के ऋणों का सहारा लेना पडा है। आन्तरिक ऋण बाजार तथा अल्प बचतो द्वारा प्राप्त किए गए हैं। बाजार ऋण व्यक्तियों तथा वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त हुए हैं तथा अल्प बचतें मुख्य तथा डाकघर बचत, बैंक जमा, राष्ट्रीय सुरक्षा प्रमाण-पत्र तथा सावधि संचयी जमा से प्राप्त हुई है। इसी प्रकार विदेशी ऋणो मे सबसे महत्त्वपूर्ण भाग डालर ऋणो का रहा है।

योजनाकाल मे ऋणो की स्थिति

(करोड रुपये मे)

योजनाकाल	वाह्य ऋण	आंतरिक ऋण
प्रथम पंचवर्षीय योजना	100	390
द्वितीय पंचवर्षीय योजना	700	930
तृतीय पंचवर्षीय योजना	2170	1420
तीन वार्षिक योजनाएं	2520	1145

स्पष्ट है कि योजनाकाल में भारत सरकार का ऋण काफी तीव्र गति से बढ़ा है। सन् 1950 से 1970 71 की अवधि मे केंद्रीय सरकार का कुल ऋण सात गुने से अधिक हो गया। इसी अवधि मे आंतरिक ऋण की अपेक्षा विदेशी कर्ज अधिक तेजी से बढा है। विदेशी कर्जों मे वृद्धि का प्रमुख कारण आर्थिक विकास है। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है

(करोड रुपये में)

वर्ष	आन्तरिक ऋण +	वाह्य ऋण =	कुल ऋण
(31 मार्च को)			
1950-51	2022	32 (1)	2054
1955 56	2330	114	2444
1960-61	3978	761 (16)	4739
1965-66	5415	2591	8006
1970-71	7763	6660 (46)	14423

स्पष्ट है कि पिछले 20 वर्षों में सार्वजनिक ऋण सात गुना बढ़ गया है, किंतु विदेशी कर्ज जो 1950-51 में कुल ऋण का 1 प्रतिशत से कुछ अधिक था, वह 1960-61 में 16 प्रतिशत व अब बढ़कर 46 प्रतिशत से अधिक हो गया है। विदेशी कर्जों में सबसे महत्वपूर्ण भाग डालर कर्जों का है जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका का विश्व बैंक द्वारा दिया गया ऋण सम्मिलित हैं। विदेशी कर्जों के अन्य मुख्य स्रोत इंग्लैंड, प० जर्मनी, सोवियत रूस व जापान हैं। एक सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार यह जून 1971 में 7810 करोड़ रुपये हो गया है। किंतु 12 जुलाई 1971 के वक्तव्य के अनुसार अप्रैल 1971 के अंत में हम पर कुल विदेशी ऋण 9902 करोड़ रुपये हो गया है अर्थात् आज प्रत्येक भारतवासी 180 रुपये के विदेशी ऋण के भार से दबा हुआ है। विदेशी ऋण की देशवार स्थिति इस प्रकार है

1	संयुक्त राज्य अमेरिका	6784 करोड़ रुपये
2	विश्व बैंक	1478 " "
3	प० जर्मनी	905 " "
4.	इंग्लैंड	715 " "
5	सोवियत रूस	670 " "
6	कनाडा	530 " "
7.	जापान	328 " "
8	अन्य देश	619 " "

इस प्रकार अकेले अमेरिका से हमें कुल विदेशी ऋण का 53 प्रतिशत प्राप्त हुआ है।

राज्य सरकारों की ऋण स्थिति : योजनाकाल में राज्य सरकारों का ऋण भी बढ़ा है। राज्यों के कुल ऋण में आधे से अधिक केंद्रीय सरकार से प्राप्त किया गया ऋण है। पहली पंचवर्षीय योजना में केंद्र से प्राप्त ऋण राज्यों के पूंजीगत व्यय का 77 प्रतिशत था जो तीसरी पंचवर्षीय योजना में 89 प्रतिशत तक बढ़ गया। नीचे राज्यों के कुल ऋण व उसमें केंद्रीय सरकार से लिए गए ऋण का प्रतिशत दिखाया गया है

(करोड़ रुपये में)

वर्ष के अंत में ऋण (1)	कुल ऋण (2)	इसमें केंद्र से प्राप्त ऋण (3)	3 का 2 पर प्रतिशत (4)
1951-52	445	238	53
1960-61	2727	2016	73
1969-70	7648	5807	77

स्पष्ट है कि राज्य सरकारों के ऋणों में 17 गुने से भी अधिक की वृद्धि हुई है जो बहुत अधिक है।

ऋणों की समस्याएं

भारत में सार्वजनिक ऋण अधिकतर उत्पादक कार्यों या आर्थिक संरचना अर्थात् सड़कें, सिंचाई, जल विद्युत, लौह-इस्पात प्रोजेक्ट, रेलें तथा संचारवाहन आदि को सुदृढ़ व विकसित बनाने हेतु लिए गए हैं। निसंदेह सार्वजनिक ऋणों से हमें आर्थिक विकास में बहुत सहायता मिली है। यह भी ठीक है कि आंतरिक ऋणों से कोई देश दिवालिया नहीं हो सकता किंतु चिंता का विषय ऋणों पर अत्यधिक निर्भरता है। हमारी आर्थिक विकास की योजनाओं ने अनिश्चितता उत्पन्न कर दी है। उदाहरणार्थ चतुर्थ पंचवर्षीय योजना को अंतिम रूप देने में देरी इसलिए हुई, *क्योंकि विदेशी ऋण मिलने के संबंध में काफी अनिश्चितता रही है। तीसरी योजना की असफलता के कारणों में एक कारण वांछित मात्रा में विदेशी सहायता का अभाव भी था।* संयुक्त राज्य अमेरिका के दबाव में आकर ही जून 1966 को हमें अपने रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा जिससे कि एक ही रात में हमारे विदेशी ऋण का मूल्य 3700 करोड़ रुपये से बढ़कर 5700 करोड़ रुपये हो गया था।

हमें अपने निर्यात से प्राप्त कुल विदेशी विनिमय का 25 से 30 प्रतिशत *प्रतिवर्ष बाह्य दायित्व देने में ही समाप्त करना पड़ रहा है, जबकि दूसरे विकास*-शील देशों का यह प्रतिशत 10 के लगभग है।

सुझाव

(1) निर्यात को बढ़ाने, आयात वस्तुओं के स्थान पर देश में ही वस्तुएं तैयार करने और *कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने की दिशा में शीघ्र प्रयत्नशील तथा प्रभावशाली राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम लागू किया जाना चाहिए।*

(2) विदेशी ऋणों पर ब्याज की दरें जो अभी 7 प्रतिशत तक हैं, कम होनी चाहिए।

(3) विदेशी सहायता के उपयोग की गति तीव्रतर होनी चाहिए और इसका उपयोग ऐसे क्षेत्रों में किया जाना चाहिए जिनमें उत्पादन सबसे अधिक हो।

(4) विदेशी सहायता प्रयोजना विशेष के आधार पर नहीं, बल्कि कार्यक्रमों के आधार पर प्राप्त की जानी चाहिए, जिससे सहायता का एक बार कार्यक्रम निर्धारित हो जाने के बाद अलग-अलग प्रायोजनाओं की व्याख्या और इसके लिए अलग-अलग समझौते की आवश्यकता न हो।

(5) *सहायता की मात्रा बढ़नी चाहिए क्योंकि आगामी वर्षों में भारत को* ऋणों की वापसी करनी होगी। इतनी ही नहीं, हमें अपने निर्यात से प्राप्त कुल विदेशी विनिमय का 25 से 30 प्रतिशत बाह्य दायित्व देने में ही समाप्त करना पड़ रहा है, जबकि अन्य विकासशील देशों में यह प्रतिशत 10 के लगभग ही है।

उन्मुक्त सहायता प्राप्त करने, ब्याज दर कम होने, उपयोग में तीव्रता करने, निश्चित कार्यक्रम होने पर ही सहायता प्राप्त करने से विदेशी सहायता का उचित उपयोग हो सकता है।

20

विकास वित्त

अल्प विकसित देशों में विकास के लिए वित्त का प्रबन्ध अपरिहार्य है। विकास की गति पूंजी निर्माण की मात्रा पर निर्भर करती है। यदि पूंजी की मात्रा पर्याप्त नहीं है और उसकी कुल मात्रा में निरन्तर वृद्धि नहीं हो रही है तो विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। प्रो० सायमन कुजनेट्स ने लिखा है : "पूंजी निर्माण आर्थिक उत्पादकता और विकास के लिए एक अनिवार्य शर्त है।" आज के युग में नियोजित आर्थिक विकास का एक अपरिहार्य और सर्वस्वीकृत अंग बन गया है और इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों की एक योजना बनाई जाए।

प्राकृतिक, मानवीय और वित्तीय सभी साधनों का नियोजित शोषण आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है किन्तु पूंजी अथवा वित्त का अभाव इस विकास में बाधा उत्पन्न करता है। परिवहन साधनों के विकास के लिए, योजनाओं और उपकरणों के लिए, सिंचाई एवं शक्ति के लिए ही नहीं अपितु सामुदायिक विकास, शिक्षा व स्वास्थ्य आदि के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है जो पिछड़े हुए देशों के पास नहीं होता। अविकसित देशों की जनता अधिकांश गरीब होती है जिससे बचतें कम होती हैं। फलस्वरूप पूंजी निर्माण की गति धीमी रहती है और जनसंख्या की वृद्धि तीव्र गति से होती है, इससे समस्या और भी जटिल हो जाती है। सीमित साख के कारण इन देशों को बाह्य ऋण भी अधिक मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पाता। अविकसित देशों में यन्त्र कला भी पिछड़ी हुई होती है जिससे साधनों का अधिकतम उपयोग नहीं हो पाता। अविकसित देशों में वित्तीय और तकनीकी समस्याओं का समाधान निजी साहसी अकेला नहीं कर पाता, इसीलिए राज्य का प्रत्यक्ष कार्यभार अपेक्षित होता है।

आर्थिक विकास के लिए वित्त

आर्थिक विकास के लिए पूंजी अथवा वित्तीय समाधनों की प्राप्ति दो स्रोतों से हो सकती है :

(ब) आतरिक ससाधन

विकास के लिए वित्तीय व्यवस्था के आतरिक ससाधनो मे निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण हैं

(1) **अनुत्पादक ससाधनो का स्थानातरण :** अधिकाशत कम विकसित देशो मे साधनो का एक बहुत बडा भाग या तो बेकार पडा रहता है अथवा उसे अनुत्पादक कार्यों के उपयोग मे लाया जाता है। विभिन्न ससाधन जिनमे प्राकृतिक उपहार तथा मानवीय शक्ति भी सम्मिलित हैं व्यर्थ पडे रहते हैं। पानी, खनिज पदार्थ व अन्य उपयोगी वस्तुए भू-गर्भ मे दबी पडी रहती है। विकासशील आर्थिक व्यवस्था म यह आवश्यक है कि ऐसे व्यर्थ पडे साधनो को उत्पादक कार्यो म प्रयुक्त किया जाए।

(2) **वर्तमान आय का उपभोग से पूजी निर्माण मे स्थानांतरण :** इस प्रक्रिया को बचत अथवा पूजी निर्माण भी कहते है। यदि किसी देश मे वर्तमान आय को *उपभोग और तत्कालीन आवश्यकताओ की पूर्ति पर व्यय न किया जाए अपितु* इसके एक भाग को यत्र, मशीन तथा परिवहन आदि के निर्माण मे लगा दिया जाए *तो वह आय जो इन उत्पादक उपयोगो म प्रयुक्त होगी वह बचत कहलाएगी।* प्राय अल्प विकसित देशो मे निर्धनता के कारण व्यक्तियो को बहुत कम आय होती है फलस्वरूप उनकी बचत करने की क्षमता भी कम होती है जिससे पूजी निर्माण कम हो पाता है।

स्पष्ट है कि *अविकसित देश मे पूजी की पूर्ति और पूजी की माग दोनो कम* होने से पूजी का निर्माण कम होता है। फिर भी यदि सरकार उचित कदम उठाए *तो आर्थिक विकास के लिए कुछ अश तक वित्तीय ससाधन प्राप्त किए जा सकते* हैं। यदि व्यक्तियो को किसी न किसी प्रकार बचत करने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित किया जाए तो वे सब मिलाकर पर्याप्त धन एकत्रित कर सकते हैं। व्यक्तियो को ऐच्छिक बचत करने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु निम्नलिखित उपाय किए जा सकते हैं

(1) यथासभव अधिक से अधिक लोगो के लिए बैंकिंग सुविधाए उपलब्ध कराने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(2) देश मे ऐसी उपयोगी सस्थाओ का होना भी अत्यत आवश्यक है जिनके द्वारा बडी मात्रा मे भी विनियोग किया जा सके।

(3) ग्रामीण क्षेत्रो की बचत का उपयोग अधिकाशत उन्ही क्षेत्रो मे किया जाना चाहिए जहा से वे एकत्र की गई हैं ताकि जनता पर उसका अनुकूल प्रभाव पडे।

(4) जनता में त्याग, सादगी और देश भक्ति की भावना का प्रचार किया जाना चाहिए।

(5) सरकारी कर्मचारी कुशल और ईमानदार होने चाहिए और उन्हें इस प्रकार से कार्य करना चाहिए ताकि जनता का विश्वास सरकार में बना रहे। यदि ऐसा विश्वास होगा तो व्यक्ति अवश्य ही बचत और विनियोग करेंगे। प्रो० आर्थर लेविस ने ठीक लिखा है 'कोई भी राष्ट्र इतना निर्धन नहीं होता कि चाहने पर भी वह अपनी राष्ट्रीय आय का 12 प्रतिशत नहीं बचा सके। निर्धनता ने आज तक किसी देश को युद्ध छेड़ने, या अपने धन को अन्य रीतियों से बरबाद करने से नहीं रोका है।'

(6) बचत करने की प्रेरणा को दो प्रकार से और भी प्रभावशाली बनाया जा सकता है (अ) व्यक्तियों को निजी उद्योगों में विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। ऐसा प्रोत्साहन तभी मिलता है जबकि निजी उद्यम सुरक्षित तथा लाभकारी हो और देश में विनियोग के पर्याप्त अवसर उपलब्ध हों। निजी उद्योगों में लाभोत्पादकता उत्पन्न करने के लिए सरकार अनेक उपाय कर सकती है, जैसे उद्योग को संरक्षण प्रदान करना, तकनीकी तथा वाणिज्यिक सूचनाएं आदि देना। (ब) व्यक्तियों में सरकार को रुपया उधार देने की प्रेरणा उत्पन्न की जाए। यह कार्य देश में बचत बैंक या ऐसा ही किसी अन्य संस्था द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। अल्पबचत योजनाएं इस उद्देश्य की पूर्ति में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। छोटी-छोटी बचतों से प्राप्त राशियां मिलकर एक बहुत बड़ी रकम के रूप में परिणित हो जाती है जिसका प्रयोग उत्पादक योजनाओं की पूंजी में किया जा सकता है।

(3) अनिवार्य बचत : सम्भव है कि सरकार द्वारा संरक्षण प्रदान करने पर भी देश में ऐच्छिक बचतें पर्याप्त मात्रा में नहीं हो सकें। यह भी सम्भव है कि व्यक्ति अपनी बचत को नकदी के रूप में या भूमि व स्वर्ण को खरीद कर रखें। अतः ऐसी स्थिति में सरकार निम्न साधनों द्वारा व्यक्तियों को बचत करने के लिए बाध्य कर सकती है :

(क) करारोपण - सरकार जनता पर कर लगाकर उनकी अतिरिक्त क्रय शक्ति को अपने पास हस्तान्तरित कर लेती है जिसका प्रयोग वह उत्पादक विनियोगों में करती है या निजी व्यक्तियों को विनियोग के लिए उधार देती है। इस प्रकार विनियोग के लिए करों से प्राप्त आय एक प्रकार से अनिवार्य बचत होती है। प्रो० नर्क्से ने इन्हें सामूहिक मितव्ययता नाम से सम्बोधित किया है। कुछ लोग करों के रूप में अनिवार्य बचतों को ऐच्छिक बचतों की अपेक्षा अच्छा मानते हैं। जैसा कि पाल एल्बर्ट ने लिखा है - 'कर न केवल व्यक्तियों को निर्धन बनाते हैं अपितु निर्धन अनुभव भी कराते हैं जबकि बचतें व्यक्तियों को धनी अनुभव कराकर उनकी

उपभोग की प्रवृत्ति को भी बढाती हैं।' किंतु कर पूजी निर्माण मे तभी वृद्धि करते हैं जबकि वे उस आय में से प्राप्त किए गए हों जिसका कर की अनुपस्थिति मे व्यय कर दिया जाता हो। अनिवार्य बचत की वृद्धि के लिए सरकार नये कर लगाती है और पुराने करो म वृद्धि करती है। सरकार प्रत्यक्ष व परोक्ष कर की सहायता लेती है। प्रत्यक्ष करो म आयकर, सपत्ति कर, सपदा कर, उपहार कर, पूजी लाभ कर आदि म वृद्धि की जाती है। परोक्ष कर अनेक वस्तुओ के उत्पादन और उपभोग पर लगाए जाते हैं। इन करो के द्वारा उन वस्तुओ के मूल्यो म वृद्धि हो जाती है और उनका उपभोग कम हो जाता है। इस प्रकार जो कुछ अतिरिक्त बच रहता है उसे सरकार विकास के कार्यों मे प्रयोग करती है। करारोपण द्वारा एकत्र की गई राशि को पूजीगत वस्तुओं के निर्माण म प्रयुक्त किया जा सकता है।

करारोपण द्वारा विकास वित्त का प्रबध अनेक रूपो मे लाभप्रद होता है। आर्थिक नियोजन द्वारा राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय मे प्रत्यक्ष रूप से वृद्धि होती है इसलिए यह उचित है कि आर्थिक विकास के प्रयत्नो से लोगो की आय मे जो वृद्धि हुई है उसे करारोपण द्वारा पुन वापिस ले लिया जाए ताकि योजना के आगामी कार्यक्रमो को पूरा किया जा सके। दूसरे आर्थिक विकास स्फीतिकारक दबाव उत्पन्न कर सकता है इसलिए व्यक्तियो के हाथ मे क्रय शक्ति की मात्रा को कम करने के लिए करारोपण का प्रयोग लाभकारी सिद्ध होता है। विकास वित्त की व्यवस्था म करारोपण द्वारा धन एकत्र करने की क्षमता का प्रयोग कुछ सीमाओ के अतर्गत ही हो सकता है क्योंकि :

(1) अर्धविकसित देश म प्रति व्यक्ति आय बहुत कम होती है, और धन का वितरण असमान होता है, इसलिए व्यक्तियो पर अधिक कर लगाकर अधिक मात्रा म वित्त प्राप्त नही किया जा सकता। कोई भी कर चाहे वह कितना ही प्रगतिशील क्यो न हो, उसका कुछ न कुछ भार अवश्य पडता है। इसलिए करारोपण की नीति एक सीमित मात्रा म ही अपनाई जा सकती है।

(2) कराधान का बचत करने की इच्छा व शक्ति पर भी प्रेरणाहारी प्रभाव पडता है। अधिक करारोपण से उत्पादन पर भी प्रतिकूल प्रभाव डलता है।

(3) करो की एक सीमा है, करदान क्षमता, जिससे अधिक कर नही लगाया जा सकता। यदि करदेय क्षमता से अधिक कर लगाया जाता है तो देश की आर्थिक स्थिति खतरे में पड सकती है।

अत करारोपण की नीति को निर्धारित करते समय निम्न बातो को ध्यान मे रखना आवश्यक है

(अ) कर पद्धति ऐसी हो जो सरकार को अधिक से अधिक धन एकत्र करने मे सहायता कर सके, बचत और विनियोग पर बुरा प्रभाव न डाले। साथ ही उत्पादन को प्रोत्साहित करे और आर्थिक विषमता को कम करे।

(ब) करारोपण की नीति की रचना इस प्रकार से की जाए कि वह मुद्रास्फीति रोकने में सफल हो सके। कर की प्रणाली प्रगतिशील होनी चाहिए और विशेष प्रकार के मुद्रा प्रसार विरोधी कर लागू किए जाने चाहिए, जैसे अधिलाभ कर, व्यय वस्तु कर आदि।

संक्षेप में नये करों को लागू करने और पुराने करों में वृद्धि करने में विवेक से काम लेना चाहिए। इस प्रसंग में प्रो० मेयर तथा प्रो० बाल्डविन ने लिखा है कि एक ऐसी कर व्यवस्था के प्रतिपादन की आवश्यकता है जो निर्धन देशों की प्रशासनिक क्षमता की सीमा में हो तथा साथ ही प्रेरणा एवं न्यायशीलता की विचारधारा को बिना नष्ट किए विकास-व्यय के स्फीति प्रभावों को समाप्त कर सके।

(ख) अनिवार्य बचत निक्षेप : अनिवार्य बचत को बढ़ाने का एक दूसरा उपाय 'अनिवार्य बचत निक्षेप योजना कार्यान्वित करना है' क्योंकि ऐसा हो सकता है कि सभी प्रयत्नों के बावजूद ऐच्छिक बचत के रूप में अधिक मात्रा में धन न जुट पाए। आर्थिक विकास संबंधी कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार लोगों को बचत करने के लिए बाध्य करे और अनिवार्य बचत योजना चालू करे। उदाहरण के लिए भारत सरकार ने 1963-64 के बजट में एक अनिवार्य बचत योजना लागू की थी परन्तु जिसे अक्तूबर 1963 में आंशिक रूप से वापिस ले लिया गया।

(ग) घाटे की वित्त व्यवस्था : घाटे की वित्त व्यवस्था की *शब्दावली बजटों* के घाटों द्वारा कुल राष्ट्रीय खर्च में वृद्धि करने के लिए प्रयोग में लाई जाती है। ये घाटे चाहे आय खाते से संबंधित हों अथवा पूंजी खाते से। अतः ऐसी नीति अपनाने का सार यही होता है कि सरकार अपनी आय से अधिक मात्रा में व्यय करती है। सरकार बजट के घाटों की पूर्तियां अपने संचित कोषों को प्रयोग करके करती है अथवा बैंकों से उधार लेकर द्रव्य का निर्माण किया करती है।

घाटे की वित्त व्यवस्था की स्थिति तभी पैदा होती है जब सरकार को करों, ऋणों व अन्य साधनों से प्राप्त होने वाली आय से अधिक व्यय करना पड़ता है। सरकार ऋण-पत्र जारी करके इन्हें केंद्रीय बैंक को देती है। इस अतिरिक्त मुद्रा के द्वारा सरकार विभिन्न साधनों का क्रय करती है ताकि पूंजीगत सामान में वृद्धि हो सके।

सामान्य घाटे की वित्त व्यवस्था का प्रभाव स्फीतिकारक होता है। यदि सरकार अतिरिक्त मुद्रा को उत्पादक कार्यों में विनियोजित करती है तो यह प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। डा० वी० के० आर० वी० राव का कहना है : 'यह घाटे की वित्त व्यवस्था नहीं है जो भूतकाल की भांति मुद्रा प्रसार के लिए उत्तरदायी रहा है, अपितु यह तो अनुत्पादक प्रकृति का व्यय तथा बढ़ते हुए व्यय के साथ-साथ कार्य व बचत के रूप में समुदाय का असंतोषजनक दायित्व है जो मुद्रा प्रसार के लिए

उत्तरदायी है।' इस प्रकार अविकसित देश के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था उचित हो सकती है यदि सरकार इसको नियन्त्रित रखे।

(4) **सार्वजनिक ऋण**. विकासशील अर्थव्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण साधन लोक ऋण है। करारोपण के अतर्गत वैधानिक दबाव मे जनता से त्याग करवाया जाता है, लेकिन लोक ऋण एक ऐसा साधन है जो जनता की निजी बचतो को स्वेच्छा से प्रभावित करता है। लोक ऋण के विषय म हम अध्याय (23) मे विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे विकासशील अर्थव्यवस्था मे धनी वर्ग बडी मात्रा मे ऋण देता है लेकिन मध्यम व निम्न श्रेणी के व्यक्ति भी अल्पबचत योजनाओ द्वारा सरकार को ऋण देते हैं। इसके दो मुख्य लाभ होते हैं एक तो सरकार को धन मिलता है दूसरे जनता का वर्तमान उपभोग कम हो जाता है जो कि विकासशील अर्थ-व्यवस्था का एक सुधारात्मक तत्त्व है।

(5) **सार्वजनिक उपक्रमो से प्राप्त आय**. विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए यही आवश्यक नही है कि सरकार उद्योग व्यापार के विकास का उचित वातावरण बना दे और निजी क्षेत्र मे पूजी विनियोग को प्रोत्साहित करे वरन यह भी आवश्यक है कि वह सार्वजनिक व्यापारिक कार्य क्षेत्र मे भी वृद्धि करे।

नियोजित अर्थव्यवस्था मे सार्वजनिक उपक्रम यदि कुशलतापूर्वक चलाए जाए तो लाभ के महत्त्वपूर्ण स्रोत हो सकते है। इन लाभो को देश के आर्थिक विकास के कार्यक्रमो मे लगाया जा सकता है। पश्चिम के औद्योगिक देशो मे सरकार द्वारा चलाई गई व्यापारिक सस्थाओ से सरकार की कुल आय का लगभग तिहाई भाग प्राप्त हो जाता है। विकासशील देशो मे भी ज्यो-ज्यों सरकारी उद्योग बढाए जाएगे त्यो-त्यो उनसे योजनाओ के लिए वित्त का प्रबध किया जा सकेगा। इस सबध मे यह भी आवश्यक है कि सरकार के अधीन उद्योगो से मिलने वाले लाभ को उन्हीं उद्योगो मे विकास के लिए पुनर्विनियोजित अथवा नवीन उद्योगो की स्थापना के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए।

(ख) बाह्य ससाधन

किसी भी देश की सरकार प्राय दो कारणो से बाह्य वित्त का उपयोग करती है

(1) कभी-कभी देश के विकास कार्यों के लिए आतरिक साधन पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही हो पाते हैं। अल्प विकसित देशो मे ऐच्छिक बचत अधिक नही हो पाती, करारोपण एक सीमा से आगे नही बढाया जा सकता और घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा मुद्रा स्फीति दशाओ के उत्पन्न होने का भय रहता है।

(2) अल्प विकसित देशो को अपनी विकास योजनाओ के लिए तकनीकी ज्ञान, वैज्ञानिक जानकारी, मशीनो तथा अन्य पूजी यत्रो की आवश्यकता रहती है। प्राय.

ऐसे देशों के पास विदेशी विनिमय का भी अभाव हुआ करता है। ऐसी स्थिति में यह देश विदेशी पूंजीगत माल तभी खरीद सकते हैं जब उन्हें विदेशों से ऋण या सहायता के रूप में विदेशी पूंजी प्राप्त हो। बाह्य ऋण से यह लाभ है कि इनके साथ विदेशी मुद्रा, तकनीकी ज्ञान, औद्योगिक उद्यम आदि सभी चीजें आती हैं जिनकी ऋण लेने वाले देश को अधिक आवश्यकता होती है। किसी भी सरकार द्वारा विदेशी वित्त निम्न प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है

(1) **विदेशी नागरिकों से ऋण :** कई अविकसित दशा में इस प्रकार के ऋणों ने बड़ा योग प्रदान किया है। भारत के रेलों व सिंचाई योजनाओं पर निर्माण मुख्यत इसी प्रकार की पूंजी द्वारा हुआ है। फिर भी वर्तमान काल में बाह्य सहायता के इस साधन का महत्त्व कम होता जा रहा है क्योंकि—(1) विदेशी व्यक्ति अविकसित देशों की राजनीति और आर्थिक दशाओं की अनिश्चितता व जोखिम के कारण पूंजी विनियोग करने में हिचकिचाते हैं। (2) इस पूंजी को उन्नत देशों में विनियोग करने के अधिक आकर्षक अवसर प्राप्त हो जाते हैं। (3) कुछ अल्प विकसित देश व्यक्तिगत बाह्य पूंजी के प्रति विरोध प्रदर्शन करते हैं।

(2) **विदेशी सरकारों से ऋण :** द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार के बड़े-बड़े राष्ट्र कम उन्नत देशों को आर्थिक विकास के लिए अनेक प्रकार से ऋण देते रहे। उदाहरणार्थ अमेरिका एवं सोवियत संघ तकनीकी सहयोग तथा अन्य कार्यक्रमों की पूर्ति में महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान करते हैं परन्तु इनमें एक बड़ा भय यह बना रहता है कि कहीं ये देश गुटबंदी द्वारा ऋणग्रस्त देशों से कुछ राजनीतिक लाभ प्राप्त न कर लें। इसलिए ये देश अपने अस्तित्व को खतरे में डालकर विदेशी सरकारों से ऋण लेने में हिचकिचाते हैं।

(3) **अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण :** विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं, जैसे विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अंतर्राष्ट्रीय विकास परिषद, संयुक्त राष्ट्र आर्थिक विकासार्थ विशेष कोष आदि से भी अल्प विकसित देशों को अपने आर्थिक विकास कार्यक्रमों की पूर्ति के लिए पर्याप्त वित्तीय एवं तकनीकी सहायता प्राप्त होती है। अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक ने कई देशों को सिंचाई, रेलों, बिजली आदि योजनाओं के लिए ऋण दिए हैं। इन संस्थाओं से केवल मुद्रा के रूप में ही सहायता नहीं मिली है वरन डाक्टरों, इंजीनियरों, वैज्ञानिकों, सलाहकारों, मशीनों, कच्ची सामग्री आदि के रूप में भी सहायता प्राप्त हुई है। इस प्रसंग में डा० वी० के० मदान का मत है : 'अंतर्राष्ट्रीय बैंक अनेक एवं बैंक है जिसकी स्थापना उत्पादक कार्यों और लाभदायक परियोजनाओं की वित्तीय व्यवस्था करने की एक एजेंसी के रूप में आ गई है। शिक्षा, चिकित्सा, जन स्वास्थ्य एवं व्यक्तियों का तकनीकी प्रशिक्षण आदि विकास के मौलिक विस्तृत क्षेत्र हैं जिनमें विनियोग की आवश्यकता है और जो केवल दीर्घकाल में प्रत्यक्ष रूप से ही उत्पादकीय हैं लेकिन जो अर्द्ध-विकसित देशों की क्षमता और आर्थिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।'

इस प्रकार विदेशी ऋण और विदेशी आर्थिक सहायता आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राष्ट्रों के लिए आर्थिक विकास योजनाओं में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है क्योंकि इसके द्वारा कम उन्नत देशों को धन, विदेशी विनिमय-पूँजीगत माल और तकनीकी सहायता प्राप्त हो जाती है। आज संसार में जनसंख्या का लगभग दो-तिहाई भाग ऐसे क्षेत्रों में रहता है जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। इन क्षेत्रों के आर्थिक विकास का महत्त्व संसार में शान्ति बनाए रखने की दृष्टि से अनुपेक्षणीय है। यदि इनका समुचित आर्थिक विकास न किया गया तो ये क्षेत्र ज्वालामुखी बनकर सारे संसार की शान्ति को कभी भी अग्नि की आहुति बना सकते हैं। अत विकसित देशों का स्वयं का हित भी इसी बात में है कि वे संसार के पिछड़े क्षेत्रों को ऊँचा उठाने में पूर्ण सहयोग दें।

अत में यह नहीं भूलना चाहिए 'आर्थिक विकास के क्षेत्र में विदेशी वित्त को केवल गौण स्थान ही प्राप्त रहता है।' अर्द्धविकसित देशों में आर्थिक विकास के कार्यक्रमों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाह्य ऋणों पर तभी तक निर्भर रहना चाहिए जब तक कि वे अपने आतरिक ससाधनों को गतिमान करने में असमर्थ रहते हैं। प्रो० बुचनन एवं एलिस के इस निष्कर्ष से हम सहमत हैं, देशी तथा विदेशी वित्त एक-दूसरे के पूरक हैं, परंतु जब तक उपभोग और बचत करने की क्रियाओं को धन संग्रह करने वाली संस्थाओं या कानूनी संरचनाओं से तथा ऋण देने और विनियोग करने की क्रियाओं का पूँजी निर्माण के अनुकूल नहीं बनाया जाता तब तक विदेशी सहायता का केवल क्षणिक लाभ ही प्राप्त हो सकता है। *उच्च जीवन स्तर के लिए एक स्थाई आधार का निर्माण तो देश के आतरिक* प्रयत्नों से ही किया जा सकता है।'[1] विदेशी ऋण अथवा विदेशी सहायता पर इसलिए भी पूर्णत निर्भर रहना उचित नहीं है कि उचित समय पर इनकी प्राप्ति और मात्रा के संबंध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। साथ ही ऐसी सहायता में राजनीतिक स्वार्थों के होने का भय सदैव विद्यमान रहता है। अत विदेशी सहायता पर आर्थिक विकास की निर्भरता के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए

(1) ऋणों का प्रयोग देनदार देश के निर्यात को बढ़ाने या आयात को घटाने के लिए किया जाना चाहिए।

(2) निर्यातों की वृद्धि और आयातों की कमी का समय इस तरह व्यवस्थित करना चाहिए कि मूलधन और ब्याज का निर्धारित समय पर शोधन हो जाए।

(3) ऋण की अदायगी के समय में लेनदार देशों को अधिक माल लेने के लिए राजी किया जाना चाहिए।

1 Buchanan Ellis : 'Approaches to Economic Development,' p 20.

(4) ऋण संबंधी व्यय अधिक नहीं होने चाहिए अन्यथा उनके शोधन में राष्ट्रीय आय की वृद्धि का एक बहुत बड़ा भाग देश से बाहर चला जाएगा।

(5) ऋण उत्पादक कार्यों में ही प्रयुक्त किए जाने चाहिए और इस संबंध में प्रशासनिक कुशलता व मितव्ययिता पर पूरा बल दिया जाना चाहिए।

21
युद्ध वित्त

आधुनिक युद्ध प्राचीन काल के युद्धो से भिन्न होते है । आज के युद्ध ऐसे नही हैं जो केवल मात्र रण भूमि मे लडे जाते हो वरन अर्थव्यवस्था के उन सभी मोर्चों पर लडे जाते हैं जो उत्पादन मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष भूमिका निभाते है । क्राउथर के शब्दो मे 'वर्तमान युद्ध लडाई के मैदानो मे नही वरन हजारों घरो, औद्योगिक शहरों खानो तथा कारखानो मे जीता जाता है ।' के०ई० बोल्डिंग ने एक अन्य स्थान पर कहा है, 'युद्ध का अर्थशास्त्र केवल मात्र एक उद्योग का विकास है—सशस्त्र सेना का जो अनेक चीजों की लागत पर प्राप्त होता है ।'

आधुनिक युद्ध के लिए विशाल साधनो की आवश्यकता है । डेनियल डिफो का कथन है 'वर्तमान समय मे युद्ध की जीत लबे कोष से प्राप्त की जाती है, क्योकि युद्ध सचालन मे द्रव्य की शक्ति ही अधिक महत्त्वपूर्ण होती है ।' इसी सबध मे सर जान साइमन ने कहा है, 'जैसा कि कुछ समय से कहा गया है कि वित्त प्रतिरक्षा का चतुर्थ अस्त्र है तथा इसका महत्त्व अन्य अस्त्रों से कम नही है, क्योकि यदि वित्त असफल हो जाता है तो समस्त युद्ध प्रयास ही असफल माने जाते हैं ।'

वास्तविक साधन

युद्धकाल मे युद्धग्रस्त देशो मे समस्त वास्तविक तथा वित्तीय साधनो को युद्ध के लिए स्थानातरित करना होता है । युद्ध के वास्तविक साधन निम्नलिखित स्रोतो से प्राप्त किए जा सकते है

(1) उत्पादन मे वृद्धि

युद्ध प्रारभ होने के समय उत्पादन मे वृद्धि होना किसी देश के विभिन्न आर्थिक साधनो के पूर्ण रोजगार अथवा आशिक रोजगार की सीमा पर निर्भर करता है । उत्तम प्रशिक्षण, अभिनवीकरण, आविष्कार आदि के द्वारा कार्यक्षमता मे वृद्धि करके किसी सीमा तक उत्पादन मे वृद्धि की जा सकती है । उत्पादन म वृद्धि के लिए साधारणत ये विधिया अपनाई जा सकती हैं (क) बेकार साधनो

को कार्यों में लगाना। (ख) काम के घंटों में वृद्धि करना, और एक से अधिक पारियां चलाना। (ग) स्त्रियों, नवयुवकों तथा अवकाश प्राप्त व्यक्तियों को काम में लगाना। (घ) तकनीक प्रशिक्षण व अन्य विधियों द्वारा श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि करना। (ङ) अभिनवीकरण द्वारा उत्पादक क्रियाओं की क्षमता में वृद्धि करना। तथा (च) विविध श्रम अधिनियमों द्वारा औद्योगिक संघर्षों को कम करना या समाप्त करना आदि।

(2) उपभोग में कमी

युद्धकाल में उपभोग में कमी करके साधन को चालू उपभोग से हटाकर युद्ध कार्यों की ओर स्थानान्तरित किया जा सकता है। उपभोग में यह कमी या तो ऐच्छिक रूप से की जा सकती है या अनिवार्य रूप से अथवा मिश्रित तरीके से की जा सकती है। उपभोग में ऐच्छिक कमी की प्रेरणा तो लोगों के साधारणत आत्म संयम के आंदोलनों द्वारा की जा सकती है। युद्ध के लिए उपहार एवं युद्ध-निधियों (War Funds) को एकत्र किया जा सकता है तथा प्रतिरक्षा ऋणों को एकत्र किया जा सकता है। उपभोग में अनिवार्य रूप से कमी कई तरीकों से की जा सकती है—जैसे अतिरिक्त करारोपण, अनिवार्य बचत योजना, आयातों को कम करके, राशनिंग व्यवस्था लागू करके आदि। जितनी अधिक राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय होगी तथा जितना अधिक अनावश्यक व्यय होगा उतनी ही अधिक मात्रा में सरकार नागरिक उपभोग को कम करके युद्ध प्रयत्नों की ओर अग्रसर हो सकेगी।

(3) पूंजी निर्माण में कमी व चालू पूंजी का रिक्तीकरण करके

युद्धकाल में साधन उन धन राशि से भी प्राप्त किए जाते हैं जो पूंजीगत साज-सामान की वृद्धि और यंत्रों की मरम्मत आदि के लिए रखी जाती है। सामान्य मरम्मत और पुनर्स्थापित कार्यों को तथा रेल मार्गों की मरम्मत का काम स्थगित करके पुरानी और घिसी हुई मशीनों को चालू रख कर, भूमि का शोषण करके उससे निरंतर नई उपज लेकर, उसमें खाद न देकर उन साधनों से जो साधारणत. इनके उत्पादन में लगाए जा सकते हैं, अतिरिक्त साधन प्राप्त किए जा सकते हैं और इस प्रकार युद्ध का सामना करने के लिए तत्कालीन आर्थिक शक्ति में वृद्धि की जा सकती है।

(4) वर्तमान पूंजी का अधिक उपयोग

युद्ध के लिए साधन वर्तमान पूंजी का दोहन करके भी प्राप्त किए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ खानों से अधिक खनिज निकाला जा सकता है तथा स्वर्ण, जवाहरात व कलात्मक वस्तुओं का निर्यात किया जा सकता है। चालू आय में से प्राप्त

होने वाली धनराशि को पूजीगत परिसपत्तियो मे विनियोजित न करके भी युद्ध कार्यों के लिए साधन उपलब्ध किए जा सकते हैं।

(5) बाह्य ऋण

युद्धग्रस्त देश विदेशों से ऋण लेकर भी युद्ध का सचालन कर सकता है। सामान्यत ऋण युद्ध सामग्री खरीदने के लिए तटस्थ राष्ट्रो से लिए जाते है। मित्र देश उपहार के रूप मे ऐसी सहायता प्रदान कर सकते हैं। द्वितीय महायुद्ध काल मे ग्रेट ब्रिटेन ने भी सयुक्त राज्य अमेरिका से भारी मात्रा मे ऋण लिए थे।

(6) विदेशो मे लगी हुई पूजी की बिक्री

युद्ध के लिए आवश्यक धन एकत्रित करने की दृष्टि से कोई भी देश युद्धकाल मे विदेशों मे लगी पूजी को निकाल या बेच सकता है। उदाहरण के लिए द्वितीय महायुद्ध काल मे अमेरिका मे लगी हुई ब्रिटिश पूजी बेच दी गई और इससे प्राप्त धन का उपयोग उसी देश की आवश्यक युद्ध सामग्री खरीदने म किया गया।

वित्तीय साधन

युद्ध के लिए वित्तीय व्यवस्था करने का आशय पर्याप्त धन एकत्र करना है जिसके द्वारा विभिन्न प्रकार के साधन, कच्चा माल, खाद्य सामग्री, पूजीगत सामान, कर्मचारियो की सेवाए तथा युद्ध के अस्त्र शस्त्र आदि खरीदे जा सकें और सैनिकों के वेतन आदि का भुगतान किया जा सके। यह धन निम्न रीतियां द्वारा जुटाया जा सकता है

(अ) करारोपण द्वारा

युद्धकालीन अर्थव्यवस्था मे करारोपण की समस्या शातिकालीन अर्थव्यवस्था की अपेक्षा भिन्न होती है। युद्धकाल मे करारोपण की समस्या गुणात्मक न होकर परिणात्मक होती है। सरकार केवल इसी ओर ध्यान देती है कि वह करारोपण द्वारा अधिकाधिक धन कैसे प्राप्त करे और इसी विचार से नए-नए कर लगाती जाती है और पुराने करो की दरो को बढाती जाती है। सरकार करो की प्रकृति की ओर बिलकुल ध्यान नही देती, क्योकि इस अवधि मे सरकार का मुख्य ध्येय केवल धन जुटाना होता है। शातिकालीन समय मे करारोपण का एक सिद्धात यह है कि आवश्यक पदार्थों के उपयोग पर प्रतिबध नही लगाने चाहिए। किंतु युद्धकाल मे आवश्यक वस्तुओ के उपभोग पर भी प्रतिबध लगाए जा सकते हैं। इसी प्रकार युद्धकाल में कर की दरो को किसी भी सीमा तक बढाया जा सकता है तथा इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता कि करारोपण से व्यक्तियो की बचत व विनियोग करने की शक्ति पर क्या प्रभाव पडेगा। चूंकि युद्धकाल वास्तव मे मुद्रास्फीति का काल होता है, इसलिए करारोपण का उद्देश्य केवल आय प्राप्त करना ही नही वरन स्फीति विरोधी क्रियाओ को नियत्रित करना भी होता है।

युद्ध व्यय का करों द्वारा पूरा करने के पक्ष में तर्क

युद्धकाल में करारोपण द्वारा कितनी मात्रा में धनराशि प्राप्त की जा सकती है, यह निम्न बातों पर निर्भर करती है (1) करारोपण की वर्तमान दर, (2) लगाए गए करों की प्रवृत्ति, (3) जनता की आर्थिक स्थिति, (4) नागरिकों की कर भुगतान की क्षमता, और (5) समाज के विभिन्न वर्गों में धन का वितरण।

यदि युद्धकाल के पूर्व ही करारोपण की दर काफी ऊंची है, या करदान क्षमता की अंतिम सीमा का उल्लंघन हो चुका है, या देश निर्धन है या समाज में धन का वितरण समान है, या यदि व्यक्ति कर भार सहन करना नहीं चाहते तो अतिरिक्त करारोपण द्वारा धन प्राप्त करने की संभावना बहुत कम रहेगी। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि केवल करों द्वारा आय प्राप्त करके ही युद्ध का व्यय पूरा करना चाहिए। इस संबंध में निम्न तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं :

(1) मुद्रा प्रसार का भय नहीं रहता : करारोपण द्वारा युद्ध व्यय की पूर्ति करने पर मुद्रा प्रसार के दुष्परिणामों से मुक्त रहा जा सकता है। यदि करों और ऋणों से सरकार को पर्याप्त धन प्राप्त नहीं होगा तो उसे युद्ध संचालन के लिए मुद्रा प्रसार की नीति अपनानी पड़ेगी जिसके समाज पर बहुत बुरे प्रभाव पड़ेंगे। युद्ध वित्त की पूर्ति के लिए मुद्रा प्रसार करने से वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में आशातीत वृद्धि हो जाएगी, निर्धन वर्ग पर अनुचित बोझ आ पड़ेगा और अधिकतम सामाजिक कल्याण की संभावनाओं पर पानी फिर जाएगा। अतः समाज के हित में यही है कि सरकार युद्ध व्यय की पूर्ति भारी करारोपण द्वारा ही करे। तब उक्त स्थिति उत्पन्न होने का भय नहीं रहेगा।

(2) धनिकों की अपव्ययिता रुकेगी : युद्धकाल में धनिकों की आय में निर्धनों की अपेक्षा बहुत वृद्धि हो जाती है। जब व्यक्ति के पास आवश्यकताओं से अधिक धन होता है तो स्वभावतः वह प्रायः अपव्ययी हो जाता है। अतः युद्धकाल में सरकार युद्ध व्यय की पूर्ति के लिए नागरिकों पर भारी करारोपण करेगी तो इससे धनिकों की अपव्ययिता पर रोक लगेगी। चूंकि निर्धन वर्ग की आय तो पहले से ही कम होती है अतः युद्धकाल में उसकी आय में कुछ वृद्धि हो भी गई तो इससे वह केवल अपने जीवन स्तर को ही सुधार सकेगा, उसके द्वारा अपव्ययिता का प्रश्न नहीं उठता। करारोपण से अपव्ययिता भी हतोत्साहित होती है अतः करों द्वारा युद्धों का संचालन न्यायोचित होगा। सरकार अतिरिक्त खर्च को रोकने के लिए जो कर लगाएगी वह धनी पर ही होंगे। इस वर्ग पर कर लगाकर उनके अतिरिक्त धन को सरकारी कोष में खींच लिया जाएगा।

(3) युद्ध के बाद सरकार पर ऋणों के भुगतान का बोझ नहीं रहेगा : यदि युद्ध व्यय की पूर्ति करारोपण से की जाएगी तो युद्ध के बाद सरकार पर ऋणों के भुगतान का बोझ नहीं रहेगा। इसके विपरीत यदि युद्ध ऋण लेकर लड़ा जाएगा

तो युद्धोत्तर अवस्था मे सरकार पर ऋणो के भुगतान का बोझ इतना अधिक रहेगा कि उसकी आय का अधिकाश भाग तो केवल ऋणो और ब्याज के भुगतान मे ही व्यय हो जाएगा और वह देश के विकास तथा पुनरुत्थान पर अधिक व्यय नही कर सकेगी।

(4) **भावी सतति पर युद्ध व्यय का बोझ नहीं पडेगा** *युद्ध व्यय की पूर्ति* करारोपण से प्राप्त आय से की जाने पर भावी सतति युद्ध व्यय के बोझ से मुक्त रह सकेगी। इसके विपरीत यदि ऋणों के बल पर युद्ध लडा गया तो इन ऋणो का भार निश्चित रूप से भावी सतानो पर बहुत अधिक पडेगा। इसका मुख्य कारण यह है कि युद्धकाल मे तो ऋण ऊची ब्याज की दर पर लिए जाते हैं जबकि युद्ध समाप्ति के बाद ब्याज की दर नीची हो जाती है और मूल्य स्तर गिर जाते हैं। इस स्थिति मे उक्त ब्याज के भुगतान का भार बढ जाता है क्योकि ब्याज का भुगतान करने के लिए सरकार को पहले की अपेक्षा अधिक कर लगाने पडते हैं। अत यह वाछनीय है कि भावी व्यक्तियो को युद्ध व्यय के भार से बचाने के लिए सरकार ऋण लेकर नही अपितु कर लेकर युद्ध लडे।

(5) **त्याग की समानता** . करारोपण द्वारा प्राप्त आय से युद्ध लडने मे निर्धनो और धनियो के त्याग मे समानता आ जाती है क्योकि जहा निर्धन व्यक्ति अपनी जान खतरे मे डालकर युद्ध लडते हैं वहा धनी व्यक्ति करो का भार सहन करते है। *युद्धकाल मे धनिको की आर्थिक सेवा की उपेक्षा नही की जा सकती।* उन पर अधिकाधिक करारोपण किया जाना चाहिए।

युद्ध व्यय का करो द्वारा पूरा करने के विपक्ष मे तर्क

जहा उपर्युक्त तर्कों के आधारो पर कुछ अर्थशास्त्रियो ने युद्ध व्यय की पूर्ति अधिकाशत करारोपण द्वारा करना उचित ठहराया है वहा दूसरी ओर एक ऐसे वर्ग भी हैं जिसने निम्न आधारो पर उसका विरोध किया है

(1) *अपर्याप्तता : आधुनिक युद्ध बहुत महगे और खर्चीले होते हैं।* इनमे करोडो रुपये प्रतिदिन व्यय हो जाता है। स्पष्ट है कि इतनी विशाल राशि की पूर्ति करो द्वारा प्राप्त नही की जा सकती। प्रो० सैलिगमेन ने स्पष्ट कहा है 'यदि सरकार समस्त बडी-बडी आयो के लाभो को जब्त करलें तो भी आधुनिक युद्ध का आधा व्यय भी पूरा नहीं हो सकेगा।' इसके अतिरिक्त करदाताओं की करदेय क्षमता की भी एक सीमा होती है। उस सीमा से अधिक कर प्राप्त नहीं किए जा सकते, अन्यथा देश म आतरिक और बाह्य दोनो ही प्रकार की सुरक्षा व्यवस्था करनी होगी, जिससे सरकार पर व्यय भार और भी अधिक बढ जाएगा। अत *वाछनीय यही है कि सरकार करारोपण द्वारा नही वरन ऋणो की सहायता से युद्ध* लडे अर्थात् युद्ध वित्त की पूर्ति के लिए अन्य साधनो पर भी निर्भर रहे।

(2) उत्पादन और बचत पर बुरा प्रभाव : आधुनिक युद्धों की अपार व्यय राशि की पूर्ति यदि करारोपण द्वारा की जाएगी तो इतनी अधिक मात्रा में करारोपण देश सहन नहीं कर सकेगा। अत्यधिक करों के कारण देश की अर्थव्यवस्था के अस्त-व्यस्त हो जाने का भय रहेगा। चूंकि कर भार अधिकांशत धनी वर्ग पर पड़ेगा अत यह वर्ग उत्पादन कार्यों म रुचि खो बैठेगा जिससे उत्पादन कम हो जाएगा और परिणामत उसकी बचत भी भविष्य में कम होगी। इस प्रकार अंततोगत्वा देश की सपूर्ण आर्थिक दशा ही छिन्न-भिन्न हो जाएगी। इसलिए यह उचित है कि युद्ध-व्यय को पूरा करने के लिए सरकार केवल करों पर ही निर्भर न रहे वरन अन्य साधनों का अधिकाधिक आश्रय ले।

(3) कर आय के अनुमान सर्वथा सत्य नहीं होते : यह आवश्यक नहीं है कि सरकार करारोपण से जितनी आय प्राप्त होने का अनुमान लगाए वह ठीक ही हो। एक तो कर व्यवस्था को युद्धकालीन द्रव्य की आवश्यकता अनुकूल बनाने में कुछ समय लगता है और दूसरे करारोपण से आय प्राप्ति का अनुमान भी गलत हो सकता है। अडम स्मिथ ने ठीक ही कहा है 'करों के संबंध में सदा दो और दो मिलाकर चार नहीं होते, वरन ये तीन भी हो सकते हैं और पाच भी। सरकार को किसी कर से जितनी आय प्राप्ति होने की आशा होती है, वास्तव में प्राय उतनी आय प्राप्त हो नहीं पाती। यदि युद्धकाल में सरकार की आय अनुमान गलत रह जाए और आमदनी आवश्यकता से कम हो या ठीक-ठीक समय पर प्राप्त नहीं हो पाए तो स्पष्ट है कि उसे विषम परिस्थितियों का सामना करना पड सकता है। यहा तक कि उस राष्ट्र के हार जाने तक का खतरा पैदा हो जाता है। अत इन कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त है कि सरकार युद्ध व्यय की पूर्ति के लिए केवल करों पर निर्भर न रहे, वरन अधिकांशत ऋणों से व्यय की पूर्ति करे।

(ब) ऋणों द्वारा युद्ध व्यय की पूर्ति

चूंकि करारोपण से इतनी आय प्राप्त नहीं हो पाती है कि युद्ध के वित्त की पूर्ण रूप से व्यवस्था की जा सके, इसलिए सरकार को ऋण आश्रय लेना पड़ता है। ये ऋण आतरिक या वाह्य किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। सरकार कई प्रकार से ऋण प्राप्त कर सकती है, जैसे (1) देश में विभिन्न प्रकार के ऋण पत्र व बांड चालू करके, (2) बैंकों को अधिक मात्रा सृजन करने के लिए बाध्य करके, (3) बैंकों से प्रत्यक्ष रूप से ऋण प्राप्त करके, तथा (4) अनिवार्य बचत योजनाओं को लागू करके (भारत में सन् 1966 में अनिवार्य जमा की एक योजना की व्यवस्था इसलिए की गई थी ताकि चीनी हमले के आपत्तिजनक स्थिति के निवारणार्थ आवश्यक साधन प्राप्त किए जा सकें) आदि। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि केवल करारोपण ही आधुनिक युद्ध वित्त व्यवस्था का एकमात्र स्रोत नहीं हो सकता।

अत सार्वजनिक ऋणों का युद्ध वित्त के लिए पर्याप्त मात्रा में उपयोग करने के पक्ष में तर्क दिए जाते हैं।

युद्ध ऋण के पक्ष में तर्क

युद्ध व्यय की ऋणो द्वारा पूर्ति के पक्ष मे दिए गए तर्क इस प्रकार हैं :

(1) **वर्तमान आय स्रोतों का अधिकतम उपयोग :** कर सदैव निश्चित दरो पर लगाए जाते हैं अत करदाताओ द्वारा सरकार को जो कुछ भी धन दिया जाता है वह नागरिको की अपनी योग्यता के अनुसार नही होता। इसके विपरीत ऋण-दाता सरकार को धन देते हैं। दूसरे शब्दो मे लोगो के पास जो भी अतिरिक्त धन होता है उसे या उसके किसी भाग को वे सरकार को ब्याज के लालच मे ऋण दे देत हैं। चूकि सरकार को करो की तुलना मे प्राय ऋणो से बहुत अधिक धन प्राप्त होता है अत करो की तुलना मे ऋणो से सरकार वर्तमान आय स्रोतो का अधिक उपयोग कर लेती है।

(2) **ऋण देने मे ऋणदाताओ को त्याग नहीं करना पड़ता :** ऋण देने मे ऋण दाताओ को कोई त्याग नही करना पडता। वे तो एक प्रकार से सतोष प्राप्त करते हैं क्योकि उन्हे ब्याज के रूप मे कुछ न कुछ आय प्राप्त होती है। अत युद्ध वित्त की व्यवस्था करने के लिए केवल करारोपण की नीति ही उचित नही है वरन करो के साथ ऋण की नीति भी अपनाई जानी चाहिए।

(3) **तत्कालीन दुष्परिणाम नहीं .** सार्वजनिक ऋणो का युद्ध वित्त के लिए विशेष महत्त्व इसलिए भी है कि अर्थव्यवस्था पर इनका तात्कालीक दुष्परिणाम नही पडता। कोई अतिरिक्त भार न पडने के कारण सावजनिक ऋण सकट काल मे सहा-यक सिद्ध होते हैं। अत यह उचित है कि युद्ध व्यय की पूर्ति के लिए सार्वजनिक ऋणो का बडी मात्रा मे उपयोग किया जाए।

(4) **उत्पादन एव उपभोग पर प्रभाव नहीं पड़ता .** सार्वजनिक ऋणो द्वारा युद्ध व्यय की पूर्ति करने पर देश के उत्पादन और उपभोग पर बुरा प्रभाव नही पडता। ऋण यदि अनिवाय प्रकृति के नही हैं तो प्राय बचतो मे से दिए जाते हैं, अत उपभोग और उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव नही डालते।

(5) **अर्थव्यवस्था मे प्रगति :** लोक ऋणो से युद्धकालीन अर्थव्यवस्था के अतर्गत उद्योगो का विकास होने और उत्पादकता मे वृद्धि होने से देश की अर्थव्य-वस्था उन्नत होती है। लोगो को रोजगार मिलने और व्यापारिक प्रक्रियाओ मे तीव्रता व गतिशीलता आने से आर्थिक विकास मे सहयोग मिलता है। इस प्रकार युद्धकाल मे लोक ऋणो का लेना देश की अर्थव्यवस्था पर प्राय अनुकूल प्रभाव डालता है।

(6) **मुद्रा प्रसार का विशेष भय नहीं :** करो की भांति ऋणो से भी मुद्रा प्रसार का भय नही रहता। ये तो कुछ सीमा तक मुद्रा प्रसार के दुष्परिणामो को कम ही करते हैं। करारोपण से वाछित धनराशि न मिलने पर, ऋण लेने के स्थान पर यदि

सरकार मुद्रा प्रसार करती है तो उसके भीषण परिणाम हो सकते हैं। मुद्रा प्रसार के दुष्परिणामों से मुक्ति पाने के लिए यह उचित है कि सरकार ऋणों द्वारा युद्ध संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

(7) ऋण भार भावी पीढ़ी पर: यदि युद्ध केवल करों के आधार पर लड़े जाते हैं तो कर भार मूलतः वर्तमान व्यक्तियों पर पड़ता है और इस प्रकार युद्ध भार उन्हें सहन करना होता है जबकि युद्ध वर्तमान और भावी दोनों ही सन्तानों के लिए लड़े जाते हैं। चूंकि ऋण पत्र प्रायः वर्तमान बचतों से ही खरीदे जाते हैं, इसलिए लोक ऋणों का तात्कालिक भार कुछ नहीं पड़ता। इस भार को भविष्य के लिए ऋण शोधन के रूप में भावी पीढ़ी पर डाल दिया जाता है। इस प्रकार युद्ध के संकट काल को पार करके आगामी पीढ़ी अपेक्षाकृत सरलता से उसका शोधन कर सकती है। यदि ऋण वर्तमान उपभोग को कम करके दिए जाते हैं तो ऐसे ऋणों का भार वर्तमान पीढ़ी पर पड़ता है। अतः युद्ध के भार के वितरण में समानता लाने के लिए यह उचित है कि युद्धों का प्रबंधन ऋणों द्वारा ही लड़ा जाए ताकि युद्ध का भार वर्तमान और भावी दोनों पीढ़ियों पर डाला जा सके।

(8) जनता का विश्वास बना रहता है: सामान्यतः मनुष्य करों से घृणा करता है क्योंकि कर उसकी वास्तविक आय कम कर देते हैं। सरकार यदि कर देय क्षमता से परे करारोपण करती है तो जनता में विश्वास समाप्त हो जाता है और देश में आंतरिक उपद्रव की आशंका बनी रहती है। यदि युद्ध व्यय ऋण द्वारा पूरा किया जाए तो जनता को मूलधन व ब्याज मिलने की आशा रहती है और सरकार में उसका विश्वास बना रहता है।

ऋणों द्वारा युद्ध व्यय के विपक्ष में तर्क

कुछ विद्वानों का विचार है कि ऋणों से युद्ध की वित्त व्यवस्था नहीं की जानी चाहिए। अपने मत के समर्थन में ये विद्वान प्रायः निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं

(1) युद्ध ऋण राष्ट्र पर मृत-भार के समान होते हैं: युद्धोत्तर काल में ऋणों के ब्याज और मूलधन के भुगतान के लिए भारी करारोपण करना पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप राजकीय वित्त व्यवस्था लंबे समय के लिए छिन्न-भिन्न हो जाती है। भारी करारोपण से एक ओर तो उद्योगों का विकास प्रतिकूल रूप से प्रभावित होता है और दूसरी ओर समाज में आर्थिक विषमता में भी वृद्धि होती है। सरकार द्वारा निर्गमित बांड तथा ऋण पत्र सामान्यतः धनी वर्ग द्वारा ही खरीदे जाते हैं जिन पर उन्हें ब्याज मिलता रहता है। इसके फलस्वरूप धनी और अधिक धनवान होता जाता है और आर्थिक विषमता बढ़ती जाती है। चूंकि युद्ध ऋण अनुत्पादक होते हैं और युद्धोत्तर काल में इनका प्रभाव देश की अर्थ व्यवस्था पर अच्छा नहीं पड़ता, अतः ये ऋण राष्ट्र पर एक मृत भार के समान होते हैं।

(2) **सरकार इच्छानुसार ऋण वसूल नहीं कर पाती** ऋणो द्वारा युद्ध वित्त के प्रबंध के विरुद्ध एक तर्क यह भी है कि सरकार युद्ध व्यय को पूरा करने के लिए वांछित और असीमित मात्रा मे ऋण प्राप्त नही कर सकती, क्योंकि ऋण प्राप्त करने की भी एक सीमा होती है। ऋण बचत मे से दिए जाते हैं और इस कारण अधिक ऋण लेने पर देश की अर्थ व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पडता है।

(3) **मुद्रा प्रसार का भय** : यदि ऋणदाता सरकार को ऋण अपनी बचतो म से न देकर बैंको से उधार लेकर देते है तो इस प्रकार के ऋणो से देश मे मुद्रा प्रसार का भय रहता है। इसके विपरीत करारोपण मे मुद्रा प्रसार का भय नही होता।

(4) **अतिरिक्त व्यय और युद्ध को प्रोत्साहन** . रिकार्डो एडम स्मिथ आदि परपरागत अर्थशास्त्रियो के अनुसार युद्ध वित्त की पूर्ति सार्वजनिक ऋण से इसलिए नही करनी चाहिए क्योकि इनसे अतिरिक्त व्यय और युद्ध को प्रोत्साहन मिलता है। वह राष्ट्र, जो ऋणो की सेवाए लेता है अपने लिए हानिकारक परिस्थितिया उत्पन्न करता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि युद्धकालीन वित्त के लिए न तो अकेला करारोपण ही वाछनीय है और न केवल ऋण ही वरन युद्ध के लिए आवश्यक धन प्राप्त करने हेतु दोनो ही रीतियां को साथ-साथ अपनाना चाहिए क्योकि दोनो रीतिया एक दूसरे की पूरक है। कितनी धन राशि करारोपण से प्राप्त की जाए और कितनी ऋण से, यह कई बातो पर निर्भर करता है जैसे- (अ) देश मे करारोपण का चालू स्तर, (ब) ऋण लेन की क्षमता तथा (स) लोगो म उपभोग कम करने और बचत करने की इच्छा। टेलर ने इस सबध म लिखा है इन दोनो का इस प्रकार से प्रयोग किया जाना चाहिए कि व्यक्ति और फर्मो म युद्ध समाप्त होने पर आपस मे वही सबध बना रहे जो युद्ध प्रारभ होन पर था।

(स) मुद्रा प्रसार

कभी कभी सरकार युद्ध व्यय की पूर्ति के लिए आवश्यक वित्त प्राप्त करने हेतु मुद्रा स्फीति का आश्रय लेती है। इस नीति के अतर्गत सरकार अतिरिक्त मुद्रा छाप लेती है और इसके द्वारा जनता से आवश्यक खाद्य सामग्री खरीद लेती है तथा वेतन व मजदूरी आदि का भुगतान कर देती है। इस नीति का दूसरा रूप यह है कि सरकार केंद्रीय बैंक से या देश की अन्य बैंकिंग सस्थाओ से उधार लेती है अथवा ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न कर देती है जिससे बैंको की साख मे वृद्धि हो और वे सरकार को अधिक ऋण देने मे समर्थ हो सकें।

द्वितीय महायुद्ध काल मे लगभग सभी महत्वपूर्ण देशो मे युद्ध सचालन-व्यय की पूर्ति कुछ अश तक कागजी नोट छापकर की थी। अमेरिका, ब्रिटेन, भारत, जर्मनी व जापान मे जुलाई 1939 की तुलना मे दिसबर 1944 मे कुल प्रचलित

मस्ग्रेव ने इस संदर्भ में कहा है 'युद्धकालीन आहरण नीची आय वर्ग से प्रत्यर्पण करों (refundable taxes) तथा ऐसे बलात ऋणों का रूप ले सकते हैं जिनकी वापसी ऊंची आय वर्ग के द्वारा होती है।'[1]

जो समाज में असंतोष उत्पन्न कर देता है। लोगों के योगदान केवल नाममात्र को ही ऐच्छिक होते हैं, वास्तव में ये राजकीय सत्ता के प्रभुत्व में अनिवार्य रूप से वसूल किए जाते हैं।

इस सपूर्ण विवरण के निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि युद्ध की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए सरकार उन सब साधनों को अपनाया करती है, जिन्हें वह संभवत अपना सकती है। युद्धकाल में कौन-सी रीति अपनायी जाए, यह बहुत कुछ युद्ध की प्रगति और परिस्थितियों पर निर्भर करती है। युद्ध की प्रारंभिक अवस्था में ऋणों और करों से धन जुटाया जाता है। अल्पकालीन छोटे युद्ध व्ययों की पूर्ति करारोपण द्वारा ही कर ली जाती है। परंतु युद्ध की प्रगति के साथ साथ करारोपण अधिकाधिक भारी होता जाता है। दीर्घकालीन युद्ध वित्त की पूर्ति के लिए लोक ऋणों का आश्रय लिया जाता है। विभिन्न प्रकार के नियंत्रणों और राशनिंग से बचतों को प्रोत्साहित व उपभोग को हतोत्साहित किया जाता है ताकि युद्ध के लिए अधिकाधिक साधन उपलब्ध हो सकें। यदि इन साधनों से पर्याप्त धन उपलब्ध नहीं हो पाता तो सरकार सस्ती मुद्रा नीति अपनाती है जिससे देश में स्फीति की दशाएं उत्पन्न हो जाती हैं। स्पष्ट है कि वास्तव में युद्ध कार्यों के लिए वित्तीय व्यवस्था करना कोई सरल कार्य नहीं है। युद्ध वित्त की समस्या केवल युद्ध का जीतना ही नहीं होता वरन उसमें यह भी देखना होता है कि लोगों की सुरक्षा को कम से कम हानि पहुंचाई जाए सामाजिक ढांचा कम से कम अस्त-व्यस्त हो और युद्ध भी जीत लिया जाए। यदि युद्ध के लिए वित्त का प्रबंध एवं योजनाबद्ध ढंग से किया जाए तो पर्याप्त सीमा तक युद्ध और वित्तीय व्यवस्था के बुरे प्रभावों से जनता को बचाया जा सकता है।

युद्ध वित्त व्यवस्था के प्रभाव

युद्ध तथा उनकी वित्त व्यवस्था के लिए अपनाए जाने वाले साधन अपने पीछे भीषण आर्थिक प्रभाव छोड़ जाते हैं। युद्ध वित्त का प्रत्यक्ष प्रभाव मुद्रा प्रसार है। युद्धोपरांत काफी लंबे समय तक मूल्य स्तर में वृद्धि होती रहती है। एम० ई० राबिन्सन के शब्दों में, 'मूल्य वृद्धि का अर्थ यह है कि किसी अन्य खरीददार के समान सरकार वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों को बढ़ता हुआ पाती है और उसके कर्त्तव्यों की लागत भी वैसे ही बढ़ती है जैसे कि मूल्य बढ़ते हैं।'[2]

---

1 Richard A. Musgrave 'The Theory of Public Finance', (1959) Mc Graw Hill Book Company Inc., New York p 567.

2 M E. Robinson Public Finance', (1922), Nisbet & Co Ltd, Cambridge, p 119

युद्धकाल में मूल्य वृद्धि अपने साथ बहुत-सी बुराइयाँ लेकर आती है। ऐसे समय में बिक्री मूल्य में तो वृद्धि हो जाती है परन्तु व्यय बढ़ते हुए मूल्य के साथ तुरंत समन्वित नहीं हो पाते। इसलिए लाभ अनुकूल स्तर में प्रभावित होते हैं जिससे सरकार भी लाभान्वित होती है। बढ़ते हुए लाभों से सरकार की आय भी बढ़ती है। ऐसे लाभ व्यापारिक गतिविधियों को भी प्रोत्साहित करते हैं और उद्योग सम्पत्ति को बढ़ाते हैं। स्मरणीय है कि लाभ की वृद्धि का मूल कारण यह होता है कि मजदूरी स्तर मूल्य परिवर्तन के साथ समायोजित नहीं हो पाती। जैसा कि एन० ई० राबिन्सन का मन्तव्य है 'युद्ध काल में मजदूरी मूल्यों से पीछे रह जाती है तथा मजदूरी बढ़ाने की माँग एक गम्भीर सामाजिक संघर्ष को उत्पन्न करती है।'[1]

किसी भी देश के मूल्य स्तर में घोर परिवर्तन उस देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में मूल्य को भी परिवर्तित कर देता है। प्रथम युद्ध के बाद मुख्य साख प्रदानकर्ता अमरीका के डालर में तथा इंग्लैंड के पौंड के मूल्य में बहुत अधिक ह्रास देखा गया। यूरोप के अन्य देशों की दशा तो और भी दयनीय थी। यदि किसी देश को ऐसे भुगतान करने हैं जिनका मूल्य स्वर्ण में या स्वदेशी मुद्रा में निश्चित किया गया हो तब भुगतान करते समय उसे अधिक भार सहन करना पड़ता है।

युद्ध के कारण सरकार पर बड़ी मात्रा में ऋण का भार एकत्रित हो जाता है जिसका वास्तविक एवं मौद्रिक भार जनता को अधिक सहन करना पड़ता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि युद्ध सम्बन्धी व्यय को पूरा करने के लिए सरकार सभी कल्याणकारी कार्यों को भूल जाती है जैसा कि अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहावर ने समाचार पत्रों के निदेशकों के मध्य एक बार कहा था कि 'प्रत्येक बन्दूक जो बनाई जाती है, हर युद्धपोत जो पानी में खिसकाया जाता है, प्रत्येक राकेट जो छोड़ा जाता है। अन्तिम अर्थ में उस चोरी की ओर संकेत करता है जो भूखों के यहाँ की जाती है जिनको खाना नहीं मिलता, जिनको ठंड लगती है और पहनने को वस्त्र नहीं मिलते।

हम इस बात का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि युद्ध ऋणों का भार भावी पीढ़ी पर पड़ता है जबकि करों द्वारा युद्ध की वित्त व्यवस्था से भार, वर्तमान पीढ़ी पर पड़ता है। जब युद्ध की वित्त व्यवस्था करारोपण द्वारा की जाती है तो उसका भार उन लोगों पर पड़ता है जो कर अदा करते हैं, किन्तु जब वित्त प्राप्ति का मुख्य स्रोत सरकारी उधार होता है तो उसका वित्तीय भार उन लोगों पर पड़ता है जिन्हें ब्याज की अदायगी और शोधन-निधि के निर्माण के लिए भविष्य में सरकार को कर अदा करने पड़ते हैं। युद्ध का द्राव्यिक-भार तो विभिन्न प्रकार की

---

1 M. E. Robinson, op cit., p 121.

वित्तीय पद्धतियो के अतगत विभिन्न समयो म तथा लोगो के विभिन्न वर्गों पर पड सकता है किंतु उपभोग तथा विनियोग की कमी क रूप म जो वास्तविक भार होता है वह उस समय लोगो पर पडता है जबकि आर्थिक साधन वास्तव म युद्ध क लिए प्रयोग किए जाते है।

विदेशो से ऋण लेने का एक प्रभाव यह होता है कि राष्ट्र उस समय उस ऋण की सीमा तक युद्ध की लागत के भार वहन करन म बच जाता है जो उस युद्ध लागत का वास्तविक त्याग उस समय अनुभव करता है जब ऋण अदा किए जाते हैं।

यह व्यापक रूप म स्वीकार किया जाता है कि लोग करो की अदायगी अपनी चालू आय म स करते हैं तथा ऋणो का भुगतान बचतो स किया जाता है। फलत करो का सपूर्ण आर्थिक प्रभाव लोगो पर उसी समय पड जाते है जबकि ऋण का भार उस समय आगे के लिए फेंक दिया जाता है।

युद्धकाल म लोगो म जो देशभक्ति की भावना उत्पन्न होती है उसके कारण लोग भारी करो का बोझ भी स्वेच्छा से सहन कर लेते हैं। परतु आजकल के युद्ध वर्षों तक खिंचते हैं। अत लोग कराधान क निरतर बढ्ते हुए भार को उतने ही उत्साह से सहन नही कर सकेंगे। करो की बढ़ती हुई राशि का नागरिको के काय करने बचत तथा विनियोग करने की इच्छा एव क्षमता पर गभीर प्रतिकूल प्रभाव पडते हैं।

इसके अतिरिक्त वितरण पर जो प्रभाव पडते हैं वे भी विचारणीय हैं। *प्राय ऋण युद्धकाल म ऐसे लोगो स लिए जाते हैं जो धनी होते हैं। अत धन के* वितरण पर अनुकूल प्रभाव पडता है। युद्ध क बाद जब इन ऋणो की अदायगी क लिए कर लगाए जाते हैं तो यह आवश्यक नही है कि उन करो का भार भी विभिन्न वर्गों पर उसी अनुपात म पडेगा जिस अनुपात म उन्होंने ऋण म अपना अशदान दिया था। व्यापक सभावना इस बात की है कि नय करो क भार का एक बडा अनुपात निर्धन वर्गों को ही सहन करना पडेगा। इसस वितरण प्रतिकूल रूप म प्रभावित होगा। जहा तक करो द्वारा युद्ध की वित्त व्यवस्था का सबध है हम सामान्य रूप से *यह कह सकते हैं कि उनका भार धनी वग पर ही पडेगा* अत वितरण पर अच्छा प्रभाव पडेगा।

यदि कोई देश नागरिको की सुरक्षा के खतरे की उपेक्षा करते हुए युद्ध म *विजयी होना* चाहता है तो वह अपने उद्देश्य म सफल भले ही हो जाए किंतु बाद मे उसे भीषण कष्टो को सहना पडेगा। इस सदभ म प्रो० पीगू के शब्द उल्लेखनीय हैं युद्ध के परिणाम और भी कटु प्रतीत होगे यदि हम मूल्यो के नष्ट होने की ओर ध्यान दें जो कि आर्थिक क्षेत्र से बिल्कुल ही परे होती हैं। मनुष्यो को अपने वचन का पालन करना युद्ध मे भाग लेने वालो के जख्मो तथा बीमारियो से उत्पन्न होने

वाले कष्ट, युद्ध में भाग लेने वालो पर होन वाले अत्याचारों और विचारों का भिन्न होना, युद्ध के अनिवार्य परिणाम होते हैं।'[1]

भारत मे प्रतिरक्षा व्यय

सरकार यह भरसक प्रयत्न करती है कि बजट सतुलित रहे तथा आय की सीमा में ही व्यय का कुशल बटवारा हो। परतु युद्धकाल में इस प्रकार की सब धारणाओं को छोड देना पड़ता है। स्वाधीनता को बनाए रखने के लिए वह प्रतिरक्षा पर किसी भी सीमा तक व्यय कर सकती है। ऐसे समय में 'सुरक्षा बजट पिता पर आश्रित कालेज के छात्र के बजट की भाती होता है न कि परिवार के बजट की भाति जो निश्चित आय की सीमा में व्यय का कुशल बटवारा करने का प्रयास करता है।'

सन् 1861 म प्रतिरक्षा पर 16 47 करोड रुपये व्यय किया गया था जो सन् 1920 म बढकर 87 38 करोड रुपये हो गया। सन् 1936 में यह 49 5 करोड रुपये था जो कुल सरकारी व्यय का 54 9 प्रतिशत था। द्वितीय महायुद्ध के वर्षों में यह व्यय निरतर बढता गया। सन् 1944-45 के वर्ष में यह व्यय 258 32 करोड रुपये था।

स्वतत्रता के पश्चात यह व्यय काफी घट गया। 1950-51 म सुरक्षा पर पर केवल 164 13 करोड रुपये व्यय किया गया, उसके पश्चात वह निरतर बढता गया। 1950-51 से वर्तमान समय तक के प्रतिरक्षा व्यय को निम्न प्रकार स प्रस्तुत किया जा सकता है

आयगत रक्षा व्यय (करोड रुपये में)

वर्ष	कुल व्यय	रक्षा व्यय	प्रतिशत व्यय
1950 51	346 64	164 13	47.3
1961-62	1,069 11	301 93	28 0
1963 64	1,664 94	392.55	30.3
1969 70	2,902.39	986 00	33.3
1970-71	3,142.20	1,051 50	30 0
1971-72	4,107 00	1,248 4	34 0
1972-73	4,591 00	1,404 0	34 0
1973-74	4,954 75	1,551 13	30 0
1974-75	5,407.88	1,679 73	31.0
1975-76	6,411 00	2,036.00	31 3 (बजट अनुमान)

1 A. C Pigou "Political Economy of War", p 47

पूजीगत रक्षा व्यय (करोड रुपयो में)

वर्ष	कुल व्यय	पूजीगत रक्षा व्यय	प्रतिशत व्यय
1950-51	182 59	4 19	2 29
1961-62	1,171 61	22 95	1 95
1963-64	1,825 89	115 63	6 33
1969-70	1,540 00	170 00	11 00
1970-71	3,142 20	417 80	4 00
1971-72	1,411 00	162 6	12 00
1972-73	3,239 00	196 00	14 00
1973-74	3,484 29	202 00	7 00
1974-75	3,457 04	235 27	6 79
1975-76	4,277 00	238 00	5 58 (वजट अनुमान)

स्वतत्रता के पश्चात सर्वप्रथम पाकिस्तान न कश्मीर क एक भाग पर आक्रमण करके उसके एक भाग पर बलात कब्जा कर लिया। उसके पश्चात वह भारत पर निरतर छुट-पुट हमले करता रहा है। फलत भारत को प्रतिरक्षा पर निरतर अपना व्यय बढाना पडा है। 1961-62 म यह व्यय 301.93 करोड रुपये हो गया था।

सन् 1962 मे चीन ने भारत पर अचानक आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के परिणामस्वरूप भारत को सुरक्षा व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान देना पडा। स्थल सेना मे वृद्धि की गई तथा आधुनिक शस्त्रो का निर्माण करना पडा। इसी कारण सरकार का पूजीगत रक्षा व्यय 1963 64 म बढकर 115 63 करोड रुपये हो गया जबकि इससे पिछले वर्ष यह 22 95 करोड रुपये था। पाकिस्तान ने छुट-पुट आक्रमण करने के पश्चात सन् 1964 म पुन शेप कश्मीर पर कब्जा करने का षडयत्र रचा। उसने हजारो घुसपैठियो को छिपे रूप से कश्मीर म भेज कर तोड-फोड की क्रियाए प्रारभ कर दी। इसका मुह-तोड जवाब देने के लिए भारत को प्रतिरक्षा पर अपना व्यय बढाना पडा सन् 1963 64 मे 692 55 करोड रुपये व्यय किया गया जो कुल व्यय का 303 प्रतिशत था। 1966-67 मे रक्षा व्यय 1961-62 की तुलना में तीन गुना बढ गया। इस वृद्धि का प्रमुख कारण 1965 में पाकिस्तान के साथ युद्ध का होना है। सन् 1971 मे पाकिस्तान के साथ पुन युद्ध छिड जाने के कारण सरकार को रक्षा व्यय मे वृद्धि करनी पडी। भारत को चीन व पाकिस्तान के विरोधी गठबधन का भय आज भी बना हुआ है।

ऐसी स्थिति में देश की सुरक्षा व अखण्डता के लिए सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए रक्षा व्यय बढ़ा है। 1975-76 में 2,036.00 करोड़ रुपये प्रतिरक्षा के रूप में व्यय करने का अनुमान है।

स्वतंत्रता के उपरान्त जिन कारणों के द्वारा प्रतिरक्षा व्यय में वृद्धि हुई उन्हें निम्न रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है :

(1) औजारों का आधुनिकरण : प्रतिरक्षा सेवाओं को पूर्णरूप से आधुनिक शस्त्रों से सुसज्जित करने, विशेषकर युद्ध पोत खरीदने पर अधिक व्यय किया गया।

(2) पूंजी परिव्यय में वृद्धि : सरकार को युद्ध का सामान निर्माण करने के लिए नये कारखानों की स्थापना करनी पड़ी जिससे विदेशों पर निर्भर न रहना पड़े।

(3) सेना में वृद्धि : विभाजन के पश्चात सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ करने के लिए स्थल सेना, नौ सेना तथा वायु सेना का विकास करना पड़ा।

(4) हथियारों की खोज : सेनाओं के लिए नए हथियारों की खोज के लिए बड़ी रकमें खर्च की गई।

(5) युद्ध-कौशल तथा प्रशिक्षण में परिवर्तन : देश में उच्च सैनिक प्रशिक्षण देने के लिए अनेक केंद्र खोले गए। तथा युद्ध-कौशल और प्रशिक्षण के पाठ्यक्रमों में परिवर्तन किए गए।

(6) कश्मीर पर आक्रमण : पाकिस्तान द्वारा कश्मीर के एक भाग पर कब्जा तथा उसके छुट-पुट आक्रमणों ने भारत सरकार को प्रतिरक्षा पर अधिक व्यय करने के लिए प्रेरित किया।

(7) चीन तथा पाकिस्तान के आक्रमण : 1962 में चीन से तथा 1965 में पाकिस्तान से युद्ध होने के कारण इस मद पर अधिक व्यय करना पड़ा। इसके पश्चात सन् 1971 में पाकिस्तान के साथ पुनः युद्ध होने के कारण रक्षा व्यय में भारी वृद्धि हुई।

(8) बढ़ा हुआ वेतन तथा भत्ता : 1973 में रक्षा सेनाओं के अफसरों और सैनिकों के वेतन और भत्तों में वृद्धि के कारण भी प्रतिरक्षा व्यय भी बढ़ा है।

भविष्य में सुरक्षा व्यय में घटने की कोई संभावना दिखाई नहीं पड़ती क्योंकि भारत को पाकिस्तान तथा चीन से आक्रमण का भय अब भी बना हुआ है। इसलिए देश की सुरक्षा के लिए इस मद पर व्यय घटने की कोई संभावना नहीं है।

22
संघीय वित्त

सघीय सरकार के कार्यों का बटवारा अनेक बातों पर निर्भर करता है। कुछ सघो मे अत्यधिक केंद्रीयकरण और कुछ मे अत्यधिक विकेंद्रीयकरण देखा जाता है। किंतु जब समवर्ती विषयो मे प्रशासनिक कठिनाई उत्पन्न होती है तब प्रशासनिक सुविधाए और काय-कुशलता के सामान्य सिद्धात हमारा माग-दशन करत हैं।

प्राय एकाकी तथा सघीय प्रकार की शासन प्रणाली विश्व के देशो मे देखने को मिलती है। एकाकी शासन प्रणाली मे देश की सपूण शासन व्यवस्था एक सरकार के आधीन होती है और ऐसी सरकार केंद्रीय सरकार होती है। इसके विपरीत सघीय शासन व्यवस्था मे कद्रीय सरकार के अतिरिक्त भिन्न भिन्न प्रातो म प्रातीय सरकारें होती हैं। प्रातीय सरकारें अपनी-अपनी भौगोलिक सीमाओ के अतगत प्रशासनिक कार्यों के लिए स्वतत्र होती हैं और केंद्रीय सरकार प्राय उनके कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप नही करती।

वित्त व्यवस्था का विभाजन

प्रशासनिक व्यवस्था के एकात्मक एव सघात्मक विभाजन के आधार पर वित्त व्यवस्था को भी निम्नलिखित दो भागो मे बाटा जाता है

(1) **एकात्मक वित्त व्यवस्था** एकात्मक वित्त व्यवस्था मे देश की सपूण मदो पर केंद्रीय सरकार व्यय करती है और समस्त स्रोतो से प्राप्त होने वाली आय भी केंद्रीय सरकार क कोष म जमा होती है।

(2) **सघीय वित्त व्यवस्था** सघीय वित्त व्यवस्था म आय के समस्त स्रोतो तथा व्यय की मदो को केंद्रीय प्रातीय तथा स्थानीय रूप से विभाजित कर दिया जाता है। तीनो ही सरकारें अपनी-अपनी सीमा म आय क निर्धारित स्रोतों से आय प्राप्त करने और व्यय की मदो म व्यय करने म स्वतत्र होती हैं। किंतु उनम सतुलन की दृष्टि से वित्तीय सबध होता है।

संघीय कार्य क्षेत्र

केंद्र, प्रांत एवं स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों में प्रतिद्विदता की भावना को समाप्त करने के लिए संघीय शासन प्रणाली में अंतरराष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषयों को पूर्णतः केंद्र के अधीन छोड़ दिया जाता है। कार्य क्षेत्र की दृष्टि से सुरक्षा, विदेशी संबंध, राष्ट्रीय सड़कें, मुद्रा, मौद्रिक, सिक्के, बैंकिंग, बीमा, रेलवे, संदेश वाहन साधन विदेशी विनिमय व व्यापार एवं राष्ट्रीय नियोजन आदि को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की दृष्टि से संघ के अधीन रखा जाता है।

प्रांतीय तथा स्थानीय इकाइयों का कार्य क्षेत्र

स्थानीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले विषय प्रांतीय तथा स्थानीय इकाइयों को दिए जाते हैं। कृषि, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, पुलिस आदि की स्थानीय मदों में गणना की जाती है। कुछ विषय ऐसे भी हैं जिनके लिए संघ तथा प्रांतीय सरकारों का संयुक्त प्रशासन आवश्यक हो जाता है। श्रम अधिनियम, मूल्य नियंत्रण, भोज्य पदार्थों में मिलावट रोकने के विरुद्ध अधिनियम आदि की गणना इस श्रेणी में की जा सकती है।

संघीय वित्त के सिद्धांत

डा० भार्गव के अनुसार संघीय वित्त व्यवस्था का तात्पर्य संघ तथा राज्यों के पारस्परिक संबंध से है। संघ एवं राज्यों के बीच कार्यों तथा सेवाओं का विभाजन हो जाने के बाद उनके पास पर्याप्त वित्तीय साधन आवश्यक हैं ताकि कार्यों को कुशलतापूर्वक संपन्न किया जा सके। इस संबंध में दो समस्याएं उत्पन्न होती हैं :

(1) विभिन्न सरकारों में आय स्रोतों का विभाजन किस आधार पर किया जाए ? तथा

(2) सरकारों की आय और आवश्यकताओं के मध्य संतुलन किस प्रकार स्थापित किया जाए ?

इन दोनों समस्याओं को ठीक प्रकार से समझने के लिए संघीय वित्त व्यवस्था के सिद्धांतों का अध्ययन आवश्यक है। संघीय शासन प्रणाली में संघ तथा राज्यों के वित्तीय संबंधों को संतुलित बनाए रखने के लिए निम्नलिखित सिद्धांतों का आश्रय लिया जाता है : (1) स्वतंत्रता सिद्धांत, (2) एकरूपता सिद्धांत, (3) पर्याप्तता सिद्धांत, (4) लोच सिद्धांत, (5) कार्य-कुशलता सिद्धांत, तथा (6) हस्तांतरण सिद्धांत।

(1) स्वतंत्रता सिद्धांत

संघीय वित्त व्यवस्था में संघ की प्रत्येक इकाई आतंरिक आर्थिक क्षेत्र में स्वतंत्र होनी चाहिए। प्रत्येक राज्य के निजी आय के स्रोत तथा व्यय के क्षेत्र होने

चाहिए। सघ की प्रत्येक इकाई इच्छानुसार एव आवश्यकतानुसार कर लगाने, ऋण एकत्र करने और आय को व्यय करने म पूर्णत स्वतत्र हो। यद्यपि व्यवहार मे महत्त्वपूर्ण एव लोचपूर्ण आय स्रोत केंद्रीय सरकार के अधिकार मे होना और प्रातीय सरकारो का आर्थिक अनुदान के लिए परमुखापेक्षी स्वभाव उन्हे पूर्ण स्वतत्रता प्रदान नही कर पाता तथापि आय स्रोतो का विभाजन एक सीमा स्वतत्रता अवश्य प्रदान करता है।

(2) एकरूपता सिद्धात

सघीय वित्त व्यवस्था मे सरकार को वित्तीय नीतियो का सचालन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सदस्य राज्यो के प्रति उसके व्यवहार मे एकरूपता दिखाई दे। सघ सरकार द्वारा लगाए गए करो का भुगतान करते समय किसी राज्य के निवासियो को अन्य राज्य के निवासियो की तुलना में कोई विशेष सुविधा न दी जाए और सभी के प्रति समान व्यवहार किया जाए।

यद्यपि सैद्धातिक दृष्टि से एकरूपता सिद्धात सरल एव उपयोगी प्रतीत होता है किंतु व्यावहारिक दृष्टि से यह उचित नही है कि सघीय प्रणाली मे देश के दो असमान आर्थिक स्थिति वाले राज्य केंद्र को समान अशदान प्रदान करें। उदाहरण के लिए भारत मे आसाम से यह आशा करना अनुचित एव अव्यावहारिक होगा कि वह महाराष्ट्र या उत्तरप्रदेश राज्य के समान अशदान केंद्रीय सरकार को दे। क्योकि आसाम की वित्तीय स्थिति बबई की अपेक्षा दुर्बल है और उसे आर्थिक विकास के अधिक साधनो की आवश्यकता है।

(3) यथेष्ठता सिद्धात

यथेष्ठता सिद्धात का यह अभिप्राय है कि सघ की प्रत्येक इकाई को सौपे गए साधन उन कार्यों के लिए पर्याप्त हो जिन्हे इन इकाइयो को पूरा करना है। साधनो की पर्याप्तता के अभाव मे सघ इकाइयो को स्वतत्रतापूर्वक कार्य करने मे कठिनाई हो सकती है।

(4) लोच सिद्धात

सघ इकाइयो के लिए साधनो की पर्याप्तता ही पूर्ण नही है। प्राप्त साधनो का लोचपूर्ण होना भी आवश्यक है। सघ इकाइया के पास इस प्रकार के साधन आवश्यक हैं जिनसे वे भविष्य म बढते हुए प्रशासनिक व्ययो, सकटकालीन व्यय भारो और भावी आर्थिक नियोजनो को सुचारु रूप से पूरा करने के लिए अतिरिक्त आय प्राप्त कर सके। डा० आर० एन० भार्गव के अनुसार आर्थिक साधनो का विभाजन लोचपूर्ण व्यवस्था के रूप मे किया जाना चाहिए। क्योकि कोई भी योजना कितनी ही अच्छी क्यो न हो आने वाले प्रत्येक समय के लिए उपयुक्त नही हो सकती। परिवर्तनशील दशाओ मे कोई भी योजना समयावधि में अप्रचलित हो सकती है।

अत विभाजन के लिए प्रत्येक प्रबंध मे इस प्रकार का परिवर्तन होना चाहिए जो देश की प्रत्येक प्रशासनिक इकाई के साथ-साथ देश के लिए भी हितकर हो।

लोच का सिद्धांत सैद्धांतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से असगत प्रतीत होता है। व्यवहार में यही देखा जाता है कि केंद्रीय सरकार अलोचपूर्ण स्रोतो को स्वय अपने पास रख लेती है और राज्यो को केवल ऐसे स्रोत दिए जाते हैं जिनसे बढते हुए व्यय भारो को पूरा करने के लिए अतिरिक्त आय प्राप्त नही की जा सकती। परिणामस्वरूप राज्य सरकार की अनेक योजनाए केंद्र पर आश्रित रहती हैं। अत आय साधनो का समय-समय पर पुनर्विभाजन होना चाहिए ताकि केंद्र तथा प्रांत दोनो ही आवश्यकतानुसार लोचपूर्ण साधन प्राप्त हो सकें।

(5) कार्यकुशलता सिद्धांत

सघीय वित्त व्यवस्था म यह आवश्यक है कि करदाताओं के हित सुरक्षित रहें और कर की चोरी की सभावना भी न्यूनतम हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि कर सग्रह म प्रशासनिक क्षमता का ध्यान रखा जाए और व्यय मितव्ययितापूर्ण हो। करो की अतर राज्य प्रकृति मितव्ययिता की दिशा मे सहायक हो सकती है। यदि आयकर, सीमाकर तथा उत्पादन कर को सघ के अधीन और मालगुजारी, सिंचाई आदि को स्थानीय महत्त्व की दृष्टि से प्रांतीय एव स्थानीय सरकारो को सौंपा जाए तो सग्रह मे कुशलता एव मितव्ययिता का पालन किया जा सकता है। कार्यकुशलता एव मितव्ययिता के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक प्रकार का कर, प्रशासन की जिस इकाई द्वारा लगाया जाए तथा वसूल किया जाए उसी इकाई द्वारा उस राशि को व्यय भी किया जाना चाहिए। दूसरी इकाइयो द्वारा कर की राशि व्यय किए जाने पर उसके दुरुपयोग होने की सभावना बनी रहती है। प्रो० सैलिगमेन के अनुसार 'कोई योजना कितनी ही ठीक क्यो न हो या न्याय के मूर्त सिद्धांतों के अनुसार कितनी ही उचित क्यों न हो, यदि उसका प्रशासन ठीक प्रकार का नहीं है तो वह अवश्य असफल होगी।'[1]

(6) हस्तांतरण का सिद्धांत

सघीय राजस्व के सिद्धांतों की व्याख्या करने वाले अर्थशास्त्रियों ने एक महत्त्वपूर्ण अर्थशास्त्री डा० बी० आर० मिश्र के अनुसार देश में प्रत्येक नागरिक को एक न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि सपन्न राज्यों से एकत्रित किया हुआ धन असपन्न राज्यो म न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करने के लिए वितरित किया जाए। उन्होंने अपने विचारो को व्यक्त करते हुए लिखा है 'सघ और राज्यो में साधनों का आदर्श विभाजन विभिन्न राज्यों में रहने वाले व्यक्तियों

1 Seligman 'Essay in Taxation,' p 378

के लिए 'राष्ट्रीय न्यूनतम' के सिद्धान्तो पर आधारित होना चाहिए। सघीय राज्या म धनी क्षेत्रो से निर्धन क्षेत्रो को धन का हस्तातरण करके ऐसा किया जा सकता है। इन हस्तातरणो का आधारभूत कारण अतर्राष्ट्रीय असमानताओ को दूर करना है। यह बात याद रखने योग्य है कि विभिन्न राज्यो के बीच आय की गभीर असमानता का होना राष्ट्रीय समृद्धि के हित म नही है।' डा० मिश्र ने अपने विचारो को व्यक्त करते हुए बताया है कि *हस्तातरण के सिद्धात का पालन करने की दिशा म राज्यो को सकीर्ण भावना नही दिखानी चाहिए क्योकि प्रातो की सीमाए पूर्णत कृत्रिम होती हैं। प्रत्येक राज्य के निवासी को समस्त देश को सर्वोपरि महत्त्व देना* चाहिए। सघीय राजस्व की उपयुक्त नीति म 'राष्ट्रीय न्यूनतम' उद्देश्य को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाना चाहिए तभी समाज कल्याण भावना की प्राप्ति हो सकती है। उन्होने भारत म हस्तातरण सिद्धात को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए निम्नलिखित बातो को ध्यान मे रखने का सुझाव दिया है राज्य की वित्तीय स्थिति, राज्य मे प्राप्त प्राकृतिक साधन जलवायु विकास, जनसख्या, तथा राज्य के आर्थिक विकास की अवस्था।

वित्तीय स्रोतो का विभाजन

यद्यपि वित्तीय स्रोतो के विभाजन का अधिकार आवश्यकता के अनुसार होना चाहिए किंतु आधुनिक अर्थव्यवस्थाओ की जटिलता के कारण एक ओर ऐसे करो की सख्या म वृद्धि होती जा रही है जिन्हे केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही कुशलतापूर्वक लगाया जा सकता है और दूसरी ओर राज्यो द्वारा किए जाने वाले कार्यो मे दिन प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है जिनके लिए उन्हे अधिकाधिक साधनो की आवश्यकता बढ रही है। ऐसी मदो पर सघ सरकार द्वारा कर लगाया जाना चाहिए, जिनके सचालन मे राष्ट्रीय स्तर की कुशलता की आवश्यकता हो तथा प्रातीय या स्थानीय स्तर की कुशलता की आवश्यकता वाले मदो पर प्रातीय तथा स्थानीय सरकार द्वारा कर लगाए जाने चाहिए।

वित्तीय समायोजन

सघीय शासन प्रणाली मे यह आवश्यक है कि सघ तथा सघीय इकाइयो म प्रत्येक इकाई कार्य तथा साधन विभाजन की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो। किंतु व्यवहार म सघीय इकाइयो को विभिन्न स्रोतो से प्राप्त होने वाली आय समान नहीं होती। प्राय कुछ राज्य आर्थिक दृष्टि से पुष्ट होते हैं और कुछ अन्य राज्य कमजोर। *प्राय यह देखा जाता है कि आय के एक ही स्रोत से विभिन्न राज्यो को आर्थिक-सामाजिक या अन्य परिस्थितियो के कारण असमान आय प्राप्त होती है।* परिणामस्वरूप सघ तथा सघीय इकाइयो के बीच समुचित वित्तीय समायोजन आवश्यक हो जाता है। इसके अभाव मे देश का सतुलित विकास नही हो पाता। सघ तथा सघीय इकाइयो के बीच वित्तीय समायोजन के लिए निम्नलिखित उपाय किए जाते हैं :

कर आय का वितरण

यह विधि समर्पण विधि कहलाती है। इस विधि के अंतर्गत केंद्रीय सरकार कर लगाती है और एकत्रित करती है तथा प्राप्त आय को संघीय इकाइयों में विभाजित कर देती है। इस कार्य के लिए निम्नलिखित उपाय काम में लाए जा सकते हैं :

(अ) संघीय सरकार कर आय का एक निश्चित प्रतिशत अपने पास रख लें और शेष राशि आनुपातिक रूप में संघीय इकाइयों के बीच बांट दें।

(आ) संघीय सरकार कर आय की संपूर्ण राशि एक निश्चित अनुपात में संघीय इकाइयों में बांट दे।

(इ) संघीय सरकार के लिए एक निश्चित राशि बचा ली जाए और शेष राशि अन्य सरकारों को बांट दी जाए।

(ई) संघीय सरकार केवल करों को आरोपित और एकत्रित करे और प्राप्त राशि राज्य सरकारों को सौंप दे।

संघीय इकाइयों के बीच कर आय वितरण के निम्नलिखित आधार हो सकते हैं : राज्य की जनसंख्या, राज्य में एकत्रित राशि, राज्य की करदान क्षमता, राज्य की औद्योगिक प्रगति तथा राज्य का क्षेत्रफल। इनमें से एक या एक से अधिक आधारों पर भी कर आय का वितरण किया जा सकता है।

सैद्धांतिक दृष्टि से अभिहस्तांतरण का सिद्धांत बड़ा सरल और न्यायसंगत प्रतीत होता है। किंतु इसकी कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां हैं। उदाहरण के लिए (1) यदि संग्रह करने वाली इकाई को उसके उपयोग का अधिकार न हो तो वह इकाई एकत्र करने में रुचि नहीं लेती। (2) यदि संग्रह करने वाली इकाई का अंश पूर्व ही निश्चित कर दिया जाए तो उस दशा में भी कर एकत्र करने में उसे रुचि नहीं होगी। (3) संघीय इकाइयां दुर्बल इकाइयों का ध्यान न रख कर स्वयं अधिकाधिक धन प्राप्त करने का प्रयास करें तो भी स्थिति असंतोषजनक बनी रहेगी। (4) कुछ इकाइयां जनसंख्या की अधिकता के कारण अधिक अंश मांग करें और कुछ अन्य आर्थिक विकास के लिए तो भी असमन्वय हो सकता है। वस्तुतः अभिहस्तांतरण की कोई भी विधि क्यों न अपनाई जाए। प्रत्येक में कुछ व्यावहारिक कठिनाई हो सकती है। अतः संघीय इकाइयों को निराशा एवं उपेक्षा से बचाने के लिए समय-समय पर विभिन्न इकाइयों की वित्तीय आवश्यकताओं का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। मूल्यांकन का आधार भी सर्वदा एक ही नहीं होना चाहिए।

अतिरिक्त कर : संघ या राज्य सरकारों की आय पर्याप्त न होने की दशा में केंद्र या राज्य सरकारों द्वारा आरोपित करों के अतिरिक्त केंद्र द्वारा आरोपित करों के ऊपर केंद्र द्वारा कुछ अतिरिक्त कर लगा दिए जाते हैं। इस प्रकार के कर अतिरिक्त कर कहलाते हैं।

अतिरिक्त कर की प्रथम प्रणाली, जिसमें सघ द्वारा आरोपित करो के ऊपर राज्य सरकारो द्वारा कर लगाने की परिपाटी है अधिक सरल तथा न्यायसगत है किंतु राज्यो द्वारा आरोपित करो के ऊपर केंद्र द्वारा लगाए जाने वाले करो मे एक-रूपता नही रह पाती और न ही इसे न्यायसगत समझा जा सकता है।

वित्तीय समायोजना की इस प्रणाली की भी विद्वानो ने आलोचना की है क्योकि उनके विचार मे अतिरिक्त कर प्रणाली से कर भार अत्यधिक हो जाता है। इससे देश के उत्पादन, वितरण और बचत पर कुप्रभाव पडता है। इसके अतिरिक्त केंद्र तथा राज्यो के बीच प्रतिद्वद्विता आरभ हो जाती है।

सघीय आर्थिक सहायता वित्तीय सतुलन स्थापित करने की अनेक विधियो म यह विधि विशेष महत्त्व रखती है। इस विधि के अनुसार सघ सरकार राज्य सरकारो की विशिष्ठ स्थितियो का अध्ययन करने के उपरात उन्हे आर्थिक अनुदान प्रदान करती है। इस विधि म निम्न बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है

(1) आर्थिक अनुदानो की मात्रा सविधान मे निश्चित कर देनी चाहिए।

(2) अविकसित राज्यो को विकसित राज्यो की अपेक्षा अधिक राशि दी जानी चाहिए। सघ द्वारा राज्यो को दी जाने वाली आर्थिक सहायता शर्त सहित या शर्त रहित अनुदान के रूप म दो प्रकार की हो सकती है। शर्त रहित अनुदान प्रत्येक वर्ष दी जाती है और शर्त सहित अनुदान विभिन्न समयो मे विशिष्ट समस्याओ का समाधान करने के लिए दी जाती है। केंद्र सशर्त अनुदान की दशा मे राज्य का आर्थिक सर्वेक्षण या योजना का पुर्ननिरीक्षण करता रहता है।

इस प्रकार के अनुदान निराविधि तथा सवधि रूप से दो प्रकार के होते हैं। निरावधि अनुदान तब तक मिलते रहते हैं जब तक राज्य मे किसी समस्या का समाधान नही हो जाता। सावधि अनुदान एक निश्चित समय के बाद समाप्त कर दिए जाते हैं। इस प्रकार के अनुदान पिछडे प्रदेशो के आर्थिक पुर्ननिर्माण कार्यों के लिए भी दिए जाते हैं। सघीय सरकार को अनुदान के सबध मे एक व्यावहारिक सिद्धात की स्थापना करनी चाहिए ताकि केंद्र तथा राज्यों के पारस्परिक सबध मे किसी प्रकार के तनावपूर्ण वातावरण को सृष्टि न हो सके।

केंद्र द्वारा राज्यो को दिए जाने वाले अनुदाना के सबध म यह सुझाव दिया गया था कि अनुदानो के विभाजन में समस्त उपयुक्त घटनाओ पर विचार करना चाहिए जिसमे जनसख्या, प्राकृतिक साधन, पिछडापन, जनसख्या का क्षेत्रीय घनत्व, प्रति व्यक्ति आय, प्रात के निवासियो की आधारभूत आवश्यकताए एव समस्याए आदि सम्मिलित हो।

राज्य सरकारों द्वारा संघ सरकार को आर्थिक सहायता

अनुदान की यह एक प्रतिकूल विधि है। इसके अंतर्गत राज्य सरकारें अपनी आय का एक निश्चित प्रतिशत अनुदान के रूप में केंद्र सरकार को देती हैं। वर्तमान में यह विधि उचित नहीं समझी जाती क्योंकि केंद्र की राज्यों पर निर्भरता, राज्यों की अपनी असमर्थता आदि अनेक दोष हैं। हम अब तक के अपने अध्ययन में इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि संघात्मक वित्त व्यवस्था में संघ और राज्यों में वित्तीय संतुलन के लिए अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। किंतु संघ तथा संघीय इकाइयों के पारस्परिक सहयोग से इन कठिनाइयों पर पर्याप्त सीमा तक विजय प्राप्त की जा सकती है।

23
केंद्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय संबंध

भारत मे लोकवित्त का सघीय स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी म आरभ हुआ। यद्यपि इस समय देश मे एकात्मक सरकार थी तथापि यह अनुभव किया गया कि केंद्र तथा प्रातों के बीच कार्यों एव वित्तीय शक्तियों का एक निश्चित सीमा तक विभाजन उचित एव वाछनीय है। तभी से इस दिशा मे समय-समय पर अनेक सशोधन एव सुधार हुए। वर्तमान समय म केंद्र तथा प्रातो के मध्य व्यय की मदो तथा आय के स्रोतों का जो वितरण किया गया है वह इस दिशा म दीर्घकालिक क्रमिक विकास की चरम सीमा है।

सघीय वित्त का क्रमिक विकास

भारत मे प्रारभ के केंद्रीयकरण से लेकर वर्तमान समय के सघीय प्रणाली तक वित्तीय व्यवस्था को अनेक चरणो से गुजरना पड़ा है। अध्ययन की सुविधा के लिए वित्तीय सबधों के क्रमिक विकास को चार भागो मे बाटा जा सकता है :

प्रथम काल : 1919 के भारत सरकार अधिनियम से पूर्व का काल

सन् 1871 से पूर्व देश के सपूर्ण राजस्व तथा व्यय पर केंद्रीय सरकार का पूर्ण नियत्रण था। प्रातो की व्ययों की पूर्ति के लिए निश्चित अनुदान दिए जाते थे, परिणामस्वरूप एक ओर केंद्र की वित्तीय अवस्था अनिश्चित रहती थी और दूसरी ओर प्रातो मे राजस्व का अपव्यय होता था। भारत की गरीबी तथा इस प्रणाली की भारत म अनुपयुक्तता को ध्यान मे रखते हुए सन् 1871 मे वित्तीय सत्ता का कुछ विकेंद्रीकरण कर दिया गया।

विकेंद्रीकरण का आरभ 'प्रातीय बदोबस्त' के रूप मे किया गया। इस व्यवस्था के अनुसार पुलिस, जेल, शिक्षा, चिकित्सा, पजीकरण, सड़क तथा असैनिक निर्माण जैसे स्थानीय प्रकृति के कार्य प्रातो को सौंप दिए गए। इन विभागो के प्रबध के लिए प्रातो को प्रतिवर्ष एक मुश्त धनराशि अनुदान के रूप म दी जाने लगी। इसके अतिरिक्त प्रांतो को करारोपण की भी सीमित शक्ति प्रदान की गई।

सन् 1877 मे प्रातो के कार्यों में वृद्धि कर दी गई और आय की कुछ मदें विशेषकर मालगुजारी, उत्पादन शुल्क, स्टाप, सामान्य प्रशासन, कानून एव न्याय प्रातीय विषय बना दिए गए। प्रातो के वित्तीय साधनो म वृद्धि करने के लिए पूर्व निर्धारित अनुदानो के अतिरिक्त कुछ नये कर भी प्रदान किए गए। किंतु केंद्र की एक मुश्त अनुदान देने की व्यवस्था असतोषजनक थी।

सन् 1882 के बाद निश्चित अनुदान देने की प्रथा समाप्त कर दी गई और आय के बटवारे के लिए समय-समय पर अनेक सशोधन किए गए। परिणामस्वरूप आय के स्रोतो को निम्नलिखित तीन श्रेणियो म विभक्त किया गया

(क) **सामान्य प्रथवा केंद्रीय मदें :** इनमे वाणिज्य विभागो मे प्राप्त होने वाले लाभो के अतिरिक्त अफीम, नमक तथा सीमा शुल्को से होने वाली आय सम्मिलित की गई थी।

(ख) **प्रातीय मदें :** इनमें असैनिक विभागो तथा प्रातीय निर्माण कार्यों से होने वाली प्राप्तिया सम्मिलित की गई थीं।

(ग) **विभाजित मदें :** इनमें उत्पादन शुल्क, निर्धारित कर, स्टाप, वन तथा रजिस्ट्रेशन शुल्क सम्मिलित किए गए थे।

सन् 1882 के बाद प्रत्येक पाच वर्ष के पश्चात स्थिति की पुन समीक्षा करने की व्यवस्था करदी गई। इसके अतिरिक्त सन् 1887, 1892 तथा 1897 में नये बदोबस्त किए गए। किंतु इन बदोबस्त प्रणाली से कृषि आय मे अनिश्चितता आ गई। परिणामस्वरूप 1904 में बदोबस्त को तदर्थ स्थाई और सन् 1912 में स्थाई कर दिया गया।

द्वितीय काल 1919 से 1937 का काल

सन् 1919 के अधिनियम के बाद वित्तीय प्रबध के विकास मे विशेष परिवर्तन हुए। प्रथम विश्वयुद्ध के समय देश की आर्थिक स्थिति पर पड़ने वाले प्रभावो को ध्यान में रखते हुए सरकार ने यह अनुभव किया कि प्रशासनिक दृष्टि से देश को कुछ स्वायत्तता प्रदान करना आवश्यक है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए सन् 1917 में माटेग्यू विज्ञप्ति में कहा गया था : 'सरकार की यह नीति है कि प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयो का अधिकतम सहयोग प्राप्त किया जाए तथा स्व-शासन सस्थाओं का क्रमश विकास किया जाए। इसका उद्देश्य भारत मे अधिक उत्तरदायी शासन स्थापित करते हुए उसे ब्रिटिश साम्राज्य का आवश्यक अग बनाना है।'

माटेग्यू विज्ञप्ति को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए तत्कालीन भारत मंत्री *माटेग्यू तथा वायसराय लार्ड चेम्स फोर्ड ने सन् 1917 के शीतकाल मे देश का* भ्रमण किया और भ्रमणकालीन अनुभव के आधार पर एक रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह

रिपोर्ट माटेग्यू चेम्स फोर्ड सयुक्त रिपोर्ट अथवा भारत मे सवैधानिक सुझावा पर रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इसी रिपोर्ट के आधार पर भारत सरकार अधिनियम 1919 पारित किया गया। इस अधिनियम के पारित हो जाने के बाद भारत मे दोहरी शासन प्रणाली आरभ हो गई और प्रातो तथा केंद्र के आर्थिक सबध म आमूल परिवर्तन हो गया। इस अधिनियम के *अनुसार आय व्यय का बटवारा निम्न रूप से किया गया* **(क) केंद्रीय आय के साधन :** अफीम नमक, आयकर, रेल, डाक और तार सेवा स प्राप्त आय, तथा **(ख) प्रातीय आय के साधन :** मालगुजारी स्टाप, रजिस्ट्रेशन, उत्पादन कर और वनो से प्राप्त आय।

केंद्र तथा प्रातो मे आय साधनो के वितरण के बाद भारत सरकार को 13 63 करोड रुपये वार्षिक का घाटा होने का अनुमान लगाया गया। इसलिए इस घाटे को कम करने के लिए अधिनियम मे यह व्यवस्था की गई कि प्रातीय सरकारें अपनी बचतो मे से केंद्र को सहयोग प्रदान करेंगी। अधिनियम मे प्रातीय सरकारो के इस योगदान को 'प्रातीय अशदान, की सज्ञा दी गई है।

अधिनियम के अनुसार प्रातीय अशदाना की मात्रा प्रातीय अतिरेको के 87 प्रतिशत के बराबर की राशि निश्चित की गई और और अधिनियम मे यह स्पष्ट किया गया है कि *अतिरिक्त 13 प्रतिशत का अतिरेक प्रातो के विकास कार्यों मे व्यय* किया जाएगा।

मैस्टन परिनिर्णय

सन् 1919 के अधिनियम म वर्णित प्रातीय अशदान की पद्धति व्यावहारिक दृष्टि से दोषपूर्ण थी इसलिए इस पर पुनर्विचार करने के लिए 1902 मे लार्ड मैस्टन की अध्यक्षता मे एक समिति का गठन किया गया। इस समिति को मुख्य रूप से निम्नलिखित कार्य सौपे गए

(अ) 1921-22 के आर्थिक वर्ष म केंद्र द्वारा प्रातो को दिए जाने वाले अशदानो की मात्रा और अशदाना का आधार।

(आ) केंद्रीय घाटे की पूर्ति के लिए आगामी वर्ष म प्रातो के अशदानो की मात्रा।

(इ) बबई प्रात से प्राप्त आयकर की राशि मे से उस प्रात को दिए जाने वाली अशदान का औचित्य तथा मात्रा।

(ई) आगामी वर्षों मे प्रातीय ऋणो की व्यवस्था।

लार्ड मैस्टन ने मार्च 1920 म भारत सरकार को अपने सुझाव दिए। इन्ही सुझावो के आधार पर भारत म सन् 1921 से 1935 के केंद्र तथा प्रातो के मध्य वित्तीय व्यवस्था रही। मैस्टन परिनिर्णय की मुख्य बातें अग्रलिखित हैं .

(अ) प्रांतों का यह तर्क स्थाई रूप से अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि विभिन्न प्रांतों में रहने वाले उद्यमियों, उद्योगपतियों, व्यावसायियों तथा वाणिज्यिक इकाईयों की आयों पर जो प्रत्यक्ष कर लगाए जाते हैं उनका कुछ भाग उन प्रांतों को भी मिले. किंतु तात्कालिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए आयकर के विभाजन की स्थाई व्यवस्था नहीं की जा सकती है। मैस्टन समिति ने 1921-22 के आर्थिक वर्ष में 963 करोड़ रुपये की वित्तीय हानि को पूरा करने के लिए यह सुझाव दिया कि प्रांतों की आर्थिक स्थिति तथा घटते हुए व्यय भारों को ध्यान में रखते हुए मद्रास को 384 लाख, बंबई को 56 लाख, बंगाल को 63 लाख, उत्तरप्रदेश को 240 लाख, बर्मा को 64 लाख, मध्यप्रांत को 24 लाख, पंजाब को 175 लाख और असम को 15 लाख रुपये प्रारंभिक अनुदान के रूप में दिए जाएं।

(आ) आगामी वर्षों में केंद्रीय घाटे की पूर्ति के लिए प्रांतीय अंशदानों की मात्रा के बारे में मैस्टन समिति ने सुझाव दिया कि इन अंशदानों का निर्धारण प्रांतों की करदान क्षमता, निवासियों की आय और प्रांतों की व्यक्तिगत आर्थिक स्थिति के आधार पर किया जाना चाहिए। मैस्टन समिति ने अपने सुझाव में यह स्पष्ट किया था कि प्रांतों द्वारा दिए गए इस प्रकार के अंशदान का प्रतिशत प्रांतों की व्यक्तिगत स्थिति के अनुसार ढाई प्रतिशत से 19 प्रतिशत तक होना चाहिए। यह व्यवस्था आगामी सात वर्ष के लिए की जानी चाहिए और उसके बाद समय-समय पर प्रांतों की आर्थिक स्थिति का पुनर्मूल्यांकन किया जाना चाहिए और अंशदानों का निर्धारण किया जाना चाहिए।

(इ) मैस्टन समिति ने बंबई प्रांत से प्राप्त आयकर की राशि में से उस प्रांत को दिए जाने वाले अंशदान के औचित्य एवं मात्रा के विषय में अपना कोई सुझाव नहीं दिया। समिति ने अपने सुझाव में केवल सामूहिक रूप से यह बताया कि प्रांतों को इस प्रकार का अंशदान मिलना चाहिए। समिति ने बंबई के विशेष अंशदान की धारणा को स्वीकार नहीं किया।

(ई) मैस्टन समिति ने सुझाव दिया कि केंद्रीय सरकार द्वारा प्रांतों को दिए जाने वाले ऋणों को आगामी 12 वर्षों में समाप्त कर दिया जाए।

मैस्टन परिनिर्णय की बंबई तथा बंगाल जैसे संपन्न प्रांतों ने तीव्र आलोचना की। बंबई का विचार था कि वह आयकर के रूप में केंद्रीय राजस्व को पर्याप्त राशि दे रहा है। बंगाल का विचार था कि वह जूट उत्पादन से जूट निर्यात कर के रूप में केंद्रीय राजस्व को पर्याप्त राशि दे रहा है और भू-राजस्व के रूप में प्राप्त राशि लोचहीन होने के कारण अतिरिक्त अंशदान के रूप में केंद्र को कुछ अधिक राशि देना उसके लिए कठिन है और बढ़ते हुए प्रशासनिक व्ययों की पूर्ति के लिए उसे केंद्रीय अनुदान मिलना चाहिए।

मैस्टन समिति के सुझावो को कुछ सशोधन के साथ स्वीकार कर लिया गया और उन्हे 1919 के भारत सरकार अधिनियम मे सम्मिलित कर लिया गया। अधिनियम की धारा 14 तथा 15 के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि आयकर की प्राप्तियो का एक भाग प्रातो को मिले और किसी वर्ष की आय 1920-21 के आर्थिक वर्ष की आय से अधिक हो तो बढी हुई आय का 3 प्रतिशत प्रातो को दिया जाए।

अशदानों की समाप्ति *मैस्टन समिति के सुझावो को स्वीकार करने तथा* उन्हे भारत सरकार के 1919 के अधिनियम मे सम्मिलित कर लेने पर भी केंद्रीय *तथा प्रातीय सरकारो के बीच आर्थिक सहयोग की भावना पूर्ण नही हो सकती।* क्योकि केंद्र तथा प्रातो के बीच आय की मदो का विभाजन असतोषजनक था। केंद्र की आय के लोचदार साधन प्राप्त थे और प्रातो की आय के साधन पूर्णत बेलोचदार थे।

मैस्टम समिति के सुझावो के आधार पर केंद्रीय सरकार के घाटे की पूर्ति प्रातीय अनुदानो से पूरी की जानी थी। इस अधिनियम से पारस्परिक आर्थिक सहयोग की भावना को ठेस लगी।

मैस्टम समिति के सुझावो का एक बडा दोष यह था कि विभिन्न प्रातो मे राजस्व के स्रोतो की भिन्नता के परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न वर्गों पर करो का असमान भार पडा। प्रातो के असतोष तथा आलोचना-प्रत्यालोचनाओ के कारण 1929 मे प्रातीय अशदानो को समाप्त कर दिया गया। किंतु 1919 में बनाया गया वित्तीय ढाचा 1930 मे भारत सरकार अधिनियम 1935 के लागू होने तक अस्तित्व में बना रहा।

तृतीय काल 1937 से 1950 का काल

सन् 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अतर्गत भारत मे सघीय पद्धति की व्यवस्था की गई और प्रातो को कुछ स्वायत्तता प्रदान की गई। 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार केंद्रीय तथा प्रातीय साधनो को पूर्णत विभाजित कर दिया गया। 1935 के अधिनियम मे यह व्यवस्था की गई कि केंद्र तथा प्रातो के वित्तीय सबधो के साथ-साथ भारतीय देशी रियासतो को भी सतुलित तथा सुदृढ किया जाए किंतु अधिनियम में प्रस्तावित सघ कभी अस्तित्व मे नही आया और देशी रियासतें भारत की सघीय वित्त व्यवस्था से पूर्णत बाहर रही। इस अधिनियम के पारित हो जाने के बाद केंद्र तथा प्रातो के वित्तीय सबधों मे पूर्णत सघीयता के लक्षण आ गए।

अधिनियम के अतर्गत प्रातों के आय के स्रोतों मे भू-राजस्व, सिचाई प्रभार, मद्य उत्पादन शुल्क, अफीम तथा नशीली औषधिया, कृषि आयकर, स्टाप तथा रजिस्ट्रेशन शुल्क की गणना की गई थी। केंद्र के सौंपे गए साधनो मे निगम कर, सीमा-

शुल्क, रेल, तार, टेलीफोन तथा प्रसारण सेवा, मुद्रा तथा सिक्का ढलाई तथा सैनिक प्राप्तियों को सम्मिलित किया गया है। अधिनियम में कुछ ऐसे करों की भी व्यवस्था की गई थी जिन्हें लगाने तथा वसूल करने का काम केंद्रीय सरकार को सौंपा गया था किंतु प्राप्तियों को केंद्र तथा प्रांतों के मध्य बांटा जाना था। इस प्रकार के करों में कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की संपत्ति पर उत्तराधिकार कर, पत्रों, प्रपत्रों, चैकों आदि पर स्टाम्प शुल्क, रेल तथा वायु मार्ग से आने-जाने वाले यात्रियों व माल पर चुंगी तथा रेल किरायों पर कर, कृषि आय को छोड़कर अन्य आमदनियों पर कर, वस्तुओं पर कर, जूट पर निर्यात कर आदि की गणना की गई थी।

इस अधिनियम में केंद्र को कर लगाने के व्यापक अधिकार मिल गए। अधिनियम में यह व्यवस्था भी की गई थी कि केंद्र प्रांतों द्वारा लगाए जाने वाले करों में अधिभार लगा सकता है। इस अधिनियम में प्रांतों को आवश्यकतानुसार अनुदान दिए जाने की व्यवस्था की गई।

आटो निमेयर निर्णय

सन् 1935 के भारत सरकार अधिनियम में यह आवश्यक समझा गया था कि सरकार आयकर, जूट निर्यात कर तथा उत्पादन कर को प्रांतों तथा केंद्र के मध्य विभाजन संबंधी सुझावों के लिए एक समिति का गठन करे। भारत मंत्री ने इस कार्य के लिए सर आटो निमेयर को नियुक्त किया। आटो निमेयर ने अपने सर्वेक्षण एवं सुझावों में इस बात का ध्यान रखा कि प्रांतों तथा केंद्र के वित्तीय संबंधों में ऐसा कोई तत्त्व उपस्थित हो सके जिससे आर्थिक स्थिति तथा साख को हानि पहुंचे। साथ ही सबल होने के लिए प्रांतों को आर्थिक सहायता भी मिलती रहे। आटो निमेयर के मुख्य सुझाव निम्न लिखित हैं

(1) ऋण की समाप्ति : आटो निमेयर ने सुझाव दिया कि आसाम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा और उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रांत का अप्रैल 1936 से पहले का समस्त ऋण समाप्त कर दिया जाए। और मध्य प्रांत का 1921 के बाद तथा 1936 से पहले का ऋण भी समाप्त कर दिया जाए।

(2) आयकर का वितरण : आटो निमेयर ने सुझाव दिया कि आयकर की वास्तविक आय का 50 प्रतिशत भाग केंद्र सरकार अपने पास रखे और शेष 50 प्रतिशत प्रांतों को बांट दिया जाए। उनका यह भी सुझाव दिया था कि आयकर की राशि को वितरित करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि प्रांत-विशेष से आयकर के रूप में कितनी राशि एकत्रित की गई है और प्रांत विशेष की जनसंख्या क्या है?

(3) जूट निर्यात कर का वितरण : आटो निमेयर ने सुझाव दिया कि जूट निर्यात करने वाले प्रातो को जूट निर्यात कर के 62½ प्रतिशत राशि दी जाए। इस सबध मे यह स्पष्ट किया गया था कि जूट निर्यातक प्रातो को यह राशि केवल *उनकी आवश्यकता को ध्यान मे रखते हुए दी जा रही है।*

सर आटो निमेयर के सुझावो को सक्षिप्त सशोधन के साथ सन् 1936 मे स्वीकार कर लिया गया किंतु उनके सुझावो से किसी प्रात को भी प्रसन्नता नही हुई। क्योकि बबई जैसे सपन्न प्रात आयकर एकत्र करने के अनुपात म आयकर का अशदान चाहते थे जबकि मद्रास, बिहार जैसे असपन्न राज्य जनसख्या के अनुपात म अशदान चाहते थे। आटो निमेयर के सुझावो पर केंद्र के प्रति पक्षपात का आरोप भी लगाया गया। उनके सुझावो मे एक महत्त्वपूर्ण त्रुटि सामान्य बजट को रेलवे बजट के साथ मिला देना, समझी जाती है।

देश विभाजन के पश्चात किए गए परिवर्तन : देश विभाजन के बाद वित्तीय व्यवस्था मे परिवर्तन आवश्यक हो गया। आयकर की प्राप्तियो मे पजाब तथा *बगाल को मिलने वाले भागो को जनसख्या के अनुपात मे कम कर दिया गया।* देश विभाजन के कारण कुछ प्रातो की बची हुई राशि भारतीय सघ राज्यो की जनसख्या को ध्यान मे रखते हुए पुन वितरित कर दी गई। पुनर्वितरण से आसाम तथा पश्चिमी बगाल को विशेष लाभ हुआ। जूट उत्पादन क्षेत्र पाकिस्तान म चले जाने के कारण जूट उत्पादन कर की प्रातो को दी जाने वाली 62½ प्रतिशत राशि को घटा कर 20 प्रतिशत कर दिया गया।

चौथा काल भारतीय सविधान के उपरात

भारतीय सविधान मे केंद्र तथा प्रातो के वित्तीय सबधो को सतुलित बनाए रखने के के लिए प्रत्येक पाच वर्ष के पश्चात एक वित्त आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। सविधान मे राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह आवश्यकतानुसार इस प्रकार के वित्त आयोग को पांच वर्ष से पूर्व भी नियुक्त कर सकता है। वित्त आयोग अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को सौंपता है और विचार के बाद उस पर केंद्र सरकार निर्णय लेती है। स्वतत्रता के शीघ्र बाद सरकार वित्त आयोग की स्थापना नही कर सकी। इसलिए सर्वप्रथम 1950 मे सी० डी० देशमुख को केंद्र तथा प्राता के मध्य आयकर विभाजन का अध्ययन करने के लिए नियुक्त किया गया। सी० डी० देशमुख ने आटो निमेयर द्वारा प्रस्तावित बंटवारे के मूल सिद्धातो मे कोई परिवर्तन *नही किया।* केवल कुछ साधारण परिवर्तन किए जो कि देश विभाजन के कारण आवश्यक हो गए थे। पजाब व बगाल के कुछ भागो के पाकिस्तान मे चले जाने के कारण आयकर के प्रातीय भाग का 14 5 प्रतिशत अन्य प्रातो मे जनसख्या के आधार पर पुनर्वितरित कर दिया गया। सी० डी० देशमुख ने सुझाव दिया कि जूट उत्पादक प्रातो को जूट निर्यात कर की राशि मे से दिया जाने वाला अशदान

समाप्त कर दिया जाए और इसके बदले ऐसे प्रांतों को कुछ राशि अनुदान के रूप में दी जाए। देशमुख के सुझावों को सरकार ने स्वीकार कर लिया किंतु यह एक अंतरिम व्यवस्था थी।

भूतपूर्व भारतीय रियासतों का वित्तीय एकीकरण : स्वतंत्रता प्राप्ति के दो वर्ष के अंदर ही समस्त भारतीय देशी रियासतें या तो पड़ोसी प्रांतों में मिला दी गईं या कुछ छोटी-छोटी रियासतों को मिला कर उनकी बड़ी इकाई बना दी गई या उन्हें केंद्र प्रशासित राज्यों में मिला दिया गया। इस राजनैतिक एकीकरण के बाद वित्तीय एकीकरण भी आवश्यक हो गया। परिणामस्वरूप अक्तूबर 1948 में टी० टी० कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में भारतीय राज्य वित्त समिति का गठन किया गया। समिति की सिफारिशों को साधारण संशोधन के साथ स्वीकार कर लिया गया।

एकीकरण के परिणामस्वरूप केंद्र ने देशी रियासतों की परिसंपत्तियों तथा देयताओं सहित संविधान के संघ सूची में आने वाले सभी विषय तथा सेवाएं ले लीं। यह स्वीकार कर लिया गया कि केंद्र राज्यों को 'राजस्व पूरक अनुदान' देगा। यह स्पष्ट किया गया कि केंद्र द्वारा राज्यों को दी जाने वाली अनुदान राशि उस धन राशि के बराबर होनी चाहिए जो वित्तीय एकीकरण के उपरांत संघ सूची के विषयों को राज्यों से ले लेने के कारण राज्यों को राजस्व में हानि हुई हो। यह भी स्पष्ट किया गया कि एकीकरण के परिणामस्वरूप राज्यों को राजस्व के रूप में जितनी धन राशि की हानि होगी, प्रथम पांच वर्ष तक केंद्र उस हानि को पूरा करेगा। पांच वर्षों के बाद भी केंद्र प्रांतों की राजस्व हानि को पूरा करने के लिए अनुदान देगा किंतु इस प्रकार के अनुदान अगले दस वर्ष के बाद नहीं दिए जाएंगे और पांच वर्ष के बाद अनुदान राशि उत्तरोत्तर कम कर दी जाएगी। संविधान में यह भी स्पष्ट किया गया कि 'ख' वर्ग के राज्यों को 'क' वर्ग के राज्यों के समान ही आयकर जैसे केंद्रीय राजस्व के विभाज्य स्रोतों में अंशदान प्राप्त होगा। 'ख' वर्ग के राज्यों को केंद्रीय राजस्व में उनके भाग अथवा राजस्व पूरक अनुदान की राशि में, जो भी अधिक होगा, दिया जाएगा। राज्यों की परिवर्तित अनुदान राशि को सरल एवं सुविधाजनक बनाने के लिए एकीकरण से पूर्व जिन राज्यों को अंतर्राज्यीय यातायात शुल्क लगाने की अनुमति थी। इन्हें यह सुविधा आगामी कुछ वर्षों के लिए दे दी गई। केंद्रीय अनुदान की दृष्टि से 'क' तथा 'ख' वर्ग के राज्यों में कोई भेद नहीं रखा गया।

संविधान में वित्तीय संबंध

भारतीय संविधान में भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया है और संविधान में मौलिक अधिकारों, राज्य के

नीतिनिर्देशक सिद्धातो, और सघीय व राज्य सरकारो के मध्य वित्तीय सबधो को स्पष्ट किया गया है। भारत का सविधान अनेक दृष्टियो से 1935 के अधिनियम पर आधारित है। अत: सामान्य वित्तीय ढाचे म कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया किंतु इतना होते हुए भी भारतीय सविधान म केंद्र तथा प्रातो के वित्तीय सबधो का समान विस्तृत विवरण किसी सघात्मक सविधान मे नही मिलता। केंद्र तथा प्रात के वित्तीय सबधो के सदर्भ मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात सविधान द्वारा वित्त आयोग की व्यवस्था किया जाना है। इस व्यवस्था द्वारा सघ एव राज्यो के मध्य वित्तीय वितरण एव वित्तीय समायोजन की समस्त समस्याए सरलतापूर्वक हल की जा सकती हैं।

सघ एव राज्यो के मध्य राजस्व के साधनो के विभाजन के आधारभूत सिद्धात कार्यक्षमता पर्याप्तता और उपयुक्तता हैं। इन तीनो उद्देश्यो को एक साथ प्राप्त करना कठिन होने के कारण सविधान मे समझौतावादी प्रवृत्ति अपनाई गई है इसके अनुसार राजस्व विषय को दो भागो म विभाजित किया गया है। प्रथम भाग मे सघ और राज्यो के मध्य राजस्व का विभाजन रखा गया है और दूसरे भाग मे सहायक अनुदानो का वितरण।

सविधान की सातवी अनुसूची म केंद्र और राज्य सरकारो के आय के साधन स्पष्ट किए गए हैं। सूची एक मे सघ सरकार तथा सूची दो मे राज्य सरकारो के अधिकारो का वर्णन किया गया है।

सघीय राजस्व के स्रोत : सूची एक के अनुसार सघीय सरकार को निम्नलिखित आय के स्रोत प्राप्त हैं : कृषि आय को छोड कर अन्य आय पर कर, सीमाशुल्क (निर्यात शुल्क सहित), मुद्रा, मुद्रा टकण, विधि ग्राह्य तथा विदेशी विनिमय निगमकर, तबाकू तथा तबाकू से निर्मित वस्तुओ पर उत्पादन शुल्क, कृषि योग्य भूमि को छोडकर अन्य सपत्ति पर सपत्ति कर कृषि भूमि को छोडकर अन्य सपत्ति पर उत्तराधिकार कर, रेल, समुद्र या वायु मार्ग मे ले जाने वाली वस्तुओ तथा यात्रियो पर कर, समाचार पत्रो के क्रय-विक्रय कर तथा विज्ञापन कर, व्यक्तियो तथा सस्थाओ की कृषि भिन्न सपदा कर, हुडी, चैक प्रोमिजरी नोट पर मुद्राक शुल्क, शेयर बाजार तथा सट्टा बाजार के सौदो पर मुद्राक के सौदो पर मुद्राक शुल्क, सघ सरकार की सपत्ति, विदेशी ऋण, भारत सरकार या राज्यो द्वारा सचालित लाटरिया, डाक घर बचत बैंक, डाक तार, टेलीफोन, बेतार, प्रसरण, एव सचार साधन सघीय लोक ऋण, भारतीय रिजर्व बैंक, न्यायालय मे लिए जाने वाले शुल्क को छोडकर सघ सूची मे वर्णित अन्य विषयो मे कर।

प्रांतीय राजस्व के स्रोत : भू-राजस्व, कृषि आय पर कर, कृषि भूमि उत्तराधिकार कर, कृषि सपदा कर, भूमि तथा भवन कर, ससदीय विधि द्वारा खनिज विकास के सबध मे वर्णित परिसीमाओ के अतर्गत खनिज कर, प्रतिव्यक्ति कर,

राज्य सीमा में उत्पादित शराब, अफीम आदि मादक पदार्थों पर उत्पादन कर, संघ सूची में वर्णित लेखों को छोड़कर अन्य लेखों पर मुद्रांक शुल्क स्थानीय क्षेत्रों में उपभोक्ता तथा विक्रेय वस्तुओं पर प्रवेश कर, विद्युत उत्पादन तथा उपभोग कर, समाचार पत्रों में प्रकाशित विज्ञप्ति कर, सड़कों एवं अन्तर्देशीय जल मार्गों पर माल तथा यात्रियों पर कर, वाहन कर, पशु कर, सेवाओं तथा आजीविका साधनों पर कर, विलास कर, मनोरंजन कर, चुंगी कर, पथकर।

संघ द्वारा लगाए तथा संगृहीत किए जाने वाले किंतु राज्यों को सौंप दिए जाने वाले कर : भारतीय संविधान के अनुसार निम्नलिखित कर भार केंद्र सरकार द्वारा आरोपित एवं संगृहीत किए जाएंगे किंतु खंड (2) में वर्णित रीति से राज्यों को बांट दिए जाएंगे। ये कर भार हैं : कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य संपत्तियों पर उत्तराधिकार कर, कृषि संपत्ति के अतिरिक्त अन्य संपत्तियों पर संपदा कर, रेल, समुद्र तथा वायु मार्ग से ले जाए जाने वाले यात्री तथा माल पर सीमा कर, रेल-भाड़ा तथा माल-भाड़े पर कर, शेयर तथा सट्टा बाजार के सौदों पर मुद्रांक शुल्क के अतिरिक्त कर, समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय तथा विज्ञापन पर कर, समाचार पत्रों के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य या क्रय-विक्रय कर।

जिन करों की गणना राज्य सूची अथवा समवर्ती सूची में नहीं की गई है उन करों के लगाने का एकमात्र अधिकार केंद्र को है। संघ तथा राज्य सरकारों की पारस्परिक सद्भावना की दृष्टि से एक दूसरे के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत एक दूसरे की समस्त संपत्ति कर मुक्त समझी जाती है। किंतु संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह वैधानिक दृष्टि से संघ सरकार को राज्य सरकारों की परिधि में कर लगाने का अधिकार प्रदान कर सकती है।

केंद्रीय राजस्व का बटवारा तथा आवंटन

भारतीय संविधान के अनुसार करों को राज्य सूची तथा संघ सूची पूर्णतः विभाजित कर दी गई है। राज्य सूची तथा संघ सूची में वर्णित करों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है

(1) वे कर जिन्हें राज्य सरकारें लगाती हैं और वसूल करती हैं।

(2) वे कर जिन्हें संघ सरकार लगाती है किंतु राज्य सरकारें एकत्र करती हैं और स्वयं रख लेती हैं।

(3) वे कर जिन्हें संघ सरकार लगाती है, एकत्र करती है किंतु उनकी प्राप्तियां संसद द्वारा निर्धारित अनुपात में राज्यों को सौंप दी जाती हैं।

सहायक अनुदान

संविधान द्वारा महत्वपूर्ण कल्याणकारी कार्य राज्यों को सौंपे गए हैं। राज्यों के कल्याणकारी कार्य व्यय साध्य हैं। राज्यों की आय तथा व्यय के मध्य की खाई

को न्यूनतम करने के लिए संघ सरकार द्वारा विशिष्ट तथा सामान्य कार्यों के लिए समय-समय पर राज्य सरकारों को सहायक अनुदान दिए जाते रहे हैं। इन अनुदानों के परिणामस्वरूप राज्यों के वित्तीय साधनों की विषमता को न्यूनतम करने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

ऋण

जहां एक ओर राज्य सरकारें अपनी भौगोलिक सीमा के अंतर्गत लोक ऋण प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं वहां दूसरी ओर उन्हें समय-समय पर केंद्रीय सरकार से भी ऋण लेना पड़ता है। केंद्रीय सरकार अन्य कार्यों के साथ-साथ सिंचाई, नदी घाटी परियोजना, कृषि विकास कार्य-क्रमों तथा पुनर्वास, सामुदायिक विकास, औद्योगिक आवास प्रबंध आदि के लिए गत अनेक वर्षों से राज्य सरकारों को ऋण प्रदान कर रही है।

24
वित्त आयोग

साधनों के विभाजन एव सहायता अनुदान की व्यवस्था में वित्त आयोग का महत्व-पूर्ण स्थान है। वित्त आयोग की नियुक्ति सविधान के अनुच्छेद 280 के अतर्गत कम से कम प्रत्येक पाच वर्ष अथवा उपयुक्त अवधि में राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। वित्त आयोग के कार्य-क्षेत्र एव सिफारिशों में निम्नांकित बातें उल्लेखनीय हैं :

(1) सविधान के अध्याय 1, भाग 12 में निहित करों से प्राप्त राशि का केंद्र व राज्यों के मध्य विभाजन एव राज्यों के बीच इस राशि के वितरण का आधार व मापदड निश्चित करना।

(2) केंद्र सरकार के बजट से राज्यों की वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए सहायता अनुदान वितरित करने का सिद्धात व राशि निश्चित करना। तथा

(3) ऐसे मामलों पर विचार करना जो स्वस्थ तथा दृढ वित्त प्रणाली को निश्चित करने के प्रयास में उपयोगी हों तथा जो राष्ट्रपति द्वारा वित्त आयोग को सौंपे जाए।

जहा तक विभाजित करों का प्रश्न है उनमें केवल आयकर ही एकमात्र कर है जो वितरित किया जाता है, किंतु उत्पादन शुल्क भी वितरित किया जा सकता है। आयकर का भाग राष्ट्रपति के आदेशानुसार निश्चित होता है और यह राशि सीधे राज्यों के बजट में सम्मिलित हो जाती है। इस सदर्भ में सरकार को वित्त आयोग की सिफारिशें मानना अनिवार्य है। इसके विपरीत उत्पादन शुल्क के सिद्धात व वितरण में वित्त आयोग की सिफारिशों में परिवर्तन का अधिकार केंद्रीय सरकार को होता है। सामान्यत. वित्त आयोग की सिफारिशें इस क्षेत्र में वैकल्पिक होने के बावजूद भी केंद्र सरकार उन्हें मान्य करती है और तदानुसार व्यवस्था करती है।

इसी प्रकार सहायता अनुदान के क्षेत्र में वित्त आयोग के कार्य सिद्धात निश्चित करने तक सीमित रहते हैं और इन राशि का निर्धारण केंद्र सरकार के

अधीन होता है। परतु वास्तविकता यह है कि वित्त आयोग सिद्धात निश्चित करने के साथ-साथ राशि की मात्रा भी निश्चित करता है और साधारणत वह केंद्र सरकार द्वारा मान्य होती है। इसी प्रकार कुछ विशिष्ट कार्यों अथवा सेवाओ के लिए सहायता अनुदान के सबध मे वित्त आयोग अपने सुझाव प्रस्तुत करता है। वित्तीय सबधी मामलो मे एक स्वतत्र आयोग की स्थापना के कारण राजनीतिक प्रभाव नही पडता। साथ ही विशिष्ट परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य मे ही उन पर विचार कर स्वस्थ परपरा स्थापित की जाती है।

प्रथम वित्त आयोग

भारतीय सविधान की धारा 280 (1) के अतर्गत 22 नवम्बर सन् 1951 को राष्ट्रपति ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता मे सबसे पहला वित्त आयोग नियुक्त किया। इस आयोग ने 31 दिसबर सन् 1952 को अपनी रिपोर्ट भारत सरकार के समुख प्रस्तुत की।

आयोग ने अपनी सिफारिशें मुख्यत. तीन सिद्धातो पर आधारित की

(1) केंद्र एव राज्यो के मध्य साधनो का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि केंद्रीय सरकार अपनी रक्षा, आर्थिक उन्नति और अन्य कार्यों को सफलतापूर्वक चला सके।

(2) साधनो के वितरण तथा अनुदानो के निर्धारण में सभी राज्यो के बारे मे समान सिद्धातो को अपनाया जाए।

(3) वितरण की योजना का उद्देश्य यह होना चाहिए कि विभिन्न राज्यो के बीच वर्तमान असमानताए दूर हों।

आयकर की प्राप्तियो का विभाजन

देशमुख-निर्णय के अनुसार आयकर की निबल प्राप्तियों का 50 प्रतिशत भाग प्रातो को मिलता था। आयोग ने इसे बढाकर 55 प्रतिशत करने की सिफारिश की। आयोग ने इस वृद्धि के दो कारण बताए एक तो यह कि राज्यो की आवश्यकताए अब पहले की तुलना मे बढ गई हैं तथा द्वितीय, आयकर की प्राप्तिया अब भाग 'ब' के राज्यो को भी बाटी जानी थी। इस सबध मे आयकर के वितरण का निर्धारण करने मे दो मुख्य बातें विचारणीय हैं

(अ) इन प्राप्तियो के 80 प्रतिशत भाग का वितरण राज्यो की जनसख्या के आधार पर करना चाहिए। तथा

(ब) प्राप्तियो के 20 प्रतिशत भाग का वितरण राज्यों द्वारा किए जाने वाले कर सग्रह के आधार पर किया जाना चाहिए।

आयोग ने सिफारिश की कि उपरोक्त सिद्धांतों के आधार पर आयकर में राज्यों का हिस्सा *निम्न तालिका के अनुसार होना चाहिए।*

राज्य	आयकर में राज्यों के भाग का प्रतिशत	राज्य	आयकर में राज्यों के भाग का प्रतिशत
बंबई	17 50	राजस्थान	3 50
उत्तर प्रदेश	15 75	पंजाब	3.25
मद्रास	15.25	ट्रावनकोर-कोचीन	2 50
पश्चिमी बंगाल	11 25	असम	2 25
बिहार	9 75	मैसूर	2 25
मध्यप्रदेश	5 25	मध्य भारत	1 70
हैदराबाद	4 25	सौराष्ट्र	1 00
उड़ीसा	3 50	पेप्सू	0 75

संघीय उत्पादन शुल्कों का वितरण

राज्यों को अधिक आय प्रदान करने के लिए, आयोग ने विभाजन के लिए तीन उत्पादन शुल्कों, जो तंबाकू, दियासलाई तथा वनस्पति तेलों पर लगाए जाते थे, चुना। सामान्य उपभोग की वस्तुओं के होने के कारण इनसे काफी ठोस एवं स्थिर आय प्राप्त होती है। आयोग ने सिफारिश की कि इन शुल्कों की निवल प्राप्तियों का 40 प्रतिशत भाग राज्यों में बांट दिया जाना चाहिए। प्रत्येक राज्य के भाग के निर्धारण के संबंध में जनसंख्या के आधार को स्वीकार किया जाए। इन करों के संबंध में राज्यों के हिस्से निम्न प्रकार निर्धारित किए गए

राज्य	उत्पादन शुल्कों में राज्यों के भाग का प्रतिशत	राज्य	उत्पादन शुल्कों में राज्यों के भाग का प्रतिशत
उत्तर प्रदेश	18 23	उड़ीसा	4 22
मद्रास	16 44	पंजाब	2.66
बिहार	11 60	ट्रावनकोर-कोचीन	2 68
बंबई	10.37	मैसूर	2 62
पश्चिमी बंगाल	7 16	असम	2 61
मध्य प्रदेश	6 13	मध्य भारत	2.29
हैदराबाद	5.29	सौराष्ट्र	1 19
राजस्थान	4 41	पेप्सू	1 00

—

जूट निर्यात कर के बदले मे अनुदान

सन् 1935 के भारत सरकार अधिनियम म जूट उत्पादन करने वाले राज्यो का जूट निर्यात कर के बटवारे की व्यवस्था थी परतु भारतीय सविधान मे ऐसी कोई व्यवस्था नही की गई। इसलिए आयोग ने अतरिम काल के लिए निम्न चार राज्यो को जूट निर्यात कर के बदले मे वार्षिक सहायक अनुदान प्रदान करने की सिफारिश की जिनकी मात्राए इस प्रकार है

राज्य	कुल रकम (लाख रु० मे)	राज्य	कुल रकम (लाख रु० मे)
पश्चिमी बगाल	150	बिहार	75
असम	75	उडीसा	15

सहायक अनुदान

आयोग ने राज्यो के लिए सामान्य सहायक अनुदानो की सिफारिश की। आयोग ने उन सिद्धातो के सबध मे भी अपना सुझाव रखा जिनके आधार पर केंद्र द्वारा राज्यो को सहायक अनुदान देने चाहिए। इन मे मुख्य सिद्धात ये थे राज्यो की बजट सबधी आवश्यकताए सामाजिक सेवाओ का स्तर, किसी राष्ट्र, सस्था अथवा असाधारण प्रकृति के कार्य के सबध मे राज्यो पर डाला गया विशेष दायित्व और राष्ट्रीय महत्व के कुछ मुख्य कार्य। आयोग ने सहायक अनुदान देने के लिए अनेक कारणो की भी चर्चा की, जैसे कि राज्यो मे साधनो की कमी, बढती हुई कल्याण सेवाए, विकास योजनाए तथा कुछ ऐसे कार्यक्रमो का सचालन व विकास जैसे बेरोजगारी, बीमा व सामाजिक सुरक्षा।

रिपोर्ट का मूल्याकन

भारत सरकार द्वारा आयोग की सभी सिफारिशें स्वीकार करली गई। आयोग ने राज्यो के साधनो मे वृद्धि करने की आवश्यकता को ऐसे समय मे स्वीकार किया जबकि बदलती हुई आर्थिक स्थिति के कारण नवीन सरकारी सेवाओ की मागें उत्पन्न हो गई थी। आयोग ने कुछ उत्पादन शुल्को को विभाज्य साधनो मे सम्मिलित करके, आयकर की प्राप्तियो मे राज्यो का अश बढाकर तथा सहायक अनुदान की व्यवस्था करके राज्यो की उन आवश्यकताओ को पूरा करने का प्रयत्न किया। आयोग के जिन उत्पादन करो को चुना, वे बहुत ही उपयुक्त थे क्योकि ये सरकारी आय की प्राप्तियो की सबसे अधिक लोचदार मदें थी। आयकर मे राज्यो के हिस्से को जनसख्या के आधार पर जो निर्धारित किया गया वह अधिक सरल तथा न्यायोचित था।

आयोग ने यद्यपि प्रत्येक राज्य की ठोस वित्तीय प्रबंध तथा स्वावलंबन पर बल दिया किंतु फिर भी एक भय यह था कि राज्यों को अधिकाधिक सहायता दिए जाने के कारण उनके अंदर अपने खर्चों में मितव्ययता लाने की भावना कहीं कम न हो जाए। वास्तविकता भी यही थी कि अनेक राज्य बजाए इसके कि वे अपने निजी साधनों में ही किफायत करने का प्रयत्न करते केंद्रीय सहायता पर अधिक निर्भर रहने लगे। ऐसी संभावना राज्य को दी जाने वाली केंद्रीय सहायता की किसी भी योजना में उस समय तक बनी रहेगी जब तक कि राज्य सरकार की कार्यवाहियों में केंद्रीय सरकार को प्रभावपूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं होंगे।

द्वितीय वित्त आयोग

प्रथम आयोग के 5 वर्ष बाद सन् 1956 में श्री के० संथानम की अध्यक्षता में द्वितीय वित्त आयोग की स्थापना की गई। इसका क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक था। इसे मुख्यतः विभाज्य करों का संघ तथा राज्यों के बीच वितरण, राज्यों को दिए जाने वाले सहायक अनुदानों का निर्धारण करने वाले सिद्धांतों के संबंध में सिफारिशें करने के अतिरिक्त निम्न विषयों पर भी सिफारिशें प्रस्तुत करनी थीं जूट तथा जूट पदार्थों पर लगने वाले निर्यात कर का बटवारा, आस्ति-कर की विशुद्ध प्राप्तियों को राज्यों के मध्य वितरित करने के सिद्धांत, मिलों में बने कपड़े, चीनी तथा तंबाकू पर राज्य सरकारों द्वारा लगाए गए बिक्री करों के स्थान पर लगाए जाने वाले अतिरिक्त उत्पादन शुल्क की प्रतियों को राज्य के बीच किस प्रकार बांटा जाए तथा रेलभाड़ों पर लगाए जाने वाले करों की निवल प्राप्तियों के वितरण को निर्धारित करने वाले सिद्धांत।

आयोग ने नवंबर 1956 में एक अंतरिम रिपोर्ट पेश की और तदुपरान्त सितंबर 1975 में अंतिम रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं :

आयकर का वितरण

आयोग ने सिफारिश की कि आय कर की निवल प्राप्तियों में से राज्यों को मिलने वाला भाग 55 प्रतिशत से बढ़ाकर 90 प्रतिशत कर दिया जाना चाहिए। राज्यों के मध्य वितरित की जाने वाली निवल प्राप्तियों का 10 प्रतिशत भाग कर संग्रह के आधार पर और 60 प्रतिशत भाग जनसंख्या के आधार पर बांटने का प्रस्ताव किया गया। इस संबंध में प्रत्येक राज्य के लिए निर्धारित भाग आगे दी गई तालिका में दर्शाया गया है।

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आध्र प्रदेश	8 12	मैसूर	5 14
असम	2 44	उडीसा	3 73
बिहार	9 94	पजाब	4 24
बबई	15 97	राजस्थान	4 09
केरल	3 64	उत्तर प्रदेश	16 36
मध्य प्रदेश	6 72	पश्चिमी बगाल	10 08
मद्रास	8 40	जम्मू व कश्मीर	1 13

सघीय उत्पादन शुल्को का बटवारा

सघीय उत्पापन शुल्को के सबध मे आयोग ने सघ तथा राज्यो के बीच बाटे जाने वाले उत्पादन शुल्को की सूची मे कुछ वस्तुए और जोड दी। जोडी जाने वाली नई वस्तुए थी चीनी, चाय, काफी, कागज तथा वनस्पति के अनावश्यक तेल। ये दियासलाई, तबाकू व वनस्पति तेल के अतिरिक्त थी। उत्पादन शुल्कों की प्राप्तियो से राज्यो के भाग को घटाकर 25 प्रतिशत करने की सिफारिश की गई। आयोग ने कहा कि राज्यो के भाग का प्रतिशत घटाने से जो क्षति हुई है वह विभाज्य उत्पादन शुल्कों की सख्या में वृद्धि होने से पूरी हो जाएगी। आयोग ने प्रस्ताव रखा कि इन शुल्को से राज्यों के हिस्से का 90 प्रतिशत भाग जनसख्या के आधार पर बांटा जाना चाहिए और शेष का उपभोग समायोजन अथवा कमी-बेशी को ठीक करने के लिए करना चाहिए। जनसख्या के आधार पर राज्यो के बीच उनके भाग का वितरण निम्न तालिका में दर्शाया गया है

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आध्र प्रदेश	9 38	मैसूर	6 52
असम	3 46	उडीसा	4 46
बिहार	10 57	पजाब	4 49
बबई	12 17	राजस्थान	3.71
केरल	3 84	उत्तर प्रदेश	15 94
मध्यप्रदेश	7 46	पश्चिमी बगाल	7 59
मद्रास	7 56	जम्मू व कश्मीर	1 75

जूट निर्यात कर के बदले में सहायक अनुदान

आयोग ने जूट निर्यात कर के सबध में स्पष्ट किया कि प्रथम वित्त आयोग ने जो धन राशिया निर्धारित कर दी थी, सन् 1959-60 तक यह धन राशिया दी जानी चाहिए। परतु राज्यो के पुनर्गठन के कारण बिहार से बगाल में कुछ क्षेत्रों का स्थानान्तरण होने के फलस्वरूप बाद में इन धन राशियों में हेर-फेर करना पडा। इस सबध में प्रत्येक राज्य के लिए निर्धारित धन राशिया निम्नांकित तालिका में प्रदर्शित की गई हैं :

राज्य	लाख रुपये में
असम	75 00
बिहार	71.31
उडीसा	15 00
पश्चिमी बगाल	152 69

अस्ति कर का वितरण

भारत में अस्ति कर सन् 1953 में लगाया गया था। सविधान के उपबध के अनुसार यह कर केंद्रीय सरकार द्वारा लगाया जाता था और उसी के द्वारा प्राप्त किया जाता था, किंतु उसकी प्राप्तिया राज्यों के बीच उसी अनुपात में बाटी जाती थीं जिस अनुपात में आयकर का विभाजन होता था। आयोग ने इसके वितरण पर विचार किया और सिफारिश की कि इस कर की निबल प्राप्तियों का एक प्रतिशत भाग तो सघ शासित क्षेत्रों को सौंप दिया जाना चाहिए। शेष प्राप्तियों के वितरण के सबध में आयोग ने कहा कि यह कर अचल तथा चल दोनों ही प्रकार की सपत्ति पर लगाया जाता है। अचल सपत्ति से होने वाली प्राप्तियों का कुछ भाग राज्यों में स्थिति के आधार पर बाट देना चाहिए अर्थात् प्रत्येक राज्य में स्थित सपत्ति के मूल्य के अनुपात में और शेष भाग को राज्यों के मध्य उनकी जनसख्या के आधार पर वितरित कर देना चाहिए। इन आधारों पर प्रत्येक राज्य का प्रतिशत भाग निम्न रूप में तय किया गया

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आध्र प्रदेश	8 76	मैसूर	5 43
असम	2 53	उडीसा	4 10
बिहार	10 86	पजाब	4 52
बबई	13 52	राजस्थान	4 47
केरल	3 79	उत्तर प्रदेश	17 71
मध्य प्रदेश	7.30	पश्चिमी बगाल	7.37
मद्रास	8 40	जम्मू व कश्मीर	1.24

अतिरिक्त उत्पादन शुल्को का वितरण

राज्य सरकारो के परामर्श से भारत सरकार ने यह तय किया कि मिलो से बने कपडे, चीनी तथा तबाकू पर राज्य सरकारो द्वारा लगाए जाने वाले बिक्री करो के स्थान पर एक अतिरिक्त उत्पादन शुल्क लगाया जाए और उसकी निबल प्राप्तियो को राज्यो मे बाटा जाए। साथ ही इस बात का आश्वासन दिया जाए कि इस नई व्यवस्था से प्रत्येक राज्य को उतनी आय अवश्य प्राप्त हो सकेगी जितनी कि उन्हे इन वस्तुओ के बिक्री करो से होती थी। वित्त आयोग को यह कार्य सौपा गया कि वह इस सबध मे अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करे कि इस उत्पादन शुल्क की निवल प्राप्तियो को राज्यो मे किन सिद्धातो पर बाटा जाए।

आयोग ने एक सिफारिश यह की कि उत्पादन शुल्को मे से जम्मू व कश्मीर राज्य को भी एक हिस्सा मिलना चाहिए। इस राज्य का हिस्सा 1 25 प्रतिशत तय किया। इसके अतिरिक्त यह भी व्यवस्था की गई कि उत्पादन शुल्क की निवल प्राप्तियो का एक प्रतिशत भाग केंद्रशासित प्रदेशो के हिस्से के रूप म केंद्रीय सरकार को रख लेना चाहिए। वितरण की योजना मे क्योकि प्रत्येक राज्य को उतनी धन राशि का आश्वासन दिया गया था जितना कि वे इन वस्तुओ पर लगाए जाने वाले बिक्री करो से प्राप्त करते हैं। अत इस विचारधारा को दृष्टि मे रखते हुए आयोग मे इन वस्तुओं पर लगाए जाने वाले बिक्री करो से सन् 1956-57 मे होने वाली आय को 'वर्तमान आय' के रूप म माना। उत्पादन करो की निवल प्राप्तियो का कुछ भाग यदि शेष रहे, तो उसको निम्न तालिका मे दिए हुए प्रतिशतों के अनुसार बाटने की व्यवस्था की गई। तालिका मे दोनो ही स्थितियो से सबधित प्रतिशतो का उल्लेख है अर्थात् *(I) सभी वस्तुओ पर सम्मिलित रूप से तथा (II) तीनो वस्तुओ* पर प्रथक-प्रथक रूप से

(प्रतिशत)

राज्य	यदि सभी वस्तुओ पर सम्मिलित रूप से विचार किया जाए	यदि प्रत्येक वस्तु पर प्रथक-प्रथक विचार किया जाए		
		मिला का बना कपडा	चीनी	तबाकू
आध्र प्रदेश	7 81	7 38	6 65	10 47
असम	2 73	2 72	2 55	2 98
बिहार	10 04	11 19	8 20	8 90
बबई	17 52	16 46	20 17	17 41

क्रमश.

केरल	3 15	3 10	3 03	3 43
मध्य प्रदेश	6 16	6 97	7 67	7 10
मद्रास	7 74	7 26	7 43	9 53
मैसूर	5 13	4 98	5 13	9 58
उडीसा	3 20	3 32	2 87	3 21
पजाब	5 71	5 56	7.21	4 36
राजस्थान	4 32	4 36	4 81	3 59
उत्तर प्रदेश	17 18	18 19	15 63	16 13
पश्चिमी बगाल	8 31	8 51	8 65	7 31

सहायक अनुदान

आयोग ने पहले की तुलना मे अधिक सहायक अनुदान देन की सिफारिश की। आयोग ने इस वृद्धि का कारण यह बतलाया कि पहले जब अनुदानो की मात्रा का निर्धारण किया गया था तब राज्यो की विकास आवश्यकताओं को पूरी तरह ध्यान में नहीं रखा गया। प्रत्येक राज्य की आवश्यकताओं पर विचार करने के पश्चात आयोग ने निम्नलिखित सहायक अनुदानो की सिफारिश महायक अनुदानों की सिफारिश की

राज्य	करोड रुपये मे महायक अनुदान
आन्ध्र प्रदेश	20 00
असम	20.25
बिहार	19 00
केरल	8 75
मध्य प्रदेश	15 00
मैसूर	30 00
उडीसा	16 75
पजाब	11.25
राजस्थान	12 50
पश्चिमी बगाल	19 25
जम्मू व काश्मीर	15 00
योग	187 75

बबई, मद्रास तथा उत्तर प्रदेश के लिए सहायक अनुदानों की सिफारिश नहीं की गई क्योंकि यह समझा गया कि प्रस्तावित हस्तातरण की योजना के अतर्गत इन राज्यों को कर आय का जो भाग दिया जा रहा है वह उनके चालू तथा योजना-

व्यय की पूर्ति के लिए पर्याप्त है। असम, बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल के अनुदानों में तीन वर्ष पश्चात वृद्धि करने की भी व्यवस्था कर दी गई क्योंकि जूट निर्यात कर के बदले में इनको मिलने वाले सहायक अनुदान इस अवधि के बाद समाप्त हो जाने थे।

राज्यों को दिए जाने वाले संघीय कर्ज

स्वतंत्रता के बाद से संघीय कर्ज उल्लेखनीय रूप से बढ़े हैं। ऐसे कर्जों की की मात्रा 15 अगस्त 1947 को 44 करोड़ रुपये थी जो बढ़कर 31 मार्च 1951 को 195 करोड़ रुपये और 31 मार्च 1955 को लगभग 900 करोड़ रुपये हो गई। ब्याज की दरें 1 से लेकर 5 प्रतिशत तक थी। कुछ कर्ज ब्याज मुक्त भी थे। विस्थापितों को उनके पुनर्वास के लिए जो कर्ज दिए गए थे, उनके संबंध में आयोग ने सिफारिश की थी कि 1 अप्रैल, 1957 से राज्य केंद्र को केवल वही धन राशियां वापिस करें जो कि वे विस्थापित व्यक्तियों से मूलधन तथा ब्याज के रूप में वसूल करें। आयोग ने कर्जों के पुनर्गठन एवं युक्तिकरण की भी सिफारिश की जिसके परिणामस्वरूप संयुक्त रूप में सभी राज्यों के ब्याज खर्च में 5 करोड़ रुपये की वार्षिक कमी हो गई। आयोग ने यह भी सुझाव रखा कि भविष्य में किसी भी राज्य को दिए जाने वाले सभी उधार प्रत्येक वर्ष के अंत में दो कर्जों के रूप में परिवर्तित कर दिए जाने चाहिए—मध्यावधि कर्ज तथा दीर्घकालीन कर्ज।

रिपोर्ट का मूल्यांकन

अधिकांश राज्यों ने आयोग की सिफारिशों का स्वागत किया। बंबई और पश्चिमी बंगाल राज्यों में आयोग की सिफारिशों का समर्थन नहीं किया। इन राज्यों का यह कहना था कि औद्योगिक राज्य होने के कारण कर तथा उत्पादन शुल्कों आदि की प्राप्तियों में वे अधिक भाग प्राप्त करने के अधिकारी हैं। उनका यह तर्क था कि वितरण के आधार के रूप में करों के स्रोत को ही स्वीकार करना चाहिए। बंबई राज्य ने पृथक से यह आरोप लगाया कि उसे अपनी ठोस वित्तीय व्यवस्था के लिए दंडित किया गया है। एकीकरण की समस्याओं के कारण उस पर अतिरिक्त वित्त भार पड़ा है जिसकी ओर आयोग ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है।

कर्जों के एकीकरण से सरलता उत्पन्न हुई और यह आशा की गई कि इससे राज्यों को लगभग 5 करोड़ रुपये की वार्षिक बचत होगी परंतु इस आधार पर इसकी कटु आलोचना की गई कि पृथक-पृथक कर्जों के भिन्न-भिन्न उद्देश्यों तथा परिस्थितियों की दृष्टि से ब्याज की भिन्न-भिन्न दरों, अवधियों तथा वापसियों की भिन्न-भिन्न शर्तों का होना आवश्यक है।

सबसे बड़ी समस्या तो योजना आयोग के संबंध में हुई। राज्यों को दी जाने वाली केंद्रीय सहायता के प्रश्न पर योजना आयोग तथा संघ व राज्य सरकारों

द्वारा विचार होना था। राज्यों की योजना से संबंधित कार्य-क्रमों की स्वीकृति दिए जाने के फलस्वरूप उनको योजना के लिए जितने धन की आवश्यकता थी उसका निश्चिय स्वयं योजना आयोग द्वारा ही किया जा सकता था। इसलिए वित्त आयोग के वितरण का कार्य तो केवल यही था कि वह योजना आयोग के निर्णयों पर ही अपनी स्वीकृति की मोहर लगाए। दूसरी कठिनाई यह उत्पन्न हुई कि राज्यों को दिए जाने वाले जो राजस्व अनुदान वित्त आयोग की परिधि में आते हैं वे उन कुल अनुदानों की तुलना में बहुत कम होते हैं जो कि संघ द्वारा राज्यों को प्रदान किए जाते हैं। अतः वित्त आयोग द्वारा वितरण का महत्त्व स्वयं ही कम हो जाता है।

वित्त आयोग ने इन सब कठिनाइयों को स्वीकार किया। 'जहां दो आयोगों, वित्त आयोग तथा योजना आयोग के कार्य परस्पर टकराते हों वहां कुछ दिक्कतों का होना अनिवार्य है। वित्त आयोग एक वैधानिक संस्था है और उसके कार्य भी सीमित हैं, जबकि योजना आयोग को संघ तथा राज्यों की वित्तीय स्थितियों के संबंध में विस्तृत रूप से विचार करना होता है। अतः यह अत्यंत आवश्यक है कि जब तक ये दोनों आयोग कार्य करें, इनके कार्यों में अत्यंत प्रभावपूर्ण रीति से समन्वय स्थापित किया जाए।'[1]

सिफारिशों पर सरकार द्वारा की गई कार्यवाही

आयोग के सुझावों के अनुसार राज्यों को प्रतिवर्ष 140 करोड़ रुपये के स्थानान्तर की व्यवस्था की गई जिसमें 100 करोड़ रुपये करों के भाग के रूप में और 40 करोड़ रुपये अनुदानों के रूप में थे। करों के हस्तान्तरण तथा सहायक अनुदानों के संबंध में आयोग की सभी सिफारिशें सरकार द्वारा स्वीकार कर ली गईं। राज्यों को दिए जाने वाले संघीय कर्जों के संबंध में दी गई सिफारिशों को ठुकरा दिया गया। कर्जों की अदायगी स्थगित करने से संबंधित ऋणों का एकीकरण की योजना को इस आधार पर अस्वीकृत किया कि इससे सरकार के पास उपलब्ध साधनों की कमी हो जाएगी और भविष्य में वह राज्यों को यथेष्ठ मात्रा में सहायता न दे सकेगी। सरकार ने यह सुझाव भी स्वीकार नहीं किया कि सभी प्रकार के ऋणों पर एक समान ब्याज की दरें लागू की जाएं।

तृतीय वित्त आयोग

तृतीय वित्त आयोग श्री ए० के० चंदा की अध्यक्षता में दिसंबर 1960 से नियुक्त किया गया तथा इसने अपना प्रतिवेदन 14 दिसंबर 1961 को सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया। आयोग से जिन विषयों पर सिफारिशें प्रस्तुत करने को कहा गया था वे इस प्रकार थे: करों से प्राप्त निवल आय का केंद्रीय एवं राज्यों के बीच बंटवारा, संघीय उत्पादन शुल्कों का विभाजन, राज्यों के बीच आस्ति कर के वितरण के सिद्धांतों में

[1] Report of the Finance Commission, 1957, p. 13.

किए जाने वाले परिवर्तन, (यदि आवश्यक समझा जाए तो) कुछ वस्तुओं पर लगाए जाने वाले अतिरिक्त उत्पादन शुल्को के वितरण म परिवर्तन, (यदि कोई हो तो) रेल-यात्री भाडे पर लगने वाले कर की समाप्ति से राज्या को होने वाली हानि के बदले मे उनको दिए जाने वाले 12 5 करोड रुपये के तदर्थ अनुदान का वितरण तथा महायक अनुदानो का निर्धारण।

आय कर की प्राप्तियो का विभाजन

आयोग ने 1 अप्रैल 1962 से चार वर्षों की अवधि के लिए निम्न सुझाव प्रस्तुत किए

(1) कृषि आय को छोडकर अन्य आया पर कर से प्राप्त होने वाली आय में से 66 66 प्रतिशत भाग राज्यो म वितरित किया जाए और 2 5 प्रतिशत केंद्र शासित राज्यों मे बाटा जाए।

(2) वास्तविक एकत्रित आय का 80 प्रतिशत भाग जनसख्या के आधार पर और 20 प्रतिशत राज्य विशेष से एकत्रित किए गए आयकर से प्राप्त आय के आधार पर विभाजित किया जाए। इस नवीन सूत्र के अनुसार विभाज्य आयकर की राशि मे से विभिन्न राज्यो का प्रतिशत इस प्रकार निश्चित किया गया

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	7 71	महाराष्ट्र	13 41
असम	2 44	मैसूर	5 13
बिहार	9 33	उडीसा	3 44
गुजरात	4 78	पूर्वी पजाब	4 49
जम्मू व काश्मीर	0 70	राजस्थान	3 97
केरल	3 55	उत्तर प्रदेश	14 42
मध्य प्रदेश	6 41	पश्चिमी बगाल	12 09
तमिलनाडू	8 13		

सघीय उत्पादन शुल्क

वित्त आयोग ने सघीय उत्पादन शुल्को की प्राप्तियों के राज्यो का भाग 25 प्रतिशत से घटाकर 20 प्रतिशत करने की सिफारिश की। आयोग ने दियासलाई, तबाकू, वनस्पति तेल, चीनी, काफी, कागज तथा वनस्पति के अनावश्यक तेलो के सघीय उत्पादन शुल्को के अतिरिक्त 27 अन्य वस्तुओं के सघीय उत्पादन शुल्को की प्राप्तियो को भी राज्यो मे बाटने की सिफारिश की। सघीय उत्पादन शुल्को मे विभिन्न राज्यो के हिस्सो के निर्धारण के सबध मे वित्त आयोग ने विभिन्न राज्यो की सापेक्षिक जनसख्या, राज्यो की आर्थिक स्थिति, विकास स्तर, अनुसूचित जाति

की प्रधानता और अविकसित वर्गों के अनुपात आदि को महत्त्व देने का सुझाव दिया। संघीय उत्पादन शुल्कों का विभाज्य राशि में विभिन्न देशों का भाग निम्नांकित तालिका में दर्शाया गया है

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	8 23	महाराष्ट्र	5 63
असम	4 76	मैसूर	5 82
बिहार	11 56	उड़ीसा	7 07
गुजरात	6 45	पूर्वी पंजाब	6 71
जम्मू व काश्मीर	2 02	राजस्थान	5.93
केरल	5 46	उत्तर प्रदेश	10 68
मध्य प्रदेश	8 48	पश्चिमी बंगाल	5 07
तमिलनाडू	6 08		

अतिरिक्त उत्पादन शुल्कों की आय का वितरण

अतिरिक्त उत्पादन शुल्क जिन वस्तुओं पर पहले से ही लगा था रहा था, उनके अतिरिक्त सन् 1961-62 में रेशमी वस्त्रों पर भी एक अतिरिक्त उत्पादन शुल्क लगाया गया था। आयोग ने निवल प्राप्तियों का एक प्रतिशत भाग केंद्र शासित प्रदेशों के हिस्सों के रूप में निश्चित किया तथा जम्मू व कश्मीर के हिस्से को 1.25 प्रतिशत से बढ़ाकर 1 50 प्रतिशत कर दिया। अन्य राज्यों के संबंध में आयोग ने वार्षिक धनराशि 32.50 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 32 54 करोड़ रुपये करने का प्रस्ताव रखा, जिसका हिसाब रेशमी वस्त्रों से होने वाली आय में से किया जाना था। गारंटी की गई धन राशि की पूर्ति करने के पश्चात शेष धन को राज्य के मध्यम बाटा जाता था और यह वितरण अंशत. तो सन् 1957-58 से (वह तिथि जब से यह कर सबसे पहले लगाए गए थे) प्रत्येक राज्य में बिक्री कर के संग्रह में होने वाली प्रतिशत वृद्धि के आधार पर और अंशत. जनसंख्या के आधार पर किया जाता था।

आस्ति कर की आय का वितरण

आस्ति कर की आय के विभाजन के संबंध में आयोग ने कोई नवीन सिफारिश नहीं की। इस संबंध में द्वितीय आयोग की मान्यताओं को ही कार्यशील रखा गया। परंतु सन् 1961 की जनगणना की जनसंख्या के आधार पर प्रत्येक राज्य को मिलने वाले अंश के प्रतिशत में संशोधन कर दिया गया।

सहायक अनुदान

तृतीय आयोग ने महाराष्ट्र को छोड़कर अन्य सभी राज्यों को सहायक अनु-

दान के रूप मे 110 25 करोड रुपय वार्षिक देने की सिफरिश की। आयोग न अनुभव किया कि इन अनुदानो के द्वारा राज्य अपनी-अपनी योजनाओ के राजस्व भाग के एक अश की पूर्ति के लिए आवश्यक धन क विषय मे आश्वस्त हो जाएगे और उनको अपन प्रशासन में स्वायत्ता तथा लोच अधिक मात्रा मे प्राप्त हो सकेगी। आयोग ने यह भी प्रस्ताव रखा कि 1962 से 1966 तक के चार वर्ष की अवधि म सचार साधनो के विकास के लिए विशिष्ट उद्देश्य अनुदान के रूप मे, दस राज्यो के मध्य प्रतिवर्ष 9 करोड रुपये बाटे जाए। यह राशि मोटर स्प्रिट पर लगाए गए करो की प्राप्तियो की लगभग 20 प्रतिशत थी।

बजट सबधी घाटे की पूर्ति के लिए तथा योजना के 75 प्रतिशत राजस्व भाग की पूर्ति के लिए प्रत्येक राज्य को दी जाने वाली सहायता निम्न सारणी मे प्रदर्शित की गई है

(रुपये लाखो मे)

राज्य	सहायक अनुदान	योजना से सबधित सहायता
1	2	3
आध्र प्रदेश	1200	50
असम	900	245
उत्तर प्रदेश	200	530
उडीसा	1600	820
केरल	850	357
गुजरात	950	307
जम्मू व काश्मीर	325	500
पजाब	275	751
पश्चिमी बगाल	850	850
बिहार	800	800
मध्य प्रदेश	625	500
मद्रास	800	500
महाराष्ट्र	—	675
मैसूर	775	160
राजस्थान	875	425

प्रतिवेदन का मूल्यांकन

तृतीय वित्त आयोग का प्रतिवेदन का मूल्यांकन किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि आयोग ने राज्य सरकारो की बढती हुई वित्तीय आवश्यकताओं

को ध्यान में रखते हुए उन्हें अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया। साथ ही आयोग ने यह भी ध्यान रखा कि केंद्रीय सरकार की आय कम न हो पाए। वितरण के आधार के संबंध में आयोग ने सापेक्षिक संग्रह को पहले की अपेक्षा अधिक महत्व दिया। इसके फलस्वरूप महाराष्ट्र और पश्चिमी बंगाल जैसे औद्योगिक राज्यों की आय कर में से पहले की अपेक्षा अधिक हिस्सा उपलब्ध होने लगा। यद्यपि आयोग ने केंद्रीय उत्पादन शुल्क की 25 प्रतिशत के स्थान पर केवल 20 प्रतिशत भाग ही राज्यों में वितरित करने की सिफारिश की परंतु दूसरी ओर आयोग ने आठ वस्तुओं के स्थान पर 35 वस्तुओं के केंद्रीय उत्पादन शुल्कों की आय को राज्यों में वितरित करने का सुझाव दिया इस प्रकार राज्य सरकारों के वित्तीय साधनों में पर्याप्त वृद्धि हुई।

वित्त आयोग की सिफारिशों से कुछ राज्य असंतुष्ट रहे। इनमें सहायक अनुदानों और यातायात के साधनों की उन्नति के लिए विशेष अनुदानों से संबंधित सिफारिशें आलोचना का अधिक शिकार बनी। इस बात का स्पष्टीकरण नहीं हुआ कि आयोग ने किस आधार पर बिहार और उत्तर प्रदेश को, जो अपेक्षाकृत अधिक धनी और औद्योगिक राज्य नहीं हैं, सहायक अनुदान देने का सुझाव दिया। इसी प्रकार आयोग ने इस बात के लिए भी कोई प्रभावपूर्ण तर्क नहीं दिया कि राज्य की योजनाओं में 75 प्रतिशत राजस्व भाग की पूर्ति के लिए संघ सरकार के अनुदान क्यों दिए जाएं।

भारत सरकार ने आयोग की सभी सर्वसम्मत सिफारिशें मान ली हैं।

चतुर्थ वित्त आयोग

मई 1964 में केंद्रीय सरकार ने डा० पी० वी० राजमन्नार की अध्यक्षता में चौथे वित्त आयोग की स्थापना की। आयोग ने अपना प्रतिवेदन अगस्त 1965 में प्रस्तुत किया। आयोग से निम्नलिखित विषयों पर सिफारिश देने के लिए कहा गया :

(1) आयकर तथा केंद्रीय उत्पादन शुल्कों की निबल प्राप्तियों का संघ तथा राज्य के बीच वितरण तथा राज्यों के हिस्सों का निर्धारण।

(2) राज्यों को दिए जाने वाले केंद्रीय सहायक अनुदानों के निर्धारक सिद्धांत।

(3) भारतीय संविधान के अनुच्छेद 275 के अंतर्गत जिन राज्यों को सहायक अनुदान दिए जाते हैं उनका भुगतान निम्न बातों को ध्यान में रखते हुए किस प्रकार किया जाए (क) सन् 1965-66 से कर स्तरों के आधार पर उन राज्यों के सन् 1970-71 तक के 5 वर्षों के वित्तीय साधन, (ख) तीसरी योजनावधि में पूरे किए गए स्थायित्व संबंधी व्यय के लिए राज्यों की आवश्यकता, (ग) ऋण संबंधी

सेवाओं को पूरा करने के लिए अन्य व्यय, (घ) संघीय सरकार का राज्य सरकारों पर जो ऋण है उसकी अदायगी के लिए कृषि से मिलने वाली आय छोड़कर आस्ति कर का जो भाग राज्य के पास अधिक बच जाए उसका कर का एक कोष बनाना, तथा (ङ) राज्यों द्वारा अपने प्रशासनिक व्यय में मितव्ययता की इतनी गुंजाइश जिसका कार्य कुशलता पर प्रतिकूल प्रभाव न हो।

(4) कृषि भूमि को छोड़कर अन्य संपत्ति पर आस्ति कर का निबल उगाही का राज्यों के मध्य वितरण करने के सिद्धांतों में किए जाने वाले परिवर्तन (यदि आवश्यक हो)।

(5) रेल किरायों पर कर के बदले में राज्यों को दिए जाने वाले अनुदान को उनके बीच वितरण करने के सिद्धांतों में किए जाने वाले हेर-फेर, (यदि आवश्यक हो तो)।

(6) राज्य सरकारों द्वारा पहले वसूल किए जाने वाले बिक्री कर के बदले में सूती, रेशमी, रेयन अथवा कृत्रिम रेशमी तथा ऊनी कपड़ों, चीनी तथा तम्बाकू पर (जिसमें कि निर्मित तम्बाकू भी सम्मिलित है) अतिरिक्त उत्पादन शुल्कों की निबल वसूली के वितरण के सिद्धांतों में किए जाने वाले परिवर्तन (यदि कोई आवश्यक हो तो)। किंतु प्रत्येक राज्य को प्राप्त होने वाला हिस्सा उस राज्य में सन् 1956-57 के वित्त वर्ष में बिक्री कर की वसूली से प्राप्त वाली आय से कम न हो।

आयोग ने उपरोक्त विषयों को दृष्टिगत रखते हुए निम्न सिफारिशें प्रस्तुत की

आयकर की प्राप्तियों का विभाजन

राज्यों ने आयोग के समुख यह मांग रखी कि आय की प्राप्तियों में उनको अधिक हिस्सा मिलना चाहिए तथा आयकरों की प्राप्तियों में उनका भाग 66 66 प्रतिशत के वर्तमान स्तर से अधिक होना चाहिए। राज्यों ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि सन् 1958 के आयकर अधिनियम से कंपनियों द्वारा भुगतान किए जाने वाले आयकर में जो पुन वर्गीकरण किया गया उसका विभाज्य कोष की वृद्धि की दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। पिछले 12 वर्षों में निगम कर के संग्रहों में जहां 6 गुनी वृद्धि हुई है वहां विभाज्य कोश में केवल 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। आयोग इन विचारों से सहमत हुआ और उसने सिफारिश की कि विभाज्य कोष में से राज्यों को दिया जाने वाला आयकर का भाग बढ़ाकर 75 प्रतिशत कर दिया जाए। आयोग ने यह भी निश्चय किया कि राज्यों के बीच वितरण का सिद्धांत वही होना चाहिए जो कि प्रथम तथा तृतीय वित्त आयोग द्वारा स्वीकृत किया गया था अर्थात् 80 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर और 20 प्रतिशत संग्रह के आधार पर। सन्

1961-62 से 1963-64 तक के तीन वर्षों के कर संग्रह का तथा 1961 की जनगणना के अनुसार जनसंख्या के आंकड़े लेकर विभाज्य धन राशि में प्रत्येक राज्य का हिस्सा निम्न प्रकार रहा

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	7.37	महाराष्ट्र	14.28
असम	2.44	मैसूर	5.14
बिहार	9.04	नागालैंड	0.07
गुजरात	5.29	उड़ीसा	3.40
जम्मू व काश्मीर	0.73	पंजाब	4.36
केरल	3.59	राजस्थान	3.97
मध्य प्रदेश	6.47	उत्तर प्रदेश	14.60
मद्रास	8.34	पश्चिमी बंगाल	10.91

संघीय उत्पादन शुल्क

तृतीय आयोग ने उत्पादन शुल्क लगाने योग्य ऐसे पदार्थों की संख्या 45 कर दी थी जिनकी प्राप्तियां केंद्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों के बीच बांटी जानी थी। चतुर्थ आयोग ने इस संख्या में और वृद्धि करदी और प्रस्ताव रखा कि वे सभी संघीय उत्पादन शुल्क जो वर्तमान में वसूल किए जा रहे हैं तथा वे भी जिनकी अगले पांच वर्षों में वसूली की जाने की संभावना है, केंद्र तथा राज्यों के बीच बांटे जाने चाहिए। आयोग ने संघीय उत्पादन शुल्कों की प्राप्तियों में राज्यों का भाग 20 प्रतिशत ही रखने का सुझाव दिया। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि राज्यों के भाग का वितरण 80 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर और 20 प्रतिशत आर्थिक एवं सामाजिक पिछड़ेपन के आधार पर किया जाना चाहिए। सामाजिक पिछड़ेपन का सूचक कृषि उत्पादन का प्रति व्यक्ति मूल्य, कुल जनसंख्या में कर्मचारियों एवं मजदूरों का प्रतिशत, निर्माण में प्रति व्यक्ति मूल्य में होने वाली वृद्धि माने गए। संघीय उत्पादन शुल्कों की विभाज्य राशि में विभिन्न राज्यों का अंश निम्न सारणी में प्रस्तुत किया गया है

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	7.77	महाराष्ट्र	8.23
असम	3.32	मैसूर	5.41
बिहार	10.03	नागालैंड	2.21
गुजरात	4.80	उड़ीसा	4.82
जम्मू व काश्मीर	2.26	पंजाब	4.86
केरल	4.16	राजस्थान	5.06
मध्य प्रदेश	7.40	उत्तर प्रदेश	14.98
तामिलनाडु	7.18	पश्चिमी बंगाल	7.51

अतिरिक्त उत्पादन शुल्क

इस आयोग ने तृतीय आयोग की भांति निवल उगाही का 1 प्रतिशत भाग केंद्र प्रशासित प्रदेशो के लिए और 1 50 प्रतिशत भाग जम्मू व काश्मीर के लिए निश्चित किया। इसने विभिन्न राज्यों के लिए गारंटीकृत धन राशिया भी पूर्ववत रखी। गारंटीकृत धन राशिया के पश्चात् बचे हुए शेष धन के सबध म आयोग ने सुझाव दिया कि सभी राज्यो म सन् 1961-62 से 1963 64 तक एकत्रित किए गए कुल बिक्री कर पर प्रत्यक राज्य म वसूल की गई बिक्री कर की आय के अनुपात के आधार पर इसका बटवारा होना चाहिए।

आस्ति कर

आयोग ने सिफारिश की कि आस्ति कर के वितरण के उसी सिद्धात को जारी रखा जाए जो कि पहले आयोगा द्वारा निर्धारित किया गया था। तथापि आयोग ने प्रस्ताव रखा कि केंद्र प्रशासित प्रदेशो का हिस्सा, जो कि निवल प्राप्ति का 1 प्रतिशत है, बढाकर दो प्रतिशत कर दिया जाए। जहा तक एक कोष की स्थापना का प्रश्न था, आयोग ने यह मत प्रकट किया कि चूकि अस्ति कर मे से केवल 7 करोड रुपये ही राज्यो म बाटा जाना था, अत ऐसे कोष की स्थापना का कोई व्यावहारिक महत्त्व नही होगा।

आयोग ने 1961 की जनगणना के आधार पर आस्ति कर मे राज्यो का प्रतिशत भाग इस प्रकार निर्धारित किया

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आध्र प्रदेश	8 34	महाराष्ट्र	9 16
असम	2 75	मैसूर	5 46
बिहार	10 76	नागालैंड	0 09
गुजरात	4 78	उडीसा	4 07
जम्मू व काश्मीर	0 83	पजाब	4 70
केरल	3 92	राजस्थान	4 67
मध्य प्रदेश	7 50	उत्तर प्रदेश	17 08
मद्रास	6 80	पश्चिमी बगाल	8 09

रेल यात्री किराए पर कर के बदले मे अनुदान

आयोग ने मत प्रकट किया कि 12 50 करोड रुपये के प्रति वर्ष मिलने वाले तदार्थ अनुदान का राज्यो के मध्य वितरण प्रत्येक राज्य मे रेल पथ की लबाई के आकडो के आधार पर तथा सन् 1964 मे समाप्त होने वाले 3 वष के यात्री यातायात से होने वाली वार्षिक औसत आय के आधार पर किया जाना चाहिए।

निम्न तालिका में प्रत्येक राज्य को मिलने वाले भाग का प्रतिशत दर्शाया गया है :

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	9.05	पश्चिमी बंगाल	6.40
असम	2.79	बिहार	9.86
उत्तर प्रदेश	18.23	मध्य भारत	5.81
उड़ीसा	2.12	मद्रास	8.98
केरल	1.85	महाराष्ट्र	3.98
गुजरात	7.11	मैसूर	0.01
जम्मू व काश्मीर	—	नागालैंड	9.98
पंजाब	7.43	राजस्थान	6.50

सहायक अनुदान

सन् 1966-67 से 1970-71 तक के लिए विभिन्न राज्यों की राजस्व प्राप्तियों तथा गैर योजना व्यय का निर्धारण करने के उपरांत और विभिन्न करों तथा शुल्कों में से मिलने वाले उनके भागों की धनराशियों का हिसाब लगाने के पश्चात् आयोग ने यह मत व्यक्त किया कि इस अवधि में दस राज्यों को कुल 610 करोड़ रुपये का घाटा रहेगा। अत आयोग ने, संविधान की धारा 275 के अधीन, घाटे के 1/5 भाग के बराबर अर्थात् 122 करोड़ रुपये के वार्षिक अनुदानों की सिफारिशें निम्न प्रकार कीं

राज्य	करोड़ रु०	राज्य	करोड़ रु०
आंध्र प्रदेश	7.22	तामिलनाडु	6.84
असम	16.52	मैसूर	18.24
जम्मू व काश्मीर	6.57	नागालैंड	7.07
केरल	20.82	उड़ीसा	29.18
मध्य प्रदेश	2.70	राजस्थान	6.73

आयोग की रिपोर्ट का मूल्यांकन

भारत सरकार ने कुछ परिवर्तनों सहित आयोग की समस्त सिफारिशों को स्वीकार किया। आयोग ने राज्य सरकारों को एक ओर सहायक अनुदानों के रूप में तथा दूसरी ओर बटते हुए संघीय करों की आय में से वित्त के बड़े स्रोत प्रदान किए। आयोग ने राज्यों के मध्य विविध करों के वितरण के संबंध में निश्चितता के महत्त्वपूर्ण तत्त्व पर बल डाला तथा उनके वितरण से संबंधित सिद्धांतों में आवश्यक

परिवर्तन किया तथा करो की विभाज्य राशि के वितरण सबधी सिद्धाना के निरूपण म राज्यो की सापेक्षिक आर्थिक दशा की हीनता को अधिक महत्त्व दिया। चौथे वित्त आयोग ने पहले की आयोगा की तुलना मे राज्यो के लिए सहायक अनुदानो के बढाने की सिफारिश की क्योकि उत्पादन शुल्को की राशि मे राज्यो का हिस्सा निर्धारित करते समय उनकी सापेक्षिक वित्तीय निर्बलता को दृष्टिगत नही रखा गया था।

यह स्मरण रहे कि आयोग को जो प्रश्न सौंपे गए थे उनमे से दो के विषय मे आयोग ने कोई मत प्रकट नही किया। इसने सघीय उत्पादन शुल्को तथा राज्य बिक्री करो के मध्य समन्वय की कोई योजना प्रस्तुत नही की। दूसरे इसने आस्ति कर की रकम मे से एक निधि के निर्माण के सबध मे भी कोई सिफारिश नही की।

इस आयोग ने राज्य सरकारो का आय कर और उत्पादन शुल्को की प्राप्तियो म हिस्सा बढाकर तथा उनके लिए ज्यादा माला मे सहायक अनुदानो की सिफारिश करके सराहनीय कार्य किया फिर भी इससे कुछ कठिनाइया उत्पन्न हो गईं। प्रथम, सघीय करो के भाग के वितरण म विभिन्न राज्यो के मध्य आधार की समस्या उत्पन्न कर दी। प्रत्येक राज्य वह आधार प्रस्तुत करने लगा जो कि उसके सर्वाधिक अनुकूल है। द्वितीय, पचवर्षीय योजना के अतर्गत अपनी योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए राज्यो की आवश्यकताओ के फलस्वरूप उन्हें सघीय सहायता प्रदान की जाती है जो कि वित्त आयोग की शिफारिशो मे निहित सहायता के अतिरिक्त है और जिसकी सिफारिश नियोजन आयोग द्वारा की जाती है। इस प्रकार वित्त आयोग तथा नियोजन आयोग के कार्य एक दूसरे को ढक लेते हैं। वित्तीय सविधान के अतर्गत राज्यो को अपनी वित्त कठिनाइयो को दूर करने के लिए सघ सरकार की वित्तीय सहायता पर आधिकाधिक निर्भर रहना पडता है। इस प्रवृत्ति ने राज्यो के वित्तीय साधनो के विकसित होने की भावना को कुठित कर दिया है।

पाचवा वित्त आयोग

यद्यपि चौथे वित्त आयोग की सिफारिशें 1970 71 के वित्तीय वर्ष तक के लिए लागू की गई थी और 1 अप्रैल, 1971 से प्रारभ होने वाले वित्तीय वर्ष मे आगामी 5 वर्ष के लिए पाचवें वित्त आयोग की सिफारिशें लागू होनी थी किंतु राष्ट्रपति ने चौथे वित्त आयोग की अवधि समाप्त होने के पूर्व ही पाचवें वित्त आयोग की नियुक्ति कर दी। इस आयोग का गठन श्री महावीर प्रसाद की अध्यक्षता मे हुआ। इसने अक्तूबर 1968 मे अपनी अतरिम रिपोर्ट और जुलाई 1969 मे अतिम रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग के विचारार्थ विषय वैसे ही थे जैसे कि इससे पूर्व के आयोगो के लिए निर्धारित किए गए थे, अर्थात केंद्र तथा राज्यो के मध्य आय कर तथा उत्पादन शुल्को की निवल प्राप्तियों का बटवारा और प्रत्येक राज्य को मिलने वाले भाग के अनुपात

का निर्धारण, सन् 1957 में लगाए गए अतिरिक्त उत्पादन शुल्कों की निवल प्राप्तियों का राज्यों के बीच वितरण, रेल यात्री किराए पर निरस्त कर (*Repealed tax*) के बदले में दिए जाने वाले सहायक अनुदानों को राज्यों के मध्य वितरित किए जाने के संबंध में कोई प्रस्तावित परिवर्तन, यदि आवश्यक हों तो, संपत्ति कर की निवल प्राप्तियों के वितरण के संबंध में कोई परिवर्तन, यदि आवश्यक हों तो, और उन सिद्धांतों का निर्धारण जिनके अनुसार राज्यों को सहायक अनुदान दिए जा सकें। वित्त आयोग की अंतिम रिपोर्ट की सिफारिशें इस प्रकार हैं।

आय कर का विभाजन

चौथे वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार आय कर की निवल आय में से 2.5 प्रतिशत केंद्र प्रशासित राज्यों का अंश निकालकर शेष का 75 प्रतिशत राज्य सरकारों में विभाजित किया जाता था। विभाज्य राशि में प्रत्येक राज्य को अपना हिस्सा 90 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर और 20 प्रतिशत वसूली के आधार पर दिया जाता था। पांचवें वित्त आयोग ने केंद्र प्रशासित क्षेत्रों का अंश बढ़ाकर 2.6 प्रतिशत कर दिया। शेष राशि में से राज्यों को पहले की भांति 75 प्रतिशत अंश ही प्राप्त होगा। आयोग ने राज्यों का हिस्सा 90 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर और 10 प्रतिशत कर-निर्धारण संबंधी आंकड़ों के आधार पर वितरित करने की सिफारिश की।

आयोग ने यह भी सिफारिश की, कि आय कर की अग्रिम वसूली की रकम को भी विभाज्य कोष में सम्मिलित करके कुल धनराशि का विभाजन किया जाए। अग्रिम आय कर के रूप में 1966-67 तक राज्यों के हिस्से की लगभग 270 करोड़ रुपये की राशि जमा हो चुकी थी, जिसका विभाजन नहीं हुआ था। अब यह रकम 1970-71 तक तीन समान किस्तों में भुगतान की जाएगी।

उत्पादन शुल्क का विभाजन

पांचवें वित्त आयोग ने मामूली संशोधन के साथ वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखने की सिफारिश की। केवल एक मात्र संशोधन यह किया गया कि 1972-73 तथा 1973-74 के दो वर्षों के लिए निर्दिष्ट उत्पादन शुल्क से प्राप्त आय को भी विभाज्य राशि में सम्मिलित कर दिया गया।

राज्यों के हिस्से के 80 प्रतिशत भाग का वितरण जनसंख्या के आधार पर और 20 प्रतिशत भाग का वितरण सापेक्षिक सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन के आधार पर करने का वर्तमान सिद्धांत बनाए रखा गया। परंतु पिछड़ेपन के आधार पर निर्धारित की जाने वाली 20 प्रतिशत रकम का दो तिहाई भाग, उन राज्यों में वितरित हुआ जिनकी प्रति व्यक्ति आय सभी राज्यों की औसत आय से कम थी और शेष एक तिहाई भाग सभी राज्यों में पिछड़ेपन के एक एकीकृत माप के अनुसार बांटना है। एकीकृत माप के निर्धारण हेतु इन बातों को ध्यान में रखना है -

अनुसूचित जाति की आबादी, प्रति एक लाख की जनसख्या पर कारखानो के मजदूरो की सख्या, प्रति किसान सिंचित क्षेत्र की मात्रा, प्रति 100 वर्ग किलोमीटर मे रेलो व सडको की लबाई, स्कूल जाने योग्य आयु वाले बच्चो की तुलना मे स्कूल जाने वाले बच्चो की सख्या और प्रति हजार की जनसख्या पर अस्पतालो मे बिस्तरो की सख्या।

अतिरिक्त उत्पादन शुल्क

बिक्री कर के बदले मे अतिरिक्त उत्पादन शुल्क के सबध मे पाचवें वित्त आयोग ने मत प्रकट किया कि राज्य सरकारो के साथ विचार-विमर्श करके वर्तमान व्यवस्था मे उचित सशोधन किया जाना चाहिए। जब तक वर्तमान व्यवस्था जारी रहे, शुल्को की दरें यथा सभव मूल्यानुसार रखी जाए और समय समय पर उनमें सशोधन किया जाए ताकि प्रचलित मूल्यो और उसी प्रकार की वस्तुओ पर राज्यो द्वारा लगाए जाने वाले बिक्री कर के सामान्य स्तर का ध्यान रखते हुए उचित कर भार बनाए रखा जा सके।

अतिम निर्णय होने तक आयोग ने यह सिफारिश की, कि अतिरिक्त उत्पादन शुल्को की प्राप्तियो के वर्तमान सिद्धातो मे परिवर्तन किया जाए। आयोग ने सिफारिश की गारटीशुदा धनराशियो को चुकता करने के बाद शेष भाग में से 50 प्रतिशत तो जनसख्या के आधार पर और 50 प्रतिशत बिक्री कर के सग्रहो के आधार पर (केंद्रीय बिक्री कर को छोड कर) वितरित किया जाए, किंतु जम्मू व कश्मीर तथा नागालैंड और सघीय क्षेत्रो पर 50 प्रतिशत का नियम लागू न हो क्योकि इन राज्यो का भाग जनसख्या के आधार पर क्रमश 0 83 प्रतिशत,0 09 प्रतिशत तथा 2 05 प्रतिशत पहले ही निर्धारित किया जा चुका है।

आस्ति कर

आयोग ने यह मत प्रकट किया कि आस्ति कर के वितरण सबधी सिद्धातो मे परिवर्तन की कोई माग नही की गई है। इसलिए उक्त विषय पर कोई विशेष सिफारिश आयोग न नही की। केवल एक सुझाव अवश्य रखा कि सघीय शासित क्षेत्रो का भाग दो प्रतिशत से बढाकर तीन प्रतिशत कर दिया जाए क्योकि पजाब के पुनर्गठन के कारण सघीय शासित क्षेत्रो की जनसख्या मे वृद्धि हो गई है।

रेल यात्री भाडे पर कर के बदले अनुदान

आयोग ने विचार प्रकट किया कि अनुदान के वितरण को निर्देशित करने वाले सिद्धातो म किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नही है। इस लिए उसने सुझाव दिया कि अनुदान के वितरण की उस प्रचलित योजना को ही जारी रखा जाए जिसकी कि द्वितीय वित्त आयोग ने सिफारिश तथा तृतीय एव चतुर्थ वित्त आयोग ने पुष्टि की थी।

सहायक अनुदान

आयोग ने 5 वर्षों के लिए केवल 10 राज्यों को कुल मिलाकर 637 85 करोड़ रुपये सहायतार्थ अनुदान देने की सिफारिश की जो राशि 1969-70 के लिए निश्चित की गई थी वह 152.73 करोड़ रुपये ही होगी और निरतर घटती जाएगी। अतिम वर्ष में यह केवल 102 41 करोड़ रुपये रह जाएगी। सहायक अनुदानों का वितरण निम्न सारणी में दर्शाया गया है।

(करोड़ रुपये)

राज्य का नाम	1969-70	1970-71	1971-72	1972-73	1973-74	योग
उड़ीसा	24.51	22 72	20 94	19 14	17 36	104 67
असम	20 80	20 60	20 39	20 19	19 99	101.97
नागालैंड	17.40	16 49	15.59	14 69	13 78	77.95
जम्मू काश्मीर	16 81	15 77	14.74	13 70	12.66	73.68
पश्चिमी बगाल	22 49	18 41	14.32	10 64	6 76	72 62
आध्र प्रदेश	15.54	14.27	13 00	11 73	10.47	65 01
केरल	9 93	9 93	9 93	9 93	9 93	49.65
राजस्थान	12.36	11 33	10 30	9 27	8 13	51 49
तामिलनाडु	6 61	5.59	4.56	3.54	2.52	22.82
मैसूर	6 48	5 04	3 60	2 16	0 71	17.99
योग =	152 73	140 15	127.57	114 99	102 41	637 85

रिपोर्ट का मूल्याकन

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाचवें वित्त आयोग ने अपने कार्य को यथा सभव तटस्थ बनाने का प्रयास किया फिर भी अनेक राज्यों ने आयोग की सिफारिशों पर असतुष्टि व्यक्त की। महाराष्ट्र के वित्त मंत्री आयोग की समीक्षा करते हुए कहा, 'राजस्व घाटे वाले राज्यों को अनुदान देने का सिद्धात परोक्ष रूप से ऐसे राज्यों को इस बात का ही प्रोत्साहन देगा कि वे अपने वित्तीय मामलों की कुव्य-वस्था को आगे भी जारी रखें।' उसी प्रकार पजाब के वित्त मत्री ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि पजाब को इस बात पर पुरस्कृत नहीं किया गया कि उसने एक 'अच्छे बालक' के रूप में आचरण किया है। इतना ही वह भारत का अन्न भडार है तथा उसकी 'युद्ध सबधी भुजा' भी। उन्होंने आगे कहा कि, ' हमारे अच्छे कार्य का यही पुरस्कार है कि 637 करोड़ रुपये मे से हमे एक पैसा भी नहीं दिया गया है' दूसरी ओर उड़ीसा के मुख्य मत्री ने कहा कि इन सिफारिशों से क्षेत्रीय असमान-

ताओं की वृद्धि की ओर अधिक प्रोत्साहन मिलेगा। उसी सुर में मैसूर के वित्त मंत्री ने भी इस बात पर दुख प्रकट किया कि आयोग के निर्णय का परिणाम यह होगा कि सुविकसित तथा अपेक्षाकृत कम विकसित राज्यों के मध्य विषमता की खाई और चौड़ी होगी। केवल उत्तर प्रदेश, हरियाणा तथा राजस्थान ही ऐसे प्रदेश हैं। जिन्होंने रिपोर्ट के प्रति अपना संतोष प्रकट किया।

वास्तविकता यह है कि आयोग जैसी संस्था सभी को समान रूप से संतुष्ट नहीं कर सकती इससे पूर्व के आयोगों के संबंध में भी ऐसी ही मिली जुली प्रतिक्रियाएं व्यक्त की गई थीं। किंतु यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाए तो हम यह कह सकते हैं कि आयोग ने केंद्र की स्थिति को दुर्बल किए बिना राज्यों के पक्ष में स्रोतों के हस्तांतरण करने की चेष्टा की है जिससे संघ तथा राज्यों के वर्तमान वित्तीय संबंध में सुधार आने की आशा की जा सकती है।

छठा वित्त आयोग

28 जून 1972 को श्री ब्रह्मानंद रेड्डी भूतपूर्व आंध्र प्रदेश के मुख्य मंत्री की अध्यक्षता में छठे वित्त आयोग की नियुक्त की गई। इस आयोग की नियुक्ति अपने निर्धारित समय से एक वर्ष पूर्व इसलिए की गई जिससे पांचवीं योजना में इसकी सिफारिशों को दृष्टिगत रखा जा सके। इस आयोग के सुझाव सन् 1974-75 से सन् 1978-79 तक की अवधि के लिए होंगे।

इस आयोग को निम्नलिखित कार्य सौंपे गए

(1) संघीय वित्त के प्रमुख सिद्धांतों के अंतर्गत इस आयोग को प्रमुख रूप से केंद्र द्वारा राज्यों को बांटे जाने वाले वित्तीय साधनों का निर्धारण करना था। साथ ही योजना को पूरा करने के लिए केंद्र द्वारा राज्यों को दिए जाने वाले अनुदान की विद्यमान योजना पर विचार करके, आवश्यक परिवर्तनों के लिए सुझाव देना था जो कि विकास परियोजना को तीव्रता से पूरा करने में सहायक हो।

(2) यह आयोग प्रथम बार आगामी पांच वर्षों के लिए राज्यों के गैर योजनागत पूंजीगत अंतरालों की सामान्य एवं तुलनात्मक आधार पर 1978-79 तक समाप्त होने वाले पांच वर्ष की अवधि के लिए निर्धारित करेगा।

(3) आयोग प्रथम बार प्राकृतिक विपदाओं प्रभावित से होने वाले राज्यों की सहायता-व्यय के लिए वित्त के संबंध में व्यवस्था एवं नीति का अध्ययन करेगा।

(4) आयोग राज्यों की ऋण स्थिति को ध्यान में रख कर उनके भुगतान की रीतियां बतलाएगा।

(5) यह आयोग केंद्र के साधनों एवं नागरिक प्रशासन, सुरक्षा, सीमा सुरक्षा, ऋण सेवाओं एवं अन्य व्ययों व दायित्वों के कारण होने वाले खर्चों की मांग पर भी विचार करेगा।

आयोग ने अपनी रिपोर्ट नवबर 1973 में प्रस्तुत की। इसने करों, शुल्कों तथा अनुदानों के बटवारे से संबंधित निम्न सिफारिशें पेश कीं।

(1) आयकर की प्राप्तियों का विभाजन

1974-75से 1978-79 तक के प्रत्येक वित्तीय वर्ष में आय कर से प्राप्त विशुद्ध आय का बटवारा निम्न प्रकार से किया जाएगा।

(क) प्रत्येक वित्तीय वर्ष में करों से प्राप्त विशुद्ध आय का 1 79 प्रतिशत केंद्र-प्रशासित प्रदेशों को दिया जाएगा।

(ख) केंद्र-प्रशासित प्रदेशों को मिलने वाली राशि को छोड़ कर करों से प्राप्त विशुद्ध आय का 80 प्रतिशत राज्यों में वितरित किया जाएगा। इससे पूर्व यह 75 प्रतिशत था। आयोग ने सुझाव दिया कि राज्यों के लिए निर्धारित भाग में से 90 प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर तथा 10 प्रतिशत विभिन्न राज्यों में किए जाने वाले आयकर के तुलनात्मक संग्रह के आधार पर दिया जाना चाहिए। विभिन्न राज्यों की राशि प्रतिशत आधार पर निम्न तालिका में दर्शाई गई है।

राज्यों की आयकर का प्रतिशत भाग

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	7 76	12. मणीपुर	0 18
असम	2.54	13 मेघालय	0 18
बिहार	9 61	14 नागालैंड	0 09
गुजरात	5 55	15 उड़ीसा	3 73
हरियाणा	1 77	16 पंजाब	2.75
हिमाचल प्रदेश	0 60	17 राजस्थान	4 50
जम्मू व काश्मीर	0 81	18 तामिलनाडु	7.94
कर्नाटक	5 33	19 त्रिपुरा	0 27
केरल	3.92	20 उत्तर प्रदेश	15 23
मध्य प्रदेश	7.30	21 पश्चिमी बंगाल	8 89
महाराष्ट्र	11 05		

(2) केंद्रीय उत्पादन शुल्क

(क) 1974-75 तथा 1975-76 के प्रत्येक वर्ष में, समस्त वस्तुओं पर लगाए गए तथा संग्रहित किए केंद्रीय उत्पादन शुल्कों की विशुद्ध प्राप्ति के 20 प्रतिशत भाग, जिसमें महत्त्व शुल्क तथा विशेष अधिनियम के अंतर्गत लगाए गए तथा

विशेप उद्देश्य के लिए निर्धारित किए गए अधिकर सम्मिलित नहीं हैं, को भारतीय संचित निधि में से राज्यों को दिया जाना चाहिए।

(ख) *1976-77, 1977-78 तथा 1978-79 के वर्षों में,* संबंधित वर्ष में समस्त वस्तुओं पर लगाए गए तथा संग्रहित किए गए केंद्रीय उत्पादन शुल्कों की विशुद्ध प्राप्तियों के 20 प्रतिशत भाग (जिसमें सहायक शुल्क सम्मिलित है किंतु विशेप अधिनियम के अंतर्गत लगाए गए तथा विशेष उद्देश्य के लिए निर्धारित किए गए अधिकर सम्मिलित नहीं हैं) को भारतीय संचित निधि में से राज्यों को अंतरित किया जाना चाहिए।

(ग) केंद्रीय उत्पादन शुल्कों की विभाज्य धन राशि म वित्त-आयोग ने राज्यों का भाग निम्नानुसार निर्धारित किया।

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	8 16	मणीपुर	0 21
असम	2 71	मेघालय	0 19
बिहार	11 47	नागालैंड	0 11
गुजरात	4 57	उड़ीसा	4 06
हरियाणा	1 53	पंजाब	1 87
हिमाचल प्रदेश	0 63	राजस्थान	5 00
जम्मू व काश्मीर	0 90	तामिलनाडु	7 43
कर्नाटक	5 54	त्रिपुरा	00 30
केरल, मध्य प्रदेश	3 86	उत्तर प्रदेश	17 03
मध्य प्रदेश	8 15	पश्चिमी बंगाल	7 79
महाराष्ट्र	8 58		

(3) अतिरिक्त उत्पादन शुल्क

आयोग ने सुझाव दिया कि अतिरिक्त उत्पादन शुल्क में से राज्यों के लिए किसी गारंटीशुदा धनराशि के निर्धारित करने की आवश्यकता नहीं है। अतिरिक्त उत्पादन शुल्क से प्राप्त संपूर्ण विशुद्ध प्राप्ति के केवल उस भाग को छोड़ कर जो केंद्र-प्रशासित क्षेत्रों के लिए निर्धारित है, राज्यों को दे देनी चाहिए। अभी तक राज्यों के बीच इस आय का वितरण इस प्रकार होता रहा है कि प्रत्येक राज्य को *एक निश्चित धनराशि प्राप्त होने की गारंटी केंद्र की ओर से दी जाती थी और* जो धनराशि इसके उपरान्त बच रहती थी वह भी राज्यों म जनसंख्या तथा बिक्री-कर के आधार पर वितरित की जाती रही है। छटे वित्त आयोग ने यह उचित

पाया कि इस मद से प्राप्त विशुद्ध आय में से केंद्र शासित प्रदेशों को मिलने वाले भाग को घटाकर शेष राज्यों में जनसंख्या, राज्य की प्रादेशिक उत्पत्ति तथा ऐसी वस्तुओं की उत्पत्ति के आधार पर वितरित कर दिया जाए जिन पर अतिरिक्त उत्पादन शुल्क लगता है। इन आधारों पर यह वितरण 60 रुपये, 22 रुपये तथा 10 रुपये के अनुपात में होगा।

केंद्र शासित प्रदेशों को मिलने वाला भाग कुल विशुद्ध प्राप्ति का 1.41 प्रतिशत होगा। शेष 98.59 प्रतिशत भाग राज्यों में निम्न प्रतिशत के आधार पर वितरित किया जाएगा।

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	8.39	केरल	3.58
असम	2.47	मध्य प्रदेश	6.98
बिहार	9.36	महाराष्ट्र	11.65
गुजरात	5.91	मणीपुर	0.17
हरियाणा	2.95	मेघालय	0.17
हिमाचल प्रदेश	0.59	नागालैंड	0.08
जम्मू व काश्मीर	0.73	उड़ीसा	3.59
कर्नाटक	5.62	राजस्थान	4.17
पंजाब	2.68	त्रिपुरा	0.25
तामिलनाडु	6.26	पश्चिमी बंगाल	8.30
उत्तर प्रदेश	17.10		

संपदा शुल्क

प्रत्येक वित्तीय वर्ष की संपदा-शुल्क से प्राप्त विशुद्ध आय का 2.5 प्रतिशत केंद्र शासित राज्यों को दिया जाएगा और शेष भाग राज्यों में निम्न आधार पर वितरित किया जाएगा।

(क) यह शेष राशि सर्वप्रथम अचल संपत्ति तथा अन्य संपत्ति के अंतर्गत इन संपत्तियों के सकल-मूल्य के अनुपात में विभक्त की जाएगी जो सकल-मूल्य निर्धारित रूप में लिए गए हैं।

(ख) जो भाग अचल संपत्ति के द्वारा हुई है वह राज्यों में सकल मूल्य के अनुपात में वितरित की जाएगी। यह संपत्ति का वह सकल मूल्य होगा जो निर्धारित वर्ष में लिया गया है।

(ग) जो आय अन्य सपत्तियो से प्राप्त होगी वह जनसख्या के आधार पर विभिन्न राज्यो में निम्नानुसार वितरित की जाएगी ।

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आध्र प्रदेश	8 04	मणीपुर	0 20
असम	2 70	मेघालय	0 19
बिहार	10 41	नागालैंड	0 10
गुजरात	4.93	उडीसा	4 05
हरियाणा	1 86	पजाब	2 50
हिमाचल प्रदेश	0 64	राजस्थान	4 76
जम्मू व काश्मीर	0 85	तामिलनाडु	7 61
कर्नाटक	5 41	त्रिपुरा	0 29
केरल	3 94	उत्तर प्रदेश	16 32
मध्य प्रदेश	7 70	पश्चिम बगाल	8 19
महाराष्ट्र	9 31		—

(5) रेल यात्रियो के किराए पर लगे कर के बदले मे अनुदान

रेल यात्रियो के किराए पर लगे कर के वितरण के सिद्धात मे आयोग ने किसी प्रकार के परिवर्तन का सुझाव नही दिया । आयोग ने यह निश्चय किया कि 1 अप्रैल 1974 से पाच वर्ष की अवधि के लिए इस कर से प्राप्त आय को प्रत्येक वष, प्रत्येक राज्य मे निम्न अनुपातो मे वितरित किया जाए ।

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आध्र प्रदेश	8 01	मणीपुर	—
असम	2 70	मेघालय	—
बिहार	10 58	नागालैंड	0 01
गुजरात	7 47	उडीसा	2 24
हरियाणा	2 57	पजाब	5 06
हिमाचल प्रदेश	0 17	राजस्थान	6 59
जम्मू व काश्मीर	0 02	तामिलनाडु	5 14
कर्नाटक	3 47	त्रिपुरा	0 02
केरल	1 61	उत्तर प्रदेश	19 85
मध्य प्रदेश	9 89	पश्चिमी बगाल	5 73
महाराष्ट्र	8 87		

(6) सहायक अनुदान

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 275 के अंतर्गत राज्यों को सहायक अनुदान देते समय आयोग को दो बातें दृष्टिगत रखने को कहा गया (I) उन राज्यों की आवश्यकताएं जो सामान्य प्रशासन में पिछड़े हुए हैं, तथा (II) प्रशासनिक व्यय को पूरा करने के लिए राज्यों की आवश्यकता।

जहां तक दूसरी बात का प्रश्न है, आयोग ने सहायक अनुदान निर्धारित करते समय, सरकारी तथा स्थानीय संस्थाओं के कर्मचारियों तथा अध्यापकों आदि के 1 मई 1973 तक की वेतन वृद्धि को ध्यान में रखा है। आयोग ने पहली विचार-धारा भी दृष्टि में रखी है। पिछड़े हुए राज्यों को अपने प्रशासन के स्तर में उन्नति करने के लिए आयोग ने सहायक अनुदान तय करते समय प्रत्येक व्यक्ति पर व्यय होने वाले प्रशासनिक तथा सामाजिक व्यय को आधार स्वीकार किया है। आयोग ने कुल मिलाकर लगभग 2,510 करोड़ रुपये की राशि 14 राज्यों को सहायक अनुदान के रूप में देने का सुझाव दिया है। निम्न तालिका राज्यों को प्राप्त होने वाले सहायक अनुदान को दर्शाती है .

राज्य	करोड़ रुपये में
आंध्र प्रदेश	205 93
असम	254 53
बिहार	106 28
हिमाचल प्रदेश	160 96
जम्मू व काश्मीर	173 49
केरल	208 93
मणीपुर	114 53
मेघालय	74 67
नागालैंड	128 84
उड़ीसा	304 73
राजस्थान	230.53
त्रिपुरा	112 50
उत्तर प्रदेश	198 83
पश्चिमी बंगाल	234 86

वित्त आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि बाढ़ और सूखे से ग्रस्त क्षेत्रों की समस्याओं को सुलझाने के लिए दी जाने वाली राशि को ऋण रूप में देने की अपेक्षा सहायता राशि के रूप में श्रेष्ठ समझा है।

आयोग ने यह विचार भी प्रकट किया कि राज्यों की आवश्यकता के समय धन की सहायता देने के लिए केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा मिलकर किसी राष्ट्रीय कोष का निर्माण न तो उचित ही है और न आवश्यक ही। वर्तमान व्यवस्था, जिसके अनुसार राज्यों को धनराशि दी जाती है, उसे पूरी तरह से परिवर्तित करना चाहिए। इसलिए यह व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि पांचवी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत सूखा तथा बाढ़ से ग्रस्त क्षेत्रों का उचित प्रकार से वितरण किया जा सके। आयोग ने इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए प्रति वर्ष इस प्रकार की योजनाओं पर बल देने की इसलिए व्यवस्था की है। राजस्थान ऐसे राज्यों की सूची में सबसे ऊपर है। इसके लिए 10 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश के लिए 4 करोड़ रुपये की व्यवस्था है।

जहां तक इस बात का प्रश्न है कि केंद्र पर राज्यों द्वारा लिए जाने वाले ऋणों के कारण भार बढ़ा हुआ है, इसके लिए आयोग ने सिफारिश की है कि उनके भुगतान की शीघ्र व्यवस्था की जानी चाहिए। इस प्रस्ताव के अनुसार 1970 करोड़ रुपये की छूट केंद्र द्वारा राज्यों को दी जाएगी। महाराष्ट्र 60 करोड़, उत्तर प्रदेश 150 करोड़, आंध्र प्रदेश 191 करोड़ तथा राजस्थान 258 करोड़ की छूट प्राप्त करेंगे।

मूल्यांकन

वित्त आयोग ने सुझाव दिया है कि बाढ़ और सूखे से ग्रस्त क्षेत्रों की समस्याओं को सुलझाने के लिए दी जाने वाली राशि को अपेक्षा ऋणरूप में देने से कहीं अच्छा है कि सहायता राशि के रूप में दी जाए। यदि यह राशि ऋण के रूप में दी जाती तो संभव था कि राज्य उसका न्यूनतम उपयोग करते, क्योंकि वह जानते थे, यह राशि उन्हें कभी भविष्य में लौटानी होगी तथा उस पर ब्याज भी देना होगा। इसलिए ये राज्य सूखे से ग्रस्त क्षेत्रों के लिए उतनी ही राशि ऋण के रूप में मांग करते जो अनिवार्य थी। हम यह भलीभांति जानते हैं कि राज्य अपने अधिविकर्षण की सीमाएं पार कर चुके हैं। इसलिए वे स्वयं केंद्र सरकार से सहायता राशि के रूप में अधिक से अधिक मांग करेंगे।

आयोग का यह विचार है कि पांचवी योजनाकाल में राज्यों को मिलने वाली राशि 4,000 करोड़ रुपये से लेकर 4,500 करोड़ रुपये होगी। किंतु मुद्रा-स्फीति की दशाओं के उत्पन्न होने से राज्यों को मिलने वाली इस राशि का वास्तविक मूल्य बहुत कम हो जाएगा। अतः उनकी आर्थिक स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आएगा।

25
वित्तीय प्रशासन

वित्तीय प्रशासन लोकवित्त का एक मौलिक अंग है। यह विज्ञान भी है तथा कला भी। विज्ञान की दृष्टि में यह लोकवित्त की वह शाखा है जो सार्वजनिक वित्त व्यवस्था को नियंत्रित करने तथा उसकी संपूर्ण व्यवस्था करने के लिए निश्चित नियमों एवं सिद्धांतों का निर्माण करती है। कला के रूप में, वित्तीय प्रशासन गेस्टन गेज के शब्दों में, 'राजकीय संगठन का वह भाग है जो सार्वजनिक कोषों के एकत्रीकरण, सरक्षण एवं वितरण का, राजकीय आय तथा व्यय के समायोजन का, राज्य की ओर से किए जाने वाले साख के सामान्य नियंत्रण का अध्ययन करता है।'

वित्तीय प्रशासन के सिद्धांत

वित्तीय प्रशासन के मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन नीचे किया गया है।

(1) **संगठन की एकता :** इस सिद्धांत के द्वारा इस बात पर बल दिया गया है कि वित्तीय प्रशासन की प्रत्येक अवस्था में अर्थात् नियंत्रण तथा उत्तर दायित्व में एकरूपता होना आवश्यक है। संपूर्ण वित्तीय व्यवस्था पर एक ही संस्था का नियंत्रण होना चाहिए तथा उसका दायित्व निश्चित कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में, वित्तीय प्रशासन पर केंद्रीय सरकार का नियंत्रण होना चाहिए, विभिन्न अधिकारियों के मध्य समन्वय होना चाहिए तथा छोटे अधिकारियों पर बड़े अधिकारियों का नियंत्रण होना चाहिए।

(2) **संसद की इच्छानुसार कार्य की संपन्नता :** राजकीय कोष नागरिकों का सामूहिक कोष होता है इसलिए उसका प्रबंध तथा निर्णय जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होना चाहिए। इसलिए वित्तीय मामलों में संसद की इच्छानुसार और संसद के आदेशानुसार ही आय को जुटाया जाय तथा खर्च किया जाए।

(3) **सरलता तथा नियमितता के गुण :** वित्तीय प्रशासन पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिसको क्रियान्वित करने में सरलता, शीघ्रता तथा नियमितता के गुण पाए

जाए । वित्तीय प्रशासन की प्रणाली जटिलताओ से मुक्त होनी चाहिए तभी उसे एक साधारण व्यक्ति समझ सकता है । वित्तीय प्रशासन को कुशल तथा मितव्ययी बनाने के लिए नियमितता तथा शीघ्रता का गुण होना आवश्यक है ।

(4) प्रभावयुक्त नियत्रण : एक कुशल वित्तीय प्रशासन के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक पग पर कठोर नियत्रण हो ऐसे नियत्रण अनुमानो की त्रुटियो को न्यूनतम करने मे सहायक सिद्ध होते हैं । यह नियत्रण ससद तथा कार्यकारिणी सभा दोनो के द्वारा हो सकता है । यह स्मरण रहे कि नियत्रण की क्रिया बहुत अधिक जटिल न हो । अधिक जटिलता प्रशासन की कुशलता मे बाधा डाल सकती है ।

संघ मे वित्तीय प्रशासन

अधिकाश सघीय सविधानो मे वित्तीय प्रशासन के अतर्गत तीन मौलिक सिद्धातो को स्वीकार किया जाता है । प्रथम, कोई भी कर जनता के प्रतिनिधियो के बिना अनुमोदन के न तो लगाया ही जा सकता है और न ही वसूल किया जा सकता है । द्वितीय, ससद की बिना स्वीकृति के कोई भी सार्वजनिक व्यय नही किया जा सकता । तृतीय कोई भी व्यय सीमा से अधिक तो नही किया गया, इस पर विचार करने के लिए महालेखा परिक्षक नियुक्त रहता है जो अपने कर्मचारियो की सहायता से कार्यकारिणी द्वारा किए गए व्ययो की जाच करता है और ससद के समुख अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है ।

हमारे सविधान मे उपरोक्त तीनो सिद्धातो को स्वीकार किया गया है । अनुच्छेद 265 के अनुसार विधायको द्वारा पारित विधियो के प्राधिकार के अतिरिक्त कोई कर न तो लगाया जा सकता है और न एकत्र ही हो सकता है । अनुच्छेद 266 के अनुसार भारत की सचित निधि म से कोई धनराशि विधायको द्वारा पारित विधि के अनुसार निश्चित प्रयोजनो के लिए रीतियो से ही व्यय की जा सकती है । ऐसे ही अनुच्छेद 267 के अतर्गत आकस्मिक व्ययो की पूर्ति के लिए भारत की आकस्मिकता कोष निधि स्थापित किया गया है जिसमे ससद द्वारा पारित विधियो के अनुसार निर्धारित राशिया समय-समय पर जमा की जाती हैं । इस निधि से आकस्मिक व्ययो की पूर्ति के लिए अग्रिम राशि देने का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है ।

सविधान के अनुच्छेद 148 के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा भारत के नियत्रण महालेखा-परिक्षक नियुक्ति की जाती है जिसे भारत सरकार और राज्य सरकारो द्वारा किए जाने वाले व्ययो की जाच का अधिकार प्राप्त है । महालेखा परिक्षक जाच सबंधी प्रतिवेदन राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित करता है और राष्ट्रपति इस प्रतिवेदन को सदन के समुख रखवाते हैं ।

बजट की तैयारी

बजट कार्यकारिणी सभा द्वारा तैयार किया जाता है। धन को प्राप्त करने का तथा व्यय को सम्पन्न करने का अधिकार भी इसी सभा को प्राप्त है, बजट की तैयारी का कार्य हमारे देश में सितम्बर से प्रारम्भ हो जाता है। सर्वप्रथम स्थानीय अधिकारी अपने विभाग के अनुमान लगाकर अपने उच्च कार्यालय को भेजते हैं। ये अनुमान दो भागों में विभक्त होते हैं। प्रथम भाग में, साधनों से प्राप्त आय की मदों पर प्रस्तावित व्ययों को दिखाया जाता है। दूसरे भाग में, नवीन योजनाओं पर होने वाले व्यय दिखाए जाते हैं। यदि किसी वर्तमान स्रोत से प्राप्त होने वाली आय को छोड़ दिया गया हो तो उसका उल्लेख भी किया जाता है।

आय व्यय का ब्योरा निम्न पांच शीर्षकों के अन्तर्गत दिखाया जाता है :

(1) विगत वर्ष के आय-व्यय

(2) चालू वर्ष में स्वीकृत आय-व्यय के अनुमान

(3) चालू वर्ष में आय-व्यय के संशोधित अनुमान

(4) आगामी वर्ष के बजट-अनुमान

(5) चालू तथा विगत वर्ष की वास्तविक आय-व्यय, जो बजट के समय तक ज्ञात हो जाती है।

इनके अतिरिक्त नई योजनाओं पर खर्च होने वाली राशि का अनुमान भी लगाया जाता है। प्रधान कार्यालय में इन अनुमानों के पहुंचने के पश्चात् यह कार्यालय इन अनुमानों को जोड़कर तथा उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर के इन अनुमानों को वित्त-विभाग में नवम्बर के माह तक भेज देता है। इन अनुमानों की प्राप्ति के उपरान्त वित्त विभाग बजट तैयार करता है। यह तैयार किया गया बजट लोक सभा या संसद के दोनों सदनों के समक्ष फरवरी या मार्च के अन्त में प्रस्तुत किया जाता है।

भारत में वित्तीय प्रक्रिया

वित्तीय विषयों में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का उल्लेख हमारे संविधान में किया गया है। यह प्रक्रिया तीन चरणों में विभक्त की गई है।

(1) **वार्षिक वित्तीय विवरण :** संसद के दोनों सदनों के सम्मुख प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में अनुमानित प्राप्तियों तथा व्ययों का विवरण राष्ट्रपति द्वारा रखवाया जाता है। इस वित्तीय विवरण में व्ययों को कई वर्गों में विभक्त किया जाता है। पहले वर्ग में वे व्यय दिखलाए जाते हैं जिनकी पूर्ति संविधान के अनुसार भारत की संचित निधि में से की जाती है और इन पर व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को अपना मत प्रकट करने का अधिकार नहीं होता।

भारत की संचित निधि पर भारित व्यय : भारत सरकार द्वारा विभिन्न करो तथा शुल्कों से प्राप्त प्राप्तियो, राजकोषीय पत्रो तथा ऋणपत्रो से प्राप्त धनराशि तथा साधन सबधी जो भी धनराशि रिजर्व बैंक से प्राप्त हो, समस्त राशिया भारत की संचित निधि मे जमा की जाती हैं। इस संचित निधि मे से निम्न व्ययों को उत्पन्न करने की व्यवस्था की जाती है।

(1) राष्ट्रपति को दिए जाने वाले भत्ते तथा उनके पद से सबधित अन्य व्यय

(2) राज्य सभा के सभापति और उपसभापति तथा लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते,

(3) ऐसे ऋण जिनका दायित्व भारत सरकार पर हैं। ऐसे ऋणभारो के अतर्गत ब्याज, निक्षेप निधि-भार, मोचन भार तथा उधार लेने, ऋण-सेवा तथा ऋण मोचन सबधी अन्य व्यय

(4) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो को दिए जाने वाले वेतन, भत्ते और पेंशन

(5) सघीय न्यायालय के न्यायाधीशो को दी जाने वाली पेंशन

(6) भारत के नियत्रक महालेखा परीक्षक को दिए जाने वाले वेतन, भत्ते और पेंशन

(7) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय के भुगतान के लिए राशिया, तथा

(8) सविधान द्वारा अथवा ससद से पारित किसी विधि द्वारा इस निधि से चुकाने के लिए निश्चित किया हुआ कोई अन्य व्यय।

दूसरे वर्ग मे भारत की संचित निधि से पूर्ति के लिए प्रस्तावित व्यय दिखाए जाते हैं। उन अनुमानित व्ययो को लोक सभा के समक्ष अनुदानों की माग के रूप म रखा जाता है। किसी माग को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का अधिकार लोक सभा को होता है। किसी भी अनुदान की माग को लोक सभा के सामने रखने के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश आवश्यक है।

नियोजक विधेयक

उस विधेयक का मूल उद्देश्य स्वीकृत की हुई मागो को कानूनी रूप देना तथा संचित निधि म से धन निकालने का अधिकार देना है। भारत के संचित कोष म से निम्नलिखित व्ययो के निमित्त आवश्यक राशिया की व्यवस्था के लिए नियोजन विधेयक प्रस्तुत किया जाता है।

(1) वे व्यय जिनके लिए लोक सभा ने अनुदान स्वीकार किया है।

(2) वे व्यय जो भारत की संचित निधि पर भारित हैं तथा जिनकी राशि ससद के समक्ष इसके पहले रखे गए विवरण म दी हुई राशि से अधिक नही है।

नियोजन विधेयक में संसद के किसी भी सदन द्वारा संशोधन का कोई ऐसा प्रस्ताव नहीं लाया जा सकता जिससे अनुदान की राशि परिवर्तित हो जाए अथवा अनुदान का लक्ष्य बदल जाए या जिससे भारत की संचित निधि पर भारित व्यय की मात्रा परिवर्तित हो जाए। संचित कोष से उस समय तक कोई राशि नहीं निकाली जा सकती जब तक कि नियोजन-विधेयक के द्वारा उसके निकालने की व्यवस्था न कर दी जाए।

पूरक, अतिरिक्त और असामान्य मांगों की व्यवस्था

यदि किसी विशेष सेवा पर चालू वित्तीय वर्ष के लिए व्यय की जाने वाली राशि अपर्याप्त हो जाती है तो उसके लिए सरकार सदनों से पूरक मांगें प्रस्तुत कर सकती है। पूरक मांगों का अनुमान बजट के समान ही लगाया जाता है और इन्हें भी बजट की तरह ही पारित करना होता है। यदि सरकार किसी ऐसे मद पर व्यय करना चाहती है जिसे किसी मांग म सम्मिलित नहीं किया जा सकता, परंतु व्यय की मद इतनी आवश्यक है कि सरकार संसद की बिना स्वीकृति के उस पर व्यय करना चाहती है तो ऐसी स्थिति में सरकार एक रुपये की एक सांकेतिक मांग प्रस्तुत करती है। जब किसी वित्तीय वर्ष में किसी सेवा पर अनुदान की गई राशि से अधिक धन व्यय हो जाता है तो ऐसे विशेष व्ययों के लिए एक दूसरा विवरण संसद के दोनों सदनों के समक्ष राष्ट्रपति अपनी सिफारिशों के साथ रखवाते हैं। इस विवरण के आधार पर लोक सभा पूरक, अतिरिक्त और अनुमानित मात्रा से अधिक व्ययों के लिए अनुदान करती है।

धन विधेयक

जब किसी भी विधेयक का निम्न विषयों में से सभी से अथवा किसी एक से संबंध हो तो उसे धन विधेयक समझा जाता है।

(1) किसी कर का आरोपण, उन्मूलन, छूट या परिवर्तन

(2) भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने अथवा कोई प्रत्याभूति देने का विनियमन

(3) भारत की संचित निधि अथवा आकस्मिकता निधि की अभिरक्षा, ऐसी किसी निधि में धन डालना अथवा उसमें से निकालना

(4) भारत की संचित निधि में से धन का नियोजन

(5) किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना अथवा ऐसे किसी व्यय की राशि बढ़ाना, तथा

(6) भारत की संचित निधि के या भारत के लोक लेखे के मध्य धन प्राप्त करना अथवा केंद्रीय या राज्य के लेखाओं का लेखा परीक्षण।

यदि किसी भी विधेयक के संबंध में धन विधेयक होने का विवाद उत्पन्न हो जाए तो उस संबंध में लोक सभा के अध्यक्ष का निर्णय मान्य होता है।

वित्त विधेयक

धन विधेयक के अंतर्गत आने वाले विषयों के संबंध में यदि कोई संशोधन संबंधी अथवा अन्य विधेयक विधेयक लोक सभा में प्रस्तुत रखा जाता है तो उस विधेयक को वित्त विधेयक कहते हैं। इन्हें सबसे पहले लोक सभा में समक्ष राष्ट्रपति की सिफारिशों के साथ रखा जाता है। धन विधेयक तथा वित्त विधेयक में मौलिक अन्तर किया गया है। वित्त विधेयक में कर और व्यय के अतिरिक्त अन्य विषय भी सम्मिलित होते हैं तथा धन विधेयक में केवल कर और व्यय संबंधी प्रस्ताव ही सम्मिलित होते हैं। धन विधेयक को पेश करने के लिए राष्ट्रपति की सिफारिशें आवश्यक होती हैं।

धन विधेयकों को पारित करने की प्रक्रिया

धन विधेयक को सर्वप्रथम लोक सभा में समक्ष रखा जाता है। लोक सभा से पारित होने के पश्चात उन्हें राज्य सभा के सम्मुख उसकी सिफारिशों के लिए रखा जाता है। राज्य सभा विधेयक की प्राप्ति के चौदह दिन के भीतर अपनी सिफारिशों सहित लोक सभा को लौटा देती है। लोक सभा को यह अधिकार होता है कि वह राज्य सभा की सभी सिफारिशों को या उनमें से किसी को भी स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। यदि लोक सभा राज्य सभा की सिफारिशों में से किसी को स्वीकार कर लेती है तो धन विधेयक उन सिफारिशों के अनुरूप उचित संशोधनों सहित दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है। यदि लोक सभा राज्य सभा की किसी भी सिफारिश को स्वीकार नहीं करती है तो विधेयक को बिना संशोधनों के पारित समझा जाता है। यदि लोक सभा से पारित धन विधेयक राज्य सभा की सिफारिशों के लिए भेजा जाता है और वह समय के भीतर नहीं लौटाया जाता तो उस अवधि के समाप्त होने पर लोक सभा द्वारा पारित रूप को दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है। दोनों सदनों से पारित होने पर धन विधेयक को राष्ट्रपति लोक सभा में समक्ष रखवाता है इसलिए लोक सभा से पारित होने के पश्चात उस पर राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करना स्वाभाविक है। धन विधेयकों को राष्ट्रपति की सिफारिश के साथ लोक सभा के समक्ष रखने के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि यह नियम यद्यपि अधिकांश धन विधेयकों पर लागू होता है परंतु किसी कर को हटाने या घटाने के प्रस्ताव को लोक सभा के सम्मुख लाने के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश आवश्यक नहीं होती।

26
बजट तथा बजट नीति का योगदान

बजट वास्तव में सरकार की वृहत वित्तीय योजना होती है इसमें बजट-काल के संभावित आय तथा प्रस्तावित व्ययों के अनुमान का विवरण होता है सरकारी क्रियाओं के स्वरूप का व्यापक निरीक्षण बजट में ही किया जा सकता है और यह पता लगाया जा सकता है कि सरकार किस प्रकार की वित्तीय नीति अपनाना चाहती है। आदर्श रूप में बजट ऐसा दस्तावेज है जिससे सामान्य नागरिक राज-कोषीय नीति के पूर्ण स्वरूप को जान सकता है। इस प्रकार राजकोषीय नीति का केंद्र-बिंदु बजट ही होता है। बजट पिछले वर्ष की वित्तीय नीति के परिणामस्वरूप चालू वित्तीय वर्ष, जो अभी पूरा नहीं हुआ है, के संभावित परिणाम तथा आगामी वित्तीय वर्ष की आमदनी और व्यय संबंधी अनुमान स्पष्ट कर बजट पद्धति में स्था-यित्व स्थापित करने का उद्देश्य रखती है तथा यह भी उद्देश्य होता है कि आय और व्यय पर अधिकाधिक सुविचारपूर्ण नियंत्रण रह सके।

संतुलित बजट

बजट को संतुलित करने के विषय में काफी वाद-विवाद रहा है। 'बजट संतुलन' लेखा-विधि की एक संकल्पना मात्र है। इसके लिए सबसे पहले कुछ बुनि-यादी विशेषताओं को समझने की आवश्यकता है। जब किसी अवधि में विशेष शुद्ध आय शुद्ध व्यय से बढ़ जाती है तो राजकोष की स्थिति सुदृढ़ हो जाती है। आय तथा व्यय की परिभाषाएं निम्न रूप से दी जा सकती हैं।

(1) 'राजस्व प्राप्तियां' वे प्राप्तियां हैं जो राजकोष की प्रयोग निधि को तो बढ़ाती हैं लेकिन उन पर ऋण दायित्वों के बोझ में वृद्धि नहीं करतीं, अथवा राजस्व प्राप्तियों में हमें वे सब प्राप्तियां सम्मिलित नहीं करनी चाहिए जो सार्व-जनिक पूंजी के प्रकार की हैं। उदाहरणार्थ सार्वजनिक संपत्ति के बेचने से मिली राशि। ऐसी राशि फलहीन सार्वजनिक ऋण में वृद्धि के समान होती है।

(2) 'लागत भुगतान वे भुगतान हैं जो राजकोष की प्रयोग निधि को घटाते हैं लेकिन उसके ऋण दायित्वों को कम नहीं करते। इससे राजकोष की निवल स्थिति बिगडती है।'

(3) 'राजस्व-इतर प्राप्तिया वे प्राप्तिया हैं जिनसे राजकोष की प्रयोग निधि मे वृद्धि होती है परतु साथ ही साथ उसी हिसाब से उसके ऋण दायित्व भी बढ जाते हैं। इस प्रकार ये वे प्राप्तिया हैं जिनसे राजकोष की स्थिति पर कोई प्रभाव नही पडता।'

(4) 'लागत-इतर भुगतान वे भुगतान हैं जिनसे राजकोष की प्रयोग निधि का ह्रास होता है परतु साथ ही साथ उसी अनुपात से ऋण दायित्व भी घट जाते हैं, इस प्रकार ये ऐसे भुगतान हैं जिनसे राजकोष की स्थिति पर कोई भी प्रभाव नही पडता।'

लागत भुगतान मे प्राय सभी भुगतान आ जाते हैं। इसमे केवल वे भुगतान *सम्मिलित नहीं होते जो ऋण की वापसी के लिए किए जाते हैं। इसी प्रकार उत्पा*-दनशील कार्यों के लिए लिया गया समस्त ऋण, जैसे लोक निर्माण के लिए उधार लेकर किया गया व्यय, भी सम्मिलित नही होता। सार्वजनिक ऋण की मूल राशि का भुगतान लागत-इतर भुगतान है। जिन प्राप्तियो से राजकोष के धन दायित्वो मे वृद्धि के बिना बढता है, वे राजस्व प्राप्तिया हैं और अन्य प्राप्तिया राजस्व इतर प्राप्तिता हैं।

उक्त उल्लेखित सकल्पनाओ को अच्छी तरह समझ लिया जाए तो 'बजट कब सतुलित होता है।' इस प्रश्न का सही उत्तर निम्नलिखित बातो के आधार पर दिया जा सकता है.

(1) यदि बजट की अवधि मे राजस्व प्राप्तियां लागत भुगतान के बराबर हैं, तो बजट सतुलित कहा जाता है।

(2) यदि बजट की अवधि म राजस्व प्राप्तिया लागत भुगतान से अधिक हैं तो बचत का बजट कहा जाता है।

(3) यदि बजट अवधि मे राजस्व प्राप्तिया लागत भुगतान से कम हैं तो घाटे का बजट कहा जाता है।

इस प्रकार हम बजट को उसी समय सतुलित मान सकते हैं जब लेखा अवधि मे निवल फलहीन सार्वजनिक ऋण मे वृद्धि नहीं होती। लेखा अवधि कितनी लबी होनी चाहिए, इसमे भी विवाद है। साधारणतया यह अवधि एक वर्ष की मानी जाती है। प्रो० जेकोब वाइनर का विचार है कि, 'यह निहायत सडियल भ्रांति है कि परिस्थितियों का विचार किए बिना सरकार को प्रतिवर्ष अपना बजट सतुलित करना ही चाहिए। प्रत्येक माह, सप्ताह या घटे मे क्यों नही ? कीन्स ने 1933

में ग्रेट ब्रिटेन के संदर्भ में यह तर्क दिया कि 'हमारी वर्तमान बजट पद्धति का यह गंभीर दोष है कि आज के बजट को संतुलित करने के लिए उठाए गए पग अगले वर्ष के बजट को असंतुलित कर देते हैं।

इसके विपरीत कुछ अमरीकी अर्थ-शास्त्रियों ने यह सुझाया कि लेखा अवधि व्यापार-चक्र से मेल खानी चाहिए जिससे कि तेजी के वर्षों में अतिरेकों का उपयोग ऋणों के शोधन के लिए किया जा सके और मंदी के वर्षों में घाटों की पूर्ति ऋण लेकर की जा सके। परन्तु यहां यह कठिनाई है कि व्यापार-चक्र की अवधि सभी स्थानों पर एक समान नहीं होती। अधिकांश व्यक्ति इस बात से सहमत हैं कि अल्प-काल (जो एक या दो वर्ष का हो सकता है) में बजट का संतुलित किया जाना आवश्यक नहीं होगा यह विचार दो बातों पर आधारित है। पहला, एक या दो वार्षिक घाटों में स्वयं में कोई बड़ी हानि नहीं हो सकती। दूसरा, अधिक विशाल लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रत्यय द्वारा उत्पादन और रोजगार बढ़ाने के उद्देश्य से लोक नीति कभी कभी जान बूझकर और औचित्य के साथ अस्थाई रूप से बजट में घाटा उत्पन्न कर सकती है। किंतु अल्पकाल में भी बजट के घाटे को बहुत अधिक नहीं बढ़ने देना चाहिए।

बजट नीति के उद्देश्य

बजट नीति से हमारा तात्पर्य सरकारी आय तथा व्यय के परिवर्तन द्वारा संपूर्ण अर्थ-व्यवस्था में गति विधियों के स्तर को प्रभावित करना होगा है।[1] बजट की नवीन नीति केवल बजट को संतुलित करने के दृष्टिकोण को लेकर नहीं चलती अपितु संपूर्ण अर्थ-व्यवस्था को संतुलित करने के उद्देश्य को लेकर चलती है। आधुनिक काल में निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बजट को एक शक्तिशाली यंत्र माना जाता है। ये उद्देश्य निम्न हो सकते हैं पूर्ण रोजगार, ऊंचे स्तर का विनियोग, अ-स्फीति अर्थात् स्फीति तथा अपस्फीति से बचाव, तथा उत्तम वितरण।

बजट नीति की व्यावहारिकता

इन सभी उद्देश्यों को एक साथ व्यवहार में लाना कठिन है। यदि हम पूर्ण रोजगार को प्राप्त करना चाहें तो स्फीति से बचाव कठिन हो जाता है। फ्रांस ने 1945-52 में अपना रोजगार का लक्ष्य तो प्राप्त कर लिया परन्तु जीवन यापन व्यय की लागत दुगनी हो गई। संघर्ष की स्थिति में किस लक्ष्य की प्राप्ति को प्राथमिकता दी जाए यह एक विवादास्पद विषय है। कुछ व्यक्ति मुद्रा स्फीति के भय से आतंकित होकर इससे बचने के लिए रोजगार और ऊंचे उत्पादन के लक्ष्यों का बलिदान कर देंगे। दूसरे लोग पूर्ण रोजगार और ऊंचे उत्पादन के लिए थोड़ी बहुत मुद्रा स्फीति सहन करना पसंद करेंगे भले ही उससे कुछ सामाजिक अन्याय पैदा हो। इन दोनों

1 C. T. Sandford - Economics of Public Finance, Pergamen Press, Oxford (1969) P. 203

प्रकार के व्यक्तियों में से किसका विचार सही है यह उस समय तथा स्थान की विशेष परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

साधारणतया यदि अत्यधिक मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो गई हो तो उसका उपचार बजट में अतिरेक होगा। यदि मुद्रा सकुचन या अपस्फीति अधिक है तो बजट में घाटा उत्पन्न करके उसे ठीक किया जा सकता है। यदि अस्फीति की स्थिति रखनी है तो सार्वजनिक तथा निजी बचतो का योग सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र के कुल विनियोग के बराबर होना चाहिए। यदि बचतें विनियोग से कम होगी तो मुद्रा स्फीति उत्पन्न होगी और मूल्य बढ़ेंगे। ऐसी स्थिति में उपभोग तथा विनियोग का योग अधिक हो जाएगा। इसलिए हम बचतो को बढाना तथा उपभोग और विनियोग को घटाना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि बचतें विनियोग से अधिक होगी तो अपस्फीति की स्थिति उत्पन्न होगी, मूल्य गिरेंगे तथा बेरोजगारी बढ़ेगी। ऐसी स्थिति में हमे बचतें घटानी पड़ेगी तथा उपभोग या विनियोग या दोनो को बढाना पड़ेगा।

यदि हम बचत और विनियोग को समान कर दें तो अतिम वस्तुओ अर्थात् उपभोग वस्तुओं तथा पूजीगत वस्तुओ की माग और पूर्ति में सतुलन स्थापित हो जाएगा और स्फीति मूलक (अथवा अपस्फीति मूलक) की स्थिति भी समाप्त हो जाएगी। इस अतर को पाटने मे बजट का बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य होता है।

यदि बजट का प्रयोग आर्थिक स्थायित्व लाने मे करना है तो बजट को काफी बड़ा होना चाहिए। आधुनिक युग मे बजटो के आकार में वृद्धि इस ओर सकेत करती है कि बजट के दोनो ओर के कुछ मदो का स्थिर होना ही स्थायित्व लाता है। बजट के कुछ मद परिवर्तनशील हो सकते हैं। अस्थायित्व मूलक तत्वो का प्रतिकार करने के लिए इन मदो को किसी भी दिशा मे घटाया बढ़ाया जा सकता है।

बजटो मे निरतर घाटे की स्थिति तो असभव सी प्रतीत होती है। अधिक सभावित स्थिति तो वह है जहा दीर्घकालीन समय मे बजटो मे अतिरेक और घाटे दोनो होंगे। किंतु उस समय स्थिति चिंताजनक हो जाती है जब दीर्घकाल मे घाटों का जोड़ा अतिरेक से अधिक हो जाती है। ऐसा उस समय ही होता है जब बेरोजगारी और मुद्रा सकुचन को दूर करने का प्रयास किया जाता है। ऐसी स्थिति में लोक ऋण बढ जाते हैं। लोक ऋण उत्पादन को निरुत्साहित करते हैं औरवितरण को बिगाड़ते है। प्रश्न उठता है ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए ? यह स्थिति पूंजीगत करो तथा सस्ती मुद्रा द्वारा दूर की जा सकती है। पूजीगत कर आय और धन के विषम वितरण को सुधारने म भी सहायक सिद्ध होग। पूजीगत करो से प्राप्त होने वाली आय को ऋणो के शोधन मे भी प्रयुक्त किया जा सकता है। पूजीगत कर, मृत्यु कर, पूजी कर तथा पूजीगत लाभा पर कर के रूप मे हो सकते हैं। सस्ती मुद्रा नीति के अतर्गत नीची ब्याज की, विनियोग और पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने मे सहायक होती है।

बजट नीति की सीमाएं

अन्त में यह प्रश्न उठता है कि आज की परिस्थितियों में कोई भी देश सतत रोजगार और अन्य लक्ष्यों को बजट नीति द्वारा किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। इस प्रश्न का कोई सीधा उत्तर नहीं हो सकता। बजट नीति कोई सरल तकनीक नहीं है क्योंकि यह अनिश्चित अनुमानों तथा अस्थिर परिस्थितियों पर निर्भर करती है। बजट नीति की कुछ सीमाओं का वर्णन नीचे किया गया है।

(1) लागत स्फीति में अनुपयुक्त : यदि स्फीति माग की वृद्धि के कारण है तब बजट नीति द्वारा इसका उपचार उपयुक्त है क्योंकि इस नीति के द्वारा प्रभाव पूर्ण माग को कम किया जा सकता है। यदि स्फीति लागत-वृद्धि के कारण है तब बजट नीति द्वारा माग को घटाना उचित नहीं होगा। लागत में अधिकाश भाग मजदूरी का होता है। यद्यपि वस्तुओं तथा सेवाओं, माग तथा श्रम की माग कम करके मजदूरी घटाई जा सकती है परन्तु इसमें कोई बुद्धिमत्ता नहीं होगी क्योंकि ऐसा करने से बेरोजगारी, औद्योगिक अशान्ति तथा मानवीय पीड़ा बढ़ेंगी और उत्पादन कम होगा। जहां श्रम संघ मजबूत होते हैं वहां ऐसी नीति का विरोध और भी दृढ़ हो सकता है। पिछले कुछ वर्षों ग्रेट ब्रिटेन में मूल्यों की वृद्धि को रोकने के लिए जो प्रयास किए गए हैं वे सब बजट नीति के बाहर रहे हैं। वहां श्रम संघों की स्वतन्त्रताओं पर कुछ प्रतिबंध लगाकर मूल्यों की वृद्धि को रोका गया है।

(2) क्षेत्रीय आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए अपर्याप्त : बजट नीति का उपयोग उस समय ही उचित समझा जा सकता है जब बेरोजगारी सपूर्ण देश में हो। परन्तु विभिन्न क्षेत्रों में बेरोजगारी की अंतर बजट नीति की उपयुक्तता के लिए प्रश्न बन जाता है, परन्तु उदाहरणस्वरूप भारत उत्तर प्रदेश में तो माग को प्रतिबधित करने का प्रश्न उठता है, परन्तु तामिलनाडु में माग की वृद्धि का प्रश्न उठता है। तामिलनाडु म माग को नियन्त्रित के परिणामस्वरूप बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न हो जाएगी। इस प्रकार सामान्य प्रयासों के द्वारा निश्चित क्षेत्रों में लागू करने की अपर्याप्ता के कारण बजट नीति के उपयोग को सीमित करता है।

(3) वार्षिक सर्वेक्षण अपर्याप्त : वार्षिक सर्वेक्षण को विचाराधीन रखते हुए बजट नीति की उपयुक्तता के विरुद्ध दो तर्क दिए जाते रहे हैं। प्रथम तर्क यह दिया जाता है कि बजट निर्माण के पूर्व स्रोतों का उपयोग करने के लिए जो वार्षिक सर्वेक्षण किया जाता है वह अधिकतर अपर्याप्त होता है। यदि कोई रोग निदान उपस्थित होता है तो उसे तुरत ठीक करने की अपेक्षा अगले वर्ष के बजट के लिए स्थगित कर दिया जाता है। अपर्याप्त सर्वेक्षण का ही वह परिणाम है कि कभी-कभी आय तथा व्यय में समायोजन करने के लिए 'लघु बजट' की सहायता लेनी होती है ऐसे भी अनेक उदाहरण मौजूद हैं जब बजट बाद में ब्याज-नीति, (जो बजट नीति का अग नहीं होती) की सहायता से आवश्यक समायोजन किए गए हैं।

दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि वार्षिक बजट सर्वेक्षण की एक वर्ष की अवधि बहुत छोटी होती है इतनी छोटी अवधि मे सपूर्ण देश का सर्वेक्षण एक कठिन कार्य है।

इन सीमाओ से बजट नीति की उपयुक्तता एकदम समाप्त नही हो जाती। मी० टी० स्टेनफोर्ड के मतानुसार 'इन मसलो पर तो वाद-विवाद जारी रहेगा, चाहे परिणाम कुछ भी हो, बजट नीति, राज्य प्रवधित अर्थव्यवस्था का एक आवश्यक अग बनी रहेगी।'

अनेक साधनो के बावजूद हम कह सकते हैं कि सभवत सयुक्त राज्य अमेरिका बजट नीति के लक्ष्यो को प्राप्त कर सकता है, क्योकि उसके बाहरी व्यापार का आकार अपेक्षाकृत छोटा है। अपनी आर्थिक जीवन प्रणाली के अनुसार सोवियत सघ सभवत इन लक्ष्यो को प्राप्त कर लेता है। यद्यपि वहा आर्थिक कल्याण और राजनीतिक स्वतत्रता का स्तर अब भी नीचा है। सयुक्त राज्य अमेरिका की भाति उसके बाहरी व्यापार का आकार भी छोटा है। परतु ऐसी व्यवस्था मे बजट सबधी नीति वहा के आर्थिक नियोजन मे मिली रहती है। जहा तक अन्य देशो का सबध है, जो बाहरी व्यापार पर अधिक निर्भर करते हैं, और विशेषकर जो डालर क्षेत्र मे हैं, उनकी बजट नीति अधिक से अधिक आशिक रूप मे ही इन लक्ष्यो को प्राप्त कर सकती है।

भारत मे द्वितीय महायुद्ध पूर्व के वर्षों मे राजकोषीय नीति बजट के वार्षिक सतुलन की घिसी-पिटी धारणा को व्यवहार मे लाती रही है। सार्वजनिक ऋण के फलहीन भाग को न्यूनतम रखने की चेष्टा की गई है। भारतीय सरकार के व्यय के नमूने भी इस ओर सकेत करते हैं कि सरकार ने सामाजिक आदर्शो को प्राप्त करने मे ढील दिखलाई है। द्वितीय महायुद्ध के बजटो से भी यह बात स्पष्ट होती है कि हमारी सरकार ने राजकोषीय नीति के आधुनिक सिद्धातो को प्रत्यक्ष व्यवहारिक रूप देने मे शिथिलता दिखलाई है।

27

केंद्रीय सरकार के बजट का विश्लेषण

भारत में प्रतिवर्ष फरवरी के अंत में आगामी वित्तीय वर्ष के लिए केंद्रीय सरकार के प्रत्याशित आय तथा व्यय का विवरण संसद में प्रस्तुत किया जाता है। यही वार्षिक वित्तीय विवरण अथवा बजट होता है। आय और व्यय के अनुमानों के अतिरिक्त इन विवरण में पिछले वर्ष की वित्तीय स्थिति की समीक्षा तथा पूंजीगत व्यय की व्यवस्था करने के प्रस्ताव भी होते हैं। इन बजटों के विश्लेषण की सहायता से हम देश की आर्थिक स्थिति का सही ब्योरा प्राप्त कर सकते हैं, केंद्र सरकार के आय प्राप्त करने की विधि, व्यय की दिशा एवं कुल घाटे या आधिक्य की स्थिति देश की अर्थव्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करती है, इसका अध्ययन आगामी पृष्ठों में किया गया है।

1973-74 का बजट

वित्त मंत्री श्री यशवंतराव चव्हाण ने लोकसभा में 1973-74 का जो बजट प्रस्तुत किया उसे कल्याणकारी राज्य के विकास का बजट कहा जा सकता था। यह वर्ष चौथी पंचवर्षीय योजना का अंतिम वर्ष था। चूंकि बजट में पांचवीं योजना की रूप-रेखा को प्राण देने की व्यवस्था आवश्यक समझी गई थी इस लिए बजट में प्रावधान का समुचित ढांचा इसी उद्देश्य पर केंद्रित था।

वित्त मंत्री ने आगामी वर्ष के बजट में जो नए कर प्रस्ताव रखे, उनसे केंद्रीय राजस्व को 250 करोड़ रुपये का लाभ हुआ। इसके परिणामस्वरूप 1973-74 के बजट में कर की दरों के अनुसार 335 करोड़ रुपये का घाटा कम होकर 85 करोड़ रुपये रह गया। कर प्रस्तावों के फलस्वरूप होने वाली कुल प्राप्ति 292.6 करोड़ रुपये थी जिसमें से 250 करोड़ रुपये केंद्र का अंश और शेष राज्यों का अंश था। प्रत्यक्ष करों से 18.6 करोड़ रुपये, उत्पादन शुल्क से 118 रुपये और सीमा शुल्कों से 156 करोड़ रुपये अतिरिक्त प्राप्त होने की संभावना व्यक्त की गई।

कर प्रस्तावो का उद्देश्य

(1) वित्त मत्री ने कर प्रस्तावो को रखते समय इस बात का ध्यान रखा कि जनसाधारण पर इनका भार न पडे और सामान्य व्यक्ति के दैनिक जीवन मे काम आने वाली वस्तुए महगी न हो।

(2) *कर प्रस्तावो का दूसरा उद्देश्य रोजगार के कार्य-क्रमो के लिए अधिक राशि की व्यवस्था करना।*

(3) समाज कल्याण की योजनाओ पर अधिक ध्यान देना।

(4) आय और उपभोग सबधी असमानताओ को दूर करना तथा

(5) *कृषि आय और गैर कृषि आय के आशिक एकीकरण और अविभक्त* हिंदू परिवारो पर आयकर पर अपेक्षाकृत ऊची दरें लागू करके कर प्रणाली को अधिक समतापूर्ण तथा प्रगतिशील बनाना।

बजट एक सक्षिप्त विवरण (करोड रुपये मे)

	1972-73	1972-73	1973 74
राजस्व	बजट	सशोधित	बजट
प्राप्तिया	4,467	4 628	4,831 + 250
व्यय	4,124	4,591	4,752
	(+) 244	(+) 37	(+) 79 (+) 250
पूजी			
प्राप्तिया	2,095	2,652	2,460
व्यय	2,689	3,239	2,874
	(—) 594	(—) 587	(—) 414
कुल घाटा	(—) 251	(—) 550	(—) 335 (+) 250 85

प्रत्यक्ष कर

कृषि आय पर कर

जिन मामलो मे करदाता की आमदनी छूट की सीमा से अधिक हो, उसमे आय के कृषि-भिन्न भाग और खेती से होने वाली आय को जोडा जाना था। ऐसा करते समय 5000 रुपये की छूट कृषि आय पर नही दी गई कृषि आय और गैर

कृषि आय का यह आंशिक एकीकरण अविभक्त हिंदू परिवार पर लागू होगा।

अविभक्त हिंदू परिवारों को जो लाभ इस समय तक मिल रहे थे उन से कर वंचना को प्रोत्साहन मिलता था इसलिए इन परिवारों पर आय कर और संपत्ति कर अपेक्षाकृत ऊँची दरों वाली अनुसूचियों के अनुसार लगाने की व्यवस्था करने का प्रस्ताव किया गया।

बजट में 31 मई, 1974 के बाद लगाई गई मशीनों और उपकरणों की लागत पर 20 प्रतिशत प्रारंभिक मूल्य-ह्रास संबंधी छूट देने का प्रस्ताव भी किया गया पिछड़े क्षेत्रों में पूंजी के विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए 31 मार्च, 1973 के बाद स्थापित किए जाने वाले उद्योगों को कर के मामले में रियायत दिए जाने का प्रावधान था। यह रियायत दस वर्षों तक मिलती रहेगी।

उत्पादन शुल्क

सिगरेटों पर उत्पादन शुल्क बढ़ाने का प्रस्ताव रखा गया, इसके अनुसार जो सिगरेट जितनी अच्छी होगी उस पर उतना ही अधिक शुल्क वसूल किया जाएगा। यह शुल्क 10 रुपये प्रति हजार के मूल्य पर 100 प्रतिशत से प्रारंभ होगा और इसमें मूल्य के प्रत्येक अतिरिक्त रुपये या उसके किसी भाग पर 5 प्रतिशत की दर से लगातार वृद्धि होती रहेगी। यह वृद्धि 300 प्रतिशत तक होगी।

वित्त मंत्री ने मोटर स्प्रिट पर लगने वाले शुल्क में 80 रुपये प्रति किलो लीटर की वृद्धि करने का प्रस्ताव किया। जिससे 19-20 करोड़ रुपये की आय का अनुमान है। साथ ही अधिक संपन्न लोगों द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क की दरें बढ़ाने का भी प्रस्ताव रखा गया है। इसके अनुसार रेफ्रिजेटरों और एयरकंडीशनों पर 60 प्रतिशत और इनके पुर्जों पर 75 प्रतिशत शुल्क लगाया जाएगा किंतु प्रभावित वृद्धि 165 लीटर तक की क्षमता के रेफ्रीजेटरों पर लागू नहीं होगी क्योंकि इन्हें मध्यम वर्ग के लोग प्रयोग में लाते हैं। इस प्रकार उत्पादन शुल्कों से 118 करोड़ रुपये का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा।

आयात शुल्क

वित्त मंत्री ने आयात शुल्कों की चर्चा करते हुए सहायक शुल्क वसूल करने का प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव के अनुसार जिन वस्तुओं पर मूल्यानुसार 100 प्रतिशत या इससे अधिक दर से सीमा-शुल्क लग रहा था उन पर 20 प्रतिशत की दर से सहायक शुल्क लगा। जिन पर 60 प्रतिशत या उससे अधिक सीमा शुल्क लग रहा था उन पर 10 प्रतिशत की दर से सहायक शुल्क लगा। और शेष वस्तुओं पर 5 प्रतिशत की दर से सहायक शुल्क लगा। इस उपाय से 36-50 करोड़ रुपये की अतिरिक्त आय होने की आशा थी।

तटकर और व्यापार सबधी साधारण समझौतो के अतर्गत आयात शुल्को की दरो मे कुछ परिवर्तन किए गए हैं। इनमे लकडी की लुगदी, चर्बी और प्लास्टिक का कुछ सामान सम्मिलित था। इन दरो के परिवर्तन से 18-70 करोड रुपये अतिरिक्त मिलने की आशा थी।

अप्रत्यक्ष कर प्रस्तावो का प्रभाव जिन वस्तुओ पर पडा वे प्राय गरीब जन-साधारण के उपयोग की नही हैं। जिन वस्तुओ पर करारोपण के भार मे वृद्धि की गई है वे प्राय जन सामान्य के दैनिक जीवन की परिधि मे नही आती थी। जहां तक औद्योगिक और व्यवसायिक क्षेत्र का प्रश्न था, इस बजट का प्रभाव अच्छा ही पडने की बात कही गई। बजट मे पिछडे हुए क्षेत्रो मे उद्योग स्थापित करने पर करों मे रियायत, वैज्ञानिक अनुसधान और विकास को प्रोत्साहन देने मे राहत, बैंको मे सस्ती ब्याज दर पर ऋण की योजना के विस्तार एव उसकी शर्तों मे उदारता इत्यादि ऐसी विशेषताए हैं जो अवश्य ही विनियोग को प्रोत्साहन देंगी और मध्य वर्ग के उद्यमियों को आगे बढाने मे उत्साह मिलेगा।

व्यय पक्ष

प्रतिरक्षा व्यय

इस वर्ष के बजट मे प्रतिरक्षा व्यय मे कई वर्षों के बाद नाममात्र की कमी दिखाई गई। 1972-73 मे प्रतिरक्षा पर कुल व्यय 1732 01 करोड रुपये हुआ था, जो बजट मे प्रावधान मे 192 करोड रुपये अधिक था। 1973-74 के बजट मे प्रतिरक्षा पर 1729 61 करोड रुपये व्यय करने का निश्चिय किया गया। प्रतिरक्षा पर कुल बजट का लगभग एक चोथाई भाग व्यय करने का दूसरा कारण यह भी था कि 1968-74 के लिए जो प्रतिरक्षा योजना चल रही थी उसके लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए इतना व्यय करना अनिवार्य था।

रोजगार की व्यवस्था

बजट मे नए अवसर रोजगार के लिए 100 करोड रुपये की व्यवस्था की गई जिसका उद्देश्य क्षेत्रो मे पाच लाख अतिरिक्त शिक्षित व्यक्तियो को रोजगार देना था।

पाचवीं योजना के लिए अग्रिम कार्यवाही करने के लिए 150 करोड रुपये की व्यवस्था की गई जिससे पाचवी योजना के लाभ उस योजना-काल के भीतर ही उपलब्ध हो सकें।

इसके अतिरिक्त प्राथमिक शिक्षा के विस्तार, गंदी बस्तियो के सुधार, ग्रामो मे आवास स्थानो और पीने के पानी की व्यवस्था आदि के लिए 125 करोड रुपये की अलग से व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त बिजली की योजना पर व्यय करने के लिए 115 करोड रुपये खर्च करने का प्रस्ताव किया गया।

इसके साथ ही राज्यो को 119 करोड रुपये विशेष सहायता के रूप मे, 79 करोड रुपये राजकीय योजनाओ से बाहर की परियोजनाओ के लिए ऋण के रूप मे

तथा 100 करोड रुपये प्राकृतिक आपदाओं के समय सहायता के रूप में देने की व्यवस्था की गई।

बजट से पूर्व वित्त मंत्री ने जो आर्थिक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया उसमें ऐसी आशा व्यक्त की गई थी कि बजट में निर्यात को प्रोत्साहन के लिए सरकार बहुत कुछ करेगी परतु बजट प्रस्तावों को देखकर यह आशा समाप्त हो गई। पिछले कुछ वर्षों में इंजीनियरिंग तथा दूसरे गैर-परपरागत वस्तुओं का निर्यात भी बहुत बढा है। दूसरी ओर विकसित देशों ने विकासशील तथा अर्धविकसित देशों से होने वाले आयातों को कम करने का निश्चय किया है। ऐसी दशा में लोहे एव इस्पात पर 40 करोड रुपये के अतिरिक्त उत्पादन शुल्क का इंजीनियरिंग वस्तुओं के निर्यात पर बुरा प्रभाव पड सकता है।

वित्त मंत्री ने बजट प्रस्तुत करते समय तृतीय वेतन आयोग की रिपोर्ट को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक अतिरिक्त धन का प्रबंध नहीं किया। इसके फलस्वरूप बजट का घाटा 85 करोड रुपय से बढ कर 200 करोड रुपय से भी ऊपर होने की सभावना तत्काल व्यक्त की गई थी। यह समस्त धनराशि उत्पादन या विकास के कार्य-क्रमों मे खर्च नहीं होनी थी अत इससे महगाई और बढी जिसका भार आम जनता पर अधिक पडा।

वित्त ने चालू बजट के प्रस्तावों मे यह दावा किया कि दिखावटी ऐश्वर्यप्रधान वस्तुओं पर कर लगाया जा रहा है। परन्तु वहीं ऐसी अनेक वस्तुए उनके जाल से छूट गई जो किसी भी रूप म सामान्य जन की वस्तुए नहीं कही जा सकती। उदाहरण के लिए इस बजट मे मदिरा पर कोई नया कर नहीं लगाया गया। कुछ राजनैतिक प्रेक्षक यह मानने लगे हैं कि मदिरा राजनैतिक क्षेत्र मे एक महत्त्वपूर्ण साधन बन गई है और मदिरा उत्पादक कुछ वर्षों से राजनीति मे सक्रिय भाग लेने लगे हैं।

प्रस्तावित बजट में मशीनों पर आयात कर बढा दिया गया है। इन मशीनों से मुख्यतः निर्यात की वस्तु बनती हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि आयातित कपास पर रियायती दर समाप्त कर 40 प्रतिशत की दर से आयात कर लगाने का प्रस्ताव रखा गया। इससे 'रेडीमेड' कपडो के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पडा।

वित्त मंत्री ने बजट के अनुमान प्रस्तुत करते समय वित्त आयोग की शीघ्र आने वाली रिपोर्ट के फलस्वरूप सभावित आर्थिक भार को दृष्टि में नहीं रखा। यह सभव है कि सरकार पर इसके फलस्वरूप काफी भार बढ गया। आज हमारा प्रशासनिक व्यय इतना अधिक हो गया है कि सरकार जनता के समुख मितव्ययिता का आदर्श उपस्थित करने की स्थिति मे नहीं है। अतएव सरकार को अपने प्रशासनिक व्यय को यथा सभव कम करना चाहिए। इन सब बातों को ध्यान में रखकर सरकार बजट को त्वरित सामाजिक परिवर्तन के प्रभावशाली साधन के रूप में प्रयोग कर सकती है जो इस बजट की सफलता की कसौटी कही जा सकती है।

1974-75 का बजट

वित्तमंत्री ने केंद्रीय सरकार का 1974-75 का बजट प्रस्तुत करते हुए चेतावनी दी कि आगामी वित्तीय वर्ष में अधिक बड़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ सकता है। इसलिए बजट का लक्ष्य आर्थिक वृद्धि स्वीकार किया गया। आर्थिक वृद्धि कृषि और उद्योग, दोनों में होनी थी।

प्रस्तावित कर

1973-74 के संशोधित अनुमानों के अनुसार इस वर्ष पूर्वानुमान से कहीं अधिक 650 करोड़ रुपये का घाटा रहा है और करों की वर्तमान दरों के अनुसार 1974-75 में 311 करोड़ रुपये का घाटा रहने का अनुमान है। इसलिए 186 करोड़ रुपये के नये कर लगाए गए हैं जिनसे घाटा 125 करोड़ रुपये का ही रह गया है। बजट का नीचे दिया गया विवरण इस तथ्य की पुष्टि करता है

(करोड़ रुपये में)

	1973 74 बजट	1973-74 संशोधित	1974-75 बजट
राजस्व प्राप्तियां	5079	5102	5455 +186
व्यय	4778	4954	5404
	+301	+148	(+)47 (+)186
पूंजी			
प्राप्तियां	2460	2686	3099
व्यय	2848	3484	3457
	(—)388	(—)798	(—)358
कुल घाटा	(—) 87	(—)650	(—)311 +186
		शेष घाटा	125

कर प्रस्ताव जैसा कि प्रायः देखा गया है, कटु और मधुर दोनों प्रकार के होते हैं। इस बजट में व्यक्तिगत आयकर के लिए कुछ विशेष राहत दी गई। वित्तमंत्री ने व्यक्तिगत आयकर में छूट की सीमा को 5000 रुपये से बढ़ाकर 6000 रुपये

कर दी। सभी स्तरो पर कर की दरो में राहत दी जिससे सभी वर्गों के लोग लाभान्वित होंगे। सरकार ने प्रत्यक्ष कर जाच समिति की सिफारिशें इस सबध मे स्वीकार की हैं परतु सशोधन के साथ वाचू समिति ने सिफारिश की थी कि कर छूट की सीमा 7,500 रुपये की जाए और इससे पहले श्री दूर्थलिगम ने तो 12,000 रुपये की छूट देने का सुझाव दिया था। ऐसी अवस्था में सरकार द्वारा 6,000 रुपये से अधिक की छूट देन का प्रस्ताव लोगो में बचत करने तथा उसे उत्पादक प्रयोजनो के लिए निवेश करन के लिए प्रेरणा उत्पन्न करेगा। प्रत्यक्ष करों में परिवर्तन के कारण सरकार को 1975 76 में अतिरिक्त 14 4 करोड रुपये प्राप्त होने की सभावना थी।

जो प्रत्यक्ष कर लगाए गए हैं उनसे यह सकेत मिलता है कि उनका कोई सीधा प्रभाव साधारण व्यक्तियो के जीवन पर नहीं पड़ेगा। पाच लाख से ऊपर की सपत्ति और फ्रिज, टेलीविजन सेट, बढ़िया कपडे, शराब, मोटर आदि पर करों मे वृद्धि द्वारा यह दिखलाने का प्रयास किया है कि करों की बढ़ोत्तरी मुख्यत विलास की सामग्री और धनी लोगों पर की गई है। जनसाधारण के प्रति वित्तमत्री दयालु हैं यह दिखलाने के लिए उन्होंने ट्रैक्टरों, रेडियो सेटो पर कर नहीं बढाए और सार्वजनिक अस्पतालो मे लगने वाले फ्रिजो पर उत्पादन शुल्को में कोई वृद्धि नहीं की।

कार्यालयों मे काम आने वाली मशीनों, शुष्क बैटरी सैलो, काच के सामान तथा चीनी मिट्टी के सामानों पर मूल्यानुसार उत्पादन शुल्क में 5 प्रतिशत की वृद्धि से सरकार को 2 027 करोड रुपये की आय होने की आशा थी। लोहे व इस्पात के उत्पादनो पर 7 I करोड रुपये के नए कर लगेंगे। टेलीविजन सेटों के करों म मूल्यानुसार 10 से 20 प्रतिशत की वृद्धि की गई। बजट मे पहली बार टूथपेस्टों तथा डेंटल क्रीमो पर कर लगाए गए जिनसे कुल आय 8 20 करोड रुपये होनी थी।

सीमा शुल्क और उत्पादन शुल्क से केंद्र को 186 10 करोड रुपये प्राप्त होने थे। इसमें राज्यो को मिलने वाला भाग भी सम्मिलित है। अतिरिक्त उत्पादन शुल्क से 1974-75 में 191 करोड रुपये प्राप्त होने की आशा थी।

बजट में डाक दरो म भी वृद्धि की गई। पोस्टकार्ड का मूल्य 10 पैसे से बढा कर 15 पैसे, अतर्देशीय पत्रो का मूल्य 15 पैसे से बढाकर 20 पैसे तथा लिफाफों का मूल्य 20 पैसे से बढाकर 25 पैसे कर दिया गया।

खादी ग्रामोद्योग को बढावा देने वाल सस्थानों को आय कर से छूट दे दी गई।

व्यय प्रस्ताव

कृषि और उद्योगो में वृद्धि हेतु कुछ आधारभूत वस्तुओं के लिए बजट में समुचित व्यवस्थाए की गई हैं, बजट म राजस्व तथा पूजीगत व्यय के रूप में 8,865

करोड रुपये व्यय करने का प्रस्ताव रखा गया। सबसे अधिक व्यय प्रतिरक्षा सवाओं पर किया गया जो 1680 करोड रुपये है। कृषि पर 222 करोड रुपये व्यय करने का निश्चय किया गया है। कृषि और उद्योगों मे वृद्धि हेतु कुछ बुनियादी वस्तुओं के लिए बजट में समुचित व्यवस्थाए की गई इसलिए ऊर्जा के साधनो, कोयला और बिजली के उत्पादन के लिए बजट म पहले की अपेक्षा अधिक धन की व्यवस्था की गई, इस्पात औद्योगिक अर्थव्यवस्था के लिए अत्यत आवश्यक है। अतः इस्पात के उत्पादन को बढाने के लिए उद्योगो के आतरिक साधनो के अलावा भी बजट मे अतिरिक्त राशि का प्राविधान किया गया। कृषि उत्पादन मे वृद्धि के निमित्त उर्वरकों का उत्पादन बढाने के लिए अतिरिक्त धन की व्यवस्था की गई है।

मूल्यांकन

भारत जैसे निर्धन देश मे किसी बजट के अच्छा होने की कसौटी यह है कि वह सामान्य जनता को कितनी राहत देता है और आर्थिक कठिनाइयो पर विजय पाने तथा देश को विकसित एव आत्मनिर्भर बनाने मे उसका क्या योगदान है। इस कसौटी पर यदि कसा जाए तो श्री चह्वाण का 1974-75 का बजट समीचीन ही प्रतीत होता है। कोयला तथा खाद-उत्पादन की मदो पर जिस धनराशि म वृद्धि की गई है उसे तेल सकट एव ऊर्जा अभाव के समय मे उचित कहा जा सकता है। विकास छूट को एक वर्ष के लिए और बढा देने से औद्योगिक विकास को गति मिलेगी। उन उद्योगो को बहुत सुविधा मिली जिन्होंने मशीनो तथा प्लाटो के सौदे कर लिए थे और जो तेल के स्थान पर कोयले का प्रयोग करने की सोच रहे थे।

बजट म इस बात को ध्यान म रखा गया कि खादी और ग्रामोद्योग की उन्नति हो, इसलिए उन्हे प्रत्यक्ष कर से मुक्त रखा गया। रक्षा व्यय के मद मे पिछले वर्ष की अपेक्षा लगभग तीन अरब रुपये की वृद्धि कर देश को अधिक सुरक्षित बनाने की चेष्टा की गई। इन सब के बावजूद यह नही कहा जा सकता कि बजट देश के सामने खडी चुनौती का सामना कर सकेगा।

प्रत्यक्ष कर मे छूट का मुख्य लाभ उन्ही लोगो को मिलेगा जिनकी आय बहुत अधिक है। जहा पहले इन आयों पर कर की अधिकतम दर 97 प्रतिशत थी वहा उसे घटाकर 70 प्रतिशत कर दी गई। इससे करवचना मे कमी की आशा की जा सकती है। परतु इससे सामान्य व्यक्ति को राहत नही मिली। इन व्यक्तियो को राहत तब मिलती जब उन वस्तुओ के करो पर छूट दी जाती जो उनके दैनिक जीवन मे काम आती है। ऐसा इस बजट मे दिखाई नही देता। बजट प्रस्तावो म केवल इतना ही किया गया है कि उन पर करो म कोई वृद्धि नही हुई है।

साबुन और टूथपेस्ट जैसी वस्तुए भी इस बार कर वृद्धि की चपेट मे आ गई है ये वस्तुए प्राय सभी वर्गों के लोगो द्वारा काम मे लाई जाती है। इसलिए इनका महगा हो जाना आम लोगो के बजट को अवश्य प्रभावित करेगा।

आश्चर्य की बात है कि वित्तमंत्री ने अपने बजट भाषण में विमुद्रीकरण का कोई उल्लेख नहीं किया जिससे बड़ी मात्रा में एकत्र किए गए काले धन को समाप्त कर आर्थिक कठिनाइयों पर विजय पाई जा सके और देश को समाजवाद की दिशा में आगे बढ़ाया जा सके।

पूरक बजट, जुलाई 1974

1974-75 के केंद्रीय बजट का उद्देश्य बढ़ते हुए सरकारी व्यय को रोकना पर्याप्त मात्रा में अतिरिक्त पूंजी जुटाना और घाटे की अर्थव्यवस्था पर निर्भरता को कम करना था। यह मुद्रास्फीति को रोकने के लिए अपनाई गई समूची अर्थनीति का एक भाग था। यदि 1974 के वर्ष के पिछले चार महीनों के मूल्यों के रुख को देखा जाए तो ज्ञात होगा कि अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति की दशा गंभीर बनी रही। जनवरी से मार्च के तीन महीनों में मूल्य औसत रूप से प्रति महीने 2 6 प्रतिशत बढ़े। इसकी तुलना में अप्रैल से जून 1974 के तीन महीनों में मूल्यों में औसत प्रति माह 2 6 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इससे योजना और गैर योजना व्यय में हुई वृद्धि के कारण मूल बजट का घाटा काफी अधिक हो जाने के खतरे का सामना करने के लिए वित्तमंत्री ने 31 जुलाई 1974 को लोकसभा में 232 करोड़ रुपये का एक पूरक बजट प्रस्तुत किया।

पांच ही महीनों में दोबारा प्रस्तुत किए गए कर प्रस्तावों में से 1974-75 में केंद्र को 123 करोड़ रुपये तथा राज्य सरकारों को लगभग 13 करोड़ रुपये का राजस्व मिलेगा। वित्तमंत्री द्वारा लगाए गए प्रस्तावित करों का ब्योरा इस प्रकार है :

प्रत्यक्ष कर

मुद्रास्फीति को रोकने के लिए अनुसूचित बैंकों द्वारा भारत में दिए जाने वाले ऋणों में उनको ब्याज की जो सकल रकम मिलती है, उस पर 7 प्रतिशत का कर लगाया जाए।

स्फीतिकारी स्थिति के परिणामस्वरूप भारी मात्रा में होने वाली अनार्जित आय को ध्यान में रखते हुए पूंजीगत लाभ करों में वृद्धि की जाए। गैर निगम कर-दाताओं के पूंजीगत लाभ से कटौती की रकम को, जहां इस लाभ का संबंध भूमि व मकानों से हो, 35 प्रतिशत से घटाकर 25 प्रतिशत किया जाए, अन्य परिसंपत्तियों के हस्तांतरण के कारण होने वाले लाभ के मामलों में यह कटौती घटाकर 50 प्रतिशत से 40 प्रतिशत की जाए।

दीर्घ अवधि के पूंजीगत लाभ पर कंपनियों के मामले में कर की मात्रा को बढ़ाने का प्रस्ताव रखा गया। यह वृद्धि भूमि तथा मकानों से मिलने वाले लाभ पर 45 प्रतिशत से बढ़ा कर 55 प्रतिशत की गई। दूसरे प्रकार की परिसंपत्ति के

हस्तान्तरण के कारण होने वाले लाभ पर लगाए जाने वाले कर की दर को 35 प्रतिशत से बढ़ा कर 45 प्रतिशत की गई। इन परिवर्तनों से पूरे वर्ष में लगभग 5 करोड़ रुपये का राजस्व प्राप्त होने की आशा थी।

अप्रत्यक्ष कर

वित्तमंत्री ने बुनियादी आवश्यकता की वस्तुओं पर नए कर नहीं लगाए। बजट में यह प्रयास किया गया कि जनता के अपेक्षाकृत निर्धनवर्ग पर कम से कम प्रभाव पड़े।

बजट में पहली बार के प्रोलेक्ट्स पर 50 प्रतिशत की दर से मूल्यानुसार शुल्क घोषित किया गया। कापियों, पाठ्य पुस्तकों आदि के लिए काम में आने वाले कागज को सहायक शुल्क से छूट दी गई है।

सिगरेट पर बुनियादी शुल्क की दर 75 प्रतिशत मूल्यानुसार से बढ़ा कर 85 प्रतिशत कर दी गई। पहली बार सूटिंग, गैबरडीन, हाथ के काम किए इम्प्रिंटेड अथवा कोटेड कपड़ों पर बुनियादी शुल्क के 33.33 प्रतिशत की दर से प्रभावी सहायक शुल्क लगाने का प्रस्ताव किया गया। कागज और गत्ते की विभिन्न प्रकारों पर इस वर्ष दूसरी बार शुल्क बढ़ा। बुनियादी शुल्क 33.33 प्रतिशत की दर से सहायक शुल्क लगाया जाएगा। प्लास्टिक की देशी तथा विदेशी वस्तुओं के मूल्य के अन्तर को कम करने के लिए सहायक शुल्क की दर को प्रभावी बुनियादी शुल्क को 20 प्रतिशत से बढ़ाकर 40 प्रतिशत करने का प्रस्ताव रखा गया। टायरों के मूल्यानुसार शुल्क में 5 प्रतिशत की वृद्धि की गई है। बिजली से चलने वाले करघों द्वारा सुपर फाइन व मध्यम प्रकार के कपड़े तैयार करने के काम आने वाले सूती धागों पर मूल्यानुसार शुल्क की दरें बढ़ाने का प्रस्ताव रखा गया।

सीमेंट पर अधिक आय होने के कारण बुनियादी शुल्क को 25 प्रतिशत के स्थान पर 30 प्रतिशत किया गया। तांबे, सरियों, छड़ों आदि पर 4000 रुपये प्रति मेट्रिक टन के हिसाब से बुनियादी उत्पादन शुल्क लगाने का प्रस्ताव रखा गया। स्टील इंगट और लोहे या इस्पात से बनी चीजों पर सहायक शुल्क की दरों को प्रभावी बुनियादी शुल्क के 75 प्रतिशत से बढ़ाकर 100 प्रतिशत और टिन प्लेटों और टिन की चादरों के सहायक शुल्क की दरों को प्रभावी बुनियादी शुल्क को 50 प्रतिशत से बढ़ाकर 70 प्रतिशत करने का प्रस्ताव किया गया।

मूल्यांकन

इस बजट में वित्तमंत्री ने धन एकत्र करने का एक अच्छा प्रयास किया है जिसमें सामान्य उपभोग की वस्तुएं अतिरिक्त करों के जाल से बाहर रखी गई। परंतु प्रो० [illegible] टिप्पणी बड़ी तीखी रही। उन्होंने कहा, 'यह बजट एक दिवालिया सरकार की मरणासन्न स्थिति में चीखने के समान है,

अतिरिक्त करों में से 84 प्रतिशत अप्रत्यक्ष हैं जिनसे उपभोक्ता वस्तुओं का मूल्य और बढ़ जाएगा, यह बजट काला धन और बढ़ाएगा।' वाणिज्य उद्योग महासंघ के अध्यक्ष श्री कृष्णकुमार बिड़ला ने ऋण पर ब्याज की दर एक प्रतिशत बढ़ाए जाने का विरोध करते हुए इसे मूल्य वृद्धिकारक बताया है। वास्तव में उत्पादन बढ़ाने के ठोस कदमों का कोई संकेत इस बजट में नहीं दिया गया, न ही अनावश्यक व्यय कम करने का प्रयास किया गया।

वास्तविकता यह है कि सामान्य उपभोक्ता वस्तुओं को नये कर की परिधि में न लाने का स्वागत सबने किया। आम धारणा यह है कि वित्तमंत्री ने अमीरों पर कर लगाया है। कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के उत्पादकों तथा व्यापारियों द्वारा कमाए जा रहे व्यापक मुनाफों को, जो प्रायः काले धन के रूप में बनते हैं, वित्तमंत्री ने बटोरने का प्रयास किया।

1975-76 का बजट

1975-76 के वित्तीय वर्ष में अर्थव्यवस्था के स्वस्थ विकास के लिए पूंजी लगाने की दर में वृद्धि लाकर उत्पादन बढ़ाने के उपाय किए गए। घाटे को कम करने तथा विकास के लिए साधन उपलब्ध करने की दृष्टि से वित्त मंत्री श्री सुब्रह्मण्यम ने नए वित्तीय वर्ष में 288 करोड़ रुपये के कर प्रस्ताव प्रस्तुत किए हैं। इनसे बजट का 464 करोड़ रुपये का घाटा 225 करोड़ रुपये रह जाएगा।

कर प्रस्ताव

वित्तमंत्री श्री सुब्रह्मण्यम ने 1975-76 के बजट में जो कर लगाए उनमें से कुछ प्रमुख प्रस्ताव इस प्रकार हैं चीनी पर उत्पादन शुल्क 30 प्रतिशत से बढ़ाकर 37.5 प्रतिशत कर दिया गया। यह खुले बाजार में बिकने वाली चीनी पर लागू होगा। इससे 30.25 करोड़ रुपये की अतिरिक्त आय होगी। सभी खण्डसारी इकाइयों पर अब सामान्य रूप से 17.5 प्रतिशत उत्पादन शुल्क लगेगा। इससे 19.60 करोड़ रुपये का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा। खुली चाय पर शुल्क 10 से बढ़ा कर 15 पैसे कर दिया गया। निर्यात की जाने वाली चाय पर कुछ रियायत भी दी गई है। कुल मिलाकर इससे 3.40 करोड़ रुपये का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा।

सीमेंट पर बुनियादी शुल्क 30 प्रतिशत से बढ़ाकर 35 प्रतिशत कर दिया गया। इससे 15.95 करोड़ रुपये का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा।

मोटर स्प्रिट पर शुल्क में 10 पैसे प्रतिलिटर की वृद्धि की गई। पैट्रोलियम उत्पादों पर शुल्क वृद्धि से 16 करोड़ रुपये का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा।

अनिर्मित तम्बाकू पर 3 रुपये प्रति किलो उत्पादन शुल्क लगाया गया। मशीनों से बनी बीड़ी पर उत्पादन शुल्क 3.60 रुपये से बढ़कर 4.60 रुपये प्रति हजार कर दिया गया। सिगरेट पर उत्पादन शुल्क में 5 प्रतिशत की वृद्धि की गई।

तबाकू तथा तबाकू उत्पादों पर शुल्क वृद्धि तथा युक्तिकरण के परिणामस्वरूप 26.88 करोड रुपये का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा।

यद्यपि एयरकंडीशनरों पर पहले ही 75 प्रतिशत का मूल्यानुसार शुल्क लगता है फिर भी इसको बढ़ाकर 100 प्रतिशत मूल्यानुसार करने का प्रस्ताव है। इसी प्रकार रेफ्रिजरेटिंग और एयरकंडीशनिंग सयत्रों और मशीनों के हिस्सों पर लगने वाले मूल्यानुसार शुल्क की दर को 100 प्रतिशत से बढ़ाकर 125 प्रतिशत करने का प्रस्ताव है। यह भी प्रस्ताव है कि शृगार और प्रसाधन सामग्री के बुनियाद शुल्क की 30 प्रतिशत की मूल्यानुसार मौजूदा दर को बढ़ाकर 40 प्रतिशत मूल्यानुसार कर दिया जाए।

बजट एक सक्षिप्त विवरण

(करोड रुपये मे)

	संशोधित अनुमान 1974-75	बजट अनुमान 1975-76		संशोधित अनुमान 1974-75	बजट अनुमान 1975-76
राजस्व प्राप्तिया			राजस्व खाते के भुगतान		
कर प्राप्तिया	6128	6552	सामान्य सेवाए	1538	1789
		+ 288	* रक्षा सेवाए	1952	2036
घटाइए			सामाजिक और		
कर-राजस्व मे			सामुदायिक		
राज्यो का हिस्सा	1224	1333	सेवाए	426	482
		+ 49	* आर्थिक सेवाए	802	956
केंद्र का निवल			राज्यो आदि को		
	—	—	सहायक अनुदान	1142	1228
कर राजस्व	4904	5219		—	—
		+ 239*	जोड राजस्व खाते		
			के भुगतान	5800	6491
कर	—	—		—	—
राजस्व	1581	1656	राजस्व अधिशेष	625	384
					+ 239
जोडिए केंद्र का	—	—		—	—
राजस्व	6485	6875*			
		+ 249			
	—	—			

पूंजी प्राप्तियां			पूंजी भुगतान		
ऋण वसूलियां	1230	1395	सामान्य सेवाएं	18	21
बाजार ऋण (निवल)	495	325	रक्षा सेवाएं	205	238
विदेशी ऋण (निवल)	595	613	सामाजिक और सामुदायिक सेवाएं	51	61
अन्य प्राप्तियां	677	1096	आर्थिक सेवाएं	1281	1213
जोड़ पूंजी प्राप्तियां	2997	3422	ऋण और अग्रिम	2692	2744
कुल प्राप्तियां	9482	10304	जोड़ पूंजी भुगतान	4247	4277
		— 239*			
			कुल भुगतान	10107	10768
कुल घाटा	625	464			
		–239*			
		225			

* बजट प्रस्तावों का प्रभाव

व्यय पक्ष

बजट में सर्वाधिक प्राथमिकता कृषि और बिजली को दी गई। कृषि तो हमारी अर्थव्यवस्था का आधार है ही, साथ ही बिजली भी अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है इसलिए वित्तमंत्री ने 1975-76 के लिए कृषि संबंधी कार्यों के लिए 270 करोड़ रुपये की राशि रखी, जबकि चालू वर्ष में संशोधित अनुमान के अनुसार इनके लिए 193 करोड़ रुपये व्यय किए गए। बिजली के उत्पादन के लिए 140 करोड़ रुपए उर्वरक उत्पादन के लिए 192 करोड़ रुपये, कोयले के उत्पादन बढ़ाने के लिए 229 करोड़, पैट्रोलियम और पैट्रोलियम उत्पादनों के विकास के लिए 170 करोड़ रुपये रखे गए हैं। ये सभी राशियां गत वर्ष से अधिक हैं। इसके अतिरिक्त इस्पात, सीमेंट, परिवहन और संचार व्यवस्था तथा शिक्षा, समाज कल्याण आदि विषयक कार्यक्रमों के लिए भी समुचित राशियां रखी हैं।

आगामी साल के बजट मे रक्षा सेवाओ के लिए चालू साल की तुलना मे 1 अरब 17 करोड रुपय की वृद्धि की गई है। चालू साल मे रक्षाव्यय 21 अरब 57 करोड रहा जबकि आगामी वर्ष के लिए 22 अरब 74 करोड रुपये की व्यवस्था की गई है। आगामी तालिका के अनुसार इसमे पूजीगत व्यय भी शामिल है।

आगामी साल के बजट के अनुसार भारत रक्षा पर अपनी कुल आय का केवल 21 प्रतिशत व्यय करेगा जबकि पाकिस्तान अपनी आय का 60 प्रतिशत से अधिक सेनाओ पर खर्च करता है। अगले वर्ष स्थल सेना के लिए 15 अरब रुपये, नौसेना के लिए 1 अरब 34 करोड रुपय तथा वायु सेना के लिए 4 अरब 44 करोड रुपये की व्यवस्था की गई है।

मूल्यांकन

वर्तमान कराधान व्यवस्था के अनुसार सरकार को 464 करोड रुपये का घाटा होने की सभावना है। अनेक कर प्रस्तावो म घाटा 239 करोड रुपए कम हो जाएगा और वर्ष के अत मे अनुमानत घाटा 225 करोड रह जाएगा। गत वर्ष सरकार ने बजट के 126 करोड रुपये के घाटे का अनुमान किया था परतु वर्ष के अत म सशोधित अनुमान के अनुसार घाटा 625 का होने का अनुमान है। सरकार का कहना है कि घाटे म यह वृद्धि कर्मचारियो को वेतन आयोग की सिफारिशो के आधार पर महगाई भत्ता देने रक्षा बजट बढ जाने आयातित तेल की कीमतें बढने, अन्न का आयात करने, सूखे के कारण राज्यो को अधिक सहायता दिए जाने, सरकारी क्षेत्र के उद्योगो, उर्वरक आयात एव केंद्रीय क्षेत्र की परियोजनाओ पर अधिक व्यय होने से अनिवार्य हो गई है।

किंतु यह बात विचारणीय है कि वित्तमत्री ने जिन वस्तुओ को सभवत विलासिता की वस्तुओ की कोटि म रखकर शुल्क बढाए हैं वे मध्यवित्त और अल्पवित्त लोगो के भी प्रयोग में आती है और विलासिता की वस्तुए प्राय औद्योगिक विकास का आधार होती है। जब तक ये वस्तुए उत्पादित नही की जायेगी, बिकेंगी नही तब तक औद्योगिकीकरण आगे नही बढ सकता और लोगो के रहन सहन का स्तर भी ऊचा नही हो सकता। फिर इन उद्योगो में लाखो लोगो का रोजगार देने की क्षमता भी है। अत व्यापक दृष्टि से भी इनकी उन्नति के अनुकूल परिस्थितिया बनाई जानी चाहिए।

28
घाटे की वित्त व्यवस्था

घाटे की वित्त व्यवस्था अथवा हीनार्थ प्रबंधन किसी भी देश के वित्तीय साधनों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। घाटे की वित्त व्यवस्था का सरल और संक्षेप में अर्थ यह है कि जब देश की सरकार का खर्च आय से अधिक बढ़ जाता है और उस बढ़े हुए खर्च को अन्य वित्तीय साधनों द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता तब सरकार उसे नए नोट छाप कर पूरा करती है। हीनार्थ प्रबंधन के अंतर्गत अर्थव्यवस्था में सरकार द्वारा नए नोट छापकर प्रसारित किए जाते हैं। अमरीका में तो सरकार द्वारा जनता से ऋण प्राप्ति को हीनार्थ प्रबंधन माना जाता है।

पाश्चात्य देशों की धारणा

पाश्चात्य देशों में हीनार्थ प्रबंधन का प्रयोग इस रूप में किया गया है, 'हीनार्थ प्रबंधन अर्थात राजस्व प्राप्तियों की तुलना में सरकार द्वारा व्यय की अधिकता, जिसमें कि पूंजीगत व्यय भी सम्मिलित है। चाहे इस व्यय की पूर्ति कर्जों द्वारा उपलब्ध प्राप्तियों से ही क्यों न हो।' इन देशों में यदि बजट के घाटे की पूर्ति ऋणों द्वारा की जाती है तो भी उसे हीनार्थ प्रबंधन माना जाता है। जैसाकि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं, अमरीका में हीनार्थ प्रबंधन का अर्थ सार्वजनिक ऋण से लिया जाता है। जब भी सरकार के खर्च आय से अधिक हो जाएं और जिनकी पूर्ति के लिए सरकार बैंकों या जनता से ऋण ले, घाटे की वित्त व्यवस्था मानी जाती है। डा० वी० के० आर० वी० राव ने इस विचार का विश्लेषण करते हुए कहा है, 'पाश्चात्य देशों में हीनार्थ प्रबंधन का प्रयोग उस वित्तीय प्रबंधन के लिए किया जाता है जिसमें सार्वजनिक आय और सार्वजनिक व्यय के मध्य जानबूझकर रखे गए अंतर अथवा बजट-घाटे को पूरा किया जाता है। इसलिए वित्त व्यवस्था के लिए ऋण की ऐसी व्यवस्था की जाती है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय के स्रोतों अथवा व्ययों में वृद्धि होती है। इसका यह अर्थ हुआ कि ऋण के फलस्वरूप बैंकों अथवा निजी व्यक्तियों के अतिरिक्त धन का उपभोग होने लगता है या

बैंकों के पास नवीन जमा के निर्माण का प्रयोग सरकारी प्रतिभूतियों के खरीदने में होता है।' इस धारण के अनुसार हीनार्थ प्रबंधन सार्वजनिक ऋण द्वारा घाटे की वित्त व्यवस्था करना है जिसका परिणाम मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होता है। यह वृद्धि चाहे निष्क्रिय पड़े धन को उपयोग में लाने से हो या बैंकों द्वारा साख निर्माण करने से हो।

किंतु भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था का प्रयोग कुछ भिन्न अर्थ में लिया गया है। भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था से अभिप्राय उस व्यवस्था से है जिसके द्वारा सरकार अपने घाटे को पूरा करने के लिए नोट निर्गमन करती है या केंद्रीय बैंक से ऋण की सहायता लेती है। भारतीय योजना आयोग ने घाटे की वित्त व्यवस्था की परिभाषा इस प्रकार से दी है 'बजट घाटे की वित्त व्यवस्था का प्रयोग बजट के घाटे द्वारा कुल राष्ट्रीय व्यय में प्रत्यक्ष वृद्धि को प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है। ये घाटे चाहे राजस्व खाते से संबंधित हों या पूंजी खाते से। ऐसी नीति अपनाने का सार यही होता है कि सरकार अपनी उस आय से अधिक मात्रा में व्यय करती है, जो उसे करारोपण, सार्वजनिक उपक्रमों से प्राप्त आय, जनता से प्राप्त ऋण निक्षेप एवं निधि तथा अन्य मदों में उपलब्ध होती है। सरकार इस घाटे की पूर्ति या तो अपने संचित कोषों को काम में लाकर करती है या बैंकिंग व्यवस्था (मुख्यत देश के केंद्रीय बैंक से और इस प्रकार साख का निर्माण करके) से उधार लेकर'।[1]

जब भारत सरकार को बजट का घाटा पूरा करने के लिए पर्याप्त राशि उपलब्ध नहीं हो पाती तो वह अपनी प्रतिभूतियां रिजर्व बैंक को हस्तांतरित कर देती है। रिजर्व बैंक इन प्रतिभूतियों के बदले में नोट छाप कर सरकार को देता है। इस प्रकार नई मुद्रा का निर्माण होता है। जब सरकार ऐसी नवीन पत्र मुद्रा से बजट के घाटे को पूरा कर अपने कार्यक्रमों को क्रियान्वित करती है तो यही व्यवस्था घाटे की वित्त व्यवस्था कहलाती है। इस संदर्भ में डा० राव ने उल्लेख किया है, 'जब सरकार जान बूझकर किसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए अपनी आय से अधिक व्यय करे और अपने घाटों की पूर्ति किसी भी ऐसी रीति से करे जिससे देश में मुद्रा की मात्रा बढ़े तो उसे हीनार्थ प्रबंधन कहना चाहिए।'

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि घाटे की वित्त व्यवस्था का आशय चाहे जो भी लिया गया हो उसमें निम्न दो बातों का संकेत अवश्य मिलता है

(1) सरकार जानबूझकर बजट में घाटा उत्पन्न करती है, तथा
(2) देश में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है।

घाटे की वित्त व्यवस्था के उद्देश्य

घाटे की वित्त व्यवस्था का उपयोग निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हो सकता है।

1 First Five Year Plan p 60

(1) मंदी काल को दूर करने के लिए : मंदी काल में मुद्रा का अभाव रहता है। मंदी काल को दूर करने के लिए हीनार्थ प्रबंधन को अपनाया जा सकता है। अमरीका में मंदी के दुष्परिणामों को दूर करने के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था का आश्रय लिया गया है।

(2) निजी विनियोग के अभाव को दूर करना : जब देश में निजी विनियोग पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होते तो उत्पादन की क्रिया मंद पड़ जाती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए सरकार नोटों का निर्गमन करके या ऋण लेकर सामान्य आय से अधिक व्यय करती है।

(3) युद्धकालीन व्यय की पूर्ति के लिए : युद्ध काल में बढ़े हुए व्यय को पूरा करने के लिए घाटे की अर्थव्यवस्था का प्रयोग किया जाता है।

(4) आर्थिक विकास हेतु : चूंकि अल्प विकसित एवं पिछड़े देशों में पूंजी की स्वल्पता होती है, अतः विकास के लिए वहां पर्याप्त मात्रा में पूंजी उपलब्ध नहीं हो पाती। विकास करने के लिए भारी मात्रा में व्यय करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में इन विकास योजनाओं का अर्थ प्रबंध करने के लिए सरकार को घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा लेना पड़ता है।

घाटे की वित्त व्यवस्था का उपयोग

घाटे की वित्त व्यवस्था का परिणाम मुद्रास्फीति व बढ़ती हुई महंगाई के रूप में सामने आता है। वैसे तो मूल्य वृद्धि के अनेक कारण होते हैं किन्तु घाटे की व्यवस्था इसका एक महत्वपूर्ण कारण है, क्योंकि घाटे को पूरा करने के लिए सरकार नोट छाप कर अथवा सार्वजनिक ऋण लेकर व्यय करने का मार्ग अपनाती है। परन्तु सदैव ऐसा ही हो यह आवश्यक नहीं है। यह बात मुख्यतः इस बात पर निर्भर करती है कि घाटे की वित्त व्यवस्था का उपयोग किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया गया है।

मंदी काल में घाटे की वित्त व्यवस्था

मंदी काल में घाटे की वित्त व्यवस्था अधिक उपयुक्त मानी जाती है। ऐसी स्थिति में हीनार्थ प्रबंधन से देश की अर्थ व्यवस्था में अनुकूल परिणाम निकलते हैं। मंदी काल में सामान्यतः मांग कम हो जाती है और लोगों की क्रयशक्ति घट जाती है, उत्पादन और रोजगार उत्तरोत्तर कम होता चला जाता है। कीन्स का यह मत सर्वथा उपयुक्त है कि अवसाद काल में प्रभावपूर्ण मांग कम हो जाने से रोजगार भी कम हो जाता है। मांग कम हो जाने के कारण उत्पादन पहले से भी कम हो जाता है और रोजगार पर और भी अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है। देश प्रभावपूर्ण मांग और रोजगार के निरंतर गिरने के विषैले कुचक्र में फंस जाता है।

इस स्थिति को सुधारने का केवल एक उपाय यही है कि लोक व्यय द्वारा उत्पादन को बढ़ाया जाए। सार्वजनिक निर्माणकार्य के रूप में सरकारी व्यय रोजगार तथा उत्पादन को प्रोत्साहन देने तथा लोगो में क्रय शक्ति बनाने में सहायक हो सकता है, इस प्रकार लोक व्यय के द्वारा तथा दूषित कुचक्र को तोडा जा सकता है तथा माग और रोजगार में वृद्धि की एक क्रमिक शृङ्खला को प्रारभ किया जा सकता है। क्रय शक्ति की वृद्धि समाज की माग को बढाने में समर्थ होती है, उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है तथा निजी उद्यम भी उत्पादन का कार्य प्रारभ कर देते हैं। इन क्रियाओ के परिणामस्वरूप रोजगार में वृद्धि होती है जो माग को बढाने में सहायक होता है। माग की इस वृद्धि से उत्पादन तथा रोजगार को पुन बढावा मिलता है और देश मदी काल के कुचक्र से मुक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में सार्वजनिक व्यय ही एक सतुलन कारक के रूप में कार्य करता है। परतु सरकारी व्यय की वृद्धि के लिए साधारण स्रोतो से आय पर्याप्त नही होती। फलत घाटे की वित्त व्यवस्था को ही अपनाना पडता है।

पाश्चात्य देश जो आज औद्योगिक अवस्था के शिखर पर पहुचे हुए हैं उन्होंने भी मदी काल के दुष्परिणामो से मुक्ति पाने के लिए हीनार्थ प्रबधन का ही सहारा लिया है। सयुक्त राज्य अमरीका ने मदी काल के दोषो से बचने के लिए हीनार्थ प्रबधन का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। मदी काल में हीनार्थ प्रबधन के प्रयोग की यह विशेषता है कि इसका मुद्रा स्फीतिजनक प्रभाव नही पडता। घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा देश की अर्थव्यवस्था में जो स्फीति उत्पन्न होती है देश के कुल उत्पादन को बढा देती है जिसके और स्फीतिजनक प्रभाव दृष्टिगोचर नही होते।

युद्धकाल मे घाटे की वित्त व्यवस्था

युद्धकाल में घाटे की वित्त व्यवस्था का आश्रय लेने से मुद्रा स्फीतिजनक परिणाम सामने आते हैं क्योकि कुल क्रय शक्ति (अर्थात मुद्रा की मात्रा) तथा वस्तुओ की माग में तो वृद्धि हो जाती है, परतु वस्तुओ की प्राप्ति में कमी हो जाती है। उत्पादन इसलिए घटता है क्योकि उत्पत्ति के ससाधन अर्थव्यवस्था में उत्पादन बढाने के लिए गतिशील किए जाते हैं।

आर्थिक विकास के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था

वर्तमान समय में आर्थिक विकास के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था का प्रयोग बहुत बढ गया है। यद्यपि प्राचीन अर्थशास्त्री घाटे की वित्त व्यवस्था को हानिकारक समझते थे, परतु आजकल इसे न केवल अपनाया ही जाता है वरन इसे आर्थिक विकास का एक अत्यत महत्वपूर्ण साधन माना जाता है। अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओ में देश के सुप्त और अविकसित साधनो का विदोहन करके देश का आर्थिक विकास करने के लिए अत्यधिक पूजी की आवश्यकता पडती है। ऐसी स्थिति में

सरकार घाटे की वित्त व्यवस्था का आश्रय लेती है और नोट छापकर विकास योजनाओं पर व्यय करती है। सरकार नई मुद्रा का जो सृजन करती है उससे समाज में क्रय शक्ति का प्रसार होता है। निर्मित मुद्रा के द्वारा जो नई माग पैदा होती है, यदि वह वस्तुओं की पूर्ति के बराबर ही है तब कीमतों का कोई डर नहीं रहता। किंतु वास्तव में यह होता है कि वस्तु की पूर्ति माग की अपेक्षा अक्सर कम रहती है। अत घाटे के वित्त प्रबंधन का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि कीमतें बढ जाती हैं, अर्थात मुद्रा स्फीतिजनक परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रवृत्ति को निम्न रूप में और भी बल मिलता है

(1) चूकि अल्प विकसित देशों म व्यक्तियों का रहन-सहन का स्तर नीचा रहता है इसलिए अर्थव्यवस्था में प्रविष्ट क्रय-शक्ति बचाने के स्थान पर व्यय कर दी जाती है और इसस अर्थव्यवस्था के अतर्गत पुन क्रय-शक्ति में और भी वृद्धि हो जाती है।

(2) अल्प विकसित देशों में चूकि तत्कालीन उपलब्ध सभी उत्पादन सुविधाओं का पहले से ही पूर्णतया उपयोग किया जा चुका होता है इसलिए घाटे की वित्त व्यवस्था उत्पादन को नहीं बढा पाती।

(3) अल्प विकसित देशों में सामान्यत सृजित मुद्रा का अधिकाश भाग ऐसी दीर्घकालीन प्रयोजनाओं पर लगाया जाता है जिनसे एक लबी अवधि के पश्चात प्रतिफल प्राप्त होते हैं। परिणामत सरकार के व्यय में वृद्धि (अर्थात समाज में क्रय शक्ति का प्रसार) तो वर्तमान समय में होती है, लेकिन उस व्यय के परिणाम स्वरूप उत्पादन में वृद्धि काफी समय के पश्चात होती है।

(4) चूकि अल्प विकसित देशो मे विदेशी विनिमय की भी कमी रहती है इसलिए विदेशो स उपभोग की वस्तुओं का आयात भी अधिक मात्रा में नहीं किया जा सकता।

उपरोक्त घटकों के परिणामस्वरूप एक ओर अर्थव्यवस्था में क्रय शक्ति का प्रसार होता है तो दूसरी ओर उत्पादन अथवा आयात में उतनी ही मात्रा में वृद्धि नहीं हो पाती। परिणामत मुद्रा स्फीतिजनक दबाव बढ जाते हैं। अत. स्पष्ट है कि (अ) विनियोगों और उनके प्रतिफल के बीच समय का अतर जितना अधिक होगा स्फीति की सभावना भी उतनी ही अधिक होगी तथा (ब) वस्तुओं की माग और पूर्ति में जितना अधिक असतुलन होगा उतनी ही अधिक कीमतों में वृद्धि होगी।

एक अल्प विकसित देश में मुद्रा स्फीति के बडे विनाशकारी परिणाम सामने आते हैं। आतरिक क्षेत्र में सपत्ति का वितरण अधिक विषम हो जाता है। लोगों में सट्टे की प्रवृत्तिया जोर पकडती हैं, बचत कम हो जाती है, विदेशी मुद्रा कोष में कमी होती है और साथ ही साथ विदेशी बाजारों में देश की साख गिर जाने का भय उत्पन्न हो जाता है। यह अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देती है और आर्थिक विकास

के लिए किए गए प्रयत्नों को व्यर्थ बना देती है। घाटे का वित्त प्रबंधन यदि मुद्रा स्फीतिजनक स्थितियां उत्पन्न करता है तो निश्चय ही यह खतरे की घंटी है। घाटे की वित्त व्यवस्था के मुद्रा स्फीतिक प्रभाव को सरकार निम्न उपायों के द्वारा निष्फल या कम कर सकती है

(1) ऐसे उत्पत्ति कार्यों पर व्यय किया जा सकता है जिनसे उत्पादन शीघ्र ही बढ़े।

(2) उपभोग की आवश्यक वस्तुओं, जैसे खाद्यान्न तथा कपड़ा आदि की पूर्ति में वृद्धि की जा सकती है जिससे उनके मूल्य में वृद्धि न होने पाए।

(3) वस्तु के वितरण व यातायात पर नियंत्रण और राशनिंग का उपयोग किया जा सकता है ताकि मूल्यों में वृद्धि को रोका जा सके और अनिवार्य वस्तुओं के उपभोग को कम किया जा सके।

(4) साख विस्तार पर मौद्रिक नियंत्रण लगाया जा सकता है। पूंजीगत वस्तुएं (मशीनरी इत्यादि) तथा उपभोग वस्तुओं की मात्रा में विदेशी सहायता से वृद्धि की जा सकती है।

(5) देश के लोगों की अधिक क्रय-शक्ति को कर, अनिवार्य बचत, सार्वजनिक ऋण आदि रीतियों के द्वारा कम किया जा सकता है।

(6) लोगों से इस प्रकार की अपील की जा सकती है कि वह नित्य प्रति के व्यय को कम करें और अपनी बचत बढ़ाए।

उपरोक्त साधनों का प्रभाव यह पड़ेगा कि (i) समाज के पास जो अतिरिक्त क्रय-शक्ति है वह सरकार के पास आ जाएगी जिससे मुद्रा स्फीति कम हो जाएगी, तथा (ii) वस्तुओं का उत्पादन बढ़ेगा जिससे उनका मूल्य नहीं बढ़ पाएगा।

अतः घाटे की वित्त व्यवस्था मुद्रा स्फीतिजनक शक्तियों को उत्पन्न करेगी या नहीं, यह कई बातों पर निर्भर होगा

(1) वे उद्देश्य, जिनके लिए घाटे की वित्त व्यवस्था अपनाई गई है।

(2) घाटे की वित्त व्यवस्था की मात्रा व सीमा।

(3) मुद्रास्फीति के प्रभावों को रोकने या निष्फल बनाने के लिए अपनाए गए उपाय।

डा० राव के शब्दों में 'घाटे का अर्थ प्रबंधन अपने में न अच्छा है और न बुरा और न ही घाटे के अर्थ प्रबंधन में मुद्रास्फीति स्वभावतः निहित है।'

मूल्य स्तर और घाटे की वित्त व्यवस्था

घाटे की वित्त व्यवस्था में समाज के कुल व्यय में वृद्धि हो जाती है। पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार यह वृद्धि तब होती है जब सरकार घाटे को पूरा

करने के लिए केंद्रीय बैंक या बैंकों से उधार लेती है या सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदने का कार्य प्रत्यक्ष रूप से बैंकों द्वारा किए जाने से जमाओं की उत्पत्ति हो जाती है अथवा कभी-कभी जनता स्वयं प्रतिभूतियों को क्रय करने के लिए अपनी नकद धनराशियों का उपयोग करती है और इस प्रकार जनता द्वारा संचित एवं निष्क्रिय पड़ी हुई नकद पूंजी सक्रिय हो जाती है। इन दोनों प्रवृत्तियों का यह परिणाम होता है कि अर्थव्यवस्था में कुल व्यय बढ़ने के कारण मूल्य स्तर ऊंचा होने लगता है। इस प्रकार, घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा उत्पन्न नई मुद्रा को जब सरकार व्यय करती है तो लोगों को अतिरिक्त क्रय-शक्ति प्राप्त हो जाती है और परिणामस्वरूप मूल्य ऊपर चढ़ने लगते हैं। यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि मुद्रा की पूर्ति केवल उतनी ही मात्रा में नहीं बढ़ती जितनी कि सरकार द्वारा घाटे की वित्त व्यवस्था की जाती है वरन यह मुद्रा बैंकों द्वारा साख-उत्पत्ति का आधार बन जाती है। इस प्रकार व्यवहार में घाटे की वित्त व्यवस्था की सीमा की अपेक्षा अर्थव्यवस्था में उत्पन्न की गई अतिरिक्त क्रय-शक्ति से अधिक हो जाती है। परिणामस्वरूप, मूल्य-स्तर अधिक ऊंचा उठ जाता है। इस प्रकार घाटे की वित्त व्यवस्था के दोनों ही दृष्टिकोणों से बढ़ते हुए व्यय से मूल्य स्तर बढ़ने लगता है। मंदीकाल में मूल्य-स्तर को ऊंचा उठाने की दिशा में घाटे की वित्त व्यवस्था एक महत्वपूर्ण शस्त्र है। परंतु जब शुल्क संचालन अथवा आर्थिक विकास के व्यय की पूर्ति के लिए इसका सहारा लिया जाता है तो इसमें मुद्रा-प्रसार के खतरनाक दोष दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

डा० राव ने लिखा है कि "घाटे की वित्त व्यवस्था से मूल्यों में थोड़ी सी वृद्धि अवश्य होती है, परंतु इससे घाटे की वित्त व्यवस्था को मुद्रा-प्रसार का कारण नहीं मान लेना चाहिए। मूल्यों में होने वाली वृद्धि मुद्रा-प्रसार का रूप उस समय लेती है जबकि मूल्य वृद्धि का दूषित चक्र आरंभ होता है, अर्थात एक बार मूल्यों में वृद्धि होने के बाद मूल्यों में पुन: वृद्धि होती है और यह क्रम निरंतर आगे चलता रहता है।

घाटे की वित्त व्यवस्था की सीमाएं

प्राय: यह प्रश्न पूछा जाता है कि घाटे की वित्त व्यवस्था की सुरक्षित सीमा क्या हो सकती है। इस संबंध में कोई निश्चित राशि का उल्लेख करना कठिन है। हीनार्थ प्रबंधन की सुरक्षित सीमा क्या होगी यह कई बातों पर निर्भर करती है।

(1) स्फीति संभावनाएं : घाटे की वित्त व्यवस्था की सुरक्षित सीमा का अनुमान उसके द्वारा उत्पन्न की गई मुद्रा स्फीतिक परिस्थितियों से लगाया जा सकता है। यह आंशिक रूप से इस बात पर निर्भर करता है कि घाटे की वित्त व्यवस्था किस मात्रा में की गई है। यदि घाटे की व्यवस्था कम मात्रा में की जाती

है और मूल्यों की वृद्धि पर कड़ा नियंत्रण रखा जाता है, जिससे स्फीतिजनक परि-स्थितियां उत्पन्न न हों तो घाटे की वित्त व्यवस्था सुरक्षित समझी जाती है।

(2) **व्यय की प्रकृति** : अनुत्पादक कार्यों की अपेक्षा उत्पादक कार्यों के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था का प्रयोग अधिक मात्रा में किया जा सकता है, क्योंकि वस्तुओं की मांग की वृद्धि के साथ-साथ देश में उत्पादन भी बढ़ जाता है। फलत वस्तुओं के मूल्य अधिक नहीं बढ़ पाते।

(3) **अतिरिक्त क्रय शक्ति को बटोरना** : घाटे की वित्त व्यवस्था का प्रभाव और उसकी सीमा सरकार द्वारा अतिरिक्त क्रय शक्ति बटोरने की क्षमता पर निर्भर करती है। यदि सरकार नव निर्मित मुद्रा को करारोपण द्वारा तथा अनिवार्य बचत की सहायता से शीघ्रता से पुन एकत्र कर सकती है तो वह बड़ी मात्रा में घाटे की वित्त व्यवस्था को अपना सकती है।

(4) **अतिरिक्त क्रय शक्ति को निष्क्रिय करना** घाटे की वित्त व्यवस्था की सीमा इस बात पर निर्भर करती है कि अतिरिक्त क्रय-शक्ति को निष्क्रिय बनाने के लिए सरकार ने कौन कौन से उपाय किए हैं ? इस संबंध में एक विधि भौतिक नियंत्रण अर्थात् मूल्य नियंत्रण और राशनिंग की है। यदि सरकार मूल्य नियंत्रण और राशनिंग की नीति अपनाती है तो ऐसी स्थिति में जनता एक निश्चित मूल्य पर वस्तु की एक निश्चित मात्रा खरीद सकेगी और समाज के पास जो अतिरिक्त मुद्रा रहती है वह बिना खर्च किए बेकार पड़ी रहती है। बैंकों के पास रहने वाले नकद कोष की मात्रा बढ़ाकर भी कुछ मुद्रा की मात्रा को निष्क्रिय किया जा सकता है।

(5) **मुद्राविहीन अर्थव्यवस्था** : यदि अर्थव्यवस्था का बहुत बड़ा भाग मुद्रा विहीन है तो घाटे की वित्त व्यवस्था का उपयोग अधिक मात्रा में किया जा सकता है, क्योंकि जैसे जैसे अर्थव्यवस्था का विकास होगा, मौद्रिक क्षेत्र बढ़ेंगे और मुद्रा की मांग बढ़ेगी। इस प्रकार मुद्रा बिना स्फीतिकारक प्रभाव उत्पन्न किए ही अर्थ-व्यवस्था में खप जाएगी।

(6) **जनता की मनोवृत्ति** अंतिम घटक जो घाटे की वित्त व्यवस्था की सीमा का निर्धारण करती है वह जनता की मनोवृत्ति है अर्थात् जनता कहां तक त्याग करने को तैयार है ? यदि आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल वातावरण उपस्थित किया गया है और जनता को प्रारंभिक कष्टों को सहन करने के लिए तैयार किया गया है तो घाटे की वित्त व्यवस्था अधिक मात्रा में की जा सकती है।

संक्षेप में वित्त व्यवस्था की सीमा विकास की आवश्यकता और उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों पर नियंत्रण करने की क्षमता पर निर्भर करता है। हां, यह ध्यान रखना चाहिए कि घाटे की वित्त व्यवस्था का उपयोग अर्थव्यवस्था में नियमित भोजन के तौर पर नहीं, वरन केवल एक दवाई के तौर पर करना चाहिए।

योजनाओं में घाटे की वित्त व्यवस्था

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में घाटे की वित्त व्यवस्था का संक्षिप्त विवरण निम्न तालिका से प्रदर्शित होता है

योजना काल मे घाटे की वित्त व्यवस्था

(करोड रुपयों में)

योजना	अनुमानित राशि	कुल वित्तीय साधनों का प्रतिशत	वास्तविक राशि	कुल वित्तीय साधनों का प्रतिशत
प्रथम योजना	290	14 प्रतिशत	420	21 प्रतिशत
द्वितीय योजना	1200	25 "	954	20 4 "
तृतीय योजना	550	7 "	113.3	13 "
1966-67 से 1968-69 तक की तीन वार्षिक योजनाए	335	7 1 "	682	10 1 "
चतुर्थ योजना	850	5 3 "	2060	12 7 "
पंचम योजना	2200	50 "	—	—

उपरोक्त सारिणी का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि हीनार्थ प्रबंध देश के विकास की योजनाओं में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। हीनार्थ प्रबंध की मात्रा में प्रत्येक योजना में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही है तथा अनुमानित और वास्तविक राशि में भी काफी अन्तर रहा है। प्रस्तावित अनुमान की तुलना में वास्तविक हीनार्थ प्रबंध अधिक मात्रा में हुआ है।

प्रथम योजना काल : प्रथम योजना काल में प्रारम्भिक अनुमानों के अनुसार 290 करोड रुपयों का हीनार्थ प्रबंध करने की व्यवस्था थी जो कि कुल वित्तीय साधनों का 14 प्रतिशत था। परन्तु प्रथम योजना काल में वास्तविक हीनार्थ प्रबंध 420 करोड रुपयों का हुआ जो कि कुल वित्तीय साधनों का 21 प्रतिशत था। अन्य साधनों से पर्याप्त मात्रा में वित्त प्राप्त नहीं हो सका। देश से बेरोजगारी की समस्या को दूर करने के लिए 11 सूत्री कार्यक्रम तैयार किया गया। अतः योजना के कुल खर्च में वृद्धि हुई थी जिससे हीनार्थ प्रबंध की मात्रा बढ़ी। प्रथम योजना एक सफल योजना थी। भारी मात्रा में हीनार्थ प्रबंध करने पर भी अर्थव्यवस्था पर उसका कोई प्रभाव पड़ा नहीं था। अनुकूल मौसम के कारण विभी क्षेत्र

मे उत्पादन मे वृद्धि का लक्ष्य 15 प्रतिशत से भी अधिक 19 प्रतिशत हुई। परिणाम-स्वरूप मूल स्तर मे 13 प्रतिशत की कमी हुई थी।

द्वितीय योजना काल प्रथम योजना की सफलता को देख कर द्वितीय योजना अत्यत महत्वाकाक्षी उद्देश्यो वाली बनाई गई थी। द्वितीय योजना मे 1200 करोड रुपये का अर्थात कुल वित्तीय साधनो का 25 प्रतिशत हीनार्थ प्रबध करने की अनुमानित व्यवस्था की गई थी। परतु योजना के अत में हीनार्थ की वास्तविक राशि 954 करोड रुपये आकी गई जो कि कुल वित्तीय साधनो का 20.4 प्रतिशत थी। द्वितीय योजना एक उद्योग प्रधान योजना थी। देश का तीव्र गति से औद्योगिकरण करने के लिए भारी मात्रा मे विनियोग करना था परतु योजना के मध्यकाल मे ही अनेक राष्ट्रीय एव अतर्राष्ट्रीय समस्याए उत्पन्न हो जाने के कारण द्वितीय योजना के निर्धारित उद्देश्यो म सफलता प्राप्त नही हो सकी। योजना के उद्देश्यो एव प्राथमिकताओ मे आवश्यक परिवर्तन करना पडा। प्रतिकूल मौसम के कारण खाद्य समस्या मूल्य वृद्धि, चीनी तथा पाकिस्तानी आक्रमणो के कारण सुरक्षा व्यय मे वृद्धि भुगतान सतुलन की समस्या आदि कारणो से द्वितीय योजना के काल मे उसका पुनर्वालोकन करना पडा। द्वितीय योजना काल मे मूल्य वृद्धि 30 प्रतिशत से 35 प्रतिशत तक रही। अत वित्तीय अनुशासन अपनाना आवश्यक हो गया। बढते हुए मूल्य को रोकने के लिए हीनार्थ प्रबध को नियत्रित रखा गया। परिणामस्वरूप योजना के अत मे वास्तविक हीनार्थ प्रबध की राशि 954 करोड रुपयो की ही हुई।

तृतीय योजना काल : तृतीय योजना मे हीनार्थ प्रबध की अनुमानित राशि 550 करोड रुपये निर्धारित की गई जो कि कुल वित्तीय साधनो का 7 प्रतिशत थी। चूकि प्रथम एव द्वितीय योजना म भारी मात्रा मे हीनार्थ प्रबध हो चुका था और देश की अर्थव्यवस्था मे मुद्रा प्रसार के लक्षण उत्पन्न होने लगे थे। मूल्यवृद्धि तेजी से होने लगी थी। प्रथम योजना मे जहा 13 प्रतिशत मूल्यो मे कमी हुई थी वहा द्वितीय योजना मे 30 प्रतिशत से 35 प्रतिशत वृद्धि हुई थी। अत तीसरी योजना मे हीनार्थ प्रबध को कम महत्व दिया गया। परतु फिर भी तीसरी योजना के अत मे हीनार्थ प्रबध की वास्तविक राशि 1133 करोड रुपये थी जो कि कुल वित्तीय साधनो का 13 प्रतिशत थी। तीसरी योजना मे हीनार्थ प्रबध की मात्रा म इतनी अधिक वृद्धि का कारण विदेशी आक्रमण के कारण सुरक्षा व्यय मे वृद्धि थी। इसके अतिरिक्त इस समय यह भी महसूस किया गया है कि भारी मात्रा मे हीनार्थ प्रबध किये बिना तेजी से आर्थिक विकास नही किया जा सकता।

तीसरी योजना के पश्चात 1 अप्रैल 1966 से चौथी पचवर्षीय योजना को चालू होना था। परतु अर्थव्यवस्था मे उत्पन्न विभिन्न आर्थिक समस्याओ के कारण चतुर्थ योजना का तीन वर्षों के कार्यक्रमो के स्थान पर वार्षिक योजनाए चालू की गई। इन तीनो वार्षिक योजनाओ मे कुल वास्तविक हीनार्थ प्रबध की राशि 682

करोड रुपये रही थी जो वि पुन वित्तीय साधनों का 10.1 प्रतिशत था। 1966-67 की वार्षिक योजना मे 189 करोड रुपया, 1967-68 म 224 करोड रुपया तथा 1968 69 में 209 करोड रुपयो का हीनार्थ प्रबंध हुआ था।

चतुर्थ योजना काल : चतुर्थ योजना का प्रारम 1 अप्रैल 1969 म हुआ। चतुर्थ योजना का मुख्य उद्देश्य 'स्थिरता के साथ विकास' रखा गया। अर्थव्यवस्था मे तेजी से बढते हुए मूल्यों को रोकने के लिए हीनार्थ प्रबंध की राशि कम से कम रखने का निश्चय किया गया क्योकि तीनो पचवर्षीय योजनाओं तथा तीन वार्षिक योजनाओं म भारी मात्रा म हीनार्थ प्रबंध हो चुका था। अर्थव्यवस्था म मुद्रास्फीति के लक्षण के रूप म मूल्यों मे तेजी म वृद्धि होने लगी थी अत. चौथी योजना के मध्यावधि मूल्यांकन के अनुसार चौथी योजना के प्रथम तीन वर्षों म 806 करोड रुपयों का हीनार्थ प्रबंध हो चुका था तथा अंतिम दो वर्षों मे 200 करोड रुपये प्रति-वर्ष के हिसाब से कुल 400 करोड रुपयों का हीनार्थ प्रबंध और होगा ऐसा अनुमान लगाया गया है। इस प्रकार चतुर्थ योजना काल म भी वास्तविक हीनार्थ प्रबंध की राशि अधिक ही रहेगी।

पचम योजना काल : पाचवी योजना के सन् 1974 से 79 के वर्षों मे (सन् 1972-73 के मूल्यों के आधार पर) 53,411 करोड रुपयों का विनियोजन किया जाएगा। इस म से सार्वजनिक क्षेत्र मे 37,250 करोड रुपये तथा निजी क्षेत्र मे 16,161 करोड रुपए व्यय किए जाएगे। पाचवी योजना मे सरकारी क्षेत्र के वित्त प्रबंध मे घाटे की वित्त व्यवस्था लगभग 2,200 करोड रुपयो की जाएगी। इस योजना काल में प्रस्तावित रूप मे इससे अधिक घाटे की वित्त व्यवस्था की सभावना है क्योकि पिछले वर्षों म केंद्र सरकार के बजट के घाटो मे अनुमान से कई गुना अधिक वृद्धि हुई है।

सन् 1973 74 मे सामान्य मूल्यो मे 20 से 30 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इसके परिणामस्वरूप योजना के लागत व्यय म और अधिक वृद्धि की सभावना है। लागत व्यय म यह अप्रत्याशित वृद्धि निश्चित रूप से सरकार को अधिक घाटे की वित्त व्यवस्था के लिए विवश करेगी।

घाटे की वित्त व्यवस्था का देश की अर्थव्यवस्था पर प्रभाव

हीनार्थ प्रबंध एक दुधारी तलवार के समान है। यदि इसका प्रयोग सतर्कता तथा सावधानी से सीमित मात्रा मे किया जाए तो बडे लाभप्रद परिणाम दे सकती है और यदि इसका प्रयोग अनियमित मात्रा मे असावधानी से किया जाए तो यही देश की अर्थव्यवस्था म भयंकर आर्थिक समस्याए उत्पन्न कर देती हैं। जिनका समा-धान करना सरकार, अर्थशास्त्रियों और समाज सुधारकों के लिए कठिन हो जाता है। पचवर्षीय योजनाओं मे भारी मात्रा मे हीनार्थ प्रबंध करने से देश की अर्थ-व्यवस्था पर निम्नलिखित मुख्य प्रभाव पडे हैं :

(1) मूल्यो मे वृद्धि निरतर तेजी मे हो रही है। चतुर्थ योजना के इन चार वर्षों म ही लगभग 40 प्रतिशत से 45 प्रतिशत मूल्य वृद्धि हुई है। सामान्य जनता को मूल्य वृद्धि के कारण काफी कठिनाइया का सामना करना पड रहा है। सरकार के लिए यह भारी समस्या हो गई है कि बढते हुए मूल्यो को कैसे रोका जाए?

(2) मूल्य वृद्धि के कारण सरकार के विभिन्न निर्माण तथा विकास के व्यय मे भी काफी वृद्धि हो जाती है। बढते हुए खच को पूरा करने के लिए पुन तदथ प्रवध करना जरूरी हो जाता है जिससे मूल्य वृद्धि को और बढावा मिलता है।

(3) मूल्य वृद्धि के कारण ही सरकारी, अर्धसरकारी एव निजी क्षेत्र म काम करने वाले कर्मचारियों के वेतन और महगाई भत्ते मे समय-समय पर वृद्धि होती रही है क्योकि जीवन निर्वाह के सूचनाक म एक निश्चित वृद्धि होने के पश्चात वेतन या महगाई भत्ता बढाना ही पडता है इससे भी सरकारी खर्च बढता है जिसे पूरा करने के लिए हीनार्थ प्रबध करना जरूरी हो जाता है। इससे वेतन प्रेरित मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो गई है।

(4) मूल्य वृद्धि के कारण उत्पादन लागता म वृद्धि होनी है। भारत म भी उत्पादन लागत बढाने से मूल्य बढे हैं और लागत प्रेरित वृद्धि मुद्रा प्रसार उत्पन्न हुआ है।

(5) रुपये की क्रय शक्ति मे उत्तरोत्तर कमी होने स उसके मूल्य की स्थिरता की समस्या भी उत्पन्न हो गई है। इसी कारण 1966 म रुपये का अवमूल्यन करना पडा था, और अवमूल्यन के पश्चात विदेशी बाजार में आशातीत वृद्धि नही हुई है। पुन रुपये के मूल्य का पुनर्विलोकन करने की आवश्यकता हो जाती है।

(6) सुरक्षा पर भारी मात्रा में व्यय चालू रखना अनिवार्य हो गया है क्योंकि विदेशी आक्रमणो का भय दूर नही हुआ है।

ऐसा लगता है कि देश की अर्थव्यवस्था 'हीनार्थ प्रबध एव मूल्यवृद्धि' के 'दूषित चक्र' में फस गई है। मूल्यवृद्धि के इस दूषित चक्र को तोडने के लिए सरकार द्वारा एक और मूल्य नियत्रण के विभिन्न प्रभावशाली उपाय काम मे लिए जा रहे हैं तो दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि आगे आने वाली विकास की योजनाओ मे हीनार्थ को कुछ समय के लिए त्याग दिया जाए या उसकी न्यूनतम राशि रखी जाए एव उस पर दृढ रहा जाय और उपयोग सबधी वस्तुओ के उत्पादन म वृद्धि को प्राथमिकता प्रदान की जाए।

29
राजकोषीय नीति तथा आर्थिक गतिविधियां

राजकोषीय नीति का आशय सरकार के व्यय, करों और ऋण संबंधी क्रियाओं से है। आर्थिक स्थायित्व और पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के ऐसे महत्वपूर्ण साधन के रूप में यह नीति आधुनिक युग में अधिकाधिक प्रयोग में लाई जाने लगी है। इस नीति की लोकप्रियता केवल समाजवादी देशों में ही नहीं अपितु पूंजीवादी देशों में भी असंदिग्ध है। युद्धोत्तरकाल में अत्यधिक मुद्रा प्रसार ने और १९३० की महान मंदी ने इसे बहुत प्रोत्साहन दिया है। वर्तमान युग में सरकारी बजट अर्थव्यवस्था के कुल अन्य व्यय का एक बड़ा प्रतिशत होता है जब कि अर्धशताब्दी पूर्व यह केवल निम्न प्रतिशत मात्रा हुआ करता था। आजकल राजकोषीय नीति पूर्व की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली बन गई है।

राजकोषीय नीति का अर्थ

राजकोषीय नीति का संबंध सरकारी कर तथा व्यय नीति के निर्धारण से है। आजकल प्रत्येक देश की सरकार की ऋणनीति राजकोषीय नीति का एक महत्वपूर्ण अंग बन गई है। जो देश विकास के लिए उद्यत हैं उन्हें वित्त की पूर्ति इन साधनों से करनी पड़ती है। ऐसे देशों में प्रति व्यक्ति आय कम होने, राष्ट्रीय आय की कमी तथा पूंजीसंचय के अभाव के कारण केवल करारोपण द्वारा ही वांछित वित्त की पूर्ति नहीं की जा सकती। फलस्वरूप कर, ऋण तथा घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा वित्त की पूर्ति की जा सकती है।

सरकार समय-समय पर अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर लगाती है तथा इनसे प्राप्त धन को अनेक मदों पर व्यय करती है। इनमें निजी उद्योगों व नगरपालिकाओं को दिये जाने वाले अनुदान भी सम्मिलित होते हैं। सरकार अपनी कर नीति के द्वारा यह निर्धारण करती है कि देश के लोगों से कितनी क्रय शक्ति प्राप्त की जाए तथा कैसे प्राप्त की जाए? राज्य की व्यय नीति में भी वे निर्णय सम्मिलित होते हैं जिनका संपूर्ण अर्थव्यवस्था में आय तथा व्यय के प्रवाह

पर गहरा प्रभाव पडता है। ऋणनीति का सबध भी लोगो के ब्याज का भुगतान करने, ऋण चुकाने की अवधि पूरी होने पर उनका भुगतान करने तथा भिन्न ऋणों को बाजार म चालू करने से सबधित निर्णयो से है। सक्षेप म, यह कहा जा सकता है कि राजकोषीय नीति का सबध मौलिक रूप म अर्थव्यवस्था मे आय को निजी व्यय तथा बचत के क्षेत्र से हटाकर सरकार की ओर माडना है।

राजकोपीय नीति के उद्देश्य

प्राचीन समय से ही राजकोषीय नीति मे कर का उद्देश्य आय प्राप्त करना तथा व्यय का उद्देश्य देश की सुरक्षा तथा आतरिक शाति बनाए रखना था। वैसे तो राजकोषीय नीति के उद्देश्य किसी देश की आर्थिक परिस्थितियो के प्रारूप पर निर्भर करते हैं परन्तु आजकल नियोजन वित्त सिद्धात के अनुसार इसके उद्देश्य अर्थव्यवस्था मे पूर्ण रोजगार स्थापित करना देश म आर्थिक विकास को सभव बनाना, आय का न्यायोचित वितरण करना आदि है। वर्तमान बजट अर्थव्यवस्था म स्थिरता और पूर्ण रोजगार की अवस्था को प्राप्त करने का एक मुख्य लक्ष्य है तथा विश्व के सभी देशो मे बजट द्वारा इस अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

20वी शताब्दी के प्रारभ म सरकारी बजट कुल आय तथा व्यय का एक छोटा भाग हुआ करता था। राजकोषीय नीति का अर्थव्यवस्था म, आर्थिक क्रियाओ का नियमन करने मे कोई विशेष प्रभाव नही था। किंतु वर्तमान परिस्थितियो में सरकारी बजट का अर्थव्यवस्था मे कुल आगम तथा रोजगार के निर्धारण मे एक महत्वपूर्ण स्थान है।

राजकोपीय नीति के अग

राजकोषीय नीति के विभिन्न अग इस प्रकार हैं

कर-नीति · सरकार द्वारा आरोपित करो का समाज के विभिन्न वर्गों पर समान प्रभाव नही पडता है। करो की प्रत्येक वृद्धि अथवा कमी से उपभोग, उत्पादन बचत तथा विनियोग म भी कमी अथवा वृद्धि होती रहती है। इसका कारण यह है कि जनता को पहले से अधिक अथवा कम आय सरकार को देनी पडती है। इसके परिणामस्वरूप अन्य सभी मदो पर कमी करना आवश्यक होता है। सरकार द्वारा लगाए जाने वाले ऊचे करो का औद्योगिक उत्पादन पर प्रभाव पडता है जिससे रोजगार की मात्रा मे भी कमी की सभावना रहती है। वस्तुओ की कीमतो म वृद्धि होने से निर्यात पर भी प्रभाव पडता है। फलस्वरूप देश की मुद्रा की विनिमय दर गिरने लगती है और आर्थिक विकास के अवरुद्ध होने की स्थिति आ जाती है। इसका कारण यह है कि अधिक आय वालो की आय का अधिकाश भाग कर के रूप

में चला जाता है और उन्हें पुरानी औद्योगिक इकाइयों के विकास तथा नवीन इकाइयों को स्थापित करने की प्रेरणा नहीं मिलती। करों की मात्रा कम करने से लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि होती है। उद्योगपतियों को उत्पादन बढ़ाने का उत्साह बढ़ता है तथा बचत और विनियोगों को भी प्रोत्साहन मिलता है। अत एव प्रजातांत्रिक विकासशील अर्थव्यवस्था में करों की दर सीमित रखनी चाहिए अन्यथा अर्थव्यवस्था का विकास संकुचित तथा सीमित रूप में होगा। समाजवादी तथा अनियंत्रित अर्थव्यवस्था में जहां मांग एवं पूर्ति का मूल्य निर्धारण में विशेष महत्त्व नहीं होता कर-नीति जन कल्याण की दृष्टि से निर्धारित न होकर मुख्यतः शासक दल की भावनाओं को संतुष्ट करने के लिए निर्धारित होती है।

विगत वर्षों में कर-नीति में अनेक दोष उत्पन्न हो गए हैं। फलस्वरूप करों की वसूली कठिन हो गई है और कर व्यवस्था में भ्रष्टाचार और पक्षपात बढ़ता गया है। विश्व के अनेक देशों की कर व्यवस्था इस रोग से पीड़ित है। कर वसूली भी अनुमान से कम होने से नए कर लगाना आवश्यक हो जाता है तथा पुराने करों की दरों में परिवर्तन करना पड़ता है जिससे अर्थव्यवस्था के विकास को उचित प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है। अक्सर यह देखा जाता है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था में कर नीति 'एक से छीन कर दूसरे को देने' की होती है किंतु अक्सर यह देखा गया है कि उद्योगपति मूल्य प्रणाली को इस प्रकार समायोजित करते हैं कि कर का अधिकांश भार उपभोक्ताओं पर डाल देते हैं। इससे निम्न तथा मध्यमवर्ग की आर्थिक स्थिति बिगड़ती जाती है। अतः संतुलित आर्थिक विकास के लिए कर-नीति लोचदार एवं व्यावहारिक होनी चाहिए तथा उसका संचालन सुव्यवस्थित रूप में तथा दृढ़तापूर्वक किया जाना चाहिए, जिससे कि उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके।

व्यय नीति : सरकारी व्यय की मदें आय की तुलना में अधिक निश्चित होती हैं। प्रजातांत्रिक देशों में सरकार अपनी आय को इस प्रकार व्यय करती है जिससे लोगों को अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो तथा आर्थिक विकास तथा आय के अधिकतम स्रोत निर्मित हो सकें। व्यय करने की व्यवस्था को तरह सरल तथा सुव्यवस्थित बनानी चाहिए। ऐसा नहीं करने से निश्चित राशि न केवल अनुचित क्षेत्रों एवं अवांछित हाथों में चली जाती है बल्कि व्यय का कोई परिणाम भी प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार करोड़ रुपये व्यय करने पर भी देश में रोजगार, उत्पादन अथवा यातायात व्यवस्थाओं में कोई सुधार के संकेत नहीं दीखते।

कभी-कभी सरकारी व्यय आय से अधिक हो जाता है। यह न तो अव्यवस्था का चिह्न होता है और न दोषपूर्ण नीति का द्योतक। जो देश विकासशील अवस्था में होते हैं उनमें तो घाटे के बजट बनाने की परंपरा पाई जाती है। घाटे की व्यवस्था दो तरह से की जाती है - प्रथम, नोट निर्गमन करके और द्वितीय, ऋण प्राप्त करके। ये दोनों नीतियां एक दूसरे की विरोधी हैं तथा उनके परिणाम भी प्रायः विपरीत ही निकलते हैं।

उपरोक्त घाटे की वित्त व्यवस्था की दोनों रीतियों में नोट निर्गमन द्वारा घाटे की पूर्ति करने की रीति प्रायः मुद्रा प्रसार की अवस्था को उत्पन्न करती है क्योंकि सरकार इस धन से सामाजिक कल्याणकार्यों (बहुमुखी योजना रेल, सड़क, नहरें आदि) को सपादित करती है जिनका प्रतिफल तत्काल नहीं मिलता बल्कि दीर्घकाल में मिलता है। अतः अधिक मुद्रा के चलन के साथ-साथ उत्पादन में तात्कालिक वृद्धि नहीं होती। फलस्वरूप चलन स्फीति की गति और अधिक बढ़ जाती है। सरकार का व्यय यदि ऐसे उद्योगों के प्रोत्साहन के लिए हुआ हो जिनमें तत्काल फल मिलने की सभावना हो अर्थात शीघ्र लाभ पहुंचाने वाले हों तो स्फीति बुरी नहीं होती। इसका कारण यह है कि मुद्रा की वृद्धि की पूर्ति उत्पादन वृद्धि से ही हो जाती है। इन बातों से यह स्पष्ट है कि घाटे की अर्थव्यवस्था अपनाते समय यदि इस बात का ध्यान में रखा जाए कि उस राशि का विनियोजन केवल दीर्घकालीन लाभ देने वाले क्षेत्रों में ही नहीं हो रहा है तो कीमतों में स्थायित्व बनाए रखा जा सकता है। इस दृष्टि से कुल राशि का दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन उद्योगों में सतुलित विनियोग करना आवश्यक है।

बजट के घाटे की पूर्ति के लिए ऋण लेने का कदम उठाया जाता है तो इससे व्यापारिक बैंकों के निक्षेप कम होने लगते हैं। इससे उनकी साख निर्माण की शक्ति घट जाती है। अतः यह क्रिया मौद्रिक अधिकारियों के सहयोग से ही पूर्ण की जानी चाहिए। सरकार द्वारा लिए जाने वाले ऋणों पर प्रायः ब्याज दर कुछ अधिक दी जाती है ताकि ऋणों की पूर्ति सरलता से हो सके। सरकारी प्रतिभूतियां बहुत तरल संपत्ति नहीं होतीं क्योंकि उनकी कीमतों में उच्चावचन होते ही रहते हैं। अतः बैंकों के लिए आकर्षण की वस्तु नहीं होती है। सरकार को मुद्रा बाजार में धन की स्थिति को देखते हुए ही ऋण लेने चाहिए। सरकार द्वारा लिए गए ऋण मुद्रा तथा साख की स्फीति को कम करने के लिए अत्यन्त ही उपयोगी हैं इसलिए इनके माध्यम से बढ़ते हुए मूल्यों को रोका जा सकता है।

राजकोषीय नीति तथा आर्थिक स्थिरता

आर्थिक स्थिरता की प्राप्ति के लिए राजकोषीय नीति का जो स्वरूप अपनाया जाता है उसे प्रतिचक्रीय राजकोषीय नीति कहते हैं। राज्य अपनी आय से अधिक व्यय करके अर्थव्यवस्था में आय, रोजगार तथा आर्थिक क्रियाओं के विस्तार करने में सहायक सिद्ध हो सकता है तथा व्यय में कमी करके तथा करों में वृद्धि करके अर्थव्यवस्था में रोजगार, आय, तथा आर्थिक क्रियाओं के स्तर में गिरावट कर सकता है। इस प्रकार राज्य अपनी बजट नीति द्वारा अर्थव्यवस्था का नियमन करता है। आर्थिक स्थिरता की प्राप्ति के लिए यदि राजकोषीय नीति को एक मंत्र के रूप में प्रयोग किया जाता है तो राज्य द्वारा अपने बजट के आधार तथा समय का नियमन

करना अनिवार्य है। संक्षेप में आर्थिक स्थिरता के लिए बजट नीति तभी सफल हो सकती है, जब कि राज्य को यह ध्यान रहे कि किस समय अपनी आय की तुलना में अधिक व्यय तथा किस समय अपनी आय की तुलना में कम व्यय करना चाहिए। यदि मुद्रा प्रसार की अवस्था में राज्य घाटे के बजट नीति अपनाकर आय की तुलना में अधिक व्यय करने लग जाए तो राजकोषीय नीति आर्थिक स्थिरता के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है, क्योंकि मुद्रा प्रसार की दशा में व्यय को बढ़ाने की समस्या नहीं बल्कि अधिक व्यय को कम करने की समस्या होती है। राज्य इस स्थिति का नियमन बेशी के बजट बनाकर तथा व्ययों में भारी कमी करके तथा करों में वृद्धि करके अपनी आय को बढ़ाता है। करों की वृद्धि का परिणाम होगा कि लोगों की उपभोग्य आय में कमी होगी, इससे उनकी व्यय करने की शक्ति कम हो जाएगी तथा अर्थव्यवस्था सतुलित स्थिति की ओर अग्रसर होगी। इसके विपरीत मंदीकाल में बेशी के बजट बनाने से अर्थव्यवस्था में मंदी का रोग और अधिक बढ़ने लगेगा तथा राजकोषीय नीति आर्थिक स्थिरता को प्राप्त न करके वर्तमान आर्थिक अस्थिरता को और अधिक उग्र बना देगी। परंतु यह नीति मुद्रा प्रसार की अवस्था में उपयुक्त साधन का काम दे सकती है।

सरकार को अपनी वर्तमान बजट सतुलन की नीति के स्थान पर बजट को व्यापार चक्र की समस्त अवधि में सतुलित रखने का प्रयास करना चाहिए, ताकि आर्थिक स्थिरता की सहज प्राप्ति हो सके। इस नीति के अनुसार राज्य को अत्यधिक आर्थिक समृद्धि तथा अति पूर्ण रोजगार की अवधि में बेशी बजट तथा बेरोजगारी और मंदी की अवस्था में घाटा बजट प्रस्तुत करने चाहिए जिससे आर्थिक स्थिरता को प्राप्त किया जा सके। इसका तात्पर्य यही है कि व्यापार चक्र की अवधि में अधिकांश समय में असतुलित बजट रहना चाहिए। पूर्ण रोजगार की स्थिति में ही सतुलित बजट उचित होता है।

स्फीति विरोधी राजकोषीय नीति

अर्थव्यवस्था में स्फीति की रोकथाम के लिए तथा आर्थिक स्थिरता प्राप्त करने के लिए राजकोषीय नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। स्फीति को रोकने के लिए राजकोषीय नीति का निम्नलिखित तीन प्रकार से उपयोग किया जाता है

(1) सार्वजनिक व्यय

जब वस्तु मूल्यों में लगातार वृद्धि हो रही हो तो मौद्रिक नीति (साख नियंत्रण आदि) के साथ-साथ विस्तृत रूप में राजकोषीय नीति का प्रयोग भी किया जाता है। सर्वप्रथम तो सरकार को अपने प्रशासन व्यय के प्रत्येक मद में यथासंभव मितव्ययिता करनी चाहिए। जहाँ तक हो सके कम महत्त्व वाली योजनाओं को स्थगित करके तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में नई पूंजी केवल अनिवार्य

होने पर ही लगाई जानी चाहिए। यदि घाटे की अर्थव्यवस्था अपनाई जा रही हो तो ऐसी स्थिति में उसे बंद कर देना चाहिए। सरकारी व्यय में कमी करने के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि पुराने करों में वृद्धि करके तथा कुछ नए कर लगाकर समाज के लोगों के हाथों से अतिरिक्त क्रय शक्ति को खींच लिया जाए इन सब कार्यवाहियों का उद्देश्य सरकारी व्यय में कमी करना है, इससे भविष्य में मुद्रा का चलन कम होकर स्फीति की अवस्था समाप्त हो जाएगी।

परंतु सरकारी व्यय म कमी करने की अपनी निश्चित सीमाए होती हैं। संकट काल की स्थिति म विशेषकर युद्ध के समय तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति के कारण यह संभव नहीं होता कि सरकारी व्यय मे कमी की जा सके।

(2) कर

करों की वृद्धि से स्फीति को रोका जा सकता है। करों की वृद्धि के प्रमुख दो उद्देश्य होने चाहिए प्रथम, कर इस प्रकार लगाए जाने चाहिए, जिसस अर्थ-व्यवस्था के संपूर्ण उपभोग-व्यय को कम किया जा सके तथा दूसरा, निवेश व्यय मे भी वृद्धि नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इस अवस्था में साधनों की कमी होती है। साथ ही मौद्रिक निवेश में वृद्धि होने के लिए वास्तविक निवेश में कोई वृद्धि नहीं होगी। स्फीति काल में अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति होने से वस्तुओं की पूर्ति में और अधिक वृद्धि करना कठिन हो जाता है तथा मूल्यों को स्थिर रखने का एकमात्र उपाय वस्तुओं, विशेषकर उपभोग वस्तुओं की मांग को सीमित रखना है। किंतु इसके लिए यह आवश्यक है कि लोगों की आय इतनी कम हो जाए कि वे कुल उपभोग पर केवल इतना मौद्रिक व्यय करें जिससे कुल मांग एवं पूर्ति में संतुलन स्थापित हो जाए। आय कर में इस प्रकार वृद्धि की जाए जिससे निम्न तथा मध्यमवर्ग के लोगों पर इसका भार पड़ सके, बिक्री कर तथा उत्पादन करों में वृद्धि करके समाज के कुल उपभोग की पूर्ति के अनुसार कम किया जा सकता है। अंत में स्फीति के समय राजकोषीय नीति के अनुसार करों की गहराई तथा विस्तार में वृद्धि की जानी चाहिए।

(3) ऋण

आजकल ऋण को राजकोषीय नीति का एक अंग माना जाने लगा है। स्फीति काल में लोगों की मौद्रिक आय में वृद्धि हो जाती है। अतः केवल सरकारी व्यय में कमी तथा करों में वृद्धि करके इस समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। करों में वृद्धि करने से जनता द्वारा विरोध किया जाता है। इस कारण सरकार करों में अधिक वृद्धि नहीं कर सकती है। प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था म इस प्रकार की करों की वृद्धि से सरकार जनता का विश्वास खो बैठती है। अत ऐसे देशों में करों की वृद्धि किसी निश्चित सीमा में ही की जानी चाहिए। यदि सामान्य करों में वृद्धि भी की जाती है तो इससे अपवंचन की क्रियाएं बढ़ने लगती हैं।

उपरोक्त बातों को दृष्टिगत रखते हुए सरकार को जनता के पास से अतिरिक्त धनराशि खींचने के लिए एक व्यवस्थित ऋणयोजना चालू करनी चाहिए। सरकार की यह ऋणयोजना स्फीति निवारक सिद्ध होगी। विभिन्न प्रकार के बचत-पत्र निर्गमित किए जाते हैं जिन पर उचित ब्याज के अतिरिक्त इनाम की व्यवस्था भी की जा सकती है। *सामूहिक बचत अभियान चलाए जा सकते हैं* जिसमें लोगों को बचत करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। अनिवार्य बचत योजना को लागू करके भी गंभीर स्फीति की अवस्था पर नियंत्रण किया जा सकता है। इंग्लैंड भारत तथा विश्व के अन्य देशों में पुरस्कार बचत बाँड योजना स्फीति को रोकने के लिए लागू की गई है। भारत में यह योजना जो 1960 में लागू की गई थी, सफल नहीं हो सकी। केवल इतना ही नहीं, प्रब्याजि पुरस्कार बाँड योजना जो 1960 ई० में लागू की गई थी, पूर्ण सफल नहीं हो सकी।

मंदी काल में राजकोषीय नीति

मंदी अथवा अवसाद की स्थिति में देश की संपूर्ण अर्थव्यवस्था की स्थिति अत्यंत दयनीय हो जाती है। आर्थिक क्रियाएं प्रायः सुप्तावस्था में हो जाती हैं तथा विनियोजन की वृत्ति समाप्त हो जाती है। जनता के पास क्रय-शक्ति की अत्यंत ही कमी हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में सरकार का करों में छूट देने का क्रम जारी हो जाता है तथा अतिरिक्त मुद्रा निर्गमित करके आय की कमी की पूर्ति की जा सकती है।

मंदी का प्रभाव कम करने के लिए सरकार रोजगार के अनेक नवीन स्रोत आरंभ कर सकती है। उदाहरणार्थ, सरकार सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर अधिक व्यय करके अर्थव्यवस्था में समस्त माँग के स्तर को बढ़ाती है, जिससे अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की परिस्थिति में बचत तथा निवेश में संतुलन प्राप्त कर सके। सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर व्यय करने से एक लाभ यह होगा कि अर्थव्यवस्था में समस्त व्यय में *आरंभिक व्यय के गुणकगुणा वृद्धि हो जाती है तथा अर्थव्यवस्था चैतन्य* की ओर गतिमान हो जाती है। सरकार निजी क्षेत्र में भी निवेश की मात्रा में वृद्धि करके और रोजगार तथा आय में वृद्धि करके उपभोग में भी वृद्धि कर सकती है। इस प्रकार के निवेश वृद्धि प्रभाव संचयी होंगे तथा अर्थव्यवस्था में मंदी का रोग शीघ्रातिशीघ्र दूर हो जाएगा। यह करों में छूट देकर भी किया जा सकता है। निगम कर, परिसंपत्ति कर, आय कर, लाभांश कर इत्यादि में कमी करके निजी क्षेत्र के उद्योगपतियों को नए उद्योगों का निर्माण तथा पुराने उद्योगों के विस्तार के लिए *प्रोत्साहित किया जा सकता है।* इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा लिए गए पुराने ऋणों का अवधि से पूर्व भुगतान किया जाना चाहिए। ऐसा करने से लोगों की आय में वृद्धि होगी जिससे उनके उपभोग व्यय में कुछ वृद्धि होने से अर्थव्यवस्था में आय तथा रोजगार में भी वृद्धि हो सकेगी।

अल्पविकसित देश तथा राजकोषीय नीति

किसी देश मे आर्थिक विकास करने के लिए लोगों तथा उनकी सरकारों के पास अनेक उपाय हैं, परंतु उनमें से एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपाय सरकार की राजकोषीय नीति है। विकासशील देशों में उनकी पूंजी निर्माण की समस्या का समाधान करने में राज्यवित्त का एक महत्वपूर्ण स्थान है। किसी देश में पूंजी-निर्माण या पूंजी-संचय करने में आजकल सरकार की भी काफी जिम्मेदारी है। यह कार्य लोगों की बचत करने तथा खर्च करने की प्रवृत्तियों पर नहीं छोड़ा जा सकता। इसमें राजकोषीय नीति का मुख्य काम यह है कि वास्तविक आय में जो वृद्धि हो उसका अधिक से अधिक भाग बचा लिया जाए और यथासंभव कम से कम भाग तत्कालीन उपयोग बढ़ाने में लगाया जाए। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ यह है कि सरकार राजकोषीय नीति द्वारा, अर्थात् कर लगाकर या ऋण लेकर या अपने खर्च को समुचित मात्रा में घटा कर या बढ़ा कर ऐसा करे कि देश में बचत बढ़े और उपभोग पर व्यय कम हो।

संक्षेप में विकासशील देशों में राजकोषीय नीति का उपयोग निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है

(1) आर्थिक विकास के लिए आवश्यक वित्तीय साधन जुटाना
(2) आंतरिक तथा विदेशी प्रभाव से मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों को नियंत्रित करना,
(3) उपभोग को नियंत्रित करना, जिससे आर्थिक साधन उपभोग से हटा कर विनियोग में प्रवाहित किए जा सकें,
(4) बचत तथा विनियोग को बढ़ाने के उपाय करना
(5) आर्थिक साधनों को जनता से लेकर सरकार को हस्तांतरित करना, जिससे सार्वजनिक विनियोगों को प्रोत्साहन मिले,
(6) विनियोग के ढांचे को समुचित रूप में परिवर्तित करना,
(7) आर्थिक विषमताओं को कम करना।

सीमांत बचत प्रवृत्ति आर्थिक विकास का एक अत्यावश्यक तथा आधारभूत निर्धारित तत्व है। परंतु अधिकतर यह देखा गया है कि उन्नत देशों की देखादेखी अल्पविकसित देशों के लोगों की उपभोग प्रवृत्ति बढ़ती जाती है जिससे उनकी बचत करने की शक्ति कम हो जाती है और इस प्रकार उनमें रोजगार बढ़ने में यह एक रुकावट बन जाती है। अब राजकोषीय नीति से इस रुकावट को दूर करना है। इसका एक उपाय तो यह है कि कर लगाकर लोगों का उपभोग व्यय कम कर दिया जाए। इस प्रकार मानो उन्हें अनिवार्यतः खर्च कम करना पड़ता और बचत बढ़ जाती। अर्थशास्त्र में आरोपित बचत का प्रयोग इसी अर्थ में होता है।

मुद्रास्फीति कर लगाकर लोगों को बचत करने पर विवश करती है। करों द्वारा कराई गई मजबूरी बचत स्फीति के कारण होने वाली बचत से श्रेष्ठ है, क्योंकि मुद्रास्फीति तो एक सीमा के बाद लोगों पर एक ऐसा प्रभाव डालती है कि बचत करने की शक्ति मात्र समाप्त हो जाती है। लोग अपनी संचित पूंजी का उप-भोग करने लग जाते हैं। स्फीति के कारण हुई आरोपित बचत अर्थव्यवस्था के उत्पादन के ढांचे को विकृत या खराब कर देती है। इससे विलास पदार्थों के उत्पादन करने वाले उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि स्फीति काल में आय गरीबों के हाथ से निकलकर धनवानों के पास चली जाती है। इसलिए ऐसी अवस्था में बचत फिजूल खर्ची का रूप धारण कर लेती है।

करों द्वारा बचत करने के संबंध में यह आपत्ति उठाई जाती है कि अब लोग स्वयं बचत नहीं करेंगे और करारोपण के कारण लोग शायद अपनी बचतें कम कर दें परन्तु इसका कोई भय नहीं होना चाहिए कि सरकार द्वारा की गई अनिवार्य सामू-हिक बचत के कारण लोगों द्वारा की जाने वाली व्यक्तिगत स्वेच्छाकृत बचतें नष्ट हो जाएगी। अक्सर यह देखा गया है कि लोग कर भी देते रहते हैं और बचत भी करते रहते हैं। किंतु बचत को प्रोत्साहन देने के लिए यह आवश्यक है कि कर आय पर नहीं वरन खर्च पर लगाए जाने चाहिए। लोगों के खर्च पर उत्पादन कर तथा अन्य परोक्ष कर तो पहले भी लगे होते हैं। अतः निजी उपभोग पर एक व्यापक कर लगाया जाए। इस प्रकार कोई व्यक्ति अपनी आय का जो भाग बचत कर ले, उस पर आय कर में छूट दी जा सकती है, जैसा कि आजकल आय पर कर लगाते समय जीवनबीमा किस्त पर छूट दी जाती है। यदि करों द्वारा बचत न करनी हो तो जबरी कर्ज या आरोपित ऋण भी लिए जा सकते हैं। ये भी अनिवार्य बचत की तरह ही होते हैं।

उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राजकोषीय उपायों का समुचित प्रयोग होना चाहिए। क्रियात्मक वित्त के सिद्धांत के अंतर्गत सार्वजनिक आय और व्यय की नीतियों का स्वरूप क्रियात्मक होना चाहिए। लोक व्यय का उद्देश्य केवल प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त करना ही न हो बल्कि इसके उत्पादन, आय तथा रोजगार पर पड़ने वाले प्रभावों को भी ध्यान में रखा जाए। आवश्यकता पड़ने पर घाटे के बजट बनाना भी उचित होगा, इसी प्रकार करारोपण का उद्देश्य केवल आय प्राप्त करना ही न हो अपितु प्रभावपूर्ण माग को नियन्त्रित करना भी होना चाहिए।

राजकोषीय नीति एवं पूर्ण रोजगार

आधुनिक युग में प्रत्येक सरकार की आर्थिक तथा मौद्रिक नीतियों का उद्देश्यपूर्ण रोज-गार प्राप्त करना होता है। इन नीतियों के अंतर्गत विभिन्न नीतियों द्वारा पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। इन नीतियों की विवेचना पूर्ण

रोजगार एवं राजस्व के घनिष्ठ संबंध को स्पष्ट करती है। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राजकोषीय नीति पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने में केवल अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करती है। राजकोषीय नीति एवं पूर्ण रोजगार की पारस्परिक निर्भरता के संबंध में पहले हम प्राचीन मत का अध्ययन करेंगे।

लोकवित्त का प्राचीन मत तथा पूर्ण रोजगार

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत था कि स्वतंत्र प्रणाली में पूर्ति स्वयं माँग उत्पन्न कर लेती है। जे० बी० से के बाजार सिद्धान्त की मान्यता यह है कि 'पूर्ति' अपने लिए माँग की स्वयं सृष्टि करती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की यह मान्यता है कि प्रत्येक देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहती है। यदि किसी समय पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं पाई जाती तो यह समझना चाहिए कि उत्पादन व्यवस्था में सरकार का परोक्ष हस्तक्षेप होता है। स्वतंत्र नीति में विश्वास करने वाले इन अर्थशास्त्रियों के मतानुसार बेरोजगारी स्वयं श्रमिक की अपनी इच्छा से होती है। उन्होंने श्रमिकों को दोषी ठहराते हुए कहा कि बेरोजगारी इसलिए भी होती है कि वे अधिक मजदूरी चाहते हैं। इस प्रकार यदि किसी देश में बेरोजगारी उत्पन्न होती है तो उसका कारण या तो सरकारी हस्तक्षेप हो सकता है या श्रम संगठन। यदि ऐसा नहीं होता तो पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहती है। इस प्राचीन विचारधारा के अनुसार सरकार के प्रभाव द्वारा किसी भी प्रकार से सक्रिय माँग उत्पन्न नहीं हो सकती और न ही रोजगार बढ़ाया जा सकता है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार राज्य को अपना बजट सन्तुलित रखना चाहिए। इन व्यक्तियों की यह मान्यता है कि समाज में एक व्यक्ति की बचत दूसरे व्यक्ति द्वारा विनियोजित कर दी जाती है। निजी विनियोग स्वयं ही पूर्ण रोजगार प्राप्त करने में सहायक होते हैं, अतः निजी विनियोग के मामलों में सरकार को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं होती।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का रोजगार सिद्धांत अनेक मान्यताओं तथा भ्रामक धारणाओं पर आधारित है। उनकी यह मान्यता कि निजी विनियोग स्वयं पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित करते हैं तथा राज्य का हस्तक्षेप उसे बिगाड़ देता है, असत्य सिद्ध हो चुका है। वर्तमान युग में कोई सिद्धान्त स्वतंत्र अर्थतंत्र या पूर्णतया पूँजीवादी अवस्था को आधार मानकर नहीं बनाना चाहिए। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों से सभी देशों में सरकार का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है जिससे स्थिति में बिगाड़ की अपेक्षा सुधार हुआ है। अतः रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त को स्वीकार करना विकास एवं गति-शीलता की अवहेलना करनी होगी। प्राचीन अर्थशास्त्रियों के इस सिद्धान्त को रूढ़ि-वादी सिद्धांत या दृढ़ सिद्धांत कहा जाता है।

आधुनिक मत

पूर्ण रोजगार का आधुनिक विचार 1930 की विश्वव्यापी मंदी के बाद प्रकाश में आया, कीन्स, जो अब तक प्राचीन विचारधारा का समर्थक था, अब उनकी कड़ी आलोचना करने लगा। सन् 1930 के महामंदी काल ने यह सिद्ध कर दिया कि प्रतिष्ठित सिद्धांत मौखिक रूप में कितना ही आकर्षक लगा परंतु व्यावहारिकता की कसौटी पर खरा नहीं उतरा। कीन्स का कहना था कि 'प्रतिष्ठित सिद्धांतों का अनुभवों तथा तथ्यों पर प्रयोग करना भ्रामक एवं अनर्थकारी है। उसके विचार से आधुनिक समय में यह कहना सम्भव नहीं कि जो कुछ हम उपभोग नहीं कर पाते उसका उपभोग व्यापारी वर्ग विनियोग के रूप में कर लेता है। वास्तव में सत्य भी यह है कि यदि हम उपभोग नहीं करेंगे तो व्यापारी विनियोग के लिए तैयार नहीं होंगे। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि विनियोग और उपभोग एक दूसरे पर निर्भर हैं। उपभोग के अभाव में विनियोग नहीं होंगे। दोनों एक साथ घटते या एक साथ बढ़ते हैं। यदि किसी समय सामाजिक व्यय सम्पूर्ण उपलब्ध उत्पादक साधनों को प्रयोग में लाने के लिए पर्याप्त नहीं है तो हम यह स्वीकार करते हैं कि राज्य आय से अधिक व्यय करके राष्ट्रीय आय में निश्चित रूप से वृद्धि कर सकता है। यही कारण है कि आज सन्तुलित बजट के सिद्धांत को मान्यता प्राप्त नहीं है।

कीन्स ने संकेत किया है कि पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने के लिए बचत में कमी करनी चाहिए तथा सार्वजनिक व्यय के द्वारा प्रभावपूर्ण माँग को बढ़ाना चाहिए। कीन्स के मतानुसार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उपभोग की अपेक्षा बचत के बढ़ने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि अतिरिक्त आय के उत्पन्न होने के साथ उन वस्तुओं और सेवाओं की माँग नहीं बढ़ती, जिनका उत्पादन किया गया है। इसलिए अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी उत्पन्न होती है। कीन्स ने इसी कारण इस बात पर बल दिया कि सार्वजनिक व्यय द्वारा प्रभावपूर्ण माँग को प्रोत्साहित करना चाहिए। ऐसा करने के लिए यदि घाटे की वित्त व्यवस्था का भी अनुसरण किया जाए तो अनुचित न होगा, क्योंकि इससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी।

कीन्स के अनुसार पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने के लिए उपभोग और विनियोग दोनों को बढ़ाना जरूरी है। विनियोगों में वृद्धि करने के लिए सार्वजनिक व्यय की वृद्धि एक उपयोगी अस्त्र है। हैंसन का विश्वास था कि निजी क्षेत्र में विनियोग की वृद्धि में 'समुत्थान उत्तेजन' तथा क्षति अभावपूरक व्यय का उपयोग किया जा सकता है। समुत्थान उत्तेजन का उपयोग उस समय किया जाएगा जब बिगड़ी अर्थव्यवस्था को ठीक करने के लिए सरकार को एक मुश्त धनराशि व्यय करनी होगी। समुत्थान उत्तेजन का आधार यह पूर्वकल्पना होती है कि अस्थाई नवीन व्यय से आर्थिक क्रिया के स्तर को ऊँचा उठाने की अस्थाई प्रवृत्ति होगी। क्षति पूरक व्यय का प्रयोग निजी विनियोगों की कमी को पूरा करने के लिए किया

जाएगा। सरकार को उस समय तक व्यय करते रहना चाहिए जब तक निजी क्षेत्र में विनियोग की कमी पूरी नहीं हो जाती। इस नीति को हंसन ने 'विपरीत चक्रीय राजकोषीय नीति' का नाम दिया है। सार्वजनिक व्यय चाहे किसी प्रकार का भी हो, वह गुणक प्रभावों द्वारा प्रभावपूर्ण माग मे वृद्धि करता है इसलिए पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त करने म उसका विशेष योगदान होता है।

सतुलित बजट की नीति

यदि हम सतुलित बजट की नीति को अपनाते हुए पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त करना चाहते हैं तो सरकार को आय का वितरण समान करने के प्रयास करने होगे। सरकार को ऐसी नीति अपनानी होगी कि व्यक्ति चालू विनियोग की सुविधाओं की तुलना मे अधिक बचत करने का प्रयत्न करे। ऐसी स्थिति मे पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने के लिए तथा आय के वितरण को समान करने के लिए सरकार को अनेक प्रयास करने पड़ेंगे ताकि अर्थव्यवस्था एक सामान्य स्तर पर बनी रहे। इस सदर्भ म करारोपण का वर्णन अग्रिम पक्तियों म किया गया है।

करारोपण का कार्यभार : करारोपण केवल आय के साधन जुटाने मे ही नहीं अपितु आय के पुर्नवितरण म भी सहायक होता है। आर्थिक दृष्टि से बचतों को कम करना पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। परतु पुर्नवितरण सबधी करारोपण की नीति बहुत सावधानी से व्यवहार मे लानी चाहिए। ताकि आय के पुर्नवितरण के प्रयास विनियोग की क्रियाओं को निरोत्साहित न करें।

कीन्स का विश्वास था कि प्रभावपूर्ण माग के कम होने का मूल कारण उपभोग की प्रवृत्ति का कम होना है, जिससे बेरोजगारी बढ़ती है। उपभोग की प्रवृत्ति की कमी को पूरा करने के लिए पुर्नवितरणात्मक कर सहायक हो सकता है। धनी लोगों की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों की उपभोग प्रवृत्ति अधिक होती है। इसलिए धनी व्यक्तियों पर कर का भार बढ़ाकर जो आय प्राप्त हो वह निर्धन वर्ग को स्थानांतरित कर देना चाहिए। ऐसा करने से उपभोग की प्रवृत्ति बढ़ेगी तथा प्रभावपूर्ण माग म वृद्धि होकर पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त होगी। पुरानी निष्क्रिय बचतों पर भी कर लगाया जा सकता है, परतु शर्त यह है कि ऐसे कर का उपयोग पुर्नवितरण द्वारा माग मे वृद्धि करने के लिए है।

पुर्नवितरणात्मक करो को यदि सावधानीपूर्वक लगाया जाए तो पूजी का सचय कम होने की अपेक्षा बढ सकता है। करारोपण इस प्रकार से किया जाय कि व्यापारियों के विनियोग करने की रुचि कम न हो। निजी विनियोगो को प्रोत्साहित करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि उन वस्तुओं के उपभोग को बढ़ाया जाए जिनके उत्पादन म इस पूजी का उपयोग किया जा सके।

सार्वजनिक व्यय तथा पूर्ण रोजगार

पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने म सार्वजनिक व्यय का बहुत अधिक योगदान माना गया है। उद्देश्य की दृष्टि से सार्वजनिक व्यय को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) उपभोग प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने वाला व्यय

उपभोग प्रवृत्ति मे वृद्धि होने से प्रभावपूर्ण माग म वृद्धि होने की सम्भावना हो जाती है। उपभोग प्रवृत्ति को दो रीतियों से बढाया जा सकता है। प्रथम करों की दर घटाकर तथा द्वितीय कम आय वालों को आर्थिक सहायता देकर। करों के घटने से लोगों के पास पहले की अपेक्षा अधिक धन बचने लगता है जिसको उपभोग के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। ऐसा करने से निजी विनियोगों को *प्रोत्साहन मिलता है और रोजगार में वृद्धि होती है।*

दूसरी रीति जनता पर कर लगाकर सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करना है। यहा सरकारी व्यय में उतनी ही वृद्धि हो सकती है जितनी करों मे। यहा बजट सतुलित रहता है। परन्तु इस पद्धति में यह अवगुण है कि सार्वजनिक व्यय को बहुत अधिक बढाना पडता है। ऐसा युद्धकालीन स्थिति में ही हो सकता है। शान्तिकाल मे घाटे का बजट अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

(2) निजी विनियोग को प्रभावित करने वाला व्यय

निजी विनियोगों की वृद्धि प्रभावपूर्ण माग में वृद्धि करती है। फलस्वरूप रोजगार का स्तर ऊचा होता है। सरकार द्वारा निजी विनियोगों को प्रोत्साहन निम्न रीतियों द्वारा किया जा सकता है :

(1) ब्याज की दर की अपेक्षा लाभ की दर में वृद्धि,

(2) विभेदात्मक करारोपण नीति द्वारा निजी विनियोगों को कर से मुक्त कर दिया जाए या कर का भार कम कर दिया जाए,

(3) नवीन उत्पादन प्रणाली या नई मशीनों के प्रयोग के लिए सरकार द्वारा *वित्तीय सहायता दी जाए जिससे निजी विनियोगों को प्रोत्साहन मिले और माग में* वृद्धि हो,

(4) सीमान्त उद्योगों को वित्तीय सहायता दी जाए। ऐसी सहायता उद्योग में लगे हुए श्रमिकों के अनुपात में हो, ताकि अधिक श्रमिकों वाले उद्योग को अधिक सहायता मिले और रोजगार में वृद्धि हो।

सार्वजनिक विनियोग

सार्वजनिक विनियोग द्वारा कुल विनियोग की मात्रा को बढाना चाहिए जिससे प्रभावपूर्ण माग में वृद्धि हो और रोजगार स्तर ऊचा हो। परन्तु इस बात

का ध्यान रखा जाए कि सार्वजनिक विनियोग की वृद्धि से निजी विनियोग में कमी न आए।

सार्वजनिक ऋण तथा पूर्ण रोजगार

यह कहा गया है कि रोजगार को प्राप्त करने के लिए प्रतिगामी करों की अपेक्षा प्रगतिशील कर अधिक उपयुक्त है और साथ ही सभी प्रकार की करों की तुलना में ऋण अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। रोजगार के स्तर को ऊंचा करने के लिए ऋण लेना तो उचित है परन्तु इसमें गंभीर दोष यह है कि ऋण का भार बढ़ जाता है। सार्वजनिक ऋणों का लेना उसी समय लाभदायक होता है जब वे निष्क्रिय कोषों से लिए जाएं। यदि वर्तमान उपभोगों में या विनियोगों में कटौती करके सार्वजनिक ऋण एकत्र किए जाएंगे तो पूर्ण रोजगार की प्राप्ति सदेहात्मक रहेगी।

सार्वजनिक भुगतान की वापसी द्वारा भी प्रभाव पूर्ण मांग में वृद्धि की जा सकती है। परन्तु शर्त यह है कि भुगतान की राशि का प्रयोग उपभोग और विनियोग की वृद्धि में किया जाना चाहिए। देश के निर्धन तथा मध्यमवर्ग को ऋणों की वापसी अवश्य करनी चाहिए ताकि उपभोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिले।

घाटे की वित्त व्यवस्था तथा पूर्ण रोजगार

लर्नर का विचार है कि पूर्ण रोजगार स्तर को प्राप्त करने के लिए सरकार स्वयं असीमित मात्रा नोट छाप सकती है। कीन्स ने भी इस दृष्टि से घाटे की वित्त व्यवस्था का पूर्ण समर्थन किया है। परन्तु इस संबंध में शर्त यह है कि जैसे पूर्ण रोजगार की अवस्था प्राप्त हो जाए तो घाटे की वित्त व्यवस्था को त्याग दिया जाए अन्यथा मुद्रा स्फीति को दबाए उत्पन्न हो जाएगी।

अंत में हम कह सकते हैं कि विभिन्न राजकोषीय यंत्रों की सहायता से हम आर्थिक स्थायित्व प्राप्त कर सकते हैं और पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। पूर्ण रोजगार की स्थिति अल्पकाल में प्राप्त नहीं हो सकती। इसको दीर्घकाल में उचित लोकवित्त व्यवस्था द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि राजकोषीय साधनों में से अर्थव्यवस्था में स्थायित्व तथा रोजगार में निश्चित रूप से वृद्धि की जा सकती है। परन्तु साधन की दृष्टि से एक आदर्श स्थिति को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस सीमा के उपरांत भी राजकोषीय नीति एक शक्तिशाली यंत्र है। मौद्रिक एवं राजकोषीय नीति की सहायता की सहायता से रोजगार के ऊंचे स्तर को प्राप्त किया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन विकसित राष्ट्रों में उत्पन्न हुई बेरोजगारी के लिए उपयुक्त हो सकता है। अविकसित देशों की बेरोजगारी की गाथा कुछ भिन्न है। अल्पविकसित देश न्यून आय वाले देश हैं। विकसित देशों की बेरोजगारी अपर्याप्त मांग का सूचक है जब कि अल्पविकसित देशों की बेरोजगारी अपर्याप्त समाधनों का का सूचक है।

पर्याप्त स्रोतों की अनुपस्थिति में श्रम-शक्ति का पूर्ण उपयोग नहीं हो सकता। इस लिए इन देशों में मौलिक समस्या अल्प उत्पादकता की होती है न कि बेरोजगारी की। उपचार की दृष्टि से इन देशों में पूंजी निर्माण तथा उत्पादक रोजगार को प्राप्त करने की ओर प्रयास करने चाहिए। इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति में जितना अनुदान बजट नीति का हो सकता है उतना मौद्रिक व्यय की वृद्धि का नहीं हो सकता।

राजकोषीय नीति की सीमाएं

आर्थिक विकास तथा स्थिरता की दृष्टि से, तेजी व मंदी काल के प्रभावों को कम करने की दृष्टि से बचत तथा विनियोग को आगे बढ़ाने की दृष्टि से जहां राजकोषीय नीति का अपना महत्वपूर्ण स्थान है, वहां उसकी सीमाओं को भी नहीं भुलाया जा सकता।

(1) अल्पविकसित देशों में सीमित उपयोग

अल्पविकसित देशों में चूंकि बजट राष्ट्रीय आय के थोड़े से भाग का ही निर्माण करता है इसलिए वह उतना अधिक प्रभाव नहीं डाल पाती जितना कि विकसित देश में डाल देती है। प्रत्यक्ष करारोपण को अधिक प्रभावशाली नहीं बनाया जा सकता क्योंकि अल्पविकसित देशों में व्यक्तियों की आय कम होने से वे प्रत्यक्ष कर के चंगुल में ही नहीं आते। अल्पविकसित देशों में कर से प्राप्त आय राष्ट्रीय आय का बहुत छोटा भाग होती है जबकि विकसित देशों में इसके विपरीत होता है। उदाहरणार्थ भारत में इसका प्रतिशत 13-14 है, जबकि प्रगतिशील देशों में यह प्रतिशत 25-30 से भी अधिक है।

(2) विभिन्न क्षेत्रों का पारस्परिक संबंध न होना

यह विशेषता मुख्यत अल्प विकसित देशों में ही दृष्टिगोचर होती है जहां कि विभिन्न क्षेत्र प्राय घनिष्ठ रूप से परस्पर संबंधित नहीं होते। फलतः राजकोषीय नीति के अंतर्गत किसी किए गए उपाय का प्रभाव समस्त क्षेत्र पर समान नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए देश के किसी एक क्षेत्र में अवसाद की स्थिति हो जबकि दूसरे क्षेत्र में मूल्य वृद्धि का क्रम चल रहा हो। ऐसी स्थिति में घाटे की वित्त व्यवस्था द्वारा क्रय शक्ति में वृद्धि का लक्ष्य संभवत मंदी से पीड़ित उद्योगों को पुनर्जीवन प्रदान करने में सफल न होकर सामान्य मूल्य स्तर को ही बढ़ा दे।

(3) कार्यवाहियों के प्रकार तथा समय पर आश्रित होना

राजकोषीय नीति कितनी प्रभावशाली सिद्ध होगी यह कार्यवाहियों के प्रकार, आकार तथा उसके समय पर निर्भर करता है। राजकोषीय नीति के द्वारा अर्थव्यवस्था में कितना परिवर्तन आ सकता है इस बात पर निर्भर करता है कि

अधिकारियों द्वारा सार्वजनिक आय तथा व्यय में जितने परिवर्तन किए गए हैं तथा वे उपयुक्त समय पर भी किए गए हैं या नहीं। यदि कर-आय तथा व्यय में उचित आकार में परिवर्तन उपयुक्त समय में नहीं किए गए तो सफलता की सम्भावनाएं कम हो जाती हैं। वास्तव में इन कार्यवाहियों के लिए कौन सा समय उचित होगा, अधिकारियों के लिए इसका पता लगाना कठिन होता है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक कारणों से तथा प्रशासनिक कठिनाइयों से इन कार्यवाहियों के संचालन करने में विलंब हो जाता है। ऐसा विलंब वहां अधिक होता है जहां विधानमंडल से खर्चों तथा करों के लगाने के लिए अनुमति लेनी पड़ती है। सार्वजनिक व्यय के गुणक प्रभाव में भी समय लगता है और यह हो सकता है कि उसका वांछित परिणाम काफी समय के बाद दृष्टिगोचर हो।

(4) करारोपण के लोच का प्रतिबंधक प्रभाव

कभी कभी सरकार समाज में कुल व्यय का विस्तार करने के उद्देश्य से सरकारी व्यय में वृद्धि करती है। किंतु ऐसा हो सकता है कि करारोपण के कारण उस खर्च का एक भाग सरकार के पास आ जाए। यदि ऐसा हुआ तो सरकारी खर्च का प्रभाव न्यून हो जाएगा और जो स्फीतिजनक प्रभाव हम इस नीति से प्राप्त करना चाहते थे, वह प्रतिबंधित हो जाए।

(5) भुगतान संतुलन में परिवर्तन

कभी कभी भुगतान संतुलन के परिवर्तन भी सरकारी खर्च के उद्देश्यों को प्रभावहीन कर देते हैं। सरकारी व्यय की वृद्धि से निर्यातों के मूल्य में वृद्धि हो जाती है तथा आयात सस्ते हो जाते हैं। साधारणतः सरकारी व्यय देश की अर्थव्यवस्था में विस्तार लाने के लिए किया जाता है। परंतु आयातों के सस्ता हो जाने के कारण आयातों पर अधिक व्यय होते हैं और सरकारी व्यय के गुणक प्रभाव कम हो जाते हैं। परिणामतः द्रव्य-आय में जिस वृद्धि की आशा की जाती थी वह आशा से कम हो जाती है।

(6) प्रयासों की पूर्ति पर निर्भरता

राजकोषीय नीति की सफलता मानवीय प्रयासों के अनुकूल दिशा में परिवर्तन पर निर्भर करते हैं। जब सरकार की करारोपण तथा सार्वजनिक व्यय की नीति का लोगों के कार्य की इच्छा पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता तब राष्ट्रीय आय में आशानुसार वृद्धि होती है। साधारणतया ऐसा देखा जाता है कि आय में वृद्धि होने के कारण लोगों में प्रयास करने की इच्छा कम हो जाती है। अतः राजकोषीय नीति के पूर्व निर्धारित उद्देश्य प्राप्त नहीं हो पाते।

(7) आय के पुनर्वितरण पर निर्भरता

राजकोषीय नीति के अन्तर्गत की गई क्रियाओं का प्रभाव उनके परिणाम-स्वरूप होने वाले आय के पुनः वितरण पर निर्भर करता है। जब आय में होने वाली वृद्धि का एक बड़ा अंश ऐसे लोगों के पास हस्तान्तरित हो जाता है जिन्हें बचाने की आदत होती है तो समाज की कुल माँग पर आशा से कम प्रभाव पड़ता है और राजकोषीय नीति आंशिक रूप से निष्फल हो जाती है।

30
आय तथा संपत्ति का पुनर्वितरण

आय के वितरण की विचारधारा आर्थिक समस्या का केवल एक भाग है। प्रजातंत्र समाज में आय के समान वितरण की धारणा इस विश्वास पर आधारित होती है कि असमानता न्यायहीन होती है। इस विश्वास की धारणा ही राजनीतिक नीतियों में ऐसा परिवर्तन लाने की प्रेरणा उत्पन्न करती है जो असमानता घटाने में सहायक होते हैं। आय की असमानता को पूजीवाद का सबसे बुरा लक्षण माना जाता है। इसी लिए पूजीवादी समाज के स्थान पर समाजवादी और साम्यवादी समाज की व्यवस्था लाने पर बल दिया जाता है।

समाज में संपत्ति एवं आय के वितरण का विश्लेषण मुख्यतः दो आधारों पर किया जा सकता है

(1) व्यक्तिगत वितरण का सिद्धांत

व्यक्तिगत वितरण का सिद्धांत व्यक्तियों के मध्य आय के वितरण का अध्ययन करता है। इस सिद्धांत के अंतर्गत हम व्यक्तियों के बीच धन एवं आय के असमान वितरण के कारणों को मालूम करना चाहते हैं। क्या कारण है कि 'अ' की मासिक आय 2000 रुपये है तथा 'ब' की केवल 100 रुपये। समाज में कुछ लोग अमीर और कुछ गरीब क्यों है ? यह ऐसे प्रश्न है जिनका उत्तर इस सिद्धांत की विषय सामग्री बनता है।

(2) क्रियात्मक वितरण का सिद्धांत

क्रियात्मक वितरण का सिद्धांत आय के उस वितरण का अध्ययन करता है जो उत्पत्ति के साधनों के स्वामियों में वितरित किया जाता है। क्रियात्मक वितरण, उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को उसके द्वारा संपन्न सेवाओं के अनुसार कुल उत्पादित आय में मिलने वाले भाग का अध्ययन करता है। चूंकि भूमि, श्रम पूंजी और संगठन को भिन्न-भिन्न आय प्राप्त होती है इसलिए इनके स्वामियों की आय भी भिन्न

होती है। इस प्रकार आय का विशाल वितरण धन के वितरण में वैयक्तिक असमानता उत्पन्न करता है।

व्यक्तिगत आय के वितरण को निर्धारित करने वाले तत्व

आय वितरण का अध्ययन उन कारणों की व्याख्या करने में सहायता प्रदान करता है जो असमानता का कारण हैं। वे आधारभूत व्यक्तिगत तथा सामाजिक कारण हैं जो व्यक्तिगत आय में असमानता उत्पन्न करते हैं। जिस अर्थव्यवस्था में आय के मुख्य स्रोतों उत्पादक साधनों को उनकी उत्पन्न वस्तुओं के विक्रय के उपलक्ष्य में मिलने वाला पुरस्कार होता है वहां असमानता निम्न कारणों से बढ़ती है

(क) **व्यक्तियों में वैयक्तिक प्रवीणता के मूल्य में अंतर :** चलचित्र की एक अभिनेत्री एक खाई खोदने वाले की तुलना में अधिक आय प्राप्त करती है क्योंकि उसके कौशल का मूल्य ऊंचा है। जिन कार्यों में उच्च प्रशासनिक और शैक्षिक योग्यता की आवश्यकता होती है, जिनमें उत्तरदायित्व अधिक होता है, और जिन के लिए विशिष्ट गुणों एवं प्रतिभा की आवश्यकता होती है, उनमें ऊंचे वेतन मिलते हैं। ऐसे पद कुछ ही व्यक्तियों को मिलते हैं। दूसरी ओर अनेक धंधे ऐसे होते हैं जिनको अपनाने के लिए किसी विशिष्ट योग्यता की आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसे कार्य सभी लोगों के लिए खुले रहते हैं। इसलिए इनमें वेतन कम मिलता है। व्यक्तिगत वितरण में असमानता को प्रोत्साहित करने वाले दो तत्व होते हैं वे हैं आनुवंशिकता तथा पर्यावरण। क्योंकि यह सभी मनुष्यों के लिए समान नहीं होते इसलिए यह स्वाभाविक है कि ऐसे अंतर आय की असमानताओं को उत्पन्न करें।

(ख) **व्यक्तियों के स्वामित्व में आय उत्पन्न करने वाली संपत्ति में अंतर**
अमेरिका में राकफैलर, फोर्ड्स तथा ड्यूपौन्ट्स और भारत में टाटा तथा बिड़ला इत्यादि के उत्तराधिकारियों की आय इसलिए अधिक है कि उनके पास आय उत्पन्न करने वाली संपत्ति अधिक है। टासिग ने इस संबंध में लिखा है, *'यह प्रथा उस आय की स्थिरता की व्याख्या करती है जो पूंजी, भूमि तथा सभी प्रकार की आय* देने वाली संपत्तियों से प्राप्त होती है और इस प्रकार समृद्ध तथा निर्धन व्यक्तियों के मध्य निरंतर बनी रहने वाली खाई की व्यवस्था करती है'।[1]

उत्तराधिकारी तो केवल इस घटना मात्र से बड़ी संपत्ति के मालिक हो जाते हैं क्योंकि उन्होंने एक धनी परिवार में जन्म लिया है, यद्यपि उसने उस संपत्ति के जुटाने में कोई परिश्रम नहीं किया। इस प्रकार उत्तराधिकार की प्रथा इन असमानताओं को स्थिर करने तथा बढ़ाने का मुख्य साधन है।

---

1 Taussig Principles of Economics, Vol II, p 293

(ग) *अवसरों की असमानता* : *आय तथा धन के वितरण की विषमता को* बढ़ाने वाला तीसरा कारण अवसरों की असमानता है। कुछ लोगों को उन परिस्थितियों में जिनमें वे रहते हैं, समान लाभ एव सुविधाए प्राप्त नहीं होती। जिन लोगों का जन्म समृद्ध परिवार में होता है उनके जीवन का आरभ अच्छी शिक्षा परिक्षण तथा उच्च कोटि के सामाजिक सपर्क में होता है। इसके अतिरिक्त इन युवकों को पैतृक सपत्ति की सुविधा भी प्राप्त होती है जिसमे वे अपने व्यवसाय को प्रारभ कर सकते हैं। परतु जो व्यक्ति दुर्भाग्यवश निर्धन परिवारो म जन्म लेते हैं, उन्हें उचित शिक्षा के अभाव में प्रशासकीय पदों पर पहुचने में कठिनाई उत्पन्न होती है। इन लोगों को कोई पैतृक सपत्ति भी प्राप्त नहीं होती जो किसी निजी व्यवसाय के चलाने के लिए पूजी उपलब्ध कर सकें। अवसरों की ऐसी असमानताए ही आय की भारी असमानताओं को उत्पन्न करती हैं। आर्थिक असमानताए अवसरों की असमानताए उत्पन्न करती हैं और अवसरों की असमानताए पुन आर्थिक स्तर मे असमानताए उत्पन्न करती हैं। टोनी ने अपनी पुस्तक मे इस कुचक्र का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है। 'वर्तमान समाज मे अवसरों एव कार्यों के अनुसार ही धन का वितरण किया जाता है और अवसर जहा अशत मनुष्य के गुणो तथा उसकी शक्ति पर निर्भर है वहा उससे भी अधिक वह जन्मोपरात सामाजिक स्थिति पर प्राप्त शिक्षा व पैतृक धन पर और एक शब्द मे कहा जाए तो सपत्ति पर निर्भर होता है' एक निर्धन व्यक्ति का पुत्र तो अपने गुणो तथा बुद्धि मे अवसर उत्पन्न करता है जबकि एक अपने धनी व्यक्ति पर ये अवसर थोपे जाते है। इस प्रकार अवसरो की असमानता आय और धन के वितरण की विषमता के लिए आशिक रूप से उत्तरदायी हैं।

आय की असमानता के परिणाम

आय की असमानता समाज में लोगों के रहन सहन के स्तर में विषमता उत्पन्न कर देती है। कुछ धनी व्यक्ति विलासितापूर्ण जीवन गुजारते हैं तो अधिकाश व्यक्ति निर्धनता की गर्त मे अपना जीवन बसर करते हैं। जिन देशों मे धन के वितरण मे असमानता होती है वहा प्रचुरता के बीच भारी निर्धनता रहती है। निर्धनों का असतोष एक दिन भयकर और हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है और क्राति की आग को प्रज्वलित करता है।

इसके अतिरिक्त धनी वर्ग मे 'भिन्न रहन की इच्छा' अर्थात, 'दिखावटी उपभोग' की इच्छा प्रबल होती है जो प्रतियोगी व्यय का रूप धारण करती है और उपभोग मे अपव्यय बढ जाता है।

आय की असमानता मध्यम एव श्रमिक वर्ग म आर्थिक असुरक्षा उत्पन्न करती है। औद्योगिक मदी काल म एक सफल व्यापारी अपना कारोबार को अस्थाई रूप स बद करने के लिए बाध्य हो सकता है परतु उसके रहन-सहन के स्तर मे

कोई परिवर्तन नहीं आता है लेकिन अवसाद काल में श्रमिक, जिनके रोजगार ही समाप्त हो जाते हैं, अपने आप को असहाय अवस्था में पाते हैं।

धन एवं आय का असमान वितरण शैक्षिक अवसरों में असमानता उत्पन्न करता है जो अन्तिम रूप में आर्थिक असमानता को जन्म देता है। इसका एक उल्लेखनीय परिणाम यह होता है कि थोड़े से धनी व्यक्तियों के हाथों में आर्थिक एवं राजनैतिक शक्ति केंद्रित हो जाती है जिसके फलस्वरूप ये लोग देश पर शासन करते हैं, देश की नीति का निर्देशन करते हैं और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए निर्धनों का शोषण करते हैं। यही कारण है कि आय की विषमता को पूंजीवाद का अभिशाप स्वीकार किया गया है, जिसे या तो पूर्णतया समाप्त करना होगा या इसमें जहां तक संभव हो कमी करनी होगी।

आय तथा संपत्ति के वितरण में सुधार के उपाय

हम संक्षिप्त में उन तत्वों तथा रीतियों की विवेचना कर चुके हैं जो व्यक्तिगत आय को निर्धारित करते हैं। ये ही तत्व और रीतियां आय तथा संपत्ति के पुर्नवितरण के लिए तीन मौलिक यंत्र रचनाओं को सुझाती हैं। इनका वर्णन नीचे किया गया है।

(1) संसाधन स्वामित्व के प्रारूप में परिवर्तन

स्रोत स्वामित्व के प्रारूप को हम मुख्यत मृत्यु कर तथा उपहार कर लगा कर बदल सकते हैं। किसी व्यक्ति के पास कितनी आय उत्पन्न करने वाली संपत्ति है उसको परिमित करके हम इस उद्देश्य को प्राप्त कर सकते हैं। यह युक्ति साधारणत समाजवादी सरकारों के द्वारा अपनाई जाती है। ऐसी सरकारें आय उपार्जित संपत्ति के स्वामित्व कटुता के साथ सीमित ही नहीं करतीं अपितु ऐसे स्रोतों को स्वयं अपने स्वामित्व के अधीन लाकर उनसे उत्पन्न आय को सामाजिक लाभांश द्वारा वितरित कर देती हैं।

मृत्युकर द्वारा समानता को प्राप्त करने का उद्देश्य वहां पराजित हो जाता है जहां इस कर से बचने के लिए संपत्ति धारक अपने संभावित उत्तराधिकारियों को मृत्यु की संभावना से काफी समय पहले अपनी संपत्ति उपहार के रूप में देते हैं। संपत्तियों का इस प्रकार से हस्तांतरण वसीयतनामे के क्रम में होने वाले हस्तांतरण से भिन्न नहीं माना जा सकता। इसलिए मृत्युकर के छिद्रों को निष्क्रिय करने के लिए उपहार कर आवश्यक समझा गया है।

मृत्युकर के विरुद्ध आलोचकों का यह कहना है कि यह कर निजी संपत्ति के प्राकृतिक अधिकार में हस्तक्षेप करता है तथा व्यक्ति के कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। फलस्वरूप पूंजी निर्माण तथा राष्ट्रीय

आय दोनों ही कम हो जाते हैं। परंतु ये आलोचनाएं ठोस प्रतीत नहीं होतीं। प्रथम कारण यह है कि निजी सपत्ति के तथाकथित 'प्राकृतिक' अधिकार को कल्याणकारी राज्यों म कोई मान्यता प्रदान नही की जाती। द्वितीय सपत्ति को केवल कुछ सीमाओं के भीतर तथा कुछ निश्चित दायित्वों एव अधिकारों के साथ स्वीकार किया जाता है।

मृत्युकर तथा उपहार कर जो आय उत्पन्न करने वाली सपत्ति के तात्कालिक विशाल सग्रह को वितरित करने के अभिप्राय से लगाए जाते हैं, मूल्यों को बहुत कम प्रभावित करते हैं। इसलिए स्रोतों के आवटन पर इनका कोई विशेष प्रभाव नही पडता। साथ ही यह कहना कि कोई व्यक्ति सपत्ति का सग्रह अपने उत्तराधिकारियों के लिए ही करता है, ठीक नहीं है। इसलिए किसी भी व्यक्ति की यह जानकारी कि करो द्वारा उसकी सपदा का एक बडा अश उसके कुटुब से निकल जाएगा, उत्पत्ति के प्रारूप पर यदि कोई प्रभाव डालेगा भी तो बहुत कम होगा। आधुनिक वित्तशास्त्रियों पूर्व जान स्टुअर्ट मिल जैसे कुछ राजकोषीय विशेषज्ञों ने भी मृत्यु के समय सपत्ति के हस्तातरण पर कठोर कर लगाने का तर्क प्रस्तुत किया था।

आय की सापेक्षिक समानता अवसरों की समानता पर भी निर्भर करती है। अवसरों की समानता के मार्ग मे सबसे बडी बाधा निजी सपत्ति की विद्यमानता है जो उत्तराधिकार नियम द्वारा एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तातरित हो जाती है। जो बालक एक आर्थिक दृष्टि से सपन्न परिवार म जन्म लेता है, उस बालक को तथार्थ रूप म ऐसे अवसर प्राप्त हो जाते हैं जिनके द्वारा वह अपनी शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक गुणों एव क्षमताओं का विकास कर सकता है।

(2) ससाधन मूल्यों के प्रारूप मे परिवर्तन

स्रोत-मूल्यों के प्रारूप म परिवर्तन करके आय के वितरण को समान बनाने की विचारधारा एक ऐसी विचारधारा है जो अर्थशास्त्रियों द्वारा कम स्वीकार की जाती है। राजनीतिज्ञों म यह विचारधारा सापेक्षिक रूप मे अधिक लोकप्रिय है। न्यूनतम मजदूरी विधान, कृषि उत्पादन के लिए समता मूल्य इत्यादि, वास्तव म स्रोतों के मूल्य के परिवर्तन की ही युक्तिया हैं जिनके द्वारा वैयक्तिक आय के वितरण को परिवर्तित किया जाता है। न्यूनतम वेतन समान कार्यों के लिए दिए जाने वाले पुरस्कारों मे विभेदात्मक नीति के प्रयोग को न्यूनतम करता है। यदि न्यूनतम वेतन को बहुत ऊचे स्तर पर निर्धारित कर दिया जाता है तो उससे कम के उस आवटन के विकृत होने की सभावना हो जाती है जो उत्तम उत्पादन प्रारूप को बनाए रखन मे सहायक होता है। इसी प्रकार कृषि पदार्थों के मूल्यों की समता कुछ वस्तुओं के उत्पादन को बढाने मे प्रोत्साहन दे सकती है तथा कुछ वस्तुओं के उत्पादन को कम कर सकती है क्योंकि समता स्वय ऐतिहासिक मूल्य सबधो पर आधारित होती है जो माग तथा लागत मे परिवर्तन होने के कारण बहुत पहले ही अव्यावहारिक सिद्ध हो चुकी है।

सामान्यत स्रोत-मूल्यों के परिवर्तन प्रचलित उपभोक्ता प्राथमिकताओं पर आधारित स्रोतों के आवंटन में हस्तक्षेप करते हैं। यह रीति वितरण को अधिक समान बनाने के लिए विश्वासनीय नहीं कही जा सकती। वह व्यक्ति जिसके पास ऐसे स्रोत अधिक हैं जिनके मूल्य बढ़ा दिए गए हैं उन व्यक्तियों की तुलना में अच्छी स्थिति में आ जाते हैं जिनके पास इन स्रोत बहुत कम हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब तक ऊंची आय अर्जित करने वाले व्यक्तियों के स्रोतों के उपलब्ध किए गए मूल्य नीची आय अर्जित करने वाले व्यक्तियों के केवल ही स्रोतों के उपलब्ध से दिए गए मूल्य कम नहीं होंगे और आय के वितरण में समानता नहीं आ सकेगी।

(3) आय के आकार पर प्रत्यक्ष कार्यवाही

आय तथा सम्पत्ति के वितरण में समानता लाने वाला यह तीसरा उपाय अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है क्योंकि इस उद्देश्य की प्राप्ति सामाजिक नीति के अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति में प्रतिकूल प्रभाव बहुत कम डालती है। ऐसे करों को जो मार्कीट मूल्यों को बिना अधिक परिवर्तित किए आय के वितरण में ऐच्छिक समानता ला सकते हैं, प्राथमिकता देनी चाहिए। जो असमानताएं सम्पत्ति के कारण उत्पन्न होती हैं उन्हें उत्तराधिकार कर द्वारा दूर किया जा सकता है। परन्तु जो असमानताएं पारिश्रमिक के अंतरों के कारण उत्पन्न होती हैं वहां उत्तराधिकार अधिक सार्थक सिद्ध नहीं होता। वहां समानता लाने के लिए आयकर का उपयोग किया जाता है। एक अत्यधिक आरोही आय कर यदि सही रूप में लागू किया जाए तो वह असमानताओं को दूर करने में शीघ्र सहायक हो सकता है, आरोही वैयक्तिक आयकर व्यक्तिगत आय के वितरण की असमानता को दो रीतियों से घटाने में सहायक होता है (क) यह कर चालू प्रयोज्य आय की असमानता को घटाता है तथा (ख) यह वृहत मात्रा में धन के केंद्रीयकरण की सम्भावनाओं को कम करता है।

आय कर दरों की श्रेणियां इस प्रकार से व्यवस्थित होनी चाहिए कि अनार्जित आय पर विशेष रूप में भार पड़े। इस वर्ग में वे आय आती हैं जो सम्पत्ति के स्वामित्व से प्राप्त होती हैं। दूसरी ओर ऐसी आय जो परिश्रम द्वारा उत्पन्न की जाती है, जैसे मजदूरी तथा वेतन के साथ उदारता का व्यवहार करना चाहिए। सभी देशों में आय कर का अधिकाधिक उपयोग केवल इसलिए नहीं किया जाता कि वे सरकार को आय प्राप्त कराते हैं अपितु इसलिए भी किया जाता है कि वे असमानता की समस्या का समाधान भी करते हैं।

व्यक्तिगत आयकर का विरोध मुख्यतः इस आधार पर किया जाता है कि यह कार्य करने तथा बचत करने की योग्यता पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है और अततोगत्वा राष्ट्रीय आय के ऊपर भी विरोधी प्रभाव डालता है। वास्तव में पूंजी के निर्माण में देश का प्रत्येक नागरिक समान रूप अंशदान नहीं देता। पूंजी निर्माण

का काय समाज के चुने हुए धनी व्यक्तियो के द्वारा ही होता है जिनके पास बचत करने की योग्यता होती है। परतु विरोधी वग आय के कराधान के केवल एक पक्ष को ही लेकर चलते हैं। व सरकार के व्यय करने की नीति की प्रतिक्रिया को पूणत भूल जाते हैं। सरकारी व्यय भी आय के वितरण को प्रत्यक्ष रूप मे प्रभावित करता है।

निष्कष मे हम यह कह सकते हैं कि आरोही आयकर को आय क पुर्नवितरण के एक यत्र के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है दूसरी ओर इस कर म प्राप्त आय को व्यय करने की क्रिया आय के वितरण को प्रभावित करती है। पर्याप्त पौष्टिक आहार स्वास्थ्य आवास इत्यादि पर किए गए व्यय असमानता को कम करने मे सहायता देते है। अन्य प्रकार के व्यय विशेष रूप से राष्ट्रीय ऋण पर दिए गए ब्याज असमानता बढाते हैं। ओ० एच० ब्राउनली के शब्दो म आय के आकार पर प्रत्यक्ष कायवाही का प्र यक्ष लाभ यह है कि यह आय प्राप्तकर्ताओ को पुर्नवितरणका कद्रीय आधार न मानकर आय के आकार को स्वय बनाने का प्रयत्न करता है।[1]

1 O H Brownlee Econom cs of Publ c F nance (1960) The World Press Pr vate Ltd Calcutta p 176

31

स्थानीय संस्थाओं की वित्त व्यवस्था

भारतवर्ष में स्थानीय शासन संस्थाएं अति प्राचीन काल से विद्यमान हैं। बौद्ध जातक कथाओं, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा चीनी यात्रियों ह्वेनसांग एवं फाह्यान की यात्रा-कथाओं में इनकी महत्ता का विशद वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि स्थानीय संस्थाओं के रूप में इस विकेंद्रीकृत व्यवस्था का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। परन्तु मुस्लिम काल के प्रारंभ होते ही स्वायत्त शासन संस्थाओं का महत्व हिंदू काल की अपेक्षा कम हो गया। यह वर्ग अत्यधिक केंद्रित सामंतशाही का प्रतीक रहा है। ऐसी स्थिति में स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का महत्व निश्चय ही कम हो गया है।

ब्रिटिश काल में ही जिला अधिकारियों की सुरक्षा एवं सुविधा हेतु इन संस्थाओं की व्यवस्था करना आवश्यक समझकर स्थानीय वित्त को महत्व देने की बात प्रारंभ हो गई। वास्तव में लार्ड रिपन का सन् 1882 का प्रस्ताव वर्तमान स्थानीय शासन वित्त व्यवस्था की आधारशिला कही जा सकती है। प्रथम बार स्थानीय वित्त व्यवस्था को सन् 1919 के अधिनियम में स्थान मिला और उनमें टोल टैक्स, भूमि कर, भवन कर, पशु कर, चुंगी, यात्री कर, वृत्ति कर, निजी बाजार में कर, जल कर, सफाई कर, प्रकाश कर आदि का प्रावधान किया गया।

सन् 1935 के अधिनियम के अनुसार प्रांतों को स्वायत्तता प्रदान की गई और यह आशा की गई कि प्रांतीय सरकारें अपने कर के क्षेत्र में स्थानीय शासन संस्थाओं को अधिक कर प्रदान करेंगी। परन्तु इस संबंध में कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठाए गए। ये शासन संस्थाएं अब भी राजनीतिक प्रभावों से ग्रस्त हैं तथा सरकार का इन पर सर्वाधिक अंकुश है। इसके कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उनकी मौजूदगी वरदान सिद्ध होने के स्थान पर अभिशाप सिद्ध हुई है। ये संस्थाएं स्थानीय समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ रही हैं और अवांछनीय तत्वों के हाथ खिलौना बनती रही हैं।

स्थानीय सस्थाओ के आय के स्रोत

रतवर्ष में स्थानीय सस्थाओ के आय प्राप्ति के स्रोतो का दो रूप मे अध्ययन या जा सकता है

(1) कर स्रोत

(2) गैर कर स्रोत

कर स्रोतो म दो साधन सम्मिलित किए जाते हैं (अ) स्थानीय सस्थाओ रा लगाए गए कर तथा (ब) राज्य सरकारो द्वारा लगाए गए तथा एकत्रित किए ! करो में से स्थानीय सस्थाओ को प्राप्त होने वाला हिस्सा

गैर कर स्रोतो म निम्न साधनो को सम्मिलित किया जाता है (अ) व्यापारिक उपक्रमो म आय, (ब) अनुदान तथा (स) ऋण तथा उपदान

स्थानीय सस्थाओ की आय का कर ही प्रमुख स्रोत है। नगरपालिकाए की आय का 68 प्रतिशत व बोर्ड 32 प्रतिशत इस मद से प्राप्त करती है। ानीय सस्थाए प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार के करो म आय प्राप्त करती हैं। यक्ष कर

प्रत्यक्ष कर की श्रेणी मे निम्न करो का समावेश होता है

(1) सपत्ति कर नगरपालिकाए अपनी सीमा के भीतर मकानो तथा मया के स्वामियो पर सपत्ति कर लगाती है, यह कर नगरपालिकाओं की आय एक स्रोत है। किराए के मकानो पर लगाए जाने वाले करो के भार को मकान स्वामी विवर्तन की क्रिया के द्वारा किराएदारो से वसूल करता है। ये कर सपत्ति भूमि व मकान के वार्षिक मूल्य के आधार पर लगाता जाता है।

इस कर के लगाने स राज्यो को निम्न आय प्रतिशत के रूप म प्राप्त हुई ाकि निम्न तालिका से स्पष्ट है

बगाल	82 प्रतिशत
असम	78 ,,
बिहार व उडीसा	77 ,,
मद्रास	47 ,,
बबई	46 ,,

करारोपण जाच आयोग न यह अनुमान लगाया था कि 1952-53 मे 5 23 ा की आय नगरपालिकाओ को प्राप्त हुई थी। आयोग ने यह भी परामर्श दिया ष्ठामिक व ट्रस्टी जमीनो को कर मुक्त रखा जाए।

(2) हैसियत कर : यह कर व्यक्ति के मकान तथा अन्य सपत्ति पर अथवा ोग धधो से होने वाली आय पर लगाया जाता है। इस कर को लगाने मे व्यक्ति

की सामाजिक प्रतिष्ठा को भी ध्यान मे रखा जाता है। हैसियत पर कर वास्तव में लोगो के आर्थिक व्यक्तित्व पर कर होता है। यह कर उत्तरप्रदेश, बंगाल, असम, उड़ीसा तथा बिहार की स्थानीय संस्थाओं द्वारा वसूल किया जाता है।

(3) मार्ग शुल्क : जिला परिषद नदी के पुल, घाट तालाबों, सड़कों आदि पर महसूल लगाती है। नदी के घाट और पुलों के ठेके देकर यह कर वसूल किया जाता है। जिले की सीमा के भीतर मेले तथा प्रदर्शनी आदि पर भी यह महसूल कर लगाया जाता है। यह कर दो रूपों में विद्यमान है यात्री कर, जो कि प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक यात्री से लिया जा सकता है, तथा तीर्थंकर जो कि तीर्थ स्थानों पर यात्रा करने वालों से वसूल किया जाता है।

इस कर के बारे में करारोपण जाँच आयोग का कहना है कि यह कर तुरन्त ही समाप्त कर दिया जाना चाहिए तथा अगर यह लगाया भी जाना है तो यह 5 लाख की संपत्ति से ऊपर की संपत्ति पर वसूल किया जाना चाहिए।

(4) गाड़ियों पर कर : यह कर लाइसेंस की प्रकृति का होता है जो प्रति वर्ष या छ माह में या तीन माह में गाड़िया मोटर गाड़ी, तांगा, इक्का, रिक्शा साइकिल, बैलगाड़ी आदि पर लिया जाता है। करारोपण जाँच आयोग का इस कर बारे में कहना है कि मोटरकार की आय प्रतिदिन बढ़ने जाने के कारण स्थानीय संस्थाओं को मुआवजे की निश्चित राशि के स्थान पर कर की आय का कुछ अनुपात मिलना चाहिए।

(5) व्यावसायिक कर : यह कर एक ही प्रकार का पेशा या व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों से लाइसेंस के रूप में वसूल किया जाता है तथा विभिन्न व्यवसायों पर विभिन्न दरों से लगाया जाता है।

(6) संपत्ति के हस्तांतरण पर कर : यह कर संपत्ति के वार्षिक मूल्य के आधार पर लगाया जाता है। इस कर को मद्रास कारपोरेशन व कलकत्ता विकास ट्रस्ट ने लागू कर रखा है।

(7) बाजार कर : यह कर बिक्री कर से मिलता-जुलता है। इसको मध्य प्रदेश की स्थानीय संस्थाएं लगाती है।

(8) तह बाजारी कर : यह कर अस्थाई बाजारों, सड़कों तथा हाटों में दुकान लगाने वाले व्यापारियों से लिया जाता है। इसे नगरपालिका के कर्मचारी हाट में जाकर वसूल करते हैं।

(9) धोबी कर : यह कर बम्बई राज्य के धोबियों पर लगाया जाता है। इस कर को लगाने के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि धोबी नदियों आदि से अतिरिक्त लाभ प्राप्त करते हैं। नदी को गंदा करते हैं। अतः ऐसे स्थानों की सफाई कराने के लिए यह कर लगाना आवश्यक है।

अप्रत्यक्ष कर :

अप्रत्यक्ष करो से भी स्थानीय सस्थाए आय प्राप्त करती हैं। कुछ अप्रत्यक्ष कर जो ये संस्थाए लगाती हैं, निम्नांकित हैं

चुगी कर : यह नगरपालिकाओ की आय का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। चुगी नगर पालिका की सीमा के भीतर बाहर से आने वाली वस्तुओं पर लगाई जाती है। सामान्यत इस कर का मूल्याकन मूल्य के अनुसार होता है। सामान्यत. नगरपालिकाओ को सभी प्रकार के करो से प्राप्त होने वाली आय का आधे से अधिक भाग इस प्रकार से प्राप्त होता है। इस कर के निम्न गुण हैं

(1) यह कर प्रतिगामी होता है अतएव इसका भार निर्धन वर्ग पर अधिक पड़ता है।

(2) यह कर बेलोच होता है, इससे आय करारोपण की दर मे वृद्धि के अनुपात मे नही बढ़ती।

(3) इस कर से प्राप्त होने वाली आय निश्चित नही होती है।

(4) यह कर मितव्ययी नही होता क्योकि इसकी वसूली मे करदाता को बहुत असुविधा होती है क्योंकि प्राय नगरपालिका की सीमा पर यात्रियो को माल की तलाशी देनी होती है।

करारोपण जाच आयोग ने इस कर के सुधार के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए हैं

(1) कर वजन के आधार पर लगाना चाहिए, मूल्य के आधार पर नही।

(2) प्रत्येक राज्य मे ऐसी वस्तुओ की सूची बनानी चाहिए जिन पर यह कर लगाया जाए।

(3) नगरपालिकाओ को कर एकत्रित करने वाले अधिकारियो पर समुचित नियत्रण रखना चाहिए।

सीमांत कर : यह कर नगरपालिका की सीमा मे रेल द्वारा आने वाले माल पर लगाया जाता है। इस कर को रेल विभाग नगरपालिकाओं के लिए वसूल करता है। यह कर भी चुगी की भाति परोक्ष कर होता है और इसका भार निर्धन वर्ग पर अधिक पडता है। इस कर से कुछ गुण हैं : प्रथम, इसमे यात्री माल की तलाशी आदि के झझट से बच जाते हैं। द्वितीय, वस्तुओ के मूल्याकन और कर लौटाने की असुविधाए नही होती। तृतीय, कर का आधार न्यायपूर्ण होता है क्योंकि रेल वस्तुओं के अपने वर्गीकरण के अनुसार ही कर वसूल करती हैं।

कर इतर आय

(अ) व्यापारिक उपक्रमों से आय : स्थानीय सस्थाओ को कर के अतिरिक्त

व्यापारिक उपक्रमों से भी आय प्राप्त होती है। भारत में स्थानीय संस्थाओं ने इस स्रोत का अधिक महत्त्व नहीं समझा है और बहुत कम आय इस साधन से प्राप्त होती है। इसमें निम्न साधन हैं

(1) पानी व बिजली प्रदान करना : भारत में अधिकांश नगरपालिका पीने का पानी प्रदान करती हैं तथा मीटर लगाकर उसके अनुसार (अर्थात उपभोक्ता जितना पानी का इस्तेमाल करते हैं उसी के अनुसार) कर लेती हैं। नगरपालिकाएं बिजली राज्य सरकार से लेकर उपभोक्ताओं को सप्लाई करती हैं तथा उस पर लाभ प्राप्त करती हैं।

(2) कसाई घर : स्थानीय संस्थाएं प्रत्येक स्थान पर जानवरों को नहीं मारने देती हैं। वह इसके लिए एक स्थान निश्चित कर देती हैं तथा उस स्थान का प्रयोग करने वाले से किराया प्राप्त किया जाता है।

(3) यातायात व किराए से प्राप्ति : नगरपालिकाएं अपनी दुकान, मकान तथा यातायात के साधनों आदि से किराया वसूल करती हैं।

गैर कर स्रोत आय अनुदान

स्थानीय संस्थाओं को राज्य सरकारें अनुदान देती हैं। सिडनी वैब के अनुसार चार आधारों पर स्थानीय संस्थाओं के लिए सहायक अनुदानों का आवश्यक औचित्य है :

(1) सहायक अनुदान विभिन्न स्थानीय संस्थाओं के वित्तीय भार की असमानताओं को रोकने के लिए आवश्यक है।

(2) राज्य सरकार द्वारा स्थानीय संस्थाओं के प्रबंध में कुशलता और मितव्ययिता लाने के लिए दिए जाने वाले प्रस्ताव की सलाह तथा राज्य सरकारों द्वारा इन संस्थाओं की आलोचना को सहायक अनुदान बल प्रदान करता है।

(3) सहायक अनुदानों का महत्त्व इसलिए भी है क्योंकि स्थानीय सरकारें को ऐसी व्यावहारिक रीति प्रदान करते हैं जो कि उनकी स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है और जिनके द्वारा वे अपने शासन प्रबंध में विधानमंडल द्वारा निर्धारित सामान्य नीति को क्रियान्वित करने में अनुभवी बुद्धिमानी और विस्तृत दृष्टिकोण से काम ले सकती हैं।

(4) अंत में सहायक अनुदानों के द्वारा ही स्थानीय सेवाओं में राष्ट्रीय न्यूनतम कुशलता उत्पन्न हो सकती है जो कि राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से अत्यन्त आवश्यक है।

भारत में यह अनुदान राज्य सरकारों द्वारा दिए जाते हैं तथा दो प्रकार के होते हैं (क) आवर्ती अनुदान, (ख) अनावर्ती अनुदान। इन अनुदानों का अधिकांश भाग शिक्षा, स्वास्थ्य आदि को ही प्राप्त होता है।

(स) ऋण तथा उपदान

गंदी बस्तियों की सफाई, जल पूर्ति व नालियों की व्यवस्था आदि कार्यों के लिए नगरपालिकाओं को ऋण व उपदान लेने पड़ते है, परन्तु इन संस्थाओं की साख अधिक ऊंची न होने के कारण इन्हें सरलता से ऋण प्राप्त नहीं हो पाते हैं। अतः राज्य सरकारों द्वारा इन ऋणों की गारंटी देने की व्यवस्था की जानी चाहिए और यदि ये ऋण इन संस्थाओं के लिए अपर्याप्त हों तो स्वयं उनको रुपया उधार दें तथा उपदान दें।

स्थानीय संस्थाओं के व्यय

जिन मदों पर स्थानीय संस्थाएं व्यय करती हैं वे निम्न हैं :

(1) प्रशासन और कर वसूली अभियान पर व्यय : नगरपालिकाओं को चुनाव, मीटिंग तथा कार्यालय पर भारी व्यय करना होता है। इसके अलावा करों की वसूली करने के लिए प्रशासन को अधिक विस्तार करना पड़ता है तथा उस पर व्यय करना पड़ता है।

(2) शिक्षा : शिक्षा स्थानीय संस्थाओं का व्यय एक प्रमुख भेद है। ये संस्थाएं निःशुल्क प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था के उद्देश्य से विभिन्न क्षेत्रों में स्कूल चलाना नगरपालिकाओं का एक महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है। इस पर नगरपालिकाएं काफी व्यय करती हैं। कुछ नगरपालिकाएं जूनियर हाई स्कूल तथा इंटर कालिज भी चलाती हैं।

(3) सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा चिकित्सा : नगरपालिकाएं व जिला बोर्ड निःशुल्क चिकित्सा के लिए अस्पताल की व्यवस्था करती हैं। संक्रामक रोगों जैसे चेचक, हैजा, प्लेग आदि की रोकथाम के लिए टीके लगवाना, मच्छरों और अन्य कीड़े-मकोड़े मारने के लिए डी० डी० टी० छिड़कवाना तथा बाजार में खाने-पीने की बेची जाने वाली वस्तुओं की स्वच्छता एवं शुद्धता की देखभाल रखना भी इन संस्थाओं का कार्य है जिस पर व्यय करना इनका फर्ज है।

(4) सफाई : ये संस्थाएं सीमा के भीतर सड़कों तथा नालियों की सफाई की व्यवस्था करना, सड़कों की मरम्मत करवाना आदि मदों पर व्यय करना आवश्यक है तथा जिसको यह संस्थाएं करती हैं।

(5) प्रकाश : सीमा के भीतर यह संस्थाएं रात्रि के समय सड़कों व मोहल्लों में प्रकाश की व्यवस्था करना भी इनका उत्तरदायित्व है।

(6) पीने योग्य जल की व्यवस्था : पीने योग्य जल की व्यवस्था करना इन संस्थाओं का एक महत्वपूर्ण कार्य है, ये संस्थाएं कुओं का निर्माण, नगर में स्थान-स्थान पर प्याऊ घरों की व्यवस्था, पानी एकत्रित करने वाली टंकी का

निर्माण तथा पानी की सप्लाई, वाटर वर्क्स आदि पर व्यय करना भी इन संस्थाओं का कार्य है।

(7) सार्वजनिक निर्माण कार्य : नगर की सीमा के अन्दर सड़कें, उद्यान, व्यायामशाला, सड़कों के सहारे पेड़ लगाना आदि का निर्माण भी करवाती हैं जिन पर इन संस्थाओं को अधिक व्यय करना पड़ता है।

स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय समस्याएं

भारतीय स्थानीय संस्थाओं के कार्यों को दृष्टिगत रखते हुए, यह कहा जा सकता है कि इनके आय के स्रोत अपेक्षाकृत कम हैं। इस संदर्भ में डा० ज्ञानचन्द का विचार उल्लेखनीय है। इनके अनुसार 'भारत में स्थानीय संस्थाओं के साधनों की निर्धनता भली भांति ज्ञात है और स्थानीय वित्त की समस्या का विवेचन करते समय इस पर बल देने की शायद ही कोई आवश्यकता हो'।[1] स्थानीय संस्थाओं को अपने कार्यों के सम्पन्न करने के लिए राज्य सरकारों पर निर्भर रहना पड़ता है। राज्य सरकारों से जो वित्तीय सहायता इन्हें मिलती है वह भी इनके कार्यों को सन्तोषजनक रूप से पूरा करने के लिए अपर्याप्त होती है, परिणामस्वरूप भारतीय स्थानीय संस्थाएं ओलिवर ट्विस्ट की भांति अतिरिक्त वित्तीय भाग के लिए सदैव हाथ फैलाए रखती हैं।[2]

स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय समस्याएं निम्नलिखित कारणों से उत्पन्न हुई हैं :

(1) स्थानीय संस्थाओं के कार्यों में वृद्धि

भारतीय अधिनियम 1935 के पारित हो जाने के पश्चात् इन संस्थाओं के कार्यों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। स्वतन्त्रता के बाद से इन संस्थाओं के कन्धों पर प्रशासनिक भार बढ़ता चला आ रहा है। पुराने कार्यों में वृद्धि के साथ इन्हें अब कुछ नए कार्य भी करने पड़ते हैं। वे व्यक्ति जो अधिक सचेत हैं वे इन समस्त कार्य नगरपालिकाओं द्वारा पूरा करवाना चाहते हैं। अब व्यक्ति अपने घरों के सामने के वृक्षों की छटाई, खाली पड़े प्लाटों से खड़ी लम्बी घास की कटाई, मनोरंजन के स्थान, सार्वजनिक योग्य खेल के स्थल, रोग-मुक्ति का प्रबन्ध और लैट्रिनों जैसे — कार्य जिन्हें वे स्वयं पूरा किया करते थे अब स्थानीय संस्थाओं द्वारा पूरा करवाना चाहते हैं।

---

1 Dr Gyan Chand, Local Finance in India (1947), Kitabistan, Allahabad, p. 47.

2. Dr K.S. Sharma - Institutional Structure of Capital Market in India, (1969), Sterling Publishers, N. Delhi, p. 36.

इन बढ़ते हुए कार्यों को पूरा करने के लिए इन संस्थाओं के जो शक्ति और अधिकार बढ़ाए गए हैं, वे केवल सैद्धांतिक महत्त्व ही रखते हैं। उनका व्यावहारिक महत्त्व बहुत कम है।

एक अनुमान के अनुसार नगरपालिकाओं की प्रतिव्यक्ति आय 7 76 रुपये वार्षिक और जिला बोर्डों की 0 86 रु० वार्षिक है। इतनी कम आय में ये संस्थाएं किस प्रकार विभिन्न सुविधाओं को प्रदान कर सकती हैं यह एक आश्चर्यजनक बात है। इसी कारण ये संस्थाएं पर्याप्त कल्याणकारी सेवाएं प्रदान करने में असमर्थ हैं। इन संस्थाओं को अपनी बढ़ी हुई शक्ति और अधिकारों का प्रयोग करने में पूर्व राज्य सरकारों से अनुमति लेनी होती है।

राज्य सरकारें नगरपालिकाओं के इस रद्दोबदल के आवेदन को मान्यता प्रदान करने में संकोच बरतती हैं क्योंकि ऐसा करने से इनको सदैव इस बात का भय रहता है कि कहीं ऐसे रद्दोबदल से उनकी आर्थिक अवस्था न बिगड़ जाए। इसलिए नगरपालिकाएं अपनी बढ़ी हुई शक्तियों के द्वारा भी अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं। इसी सदर्भ में श्री एल० सी० टंडन ने एक स्थान पर कहा था कि स्थानीय संस्थाओं को जो अधिकार और शक्तियां बिना पर्याप्त वित्त के प्रदान कर दी गई हैं। उन संस्थाओं की तुलना एक ऐसे व्यक्ति से कर सकते हैं जिसके शरीर की वृद्धि तो निरन्तर हो रही है परन्तु उसके पास शरीर ढकने के लिए कपड़े बराबर सिकुड़ते जा रहे हैं।

(2) स्थानीय संस्थाओं की आय के साधन बेलोच हैं

राज्य सरकारों ने अपने पास निम्न आय के साधन रखे हैं जो लोचदार हैं: भूमि लगान, कृषि आय कर, मोटर गाड़ियों पर कर, मनोरंजन कर, सुधार-कर इत्यादि। इसके विपरीत स्थानीय संस्थाओं को जो आय के स्रोत दिए गए हैं वे पूर्णतया बेलोचदार हैं। इतना ही नहीं, कुछ ऐसे भी स्रोत हैं जो न्यायपूर्वक स्थानीय संस्थाओं को ही मिलने चाहिए थे परन्तु राज्य सरकारों ने उन्हें अपने अधिकार में रखा है, उदाहरणार्थ मनोरंजन कर, अचल सम्पत्ति पर कर, बिक्री कर, होटलों और काफी हाउसों पर कर। वास्तव में ये साधन स्थानीय संस्थाओं को दिए जाने चाहिए। यही कारण है कि जब इन संस्थाओं को अधिक आय की आवश्यकता होती है तो इन्हें राज्य सरकारों के अनुदानों पर निर्भर रहना पड़ता है।

(3) वर्तमान वित्तीय साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं

इन संस्थाओं को आय के साधन प्रदान किए गए हैं, उनसे अधिकतम आय प्राप्त करने के प्रयत्न नहीं किए गए हैं। ये संस्थाएं कर निर्धारण करते समय पक्षपात से काम लेती हैं। जनता की आलोचनाओं से बचने तथा अपने अधिकारियों की जनता में लोकप्रियता बनाए रखने के लिए इन संस्थाओं ने अपने स्रोतों का पूर्ण

दोहन भी नहीं किया है। इसके अतिरिक्त प्रशासन की अकुशलता, विवेक के अभाव तथा नियन्त्रण की कमी के कारण करों की वसूली में ढीलापन रहता है। 1948 के स्थानीय सरकारों के मन्त्रियों के सम्मेलन में उपर्युक्त तत्वों को निम्न शब्दों में स्वीकार किया गया : 'सम्मेलन इससे सहमत है कि स्थानीय संस्थाओं की आय के स्रोत अपर्याप्त हैं। यह सम्मेलन यह स्वीकार करता है कि उपलब्ध स्रोतों का पूर्ण उपयोग नहीं किया गया है तथा कम मूल्यांकन की बुराई तथा करों को पूर्ण मात्रा में एकत्र करने की शिथिलता विस्तृत रूप में फैली हुई है।'

(4) राजनीतिक कारण

करों के वसूल करने में राजनीतिक दल भी बाधाएं डालते हैं। ये दल अपने संकीर्ण उद्देश्यों को पूरा करने के लिए करदाताओं के दिमाग को विषैला कर देते हैं। इन संस्थाओं में राजनैतिक दलों के आधार पर चुनाव लड़े जाते हैं। 'आजकल इन संस्थाओं के राजनैतिक दल ऐसे कर्तव्य विमुख माताओं के समान हैं जो अपने शिशुओं के पोषण की अपेक्षा अपने शृंगार में रत रहती हैं।'[1]

(5) मूल्यांकन की समस्या

स्थानीय करों की आय केवल करों की गणन-क्रिया पर निर्भर नहीं करती अपितु उनके उचित मूल्यांकन पर भी निर्भर करती है। स्थानीय संस्थाएं अपनी निर्धनता के कारण कुशल मूल्यांकनकर्ताओं की सेवा लेने में असमर्थ रहती हैं। वास्तव में भू सम्पत्ति का मूल्यांकन प्रत्येक वर्ष होना चाहिए। बड़े नगरों में यह कार्य असम्भव हो जाता है। परिणामस्वरूप एक बार का किया हुआ मूल्यांकन वर्षों तक चलता रहता है। स्वतन्त्रता के पश्चात नगरों में सम्पत्तियों का संख्यात्मक एवं गुणात्मक विकास हुआ है, साथ ही इन सम्पत्तियों के मूल्यों में भी वृद्धि हुई है। एक उचित अवधि के बाद इन सम्पत्तियों के पुनर्मूल्यांकन न होने के कारण स्थानीय संस्थाओं को पर्याप्त वित्तीय क्षति सहन करनी पड़ती है।

वित्तीय स्थिति को सुधारने के उपाय

स्थानीय संस्थाओं की कार्यकुशलता को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि इनको इस अधिक स्वतन्त्र [illegible] जाए। इन संस्थाओं को पर्याप्त धन [illegible] उनके अधिकारों में वृद्धि करना, सरदार वल्लभभाई पटेल के शब्दों में, 'किसी मृत स्त्री को सजाना है।' इसलिए इनके आय के स्रोतों को लोचदार बनाए जाए जिससे बढ़ते हुए कार्यभार के व्यय को सम्भाला जा सके। इस सम्बन्ध में करारोपण जांच आयोग (1953-54) ने सुझाव दिए हैं :

1 राज्य सरकारों को स्थानीय संस्थाओं के कर लगाने के अधिकार को नहीं छीनना चाहिए।

1 Dr M K Rastogi 'Local Finance It's Theory and Working in India, p 188